ऐतिहासिक भौतिकवाद

लेखक

मन्मथनाथ गुप्त
रमेन्द्रनाथ वर्मा

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग
१९४६

विषय-सूची

ऐतिहासिक भौतिकवाद

व्यक्ति, व्यक्तित्व और इतिहास

१—इतिहास का निर्माता मनुष्य—मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माता है। किन्तु यह निर्माण का कार्य इस प्रकार से नहीं होता कि उसने किसी बात की उड़ान भर दी और वह हो गई, जैसे खुदा ने उन या ईश्वर ने स्यात् कहा था, और सारी सृष्टि की शून्य से रचना हो गई। सच बात तो यह है कि हम कल्पना की उड़ान भी वस्तुस्थिति से बिलकुल वियुक्त होकर नहीं भर सकते। आज के मनोविज्ञान का तो यह कहना है कि स्वप्न में भी हम वस्तुस्थिति से सम्पूर्णरूप से विलग होकर उड़ान नहीं भरते तथा स्वप्न में भी हमारे उड़ते हुए विचारों के पैर जमीन पर ही रहते हैं। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण अवश्य करता है, किन्तु ऐसा करते समय उसे उपलब्ध साधनों का ही उपयोग करना पड़ता है। वह किसी भी हालत में उन साधनों से परे होकर इतिहास का निर्माण नहीं कर सकता। इतिहास निर्माण-कार्य में मनुष्य का भाग प्रधान तो है, किन्तु उसको अपरिहार्य रूप से उन सब राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओं के दायरे में काम करना पड़ता है, जो उसको पहले की पीढ़ियों से उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त हुई हैं। उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त इन वस्तुओं तथा अवस्थाओं में उसका अपना मन तथा शरीर भी है। इन्हीं प्राप्त अवस्थाओं तथा वस्तुओं को लेकर वह इतिहास का निर्माण करने चलता है। इन साधनों का वह प्रगति के हक में भी उपयोग कर सकता है, और विरुद्ध भी। वह इतिहास की गति को बाधाग्रस्त करने का कारणीभूत भी हो सकता है, और उसका द्रुतीकरण भी कर सकता है। यही इस निर्माण-

कार्य में मनुष्य के भाग की प्रधानता का परिचायक है। इस क्षेत्र में मनुष्य या व्यक्ति की प्रधानता का वह अर्थ नहीं है जिस अर्थ को लेकर प्राचीन ग्रीकों में हेराडोरस (४८४-४२५ ई० पू०), थूसिडिडीस (४७१-४०१ ई० पू०) आदि ने तथा अति आधुनिक लेखकों में फासिवादी लेखकों ने तथा दूसरी तरफ गुन्थेर ऐसे फासिवाद विरोधी लेखक ने इतिहास लिखा है। हेराडोटस और थूसिडिडीस इतिहास लेखकों के जनक समझे जाते हैं, किन्तु इनके इतिहास शुरू से आखिर तक व्यक्तियों की महिमा के गीतमात्र हैं, और सो भी अधिकांश रूप में काल्पनिक। रोमन इतिहास लेखकों ने भी व्यक्तियों को जो अत्यधिक महत्त्व दिया था, वह भी इसी श्रेणी में आ जाता है।

'मनुष्य अपनी कल्पना के द्वारा ऐतिहासिक विकास की मंजिलों को कूद कर उसी प्रकार पार नहीं कर सकता, जैसे वह अपनी परछाईं के ऊपर से कूद नहीं सकता है।'[१] मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओं तथा उपलब्ध अवस्थाओं पर निर्भर अवश्य है, किन्तु वह इन वस्तुओं तथा अवस्थाओं को भी बदलता रहता है, और ऐसा करने के दौरान में वह अपने को भी बदलता है। इस प्रकार मनुष्य न केवल अपनी चारों तरफ की प्रकृति को बदलता है, बल्कि वह स्वयं अपने को भी बदलने में समर्थ है। विचार धाराएँ किस प्रकार वस्तुस्थिति से सम्बद्ध होती हैं, इसका विशद् विवेचन हम बाद को करेंगे। यहाँ केवल इतना बता देना यथेष्ट है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों को बदलने में जिस प्रकार समर्थ है, उसी प्रकार परिस्थितियों को बदलकर विचारों में परिवर्तन के लिए अवस्थाएँ पैदा कर सकता है।

जैसे सूर्य या चन्द्रग्रहण होता है, चन्द्रकला का ह्रास तथा वृद्धि होती है, ऋतु में परिवर्तन होते हैं, ठीक उसी ढंग से मनुष्य की चारों तरफ की परिस्थितियाँ स्वयं आपसे आप बिगड़ती, बनती, होती नहीं रहती हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य के सिर पर छाँह होगी या धूप, इसका निर्णय प्रकृति नहीं करती, बल्कि मनुष्य स्वयं करता है। अपने सिर पर छत्र या छाता तानकर मनुष्य इच्छानुरूप धूप या छाँह ले सकता है।

इतिहास के निर्माण में मनुष्य का एक विशेष परिस्थिति में क्या और कितना हाथ हो सकता है, इतिहास का क्या क्रम है, उसकी गति किस

---
१ R. L.

ओर है, किस हद तक मनुष्य उसे द्रुतीकृत या विलम्बित कर सकता है, किसका स्वार्थ इस प्रक्रिया के द्रुतीकरण में है तथा किसका इसके विपरीत है, कौन वर्ग किस समय इसकी गति के विपरीत अपनी ताकत लगायेगा, कौन किस समय इसकी अनुकूलता करेगा, किस प्रकार मोड़ने पर वह मनुष्य-जाति के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए श्रेयस्कर हो सकता है, वैज्ञानिक समाज-शास्त्र का विचार्य विषय यही है। हमने इस प्राथमिक आलोचना में ही देख लिया कि इस प्रकार का एक समाज-शास्त्र हो सकता है जो हमें बतलावे कि किसी विशेष परिस्थिति में क्या कर्तव्य है। यहाँ हम कर्तव्य शब्द का किसी पारलौकिक अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहे हैं, हमारा मतलब केवल इतना ही है कि हम इस शास्त्र के द्वारा यह जान सकते हैं कि किस प्रकार एक व्यक्ति सामाजिक प्रगति को द्रुतीकृत कर सकता है, तथा उसे आगे बढ़ा सकता है। यों तो समाज की गति का यह अध्ययन बहुत पुराना है। आदिम काल से ही इस पर कुछ न कुछ गलत सही उड़ानें भरी जाती रही हैं, किन्तु कार्लमार्क्स (१८१८-८३) को ही यह श्रेय प्राप्त हुआ कि उन्होंने इन बातों के ज्ञान को, एक शब्द में समाज विज्ञान को अटकलपच्चू पर नहीं, बल्कि एक दृढ़ चट्टानी वैज्ञानिक आधार पर स्थापित किया। कार्लमार्क्स ने इस ज्ञान का आविष्कार अपने मस्तिष्क के अन्दर से यों ही नहीं कर डाला, बल्कि जैसे किसी वैज्ञानिक नियम के आविष्कार के लिए जरूरी है, वर्षों तक समाज की परिचालिका शक्ति का परिशीलन करते रहे, और फिर वे समाज की गति के नियम को आविष्कार करने में समर्थ हुए। जैसे न्यूटन द्वारा माध्याकर्षक सिद्धान्त या प्लैंक द्वारा क्वान्टम सिद्धान्त के आविष्कार किये जाने के पहले भी ये सिद्धान्त प्रकृति में अपना काम करते रहे, उसी प्रकार मार्क्स द्वारा सामाजिक गति के नियमों के आविष्कार किये जाने के पहले से ही मार्क्स के नाम से परिचित सामाजिक गति शास्त्र क्रियाशील थे। मार्क्स ने केवल उस प्रचलित नियम का आविष्कार मात्र किया। मार्क्स एंगेल्स रचित कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो की भाषा में "कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो के सैद्धान्तिक उपसंहार उस सार्वदेशिक सुधारक के दिमाग से नहीं निकले हैं। वे उपसंहार केवल हमारी आँखों के सामने चलनेवाले ऐतिहासिक आन्दोलन तथा वर्तमान वर्गप्रद से उद्‌भूत वास्तविक सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं।"[१]

२—व्यक्ति के इतिहास निर्माण पर मार्क्स—कार्लमार्क्स ने '१८वाँ ब्रूमेयर' नामक अपनी पुस्तक में इतिहास निर्माण कार्य में मनुष्य का क्या भाग रहा है, इस पर रोशनी डालते हुए (यों तो यह सारी पुस्तक मार्क्सवादी साहित्य में उस विषय का सुन्दरतम प्रतिपादन है) लिखा है—'मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण करते हैं, किन्तु ऐसा वे खुशी से नहीं करते। वे अपनी परिस्थितियों का स्वयं निर्वाचन नहीं करते, बल्कि जैसी परिस्थितियाँ उन्हें मिलती हैं, उसी पर उन्हें काम करना पड़ता है, तथा भूतकाल से प्राप्त उपादान को टालना पड़ता है।' मनुष्य का भूतकाल से प्राप्त परिस्थितियों के साथ एक सजीव सम्बन्ध है, तभी तो इतिहास हमारे निकट एक बेतरतीब, असामंजस्यपूर्ण घटनाओं का समूहमात्र नहीं है। सारे इतिहास में एक सिलसिला दृष्टिगोचर होता है, और हम इतिहास को एक विकासमान प्रक्रिया के रूप में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यदि भूतकाल से प्राप्त परिस्थितियों तथा साधनों के साथ मनुष्य के इतिहास-निर्माण का यह सजीव तथा अपरिहार्य सम्बन्ध न होता, तो सारे इतिहास में जिधर देखो उधर एक अराजकता दृष्टिगोचर होती, और इतिहास को परस्पर सम्बद्ध, अन्योन्याश्रित घटनावलियों के रूप में समझने की कोई गुँजाइश नहीं होती। वैसी हालत में हम किसी घटना की व्याख्या या तो ईश्वर की यदृच्छामयी लीला के रूप में करते, या समय समय पर अवतीर्ण होनेवाले महापुरुषों की खामख्यालियों की क्रीड़ा के रूप में देखते, या प्रत्येक घटना में प्रकृति का कोप या प्रसन्नता इस प्रकार की कोई ऐसी ऊलजलूल बात देखते—जो किसी पद्धति में नहीं आ सकती। सच बात तो यह है कि वैसी हालत में इतिहास का स्पष्टीकरण न होकर, वह और भी धुँधला तथा जटिल हो जाता।

३—लुई बोनापार्ट का उदाहरण—मार्क्स अपनी उल्लिखित पुस्तक में यह दिखलाते हैं कि इतिहास में लुई बोनापार्ट का क्या भाग था। वे लिखते हैं, कि 'मेरी पुस्तक के साथ साथ लुई बोनापार्ट के Coup d'etat या एकाएक शक्ति आरूढ़ हो जाने के सम्बन्ध में जो पुस्तकें निकली हैं, उनमें से केवल दो उल्लेखनीय हैं। एक तो विक्टर ह्यूगो लिखित Nepoleon lepetet और दूसरी प्रूधो लिखित Coup d'etat। विक्टर ह्यूगो अपनी पुस्तक में इस परिवर्तन के लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार व्यक्तियों के विरुद्ध

एक सुन्दर शब्दावलीयुक्त आलोचनामात्र करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनके लिए नेपोलियन का शक्तिआरूढ़ हो जाना निर्मेघ आकाश से वज्रपात के तुल्य है। वे उसे व्यक्ति-विशेष का स्वेच्छाचारितापूर्ण कृत्यमात्र समझते हैं। वे यह हृदयंगम नहीं कर पाते कि इस प्रकार वे इस व्यक्ति पर इतिहास के साथ मनमाना करने की सामर्थ का आरोप कर, उसे छोटा बनाने के बजाय बड़ा करके दिखलाते हैं। इसके विपरीत प्रुधों यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि यह राजनैतिक परिवर्तन इसके पहले के ऐतिहासिक विकास का परिणाम-मात्र था, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने अपने विषय का प्रतिपादन किया है, उससे यह व्याख्या उस नायक का एक ऐतिहासिक समर्थनमात्र होकर रह जाती है। इस प्रकार प्रुधो कल्पित वस्तुतांत्रिक इतिहास-लेखकों की गलती के शिकार हो जाते हैं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैंने यह प्रमाणित किया है कि फ्रांस में वर्गयुद्ध ने ऐसी परिस्थितियों तथा सम्बन्धों की स्थापना की है, जिनके कारण एक अजीबोगरीब, मामूली योग्यतावाला व्यक्ति वीरता का मोरपंख लगाकर उछलकूद मचाने में समर्थ हुआ।'

४—लुई वाली बात प्रत्येक व्यक्ति पर लागू—मार्क्स ने जो बात लुई के सम्बन्ध में कही है, वही बात प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है, इतिहास में किसी भी समय निर्मेघ आकाश से वज्रपात नहीं हुआ करते। इतिहास में एक ऐसी शृङ्खला है, जिसकी प्रत्येक कड़ी अगली कड़ी पर असर करती है, इसलिए निर्मेघ वज्रपात की बात कपोल कल्पना है। यदि हमें किसी समय ऐसा ज्ञात होता है कि निर्मेघ आकाश से वज्रपात हो रहा है, तो इसका अर्थ केवल यह है कि हम उसके कारणों को यथेष्ट रूप से जान नहीं पाये। व्यक्ति तथा व्यक्तित्व का इतिहास निर्माण में भाग अवश्य होता है, किन्तु वह भाग कदापि ऐसा नहीं हो सकता कि जिसे ऐतिहासिक रूप से कोई भी साधन प्राप्त न हो, और व्यक्ति या व्यक्तित्व अपना काम कर ले जाय। साथ ही इसके विपरीत यह भी बात सही नहीं है कि पूर्व पीढ़ियों से प्राप्त परिस्थितियाँ तथा साधन ही सब कुछ है। यदि ऐसा होता, तो बराबर इतिहास में मनुष्य की जो प्रगति होती रही है, उसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती थी। मनुष्य अपनी परिस्थितियों की पूँजी को लेकर जरूर चलता है, किन्तु उसका हर एक प्रयत्न

अपनी सज्ञान चेष्टा से उन परिस्थितियों में परिवर्तन करता रहता है। हर युग का सबसे प्रगतिशील क्रान्तिकारी रूप से सोचनेवाला व्यक्ति भी बहुत अनुकूल परिस्थितियों में भी अपनी सारी बातों को कराने में समर्थ नहीं होता, किन्तु साथ ही वह कुछ भी नहीं करा पाता है, यह भी बात सही नहीं है। मार्क्स के उग्रसमाजवादी विचार उनके जीवनकाल में कोई भी समाजवादी क्रान्ति कराने में समर्थ नहीं हुए (पेरिसकम्यून जिस क्रान्ति के फलस्वरूप स्थापित हुआ था, उसमें मार्क्सवादियों का हाथ बहुत कम था), किन्तु इसलिए उनके विचार व्यर्थ गये ऐसा एक अहमक ही कह सकता है। समय से पूर्व आये हुए क्रान्तिकारी विचारों को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक उनके लिए समय न आ जाय, अर्थात् जब तक ऐसी परिस्थितियाँ न आ जायँ, जिनमें उन विचारों का पनपना सम्भव हो। उस समय तक वे विचार पुस्तकों में या गाथाओं में बन्द पड़े रहते हैं, या बीज की तरह गुप्तरूप से लोगों की दृष्टि के अन्तराल में पड़े रहते हैं, और फिर अनुकूल जमीन और आबोहवा पाने पर पुस्तकों से उनका पुनरुद्धार किया जाता है, तथा वे अंकुररूप में अनुकूल परिस्थिति पाकर पाताल-लोक से प्रकट हो जाते हैं। 'महान् पुरुष समाज पर तभी प्रभाव डाल पाते हैं, जब समाज उनके लिए तैयार है। यदि समाज उनके लिए तैयार नहीं है, तो वे महापुरुष नहीं कहलाते, बल्कि असफल क्रान्तिकारी या स्वप्नद्रष्टा कहलाते हैं।'

उपलब्ध साधन तथा सम्बन्ध, और मनुष्य की सज्ञानचेष्टा के पारस्परिक घात-प्रतिघात से ही इतिहास का पट हमारे समक्ष खुलता चला जाता है। तभी तो मार्क्स ने अपने '१८वाँ ब्रूमेयर' में लुई बोनापार्ट को इतना महत्त्व नहीं दिया मानो उसी ने १८४८-५१ की घटनाओं को अपनी इच्छा पर ढाला हो, साथ ही उन्होंने यह भी नहीं दिखलाया कि उसका कोई भाग ही नहीं था। फ्रांस में १८४८ में जो रंगमंच तैयार है, उस पर लुई केवल एक ऐसे मामूली अभिनेता की भाँति नहीं है, जिसके लिए पहले से सब घटनाएँ तथा बातचीत तैयार है, बल्कि वह एक प्रधान अभिनेता की तरह है जो खेल के नियमों तथा सम्भावनाओं के दायरे में रंगमंच पर अपना पार्ट एक हद तक तैयार करता जाता है, और खेलता जाता है। वह उस नाटककार की भाँति है जो अभिनेता भी है और खेलने के दौरान में उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर सकता है।

५—व्यक्तित्व के हिस्से पर ट्राटस्की—ऐतिहासिक प्रक्रिया में व्यक्तित्व का क्या हिस्सा होता है, इसे ट्राटस्की ने बड़े कवित्वपूर्ण शब्दों में समझाया है। वे कहते हैं—'ऐतिहासिक प्रक्रिया में व्यक्तित्वों के महत्त्व को हम इन्कार नहीं करते। न हम इस बात से इन्कार करते हैं कि व्यक्ति के मामले में आकस्मिकता अपनी जगह रखती है। (आकस्मिकता का यहाँ पर अर्थ कार्य-कारण सम्बन्ध से बहिर्भूतता नहीं है, बल्कि जैसा हमने निर्मेघ वज्रपात के उदाहरण से दिखलाया है, इसका अर्थ केवल इतना है कि कारण अभी हमारी पकड़ में नहीं आये हैं—ले०)। हमारी केवल माँग यह है कि सारी विचित्रताओं से संयुक्त ऐतिहासिक व्यक्तित्व को केवल मानसिक सम्वेदनों के एक समूह के रूप में न लिया जाय, बल्कि उसे एक ऐसी सजीव वास्तविकता के रूप में लिया जाय जिसकी उत्पत्ति निर्दिष्ट सामाजिक परिस्थितियों में हुई है, और जो साथ ही उन परिस्थितियों पर प्रभाव डाल रही है। जैसे वैज्ञानिक के यह कहने से कि किस प्रकार की भूमि तथा किस प्रकार के वातावरण में गुलाब की उत्पत्ति होती है, उसकी सुगन्ध में कोई बट्टा नहीं लगता, उसी प्रकार व्यक्तित्व के सामाजिक मूलोद्घाटन से उस व्यक्तित्व की सुगन्ध में फर्क नहीं आता है, और यदि दुर्गन्ध है, तो दुर्गन्ध में भी कमी नहीं आती है।'[१]

आगे इसी विषय में ट्राटस्की और भी लिखते हैं कि 'मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के इतिहास-लेखक तथा जीवनी लेखक अकसर बहुत-सी बातों को विशुद्ध रूप से वैयक्तिक और आकस्मिक पाते हैं, जब कि असली बात यों है कि एक व्यक्तित्व के जरिये से महान् ऐतिहासिक शक्तियाँ आत्म प्रतिफलन करती हैं।' इसी का स्पष्टीकरण करते हुए ट्राटस्की ने यह भी दिखलाया है कि किस प्रकार ऐतिहासिक शक्तियाँ बराबर कथित वैयक्तिक विचित्रताओं की पृष्ठभूमि से निकलकर उसी समय सामने आ जाती हैं, जिस समय उनका ऐसा करना ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से जरूरी हो जाता है। इतिहास से इस कथन को पुष्ट करते हुए उन्होंने यह दिखलाया है कि फरवरी क्रान्ति (१९१७) के दिनों में रूस सम्राट् निकोलस और जारीना अलेक्जेण्ड्रा ने क़रीब क़रीब वे ही आचरण किये हैं, जो आचरण फ्रेंच राज्यक्रान्ति (१७८९) के अवसर पर सम्राट् लुई

१ R. R. P. 115

और मांरी आंतवानेत ने किये थे। दोनों रानियाँ अपने राजाओं के ऊपर मानो खड़ी हैं। दोनों से जनता घृणा करती है, दोनों बराबर अपने पतियों से दृढ़ रहने के लिए कहती हैं, और फिर डरती हैं कि कदाचित् राजा कुछ रियायत न कर बैठें। आंतवानेत के इस रुख में जरा घृणा है, और अलेक्जेंड्रा के इस रुख में दया है। यों तो कहने के लिए यह कहा जायेगा कि इस प्रकार जनता से घृणा करना और अपने पति से शंकित रहना कि कहीं वह रियायत न कर बैठे, इन दो सम्राज्ञियों की वैयक्तिक विशेषता है, किंतु क्या इसी कथित वैयक्तिक विशेषता के ही जरिये से क्रान्ति का रथ आगे नहीं बढ़ा? जब हम इन दोनों महान् क्रान्तियों के इतिहास को पढ़ते हैं, तो हमें क्रान्ति की प्रारम्भिक घड़ी तक यह ख्याल आता है कि यदि इस समय राजशक्ति कुछ थोड़ा भी झुक जाय, और कुछ मामूली शासनसुधार दे दे, तो क्रान्ति न हो पावे। शायद फिर क्रान्ति आने में बहुत साल लग जायँ, किन्तु ऐसे समय कथित वैयक्तिक विशेषता क्रान्ति के पहियों में स्नेह-पदार्थ लगाकर उसकी गति बढ़ा देती है। दोनों सम्राट् टस से मस नहीं होते। राजाओं के इस टस से मस न होने में उनकी बीबियों का कथित चरित्र एक प्रमुख कारण होता है। ट्राटस्की ने केवल इन दो रानियों का उदाहरण दिया है, किन्तु ढूँढ़ने में इतिहास में इस प्रकार की वैयक्तिक विशेषता के और भी दृष्टान्त मिल सकते हैं। उदाहरणार्थ, इँगलैंड के राजा चार्ल्स प्रथम की स्त्री हेनरेयटा मारिया का चरित्र भी इसी प्रकार का था। यह कहा गया है कि इतिहास में जितनी भी भली-बुरी स्त्रियों ने राष्ट्र के कार्य में हस्तक्षेप करने की कोशिश की है,--क्लियोपेट्रा तथा शैबी की रानी से लेकर जितनी भी इस प्रकार की स्त्रियाँ हुई हैं, उन सब में चार्ल्स की बीबी सबसे खराब थी। वह कैथोलिक धर्म को माननेवाली थी, इँगलैंड प्रोटेस्टेंट मुल्क था, इसलिए वह अपने धर्मवालों को रियायतें दिलाने के लिए साजिशें किया करती थी। बराबर वह पति पर बहुत बुरा प्रभाव डालती थी। जनता उससे घृणा करती थी।[१] रानी की इन वैयक्तिक विशेषताएँ ने ही एक बड़ी हद तक राजा के सर्वनाश को (सच बात तो यह है कि १६४९ की ३० जनवरी को राजा का शिरच्छेद किया गया) द्रुतीकृत किया।

१ G. B. H. P. 355

लुई सोलहवां और निकोलस द्वितीय के बारे में यह कहा गया है कि वे यदि राजा न होते तो बहुत अच्छे व्यक्ति होते—भारतीय पाठकों को इस स्थान पर औरंगजेब की याद आयेगी—किन्तु ट्राटस्की ने ठीक ही लिखा है कि इस प्रकार की जल्पनाओं से न तो इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान ही बढ़ता है, न मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ जानकारी ही होती है। साम्राज्ञी अलेक्जेण्ड्रा जारशाही के पतन के दिन पहले कहती है "सब अच्छा ही होता जा रहा है। हमारे मित्र (रास पुटिन) के स्वप्न का बहुत भारी अर्थ है।" ट्राटस्की ने दिखलाया है कि इस प्रकार अलेक्जेण्ड्रा केवल मांरी आंतवानेत की बातों की पुनरावृत्ति भर कर रही थी। मांरी ने फ़्रेंच राज्य-शक्ति के पतन के एक महीना पहले लिखा था—"मेरे मन में अजीव प्रफुल्लता हो रही है, और मुझसे कोई कह रहा है कि हम शीघ्र ही सुखी और निरापद होंगी।" ये दोनों सम्राज्ञियाँ इस प्रकार डूबने के पहले इन्द्रधनुषवर्ण स्वप्न देखती हैं, और भविष्य-आनन्द की कल्पना में इतनी विभोर रहती हैं कि जीवन की वास्तविकता को भूल जाती हैं।

लुई के सम्बन्ध में एक फ़्रेंच इतिहास-लेखक ने लिखा है कि वे जानते ही नहीं थे कि इच्छाशक्ति भी कोई बला है। उनमें इच्छाशक्ति थी ही नहीं। यही उनके चरित्र की विशेषता थी। यही बात निकोलस के सम्बन्ध में भी लिखी जा सकती है। चार्ल्स प्रथम के सम्बन्ध में भी यही बात एक बड़ी हद तक सही है। इन सदृशताओं को देखकर एक वैज्ञानिक की तरह ट्राटस्की उनसे कुछ नतीजे निकालने पर विवश होते हैं। वे दाँतों तले उँगली दबाकर बैठे नहीं रह जाते कि यह क्या लीला है, भगवान्! वे जो नतीजे निकालते हैं, वे व्यक्ति और इतिहास के सम्बन्ध के स्पष्टीकरण में विशेष सहायक हो सकते हैं। हम उनके मन्तव्यों को ज्यों का त्यों उद्धृत करेंगे। वे लिखते हैं, 'सदृश अवस्थाओं में सदृश परेशानियों का एक ही तरह का परिणाम होता है। यदि परेशानी की मात्रा कम है तो विभिन्न व्यक्तियों में उसकी प्रतिक्रिया बहुत भिन्न भिन्न हो सकती है। यदि बहुत से लोगों में गुदगुदी पैदा की जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति पर उसका प्रभाव भिन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यदि एक गरम लोहे का टुकड़ा लेकर इन्हीं व्यक्तियों को छुला दिया जाय, तो उसकी प्रतिक्रिया

एक-सी होगी। जिस प्रकार एक विराट् वाष्प परिचालित हथौड़े के नीचे एक गोल चीज़ और एक तिकोनी चीज़ दोनों पिटकर चद्दर में परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार अति महान् तथा अपरिहार्य घटनाओं के दबाव से सब तरह के प्रतिरोध टूट जाते हैं, और कथित व्यक्तिगत चरित्र नष्ट हो जाता है।'

इसी बात को और साफ करते हुए ट्राटस्की ने लिखा है कि यह जो आमतौर से कहा जाता है कि जूपिटर पहले उन लोगों को पागल बना देता है, जिन्हें वह खतम करना चाहता है, (तुलसीदास की भाषा में 'जाको प्रभु दारुण दुख देहीं, ताकी मति पहले हर लेहीं') इसमें एक गम्भीर ऐतिहासिक सत्य कुसंस्कार के जामें में प्रस्तरीभूत है। ट्राटस्की ने लिखा है कि यह जो गेटे लिखते हैं कि बुद्धि निर्बुद्धिता हो जाती है, यह उसी विचार को ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के निर्व्यक्तिक जूपिटर के लफ्जों में व्यक्त करना है। व्यक्ति का चरित्र इतिहास के शतरंज के खेल में एक मोहरे का काम देता है, किन्तु वह मोहरा निर्जीव नहीं है। किसी भी बुद्धिमान् नेता के संबंध में इतिहास मर्मज्ञ को इस पहलू को याद रखकर अपना काम करना पड़ेगा। ट्राटस्की ने यह जो लिखा है, कि भौतिकवादी मनोवैज्ञानिक को चाहिए कि वह ऐसे तथ्यों को इकट्ठा करे, जहाँ सदृश क्रियाओं या परेशानियों की सदृश प्रतिक्रियाएँ होती हैं, केवल एक सुलेखक की वागाडम्बरयुक्त उड़ान-मात्र नहीं है, यह एक बहुत अर्थपूर्ण सुझाव है। जिस समय कोई पद्धति नाशोन्मुख हो जाती है, उस समय वैयक्तिक विचित्रताएँ—जिनमें बहादुरी और कायरपन, प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावाद सभी आ जाते हैं—केवल उसको कुछ हद तक द्रुतीकृत या विलम्बित कर सकती हैं। उस समय उस पद्धति या उसके मूर्तरूप व्यक्ति-विशेष पर या व्यक्तियों पर केवल इसी बात का निर्वाचन करना भर रह जाता है कि वह विनाश के इस रास्ते को चुने या उस रास्ते को। यदि वह व्यक्ति ऐतिहासिक शक्तियों के विरुद्ध मार्ग को चुने तो उस हालत में ऐतिहासिक शक्तियाँ उसके मस्तक को भूलुँठित कर आगे बढ़ जाती हैं, जैसे उसने चार्ल्स प्रथम, लुई सोलहवां, निकोलस द्वितीय या अति आधुनिक युग में हिटलर और मुसोलिनी के मस्तक के साथ किया है।

६—**मार्क्स का व्यक्तित्व और इतिहास**—यह देखना बहुत दिलचस्प

होगा कि व्यक्तित्व के सम्बन्ध में वैज्ञानिक समाज-शास्त्र का सिद्धान्त मार्क्स तथा लेनिन के व्यक्तित्वों पर भी लागू होता है या नहीं, और यदि लागू होता है, तो किस हद तक। हम पहले मार्क्स को ही लेंगे। मार्क्स के पहले ही सारे यूरोप में मजदूरवर्ग का उदय हो चुका था। इसी वर्ग के शोषण की नींव पर पूँजीवाद की बावन मंजिलवाली अट्टालिका खड़ी हो रही थी। ऐसे समय में मजदूरों की विचारधारा के रूप में वैज्ञानिक समाजवाद का उदय होना स्वाभाविक था। वैज्ञानिक समाजवाद के पहले ही किस प्रकार स्वाप्निक समाजवाद के तरह तरह के सिद्धान्त निकल चुके थे। बाद को हम समाजवाद की उत्पत्ति के ब्यौरेवार इतिहास की आलोचना करते हुए उस समय की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों पर रोशनी डालकर दिखायेंगे कि किस प्रकार उन विचारों की स्वाप्निकता मजदूरवर्ग के शैशव से अनिवार्यरूप से बँधी हुई थी। हम यहाँ पर केवल यह देखेंगे कि मार्क्स के व्यक्तित्व का इतिहास का क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में एँगेल्स से बढ़कर कौन अधिक विश्वसनीय तरीके से कह सकता है। एँगेल्स का कहना है—'और भौतिकवादी द्वन्द्ववाद जो वर्षों से हमारे हाथों में सबसे अच्छा औजार और सबसे पैना हथियार रहा है, न केवल हम लोगों के द्वारा आविष्कृत हुआ, बल्कि यह बहुत मार्के की बात है कि हम लोगों से यहाँ तक कि हेगेल से भी स्वतंत्ररूप से, एक जर्मन मजदूर सेफ डिटसगेन के द्वारा आविष्कृत हुआ था।'[१] एँगेल्स के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के नाम से जो विचार-धारा प्रचलित है, वह स्वयं की उपज थी। यदि मार्क्स पैदा नहीं होते तो कोई और व्यक्ति इसका वाहन होता। उस हालत में सम्भव है कि यह विचार-धारा उतने जोरों के साथ नहीं आती, किन्तु वह आती, इसमें सन्देह नहीं। यदि इस विचार-धारा में अन्तर्निहित शक्ति होती तो उस हालत में वह मार्क्स की ही तरह किसी परम शक्तिशाली व्यक्ति को अपने वाहन के रूप में ढूँढ़ लेती।

७—लेनिन का व्यक्तित्व और रूसी क्रान्ति—मार्क्स के व्यक्तित्व की उत्पत्ति पर उनके अनन्य हृदय मित्र तथा साथी, योद्धा एंगेल्स का क्या कहना था, इसे हम देख चुके। अब हम देखेगें कि रूसी क्रान्ति के इतिहास लेखक ट्राटस्की का

१ R. R. P. 55

लेनिन के व्यक्तित्व पर क्या कहना है। १९१७ की फरवरी में जब पूँजीवादी क्रान्ति हो गई, इसके बाद लेनिन रूस के अन्दर दाखिल हुए। अब तक वे अपने देश से बाहर भागे भागे फिर रहे थे, किन्तु एक ईगल पक्षी की तरह अभी दृष्टि रूस पर निबद्ध थी। यह तो इतिहास सम्मत बात है कि लेनिन के रूस में आने तक वाल्शेविक दल के अन्य नेता किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाए थे कि आगे क्या करना है। लेनिन ने आते ही सारी बातों की काया-पलट कर दी। सच बात तो यह है कि उन्होंने देश में प्रवेश कर अपने सुप्रसिद्ध अप्रैल वक्तव्य के द्वारा दल के सामने जो दृष्टिकोण पेश किया, वह इतना नवीन था कि दल के नेता उसे सुनकर चौंधिया गए, और उसे अस्वीकार कर दिया। फिर भी लेनिन अपनी आन पर डटे रहे और एक एक व्यक्ति करके सारे दल को अपने मत में ले आये, और फिर उन्हीं के बताये हुए मार्ग से चलकर दल क्रान्ति का नेतृत्व कर सका। इसी पर ट्राटस्की लिखते हैं 'स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यदि लेनिन १९१७ के अप्रैल में रूस न पहुँच पाते तो क्रान्ति का विकास क्योंकर होता? हमने रूसी क्रान्ति का जो विवरण दिया है, उससे यदि कुछ प्रमाणित होता है तो यह कि लेनिन क्रान्तिकारी प्रक्रिया के उत्सस्थल (demiurge) नहीं थे, बल्कि वे केवल दृश्यगत ऐतिहासिक प्रक्रिया की कड़ी में अपना स्थान रखते थे। हाँ वे उस जंजीर की वहुत बड़ी कड़ी थे। सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व को, उस समय की मौजूदा परिस्थितियों से निकालना था, किन्तु उसे निकालना अभी बाकी था। ऐसा दल के बगैर नहीं हो सकता था। दल ऐसा करने में तभी सफल हो सकता था, जब वह परिस्थितियों को समझ लेता। इसके लिए लेनिन की जरूरत थी। उनके रूस पहुँचने के पहले एक भी वाल्शेविक नेता क्रान्ति का निदान करने का साहस नहीं करता था। कामनेव और स्टालिन का नेतृत्व घटनाओं के झकोरों से 'समाजवादी देशभक्तों' की ओर झुक चुका था। क्रान्ति ने लेनिन और मेनशेविकवाद के बीच कोई जगह नहीं छोड़ी थी। वाल्शेविक दल के अन्दर आन्तरिक कलह बिलकुल अनिवार्य थी। लेनिन के आ जाने से यह प्रक्रिया केवल द्रुतीकृत हुई। उनके व्यक्तिगत प्रभाव के कारण यह संकटकाल ह्रस्व हो गया। फिर भी क्या यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि लेनिन के बगैर ही

दल अपना सही मार्ग ढूँढ़ लेता? सच बात तो यह है कि हम इस प्रश्न का उत्तर हाँ में नहीं दे सकते। इस मामले में समय का हिस्सा निर्णयात्मक होता है, और बाद को समय के विषय में ऐतिहासिक रूप से कुछ भी कहना मुश्किल है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और अदृष्टवाद में कोई भी समता नहीं है। लेनिन के वग़ैर अवसरवादी नेतृत्व जिस संकट को अनिवार्य रूप से उत्पन्न करता, वह बहुत ही तीव्र तथा दीर्घ होता, किन्तु युद्ध तथा क्रान्ति की परिस्थितियों के कारण दल को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक समय नहीं मिलता। इस प्रकार यह सम्भावना से बाहर नहीं है कि एक ऐक्यहीन तथा द्विधाविभक्त दल क्रान्तिकारी मौके को सालों के लिए पीछे हटा देता। यहाँ पर सचमुच व्यक्तित्व का क्या हिस्सा है यह प्रश्न एक बहुत ही बड़े पैमाने पर हमारे सम्मुख आता है। उस हिस्से को सही तौर पर समझने की जरूरत है, और वह यह है कि ऐतिहासिक जंजीर में व्यक्तित्व को एक कड़ी भर समझा जाय। ऐतिहासिक विकास में लेनिन कोई आकस्मिक उपादान नहीं थे, बल्कि रूस के सारे अतीत के इतिहास की उपज थे। वे गंभीरतम जड़ों के साथ इसमें जमे हुए थे। रूस में पदार्पण करते ही लेनिन को जो अभूतपूर्व स्वागत मिला, उसी से जाहिर है कि नेता आकस्मिक रूप से बन नहीं जाते, बल्कि वे धीरे धीरे चुने जाते हैं। बीसों वर्ष में उनकी शिक्षा होती है। उनकी जगह दूसरे स्वेच्छाचारिता से नहीं ले सकते। यदि उनको कृत्रिम रूप से लड़ाई से अलग रखा जाय, तो दल को जिन्दा घाव प्राप्त होता है, और कई क्षेत्रों में तो युगों के लिए इस कृत्य के कारण दल पंगु हो जाता है[१]।"

८—**व्यक्तित्व पर पोक्रोवस्की और बुखारिन**—पोक्रोवस्की ने व्यक्तित्वों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उससे इतिहास में उनके हिस्से का और भी स्पष्टीकरण होता है। वे कहते हैं—'हम मार्क्सवादी व्यक्तित्वों को इतिहास के निर्माताओं के रूप में नहीं देखते। हमारे नजदीक व्यक्तित्व केवल वह औजार है जिससे इतिहास काम करता है। शायद ऐसा समय आवे जब हम व्यक्तित्वों को उसी प्रकार कृत्रिम रूप से पैदा कर सकें, जैसे आज हम विद्युत् संचयाधार (electrical accumulator) पैदा करते हैं। किन्तु अभी तक हमारी उन्नति

१ R. R. P. 342-4

उस दर्जे तक नहीं पहुँची। अभी तक तो ये वाहन जिनसे इतिहास अपने को उद्घटित करता है—सामाजिक प्रक्रिया के ये संचयाधार औपादानिक तरीके से ही पैदा होते हैं।" पोक्रोवस्की के इस मत के साथ जब हम वीर पूजा सिद्धान्त के प्रतिपादक कार्लाइल के उस मत की तुलना करते हैं जिसमें यह कहा जाता है कि इतिहास के निर्माता कुछ वीर पुरुष हैं, तो उसका थोथापन साबित हो जाता है। कार्लाइल फ्रेड्रिक महान् तथा क्रामवेल की तारीफों का जो पुल बाँध देते हैं, और आम जनता के लिए जिस घृणा का प्रदर्शन करते हैं, वह विजय से चूर मदमाते पूँजीपतिवर्ग (जिसका सारे यूरोप में जय-जयकार हो रहा था, और जिसकी टोपी में नित्य विजयसूचक एक न एक पंख लगता जाता था) के प्रतिनिधि लेखक के उपयुक्त था, किन्तु यह सत्य से कोसों दूर था। इसी प्रकार एक लेखक रिकर्ट हो गये हैं, जिनका कहना था कि 'ऐतिहासिक विद्वान् गेटे की आवाज में आवाज मिलाकर सामान्यता के नारे देते हैं, हम उसका उपयोग करते हैं, किन्तु उससे प्रेम नहीं करते। हम केवल व्यक्ति के लिए ही परवाह करते हैं।' यह द्रष्टव्य है कि रिकर्ट के मत में भी साधारण जनता के लिए घृणा है, हाँ वे उसका उपयोग करने के सम्बन्ध में सचेत हैं।

व्यक्ति तथा व्यक्तित्व के प्रश्न को और स्पष्ट करते हुए बुखारिन ने लिखा है—"क्या व्यक्ति का कोई भाग होता है, या वह घटनाओं के प्रभाव में एक शून्य-मात्र होता है? अवश्य समाज जब व्यक्तियों से बना है, तो सामाजिक घटनाओं पर प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया का प्रभाव पड़ेगा ही। व्यक्ति का जरूर ही एक 'हिस्सा' होता है। उसके कार्य, अनुभूतियाँ तथा इच्छा सामाजिक घटना के बनानेवाले हिस्से के रूप में कार्यशील होती हैं। मनुष्य ही इतिहास का निर्माण करते हैं। विभिन्न व्यक्तियों की शक्तियों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया से ही ऐतिहासिक घटनाओं का निर्माण होता है[१]।"

९—समाज में व्यक्तियों के स्वार्थ तथा इच्छाओं में संघर्ष से इतिहास— फ्रीड्रिख एंगेल्स ने जे० ब्लाक नामक—एक मित्र को लन्दन से २१ सितम्बर, १८९० को एक पत्र लिखते हुए इस विषय पर अच्छी रोशनी डाली थी। उन्होंने लिखा था—"हम अपने इतिहास का निर्माण करते हैं, किन्तु बहुत ही

१ M. H. P. 97

निर्दिष्ट अवस्थाओं तथा पहले से स्वीकृत धारणाओं के दायरे में। इनमें आर्थिक कारण अन्तिम रूप से निर्णयात्मक है, किन्तु राजनैतिक आदि कारण है, यहाँ तक कि मनुष्य के मन पर प्रभाव रखनेवाली परम्पराओं का एक हिस्सा होता है, अवश्य ही इनका प्रभाव निर्णयात्मक नहीं होता.. । दूसरी बात यह है कि इतिहास इस प्रकार आत्म-निर्माण करता है कि अन्तिम निर्माण हमेशा बहुत सी वैयक्तिक इच्छाओं के बीच होनेवाले संघर्ष से उद्भूत होता है। फिर इन वैयक्तिक इच्छाओं को यदि देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनमें से प्रत्येक इच्छा की उत्पत्ति जीवन की विशेष परिस्थितियों से हुई है। इस प्रकार एक दूसरे को काटनेवाली अगणित शक्तियाँ हैं—शक्तियों के समानान्तर रेखायुक्त चतुर्भुजों का एक सिलसिला है जिनसे वह परिणाम निकलता है जिसे हम ऐतिहासिक घटना कहते हैं। फिर इसे भी यदि हम देखें तो ऐसी शक्ति की उपज के रूप में देख सकते हैं जो समग्ररूप से बिना इच्छा-शक्ति के चेतना-हीन रूप में काम करती है। प्रत्येक व्यक्ति जो चाहता है, बाकी सब लोग उससे कुछ दूसरा ही चाहते हैं, इस प्रकार उसके चाहने में बाधक स्वरूप होते हैं, और अन्त तक कर-कराकर वह बात होती है जिसे किसी ने उस रूप में नहीं चाहा था, कि जिस रूप में वह घटित हुई। इस प्रकार अतीतकाल का इतिहास एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में चलता है, और वह अपरिहार्य रूप से गतिशास्त्र के उन्हीं नियमों के अधीन है। किन्तु यदि कोई इस तथ्य से यह समझे कि वैयक्तिक इच्छाएँ (प्रत्येक इच्छाकारी उसी बात की इच्छा करता है, जिस बात की इच्छा करने के लिए वह शारीरिक बनावट और बाहरी परिस्थितियों से—अन्तिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों से चाहे वे वैयक्तिक परिस्थितियाँ हों या समाज की परिस्थितियाँ हों, प्रेरित होता है) पूर्ण नहीं होती, बल्कि वे सामूहिक औसत इच्छा में, (collective mean) एक सामान्य परिणाम में निमज्जित हो जाती हैं, इसलिए उनका मूल्य शून्य है, तो वह गलत उपसंहार होगा। इसके विपरीत प्रत्येक मिलकर उस परिणाम का निर्माण करते हैं, और उस हद तक उसके अन्तर्भुक्त हैं।"[१]

---

१ M. E. C. P. 479

इसी पत्र पर टीका करते हुए सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी शहीद लेखक राल्फ फाक्स ने यह लिखा था कि 'मनुष्य का यह भाग्य है कि उसकी इच्छाएँ कभी जिस रूप में वह इच्छा करता है, हू बहू उस रूप में परिपूर्ण नहीं होतीं, किन्तु मनुष्य का यह गौरव भी है कि इन इच्छाओं की परिपूर्ति प्राप्त करने के दौरान में मनुष्य चाहे कितना भी कम अंश में और चाहे कितनी ही सीमित मात्रा में कर पावे जीवन को परिवर्तित करता है। मनुष्य के भाग्य के लिए अज्ञात X=O नहीं है। इसके विपरीत प्रत्येक उस परिणाम को लाने में अपना दाम देता है, और इस हद तक उसका इसमें हिस्सा रहता है।"[१]

उद्धृत अंशों से व्यक्ति किस प्रकार और किस हद तक इतिहास-निर्माण करते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य प्राप्त साधनों का अपने ढंग से उपयोग करना चाहता है। सब लोग अपने, विशेष स्वार्थों के मुताबिक घटनाचक्र को ढालना चाहते हैं। जब तक समाज के सब सदस्य या अधिकांश सदस्य एक योजना के अनुसार चलना स्वीकार न करें तब तक समाज में व्यक्तियों का संघर्ष अनिवार्य है, और तब तक यह भी मालूम नहीं होता कि उन परस्पर विरुद्ध चेष्टाओं तथा इच्छाओं के संघात से क्या फल निकलेगा। जैसा कि हम देख चुके हैं ऐसा नहीं होता कि इन इच्छाओं तथा चेष्टाओं के संघर्ष के कारण वे एक दूसरे से कतई कट-पिट जायँ, और कुछ भी बाकी न रहे, बल्कि इतिहास का निर्माण होता है। बुखारिन ने तो इन्हीं शब्दों में समाज की व्याख्या कर डाली है। उनका कहना है कि 'पारस्परिक रूप से क्रिया-प्रतिक्रियाशील व्यक्तियों की विस्तृततम पद्धति को, जिसमें उनकी स्थायी पारस्परिक क्रिया प्रक्रिया आ जाती है, तथा जो उनके श्रम-सम्बन्धों पर आधारित है, समाज कहते हैं।'[२] केवल समाजवाद में ही मनुष्य की इच्छाएँ संगठित होकर एक निर्दिष्ट दिशा की ओर जा सकती हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है जैसा कि बताने की चेष्टा की गई है। समाजवादी समाज में materialistic determinism अर्थात् आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओं से विचारों का निर्णय होनेवाला नियम रद्द हो जाता है और समाज में शुष्क इच्छा का नियम ही चलने लगता है। सच बात तो यह है कि विकास के वे

१ R. F. M. V. P. 191 २ H. M. P. 90

ही नियम रहते हैं किन्तु मनुष्य सामाजिक नियमों को जान जाने के कारण तथा इस ज्ञान का फायदा उठाने में समर्थ होने के कारण वह सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का और साथ ही साथ इच्छा को ठीक-ठीक संगठित कर सकता है। इस प्रकार समाजवादी समाज में मनुष्य को जो यदृच्छ चलनेवाली सामाजिक, आर्थिक शक्तियों के हाथ से मुक्ति मिल जाती है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वह वस्तुओं तथा घटनाओं से स्वतन्त्र हो गया, और इनसे बिलकुल स्वतन्त्र रूप से मनुष्य की इच्छा चलने लगेगी, बल्कि इसका अर्थ यह है कि मनुष्य ने वस्तुओं के तथा घटनाओं के नियम को जान लिया। उसके अन्तर्निहित द्वन्द्ववाद के नियम को समझ लिया, और ऐसा जानकर तथा समझकर इस ज्ञान के बूते पर वह समाज का नियमन करता है। साम्यवादी समाज में इसी अर्थ में समाज स्वतन्त्र हो जायेगा अर्थात् वह अपने अन्तर्गत मनुष्यों की संगठित इच्छा के अनुसार चल सकेगा।

१०—आकस्मिक घटना—जब तक हम इस प्रकार के समाजवादी समाज में पहुँचकर (उसके पहुँचने के भी नियम हैं, कोई 'रामाश्रे' बैठने की बात की ओर इशारा नहीं है) अपनी इच्छाओं को एक संगठित, नियमित रूप नहीं दे पाते तब तक हम बराबर व्यक्तियों की असंगठित इच्छा तथा अवर्गीकृत, अपरिज्ञात चेष्टाओं के परिणामों में भटकते रहेंगे, और जिसे हम आकस्मिक घटना कहते हैं, उसके अधिकाधिक शिकार रहेंगे। आख़िर ये आकस्मिक घटनाएँ कहाँ तक आकस्मिक हैं? वहीं तक जहाँ तक कि हम उनको देख नहीं पाते, वहीं तक जहाँ तक हमारे ज्ञान की परिधि की कमी के कारण हम उन्हें पहले से जान नहीं पाते। इच्छाएँ, घटनाएँ सब तभी तक हमारे लिए रहस्य की श्रेणी में रहेंगी। हमने देख लिया कि हम इच्छाओं को या घटनाओं को अस्वीकार नहीं करते, बल्कि हम उनको गहराई तक समझने की चेष्टा करते हैं, और यह देखना चाहते हैं कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। 'हम किसी घटना के सम्बन्ध में ठीक ठीक भविष्यवाणी इसलिए नहीं कर पाते कि हम सामाजिक विकास के सारे नियमों के विषय में अभी इतना पूर्ण रूप से नहीं जानते कि उनको आंकड़ों में लाकर रख सकें। हम सामाजिक प्रतिक्रियाओं की गति के वेग को नहीं जानते फिर भी हम उसके सम्बन्ध में निर्भ्रान्त रूप से यह जानते

हैं कि गति किस ओर है।'[१] हमारे ज्ञान की अपूर्णता ही आकस्मिक घटनाओं के लिए ज़िम्मेदार है। आकस्मिक घटनाओं से जिन घटनाओं को हम समझते हैं, वे नियम बहिर्भूत नहीं हैं। उदाहरणार्थ रेलों के लड़ने को एक आकस्मिक विपत्ति कहा जाता है, किन्तु क्या इसमें कोई भी बात आकस्मिक या नियम बहिर्भूत है, बल्कि सच बात तो यह है कि नियमानुगता के कारण ही ये कथित आकस्मिक घटनाएँ घटित होती हैं। सिगनलमैन ने गलत सिगनल दिया, पटरी कमजोर हो गई या और किसी कारण से जब गाड़ी पटरी से उतर जाती है तो उसे हम केवल लौकिक अर्थ में भले ही आकस्मिक कहें, किन्तु उसमें कहीं भी आकस्मिकता नहीं है, या है तो इतनी है कि ड्राइवर या मुसाफिर इन कारणों से परिचित नहीं थे। इस प्रकार किसी भी आकस्मिक घटना का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम इसी प्रकार यह पायेंगे कि आकस्मिक बात कोई भी नहीं है। हम इस सम्बन्ध में आगे और आलोचना करेंगे। इस प्रसंग में आकस्मिकता पर इतना ही विचार यथेष्ट है क्योंकि हमें केवल इतना ही समझना है कि व्यक्तित्व कहाँ तक आकस्मिक है।

११—व्यक्ति परिस्थितियों पर निर्भर—इतिहास में महान् व्यक्तियों की उत्पत्ति तथा अस्तित्व को आकस्मिक घटनाओं के रूप में समझने की परिपाटी है। लोग कहते हैं कि अमुक महान् व्यति वहाँ मौजूद था, तभी ऐसा हो सका, नहीं तो ऐसा नहीं होता वैसा होता; किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि व्यक्ति की उत्पत्ति, विकास, सफलता या असफलता सब सामाजिक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के ऊपर निर्भर है। क्या कारण है कि एक समय एक व्यक्ति पैदा होता है; और वह एक बात कहता है, किन्तु किसी के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती, किन्तु कुछ दिनों बाद दूसरा व्यक्ति उसी बात को उससे निकृष्ट तरीके से पेश कर सकता है, और उससे समाज में एक तूफ़ान आ जाता है, आँधी-सी आ जाती है, और क्रान्ति की लपटें बादलों का मुँह चूमने लगती हैं? स्पष्ट है कि उस सफल व्यक्ति की बातों में कोई जादू नहीं था, बल्कि जो परिस्थितियाँ थीं, वर्गों के जो आपसी सम्बन्ध थे, समाज की उत्पादन शक्तियों की जो हालत थी, लोगों में चेतना का जो परिमाण था, उसी

१ H. M. p. 49

के कारण उसकी बातों को क्रान्तिरूपी विराट् परिणाम के रूप में पल्लवित और पुष्पित होने का मौका मिला। इसका अर्थ यह भी न समझा जाय कि उस मौके पर उन बातों के कहने का कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि ऐसा भी तो हो सकता है कि साधन और परिस्थितियाँ बहुत कुछ वही होतीं। किन्तु यदि उस बात को उस प्रकार कहनेवाला कोई न होता तो उसका परिणाम वैसा न हो सकता था, जैसा हुआ। इसी के साथ जैसा कि हम पहले देख चुके हैं परिस्थितियाँ ऐसा कहनेवालों को पैदा कर लेती हैं, किन्तु परिस्थितियों की किस मात्रा तक परिपक्वता हो जाने पर ऐसा कहनेवाला या नेता पैदा हो जाता है, किस मात्रा में नेता जबरदस्त होता है, और किस हालत में कमजोर नेता होता है, उसकी ठीक-ठीक मात्रा अभी हमें ज्ञात नहीं है। किन्तु जैसा कि पोक्रवस्की के शब्दों में हम देख चुके हैं, यह ज्ञान कोई असम्भव नहीं है।

१२—व्यक्ति एक कार्यक्रम तथा विचार-समूह—एक व्यक्ति तभी सफल होता है जब उसकी सफलता के लिए परिस्थितियाँ परिपक्व हों। अवश्य ही एक हद तक वह इन परिस्थितियों को बनाता भी है। १८४८ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद जिस समय क्रान्तिकारी शक्तियों का जोर बढ़ता गया, और दिसम्बर १०, १८४८ को राष्ट्रपतित्व के लिए वोट लिये गये, उस समय किसानों ने लुई नेपोलियन बोनापार्ट को वोट दिये। इसके कारणों का उद्घाटन करते हुए मार्क्स ने लिखा था कि नेपोलियन किसानों के लिए एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक कार्यक्रम था।[१] किसानों के लिए लुई नेपोलियन के शक्ति आरूढ़ होने का अर्थ महाजन के ऊपर कर्जदार का राज्य स्थापित होना था। इसके अतिरिक्त प्रथम नेपोलियन के जमाने में किसानों के बहुत-से लड़के सामरिक नौकरियों के जरिये से जनरल के उच्च पद तक पहुँच गये थे। फलस्वरूप उनकी जो आर्थिक, सामाजिक तरक्की हुई थी, उसकी स्मृति के कारण भी किसानों ने इस नेपोलियन नामधारी व्यक्ति को वोट दिये थे। इस प्रकार लुई को जो राष्ट्रपति होने का मौका मिला है, उसके कारणस्वरूप साधारण तौर पर उसका जो व्यक्तित्व बतलाया जायेगा, उसका हमने विश्लेषण कर देख लिया कि वह केवल कुछ आशाओं, आकांक्षाओं को विशेष रूप से जागृत करने की सामाजिक..

१ C. S. F. p. 91

योग्यता मात्र थी, और इसके पीछे फ्रांस का लगभग पचास साल का इतिहास तथा जनता का अनुभव था। दूसरे शब्दों में परिस्थितियों के ही कारण लुई का कथित व्यक्तित्व बना।

१३—भगतसिंह और गांधी जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण—जिस प्रकार हमने लुई के व्यक्तित्व की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तित्व का किया जा सकता है। पंडित जवाहरलाल जी नेहरू ने अपनी आत्मकथा में सरदार भगतसिंह के व्यक्तित्व का बहुत सुन्दर भौतिकवादी विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है किस प्रकार उस समय के राष्ट्रीय वातावरण के कारण सरदार का व्यक्तित्व बना और उनको अपने युग में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त हुई। वे लिखते हैं, 'हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान (लाला लाजपतराय पर मार पड़ने) का ख्याल काम कर रहा था, और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लाला जी की मृत्यु हो गई, तब लोगों ने लाजमीतौर पर उसका ताल्लुक उन पर किये गये हमले से जोड़ा, और इस ख्याल से लोगों के दिलों में जो गुस्सा और रोष आया, वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना जरूरी है क्योंकि इस बात को समझकर ही हम बाद को होनेवाली बातों को, भगतसिंह की कहानी को तथा उत्तर-भारत में भगतसिंह को एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसे समझ सकेंगे।.....इससे पहले भगतसिंह को लोग भगतसिंह के रूप में नहीं जानते थे। उन्हें जो लोकप्रियता मिली, वह कोई हिंसात्मक कार्य करने की वजह से नहीं मिली।[१] इस प्रकार नेहरू जी ने भगतसिंह की पूरी लोकप्रियता का सुन्दर विश्लेषण किया है। उसके अनुसार जिन परिस्थितियों में सरदार ने काम किये, उन्हीं के कारण उन्हें लोकप्रियता मिली। वे एक राष्ट्रीय अपमान के बदला लेनेवाले के रूप में आये, इसलिए उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई। यह विश्लेषण बहुत ही ठीक है, किन्तु इसी प्रकार से सभी व्यक्तित्वों का विश्लेषण किया जा सकता है। यदि सरदार भगतसिंह को लोकप्रियता इस कारण प्राप्त नहीं हुई कि उन्होंने एक 'हिंसात्मक' कार्य किया था, तो उसी प्रकार महात्मा गांधी या अन्य उनके इर्द-गिर्द के उपग्रहों को भी

१ A. G. N. p. 174

जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, वह सत्य और अहिंसा अथवा उसके सम्बन्ध में दावा करने के लिए नहीं मिली, वल्कि जिस सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि में गांधी जी ने जलियानवाला बाग के बाद भारतीय राजनीति में पदार्पण किया था, जिस प्रकार वे डूबते हुए के लिए तिनके का साहरा साबित हुए थे, उसी कारण उनको लोकप्रियता प्राप्त हुई। फिर देश का पिछड़ापन, लोगों की कुसंस्कार-ग्रस्तता, त्याग के सम्बन्ध में लोगों की अद्भुत धारणा आदि ने भी अपना काम किया, और इन कारणों से महात्मा जी का महान् व्यक्तित्व बना। जिस सामाजिक पृष्ठभूमि में महात्मा जी आये, उसके अतिरिक्त वे किसी भी अन्य पृष्ठभूमि में सफल नहीं हो सकते थे। यदि गांधी जी अन्य किसी देश में पैदा होते तो वे एक धार्मिक crank के रूप में रह जाते या उन्हें दूसरी कार्यपद्धति अख्तियार करनी पड़ती, किसी भी हालत में वे इस सफलता को प्राप्त नहीं कर सकते थे। पंडित नेहरू की विश्लेषण-पद्धति में इतनी गड़बड़ी है कि वे एक क्रान्तिकारी की लोकप्रियता की व्याख्या करते समय तो भौतिकवादी पद्धति का अनुसरण करते हैं, और उस पद्धति को सफलतापूर्वक इस्तेमाल करते हैं, किन्तु गांधी जी आदि के व्यक्तित्व की इस प्रकार भौतिक व्याख्या नहीं करते। अस्तु।

१४—व्यक्ति परिस्थितियों से उत्पन्न—एंगेल्स ने १८९४ में स्टारकन वुर्ग नामक एक मित्र को एक पत्र में लिखा था—'एक विशेष समय में एक विशेष व्यक्ति का किसी देश में पैदा होना बिलकुल आकस्मिक घटना है (आकस्मिक शब्द का यहाँ वही मतलब लिया जाय, जिसकी हम पहले परिभाषा कर चुके हैं—ले०), किन्तु उस व्यक्ति को काटकर अलग कर दीजिए तो उसके स्थल में एक दूसरे व्यक्ति की जरूरत होती है। हो सकता है कि यह स्थानाभिषिक्त या एवजी व्यक्ति उससे घटिया हो, किन्तु अन्त तक वह मिल ही जायेगा। जिस समय फ्रेंच प्रजातन्त्र अपनी ही लड़ाइयों से परिश्रान्त हो गया था, उस समय जो, नेपोलियन नामक एक कार्सिकरवासी के लिए सामरिक अधिनायक की जगह की जरूरत हुई, यह एक आकस्मिक घटना थी। किन्तु यदि एक नेपोलियन न मिलता, तो दूसरा उसके स्थल की पूर्ति कर लेता, इसमें सन्देह नहीं। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि जिस समय भी नेपोलियन ऐसे व्यक्ति की

जरूरत पड़ी, उस समय वह मिल गया, जैसे सीजर, अगस्टस, कामवेल इत्यादि'। मार्क्स ने फ्रांस के वर्ग युद्ध नामक अपनी पुस्तक में मानो इसी वक्तव्य को दूसरे शब्दों में यों कहा था—'प्रत्येक सामाजिक युग को महापुरुषों की जरूरत रहती है, और यदि ये न मिलें तो जैसा हेलवेसियस ने कहा है, यह उनका आविष्कार कर लेता है।'[१]

१९२३ में लुवर चारस्की ने 'क्रान्तिकारी शब्द चित्र' (Revolutionary silhonettes) नाम से एक पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने यह लिखा था कि 'जिस समय एक महान् क्रान्ति आती है, उस समय एक महान् जाति अपने प्रत्येक हिस्से के लिए एक उपयुक्त नेता उत्पन्न कर लेती है और हमारी क्रान्ति की महत्ता के चिह्नों में एक यह भी है कि वाल्शेविक पार्टी ने जरूरत पड़ने पर या तो अपने से, या किसी दूसरे दल के अन्दर से एक ऐसे नेता को लाकर खड़ा कर दिया जो दल में बहुत अच्छी तरह जमे हुए थे, और साथ ही ऐसे योग्य व्यक्ति थे कि सरकार के उस कार्यक्रम में बखूबी हाथ बँटा सकते थे।' रूसी क्रान्ति का इतिहास, और उसके बाद का इतिहास पढ़ने पर बराबर हमें यह ज्ञात होता है कि जिस समय जिस तरह के नेता की आवश्यकता हुई, उस समय समाजवादी रूस में उसी प्रकार के नेताओं का उद्भव होता गया। हमें ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह प्रकट है कि कल तक जो पददलित, अशिक्षित मज़दूर या किसान-मात्र थे, उन्हीं में से क्रान्ति के बाद बहुत से बड़े बड़े उद्योग-धन्धों के नेता, राजनीतिज्ञ तथा सेनापति उत्पन्न हुए।

१५—स्पेन प्रतिक्रान्ति का उदाहरण—हिटलर, मुसोलिनी, मोसले— आधुनिक यूरोप के इतिहास में परिस्थितियों के द्वारा व्यक्तित्व के उत्पन्न कर लिये जाने का एक बहुत अच्छा उदाहरण स्पेन के गृहयुद्ध से मिलता है। इस गृहयुद्ध के असली सामरिक नेता जनरल सान जुरजो और राजनैतिक नेता कालवो सेटलो थे। विद्रोह जिस समय भ्रूणावस्था में था उसी समय सेनर कालवो सेटलो, जो प्रीमोड रिवेरा के अधीन अर्थसचिव थे, और जिनके विषय में यह आशा की जाती थी कि वे संयुक्त दक्षिण पक्ष या प्रतिक्रियावादी पक्ष के नेता होंगे, मार डाले गये। इस प्रकार स्पेन प्रतिक्रान्ति का राजनैतिक नेता

१ C. S. F. p. 124

रंगमंच से अलग हो गया। जनरल सान जुरजो की भी यही दशा हुई। गृहयुद्ध के प्रारम्भ होने के तीन दिन बाद ही वे एक हवाई जहाज की दुर्घटना से मर गये। इस प्रकार जब दोनों नेता आकस्मिक रूप से मर गये, तब जाकर फ्रेंको को नेतारूप में सामने आने का मौका मिला। फ्रेंको उस समय केनरी द्वीप-पुँज के गवर्नर थे, और वे जर्मन तथा इटालियन हवाई जहाजों की सहायता से युद्धक्षेत्र में पहुँच सके। यह घटना परम्परा इतनी स्पष्ट है तथा इसका ऐतिहासिक अर्थ इतना साफ है कि जान गुन्थर ऐसे उच्छवृत्तिवादी लेखक भी इस घटना परम्परा के अर्थ पर ध्यान दिये बगैर नहीं रह सके। उन्होंने लिखा है कि, 'फ्रेंको ऐतिहासिक आकस्मिकता के सम्बन्ध में एक अव्वल दरजे का दृष्टान्त हैं। जो योजना बनी थी, उसमें उनका कोई भी स्थान नहीं था, प्रधान नेता होने की बात तो दूर रही। असली नेता तो कालवो सेटलो थे, जो जुलाई में मार डाले गये थे, और सान जुरजो थे जो लड़ाई के शुरू होते ही मारे गये थे। फ्रेंको ने न केवल उनकी जगह ले ली, बल्कि वह दूसरों से योग्यतर साबित हुए। रणनैतिक दृष्टि से भी वे कुछ बुरे नहीं रहे। मूर और लिजियनेर सेना उनके अधीन थी, और लड़ाई के प्रारम्भिक दो महीनों के अन्दर ही वे निर्विवाद रूप से नेता हो गये।'[१] मजे की बात यह है कि गुन्थर को ऐसा अपने अपनाये हुए प्रिय सिद्धान्त के विरुद्ध मानना पड़ा। उन्होंने अपनी पुस्तक को इस धारणा के वशवर्ती होकर लिखा है कि व्यक्तित्व ही इतिहास का निर्माता है, किन्तु उन्हें भी ऐसा मानना पड़ा। वे जिस धारणा को लेकर पुस्तक को लिखने चले थे, वह संक्षेप में, उन्हीं के शब्दों में यों है—'व्यक्ति की आकस्मिकता इतिहास में एक बहुत बड़ा हिस्सा अदा करती है। वर्टेन्ड रसेल कहते हैं कि लेनिन के बगैर रूसी क्रान्ति न होती, और विस्मार्क यदि बचपन में ही मर गये होते तो आधुनिक यूरोप का विकास कठिन होता। इसी प्रकार कार्ल मार्क्स के व्यक्तित्व ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या के द्वारा इतिहास पर जबर्दस्त असर पैदा किया।' (पृष्ठ IX) फिर भी इसी गुन्थर साहब की ही पुस्तक में फ्रेंको का उदाहरण हमें मिलता है। गुन्थर के अनुसार तो इस पुस्तक का प्रारम्भ हिटलर से तथा अन्त स्टालिन से होता है, अर्थात् उनके मतानुसार उस

१ I. E. p. 227

युग के इतिहास का निर्माण इन्हीं दो व्यक्तियों ने किया; किन्तु वे यह भी मानते हैं कि हिटलर १९३९ के महायुद्ध में फँस गया। उनके शब्द ये हैं—'हिटलर अपने से अधिक जबर्दस्त शक्तियों के हाथों में कैदी हो गया। या तो उसे फैलना पड़ता या उसे फूट जाना पड़ता। घटनाओं ने अपने गतिशास्त्र का निर्माण किया। घटनाएँ हिटलर को बहा ले गई।' फिर व्यक्तित्व का वह हिस्सा कहाँ रहा जिसे मानकर गुन्थर ने अपने राजनैतिक महाकाव्य की रचना की है? जिन परिस्थितियों में हिटलर का अभ्युत्थान हुआ, उन परिस्थितियों में यदि हिटलर नाम का एक आस्ट्रियन कारपोरल उसका नेतृत्व करने के लिए जर्मनी में नहीं मिलता, तो कोई न कोई और मिल जाता, शायद रेम (Rohm) मिलता, गोरिंग मिलता या कोई ऐसा व्यक्ति मिलता जिसका हमें पता नहीं है। क्या इटली में अनुरूप परिस्थितियों में फासिस्टवाद के नेतृत्व करने के लिए मुसोलिनी का व्यक्तित्व नहीं मिल गया था? सर आसवर्ल्ड मोसले हमारी आँखों में एक भाँड़ ज्ञात होते हैं। उनकी ट्रेजडी यह है कि इटली तथा जर्मनी में जिन परिस्थितियों में फासिस्टवाद का उदय हुआ, अर्थात् पार्लियामेंट्री तरीकों से पूँजीवादी शासन को कायम रखने की असमर्थतावाली परिस्थिति के बगैर ही मोसले ने मुसोलिनी और हिटलर की रेंक अपना ली। नतीजा यह हुआ कि वह हमें इतिहास के रंगमंच पर अकड़ कर चलता हुआ एक व्याघ्र-चर्मावृत्त गर्दभ की तरह प्रतीत होता है, नहीं तो मोसले के नैतिक, बौद्धिक ढाँचे में कोई ऐसी हास्यास्पदता नहीं है, जैसी कि हमें ज्ञात होती है। यदि इँगलैंड में या किसी देश में फासिवाद कायम होने की परिस्थिति पैदा हो जाय तो मोसले के मर जाने पर भी कोई न कोई फ्यूहरर ढूँढ़ ही लिया जायेगा?

१६—फ्रेन्च राज्य क्रान्ति से एक उदाहरण—मारा की हत्या—फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की घटनाओं में शारलतकोर्दे द्वारा सुप्रसिद्ध नेता मारा की हत्या (१३ जुलाई १७९३) एक प्रमुख घटना है। शारलत ने मारा की हत्या इस लिए की थी कि मारा ने जिरोंद दल को दबा दिया था, और उसके बहुत से नेताओं को मृत्यु के घाट उतार दिया था, या उतारनेवाला था। इस पर लिखते हुए वर्था मेरीटोन गार्डिनर ने १८८३ में ही लिखा था—'मारा उन परिस्थितियों का जनक नहीं था, जिनके कारण वह प्रभाव-विस्तार करने में

समर्थ हुआ। उसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे लोग थे जो उसी की तरह खूँखार मतान्ध तथा उसके मरने पर उसी की जगह लेने को तैयार थे।'[१] इस प्रकार बर्था ने माना है कि जो कार्य मारा के व्यक्तित्व ने किया उसी को दूसरे भी कर सकते थे। परिस्थितियाँ होने पर एक व्यक्ति की कमी या बेशी से कुछ विशेष अन्तर नहीं आता जाता।

१७—वैयक्तिक चरित्र और इतिहास—होर, लावाल, चेम्बरलेन, चर्चिल—कुछ मनोविश्लेषण विशेषज्ञों ने इस प्रकार का एक सिद्धांत खड़ा किया कि नेताओं के चरित्र के द्वारा ही इतिहास का निर्माण होता है। ब्रिटिश मनोविश्लेषक डाक्टर ग्लोवर अपने लेख War, Saditsm and Pascfiism में यह दिखाने की चेष्टा की है कि लड़ाइयों का कारण व्यक्तिगत अतिरिक्त भावनाएँ हैं। "वे समझते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में दमित और सम्पूर्ण रूप से अज्ञात आक्रमणात्मक भावनाओं का एक ऐसा भाण्डार होता है, जिसके विषय में उसे पता नहीं होता। कुछ लोग तो इन दमित आक्रमणात्मक भावनाओं पर अच्छी तरह नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो अपनी हीनता या क्लीवता के अपरिज्ञात भय के कारण, यदि वे मौका पावें तो, आक्रमणशीलता को एक असाधारण तथा अयुक्ति-युक्त मात्रा तक विकसित करते हैं। लड़ाई जिसे सही तौर पर 'कानूनी हत्या' कहा गया है, स्पष्ट रूप से उन लोगों को इस प्रकार दमन की हुई आक्रमणात्मक भावनाओं की मुक्ति के लिए मौका देती है। इसलिये डाक्टर ग्लोवर का कहना है कि इस प्रकार के चरित्रयुक्त लोगों में लड़ाई के लिए अपरिज्ञात रूप से खास प्रेरणा होती है। उनके कथनानुसार जिस राष्ट्र के कर्णधार के रूप में ऐसा एक व्यक्ति भी, जिसकी आक्रमणात्मक भावनाओं का सही ढंग पर दमन नहीं हो पाया, रहता है वह राष्ट्र पहला मौका मिलते ही लड़ाई में कूद पड़ेगा।"[२]

कहना न होगा इस प्रकार का मतवाद बिलकुल वास्तविक घटनाओं के विरुद्ध है। दूर जाने की जरूरत नहीं हाल की ऐतिहासिक घटनाओं से इस बात का बिलकुल खण्डन हो जाता है। हो सकता है कि किसी प्रधान मंत्री

१ F. R. B. p. 165
२ T. P. S. p. 263

या वैदेशिक मंत्री का किसी विशेष जाति के प्रति कोई विशेष रुख हो, और वह बहुत गहराई तक बैठा हुआ हो। किन्तु इससे यह मतलब कभी नहीं निकाला जा सकता—और न व्यावहारिक रूप से ऐसा कभी होता है कि उसका वह मत शासकवर्ग की इच्छा और उस समय के वर्ग के दृश्यमान हित और नीति के विरुद्ध होते हुए भी उस व्यक्ति की चल जाय। १९३९ की लड़ाई के पहले जिन घटनाओं के ताने-बाने के द्वारा इस महायुद्ध के लिए रंगमंच का निर्माण हो रहा था, उनमें से इटली द्वारा अबीसीनिया-विजय एक प्रमुख घटना है। ब्रिटिश मंत्री सर सेमुअल होर और फ्रेंच मंत्री मोशिये लवाल ने इस अवसर पर अपने पार्लियामेंटों के पीछे या अनजान में मुसोलिनी के साथ एक पैक्ट कर लिया। कहा जा सकता है कि यह पैक्ट होर और लवाल के विशेष चरित्रों के कारण हुआ या डाक्टर ग्लोवर ने जिस भाषा का व्यवहार किया है उसके अनुसार इन लोगों की आक्रमणात्मक भावनाओं का अच्छी तरह दमन हो पाया था, इसलिए उन्होंने पैक्ट कर लिया। किन्तु इसका परिणाम क्या हुआ? यह पैक्ट ब्रिटिश और फ्रेंच पार्लियामेंटों को स्वीकार नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप होर को पदत्याग करना पड़ा। इस पैक्ट की वास्तविकता तो यह थी कि असल में शासक वर्ग का सबसे ऊँचा तबका इस पैक्ट को चाहता था, और उसी की स्वीकृति से यह पैक्ट हुआ होगा। किन्तु यह उच्च तबका पार्लियामेंट को इस खास मौके पर अपने साथ नहीं ले जा सका। इसलिए ऊपर से इसे यह रूप दिया गया, मानो सर सेमुअल होर ने अपने मन से इस पैक्ट को कर लिया हो। इस दृष्टि से देखने पर होर को निकाल कर उच्च तबके ने विरुद्ध समालोचकों के हथियार छीन लिये। यदि ग्लोवर की तरह यह माना जाय कि इस पैक्ट का कारण होर का विशेष चरित्र था, तो उस चरित्र का चल कहाँ पाया? सामाजिक शक्तियों के सामने उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी, और सर होर दूध की मक्खी की तरह निकालकर अलग फेंक दिये गये।

इसी प्रकार मिस्टर चेम्बरलेन के उदाहरण को देखने पर भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। कहा जा सकता है कि मिस्टर चेम्बरलेन अपने व्यक्तिगत चरित्र के कारण फासिवादी जर्मनी को रियायतें दे-देकर तुष्ट रखने की नीति का अनुसरण करते थे—अर्थात् डाक्टर ग्लोवर की भाषा में उनकी

आक्रमणात्मक भावनाओं का अच्छी तरह दमन हुआ था, इसलिए वे हिटलर को तरह देते जाते थे। यहाँ तक कि उन्होंने म्युनिच का पैक्ट कर लिया जिसके अनुसार चेकोस्लोवाकिया को बिना पूछे ही नात्सी जर्मनी की रक्ताक्त बलि-वेदी पर चढ़ा दिया गया। किन्तु परिणाम क्या हुआ? मिस्टर चेम्बरलेन को अपनी जगह खाली करनी पड़ी, उनकी जगह मिस्टर चर्चिल आये, और लड़ाई लड़कर नात्सी जर्मनी को मिटा दिया गया। इससे हम देखते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तिगत चरित्र का चाहे राजनैतिक क्षेत्र में कुछ परिणाम होता हो, किन्तु जिस वर्ग की ओर से वह व्यक्ति नेता के रूप में काम कर रहा है, यदि उस वर्ग को उस व्यक्ति की जरूरत न रही, या दूसरी तरह के चरित्रवाले व्यक्ति की उसे जरूरत हुई तो वह पहलेवाला व्यक्ति निकाल दिया जाता है, और उसकी जगह पर दूसरी तरह के व्यक्ति को बैठा दिया जाता है। राष्ट्रों के मामूली वैदेशिक सम्बन्धों की गतिविधि को यदि हम जरा भी ध्यान से देखें तो यह ज्ञात होगा कि जब एक राष्ट्र का किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति रुख बदलता है, तो पहलेवाले राजदूत को हटाकर नवीन मत के परिपोषक किसी राजदूत को उस देश में नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार राजदूत के वैयक्तिक चरित्र से राष्ट्र परिचालित नहीं होता, बल्कि राष्ट्र उसके चरित्र को एक मोहरे के रूप में इस्तेमाल करता है।

हम यदि फिर चेम्बरलेन पर लौटें तो देखेंगे कि जिस समय वे अपने दल के सर्वेसर्वा नेता समझे जाते थे, उन दिनों मिस्टर चर्चिल को लोग एक ओर एक अत्यन्त कट्टर लड़ाका तथा दूसरी ओर दृढ़ चरित्र सुवक्ता और सुलेखक के रूप में जानते थे। उस समय भी कई गुणों के कारण वे अपने दल में एक प्रमुख व्यक्ति समझे जाते थे। उनके कुछ अनुयायी भी थे। किन्तु चाहे वे कितने भी सुवक्ता और सुलेखक समझे जायँ, १९३९ के महायुद्ध के पहले कोई भी राजनीति का छात्र यह नहीं समझता कि चर्चिल कभी इँगलैंड के महामंत्री होंगे। लेकिन उनका एक विशेष चरित्र था, जिसकी सर्वप्रधान विशेषता अपराजेय आशावाद तथा निर्भीकता थी। जब लड़ाई को सुचारु रूप से चलाने के लिए इस प्रकार के चरित्रवाले एक व्यक्ति की ब्रिटिश शासकवर्ग को जरूरत हुई,

१८—फेसोडा घटना और सलिसवरी का चरित्र—एक दूसरे ब्रिटिश मनोविश्लेषक डाक्टर जोन्स ने भी डाक्टर ग्लोवर के मत का समर्थन किया है।[१] डाक्टर जोन्स ने अपनी एक वक्तृता में फेसोडा घटना का उल्लेख कर अपने मत का समर्थन किया था। १८९८ की बात है—ब्रिटिश और फ्रेंच राष्ट्र दोनों जल्दी में थे कि दुनिया का कोई ऐसा हिस्सा न बचे जहाँ उनका झण्डा न फहरावे। फेसोडा एक नखलिस्तान का नाम है। अभी तक यह साम्राज्यवाद के कोढ़ से बचा हुआ था, किन्तु बकरे की मा कब तक खैर मनाती? एक ही साथ जनरल मारसा के अधीन टचूनीसिया से एक फ्रेंच फौज उस तरफ बढ़ी। साथ ही सुडान की ओर से एक ब्रिटिश फौज फेसोडा पर बढ़ी। दोनों फौजों ने अपने अपने देश की ओर से इस भूखण्ड पर अपने कब्जा होने का दावा किया। यह मामला यहाँ तक बढ़ा कि फ्रांस और ब्रिटेन में लड़ाई छिड़ने की नौबत आ गई। डाक्टर जोन्स का कहना है कि लड़ाई होने में कोई कसर नहीं थी, किन्तु ब्रिटिश प्रधान मंत्री लार्ड सलिसबरी के शान्तप्रिय स्वभाव के कारण यह झगड़ा टल गया। डाक्टर जोन्स ने वैज्ञानिक भाषा में इसको यों कहा है कि लार्ड सलिसबरी दमित, अपरिज्ञात, आक्रमणात्मक भावनाओं से मुक्त थे, उनको किसी प्रकार हीनता या क्लीवता का भय नहीं था। थोड़े में डाक्टर जोन्स का यह कहना है कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री के व्यक्तिगत चरित्र के कारण एक ऐसी लड़ाई टल गई जिसमें शायद लाखों की जानें जातीं। असली तथ्य कुछ और ही था। बात यह थी कि १८९८ में उड़ते हुए साम्राज्यवादों के विस्तार के लिए अब भी कुछ दायरा बाकी था, इसलिए दोनों परराष्ट्र लोलुप साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने इसी में भलाई समझी कि लड़ाई टाल दी जाय। यदि ब्रिटिश शासक-वर्ग को उस समय इसी में अपनी भलाई दीखती कि लड़ाई हो, तो वह बहुत आसानी से लार्ड सलिसबरी को कान पकड़कर महामंत्रित्व की गद्दी से निकाल बाहर कर सकता था। किन्तु अव्वल तो इस बात की शायद जरूरत ही नहीं होती क्योंकि जब लार्ड सलिसबरी समझ जाते कि उनके असली आकाओं की (ब्रिटिश वोटर तो नकली आका हैं) क्या इच्छा है तो बहुत सम्भव है वे स्वयं बदल जाते। शेषोक्त सम्भावना का तो सबसे बड़ा उदाहरण स्वयं मिस्टर

१ T. P. S. p. 263

चेम्बरलेन हैं। वे रियायत दे-देकर फासिवादी राष्ट्रों को तुष्ट रखने की नीति के सबसे कट्टर प्रतिपादक थे, किन्तु उनको भी अन्त में नात्सी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी पड़ी, और उनका वह कथित चरित्र जो शायद मनोविज्ञान को इस प्रकार इस्तेमाल करनेवालों की निगाह में स्थायी विशेषता थी, बदल देना पड़ा। इस प्रकार अपने प्रभुओं के इशारे पर 'चरित्र' बदलने के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अभी १९३९ में जान डालर और येल विश्वविद्यालय के कुछ अन्य अध्यापकों ने समाज-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ व्यावहारिक तथ्य एकत्र कर उनके आधार पर एक Hypothesis पेश किया। उनके अध्ययनों का परिणाम Frustration and aggression नामक पुस्तक में एकत्रित है। इस पुस्तक में यह बताया गया है कि कभी कभी जीवन में किसी मामले में धक्का लगने पर या निराशा होने पर जो भावना उत्पन्न होती है, वह आक्रमणात्मक तरीके से फूट निकलती है। ये विद्वान् अध्यापक यह भी कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति में आक्रमणात्मक भावना दृष्टिगोचर हो तो उसकी पृष्ठभूमि में इस प्रकार की किसी निराशा या धक्का की तलाश करनी चाहिए। सौभाग्य से ये अध्यापक यह नहीं कहते कि जहाँ भी आक्रमणात्मक भावना होगी, उसके पीछे इस प्रकार का धक्का या निराशा होगी ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

कहना न होगा कि इन विद्वानों की यह धारणा पूर्ववर्णित मतों से भिन्न नहीं है। हम दिखला भी चुके हैं कि इस प्रकार की धारणा कितनी निराधार है। हो सकता है कि एक व्यक्ति की आक्रमणात्मक भावना के पीछे इस प्रकार का मानसिक धक्का या निराशा हो, किन्तु वह किस हालत में सामाजिक शक्ति हो सकती है, यह उस समय की सामाजिक, आर्थिक शक्तियों पर निर्भर है।

फिर भी इस बात को यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए कि किसी खास पद पर किसी खास व्यक्ति के, किसी खास समय पर होने से उसका तात्कालिक रूप में कुछ न कुछ असर पड़ता ही है। बात यह है कि सारी आर्थिक, सामाजिक परि-स्थितियों में वह भी एक परिस्थिति है, किन्तु किसी भी हालत में व्यक्ति का असर इतना अधिक नहीं हो सकता कि वह घटना को सामाजिक, आर्थिक शक्तियों की सम्पूर्ण विरुद्ध दिशा में ले जाय। इन सब बातों से यह मतलब कदापि

नहीं है कि अधिकारारूढ़ व्यक्ति का इतिहास पर कोई असर ही नहीं होता। नेता को परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं किन्तु एक बार उत्पन्न हो जाने पर नेता स्वयं एक शक्ति हो जाता है और प्रगति को द्रुतीकृत या विलम्बित कर सकता है। हमारे विश्लेषण से इतिहास में व्यक्ति के चरित्र का स्थान बिलकुल लुप्त नहीं हो जाता, बल्कि स्पष्ट होता है। लेनिन ने लिखा है 'ऐतिहासिक कार्य-कारण सम्बन्ध का विचार किसी भी तरह इतिहास में व्यक्ति के हिस्से को खटाई में नहीं डालता। सच बात तो यह है कि सारा इतिहास व्यक्तियों की क्रियाओं से बना है।'[१] हम इस विषय को आगे और स्पष्ट करेंगे।

१९—महात्मा गांधी का वैयक्तिक चरित्र और इतिहास की शक्तियाँ— हम अपने वक्तव्य को भारतीय आधुनिकतम इतिहास से उदाहरण देकर और स्पष्ट करेंगे। १९२० से लेकर महात्मा गांधी भारतवर्ष के सर्वप्रधान राजनैतिक नेता रहे हैं। उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता सत्य और अहिंसा है। वे किसी भी हालत में यह पसन्द नहीं करेंगे कि हिंसा हो। उनकी परिभाषा के अनुसार आक्रमणकर्त्ता की हिंसा भी हिंसा है, और आक्रमण को बचाने के लिए जो आक्रमणकारी को मारता है, उसका वह मारना भी हिंसा है। गांधी जी बराबर भारतीय कांग्रेस के सर्वेसर्वा नेता रहे हैं। कहा जाता है उनकी सत्य और अहिंसा विशेषकर अहिंसात्मक राजनीति के कारण ही उनका नेतृत्व क़ायम है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आन्दोलन पद्धति ने भारतवर्ष में जन-जागृति उत्पन्न करने में सहायता दी है। जिस समय १९३५ के शासन सुधार के बाद कांग्रेस ने अपनी बहुसंख्या के प्रान्तों में मंत्रिमंडल बनाये, उस समय जब बम्बई और कानपुर में मज़दूरों पर गोलियाँ चलाई गईं तो गांधी जी ने यह बयान दिया कि जिन मंत्रिमंडलों को अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए गोलियाँ चलानी पड़ती हैं, अच्छा है कि वे मंत्रिमंडल न रहें, और इस्तीफ़ा दे दें। किन्तु इस बयान का नतीजा क्या हुआ? कुछ भी नहीं। दूसरे कांग्रेसी नेतागण गांधी जी की इस बात को यह कहकर टाल गये कि गांधी जी महात्मा हैं, हम मामूली लोग उनकी बातों पर अक्षरशः नहीं चल सकते। मंत्रिमंडलों ने इस्तीफ़ा नहीं दिया। इस प्रकार जो व्यक्ति कांग्रेस का डिक्टेटर समझा जाता था, उसकी बात बात की

---

१ M. D. J. p. 137

बात में टाल दी गई। किसी की अवज्ञा करने के लिए यह आवश्यक नहीं हैं कि उसकी कही हुई बात की निन्दा ही की जाय। उसकी बात को बहुत सम्मान देते हुए भी यह कहकर कि हम मामूली लोग इसे नहीं कर सकते, उसे टाला जा सकता है। कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने उपर्युक्त तरीके को अपनाकर ही गांधी जी के व्यक्तिगत चरित्र से अर्थात् उनकी कट्टर अहिंसा से अपना छुटकारा कर लिया।

इसी प्रकार १९४० के जून में जब कांग्रेस वर्किंग कमेटी शर्तों के साथ लड़ाई में मदद देने के लिए तैयार हो गई थी, और गांधी जी कट्टर अहिंसा के कारण ब्रिटिश पक्ष को सही समझते हुए भी उसे सामरिक रूप से मदद देने के विरुद्ध थे, उस समय भी कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने अर्थात् उसके पीछे के वर्ग ने कितनी आसानी से इस 'डिक्टेटर' से अपना पल्ला छुड़ा लिया था, इसे इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं।

गांधी जी के ही उदाहरण में हम यह भी देख सकते हैं कि किस प्रकार जिन सामाजिक आर्थिक शक्तियों के सहारे जिन्होंने अपने बड़प्पन का निर्माण किया है, उनके तकाजे के कारण कैसे वे एक बड़ी हद तक कई मौलिक बातों में बदलने के लिए या जिसे वह ग़लत समझते थे, उनके साथ समझौता करने पर विवश हुए। गांधी जी ने १९०८ में 'हिन्दस्वराज्य' नामक पुस्तक में मिलों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए यह लिखा था कि किसी भी हालत में वे नहीं चाहते कि भारत में मिलों की संख्या में वृद्धि हो। उस समय वे एक विशुद्ध यूरोपियन क्रान्तिकारी थे। उन्होंने हिन्दस्वराज्य में यह लिखा था कि भारत में मिल खोलकर कपड़े बुनने के बजाय यह अच्छा है कि मैनचेस्टर से ही कपड़ा खरीदें, क्योंकि उस हालत में हमारी आर्थिक हानि ही होगी, हमारा सदाचार तो क़ायम रहेगा। कहाँ तो मिलों के विरुद्ध यह कट्टरता, और कहाँ १९४४ में प्रमाणित अग्रवाल योजना में व्यक्त उनके मत जिसमें वह एक बड़ी हद तक मिलों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं? इस क्षेत्र में यही कहना पड़ेगा कि जिन लोगों के साथ गांधी जी चलना चाहते हैं, या जिनको वे छोड़ नहीं सकते, उन्हीं के प्रभाव के कारण उन्हें अपने मिल सम्बन्धी रुख में मौलिक परिवर्तन करना पड़ा। इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक शक्तियों के सामने एक व्यक्ति के विशेष चरित्र को दबना पड़ा। इसी चरित्र परिवर्तन

के सिलसिले में यह भी द्रष्टव्य है कि १९४५ के प्रारम्भ में जब सीमाप्रान्त में फिर से कांग्रेस मंत्रीमंडल बना, और उसका घोषित उद्देश्य लड़ाई में, गांधी जी की भाषा में, हिंसा में मदद पहुँचाना हुआ, तब भी गांधी जी चुप्पी साधे रहे। इसी प्रकार इसके बाद जिस समय १९४५ के जुलाई महीने में वेवेल योजना के अनुसार कांग्रेस सरकार से सहयोग कर, गांधी जी की भाषा में, हिंसा में मदद देने पर तुल गई थी, और केवल लीग के साथ मामला तय न होने के कारण यह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी, उस समय भी गांधी जी चुप रहे। उन्होंने इस अवसर पर हिंसा अहिंसा का कोई सवाल नहीं उठाया। स्मरण रहे १९४० के जून तक महात्मा जी सम्पूर्णतः हिंसा होने के डर से लड़ाई से कांग्रेस को अलग रखना चाहते थे। यह केवल एक शुभ इच्छा या धमकी मात्र नहीं थी, उन्होंने उस समय अपने अनुयायियों से कांग्रेस छोड़ देने की अपेक्षा की थी। निस्सन्देह १९४५ में वे बदल चुके थे। इस प्रकार हमने निर्णयात्मक रूप से देख लिया कि कथित वैयक्तिक चरित्र एक हद तक ही सामाजिक, आर्थिक शक्तियों का विरोध कर सकता है, उसके बाद या तो उस व्यक्ति को अपना चरित्र बदल देना पड़ता है या इतिहास उस व्यक्ति को शीर्षस्थान से उतारकर निम्न स्थान में ले जाकर पटक देता है।

२०—**व्यक्ति और इतिहास परस्पर का निर्माता**—हमने अब तक जो कुछ लिखा है, उसका सारांश यह ज़रूर है कि इतिहास व्यक्ति को बनाता है, किन्तु दूसरी तरफ उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद इतिहास को एक हद तक बना या बिगाड़ सकता है। यह बात ठीक है कि व्यक्ति को सामाजिक आर्थिक शक्तियाँ पैदा करती हैं, बनाती हैं, या बिगाड़ती हैं, सफल बनाकर करोड़ों लोगों के भाग्यविधाता के रूप में पेश करती हैं, अथवा उसको सड़क पर भिखारियों के साथ टुकड़े बाँटकर खाने में या जेल की कोठरियों में तिल-तिल कर अज्ञात अवस्था में मरने के लिए बाध्य करती हैं, किन्तु व्यक्ति जब व्यक्तित्व हो जाता है, तो उस समय वह सामाजिक शक्तियों का विरोध भी कर सकता है। इस पर कोई यह पूछ सकता है कि यदि व्यक्ति को सामाजिक शक्तियाँ बनाती हैं, तो यह कैसे सम्भव है कि

वह उनका विरुद्धाचरण कर सके। किन्तु जो कुछ हमने कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है। यहीं पर मनुष्य की स्वतंत्रता का प्रश्न आता है। व्यक्ति विशेष चाहे तो किसी एक ऐतिहासिक धारा का विरोध या समर्थन कर सकता है। लेकिन इस कथन से यह न समझा जाय कि इस प्रकार विरोध और समर्थन का कोई नियम नहीं है। उसके भी नियम हैं। यहाँ केवल इतना ही जानना यथेष्ट है कि व्यक्ति ऐसा कर सकता है, और करता है। अक्सर ऐसा हुआ है कि जो कल के क्रान्तिकारी थे, वे आज के प्रतिक्रियावादी हैं। उसका कारण यह है कि व्यक्ति जब सामाजिक शक्तियों से सम्पूर्ण स्वतन्त्ररूप से बल्कि उसके विरोध में चलने लगता है, तभी ऐसी ट्रेजडी होती है। किन्तु इसी से यह भी प्रमाणित होता कि व्यक्ति केवल इतिहास का मोहरा मात्र नहीं है, और है तो उसमें इस बात की स्वतंत्रता है कि वह विरोधी मोहरा हो या अनुकूल। यदि व्यक्ति का इतिहास के निर्माण में कोई भाग न होता, और वह केवल घटनाचक्र के हाथों में एक खिलौना मात्र होता, और परिस्थितियों की हवा जिधर चाहे उधर उसे उड़ा ले जा सकती, तो उस हालत में मनुष्य जाति एक प्रकार के अदृष्ट का शिकार मात्र होती—चाहे वह अदृष्ट कितना ही मनोरम क्यों न हो, क्योंकि जैसा कि लिन्डसे ने लिखा है 'जहाँ मनुष्य की इच्छा छुट्टी ले लेती है, वहाँ भौतिक अवस्थाओं का अखंड राज्य शुरू हो जाता है।' भौतिक अवस्थाओं के अखंड राज्य में मनुष्य के लिए कुछ करने-धरने सोचने-समझने की ज़रूरत नहीं रहती। फिर तो समाज की शक्तियों के विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं होता, क्योंकि यदि हम एक मुहूर्त के लिए भी यह मान लें कि हम तो अज्ञान शक्तियों के हाथ में क्रीड़नक मात्र हैं, तो उस हालत में न तो कुछ करने का उत्साह ही रह जाता है, और न शायद उसकी ज़रूरत ही रह जाती है। हम समाज में व्यक्ति के महत्त्व को और उसके चरित्र के प्रभाव को अस्वीकार नहीं करते, हम केवल यह चाहते हैं कि वह अपने सही परिप्रेक्षित में समझा जाय।

मार्क्स ने अधिकारारूढ़ व्यक्ति के चरित्र की गणना आकस्मिक घटनाओं में की है। वे लिखते हैं, "विकास की आम क्रिया में इन आकस्मिक घटनाओं का

एक स्थान होता है, और अन्य इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं से उनका प्रतिषेध भी होता रहता है, किन्तु फिर भी यह बात सत्य है कि बहुत कुछ हद तक इन आकस्मिक घटनाओं पर किसी घटना का विलम्बीकरण या द्रुतीकरण निर्भर रहता है। इन आकस्मिक घटनाओं में ऐसी बातें भी आ जाती हैं, जैसे आन्दोलन के शीर्ष स्थान पर रहनेवाले व्यक्तियों का चरित्र।"[१] इससे व्यक्ति का चरित्र अस्वीकृत नहीं हुआ, बल्कि उसके भाग का स्पष्टीकरण हुआ।

हमने यह देख लिया कि व्यक्तियों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहने के दौरान में कुछ चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं जिनके बग़ैर वह जी ही नहीं सकता। इन चेष्टाओं के सिलसिले में वह संगठित रूप से काम करता है, और एक सोपान में पहुँचकर उसमें वर्ग विभाजन उत्पन्न हो जाते हैं। वर्गों की उत्पत्ति के बाद वर्गयुद्ध ही इतिहास की सबसे बड़ी नियामक शक्ति हो जाती है। अवश्य उसके पीछे उत्पादन पद्धति तथा उत्पादन सम्बन्ध रहते हैं। इसलिए समाज की अग्रगति को समझने के लिए वर्गों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा कितनी ही भिन्न हो लेकिन उत्पादन के सम्बन्धों के कारण ऐसा देखने में आता है कि लाखों व्यक्तियों की इच्छा या स्वार्थ एक हो जाता है। वे एक तरीक़े से सोचते हैं, एक ध्येय के लिए लड़ते हैं—चाहे अज्ञानरूप से लड़े या सज्ञानरूप से। इस प्रकार केवल व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमने जो कुछ कहा उससे इतिहास की अन्तर्निहित शक्तियों तथा उनके रहस्यों को एक बहुत छोटी हद तक ही समझा जा सकता है। इसके लिए हमें वर्गों को विशद रूप से समझना पड़ेगा।

---

१ M. E. C. P. 311

वर्ग, वर्गसंघर्ष और राष्ट्र

१—मनुष्य सामाजिक प्राणी के रूप में उत्पन्न—मनुष्य जिस दिन से मनुष्य हुआ, उसी दिन से वह सामाजिक है। सच बात तो यह है कि आज मनुष्य का जीवन जितना सामूहिक है, आदिम युग में मनुष्य का जीवन कई मानों में इससे कहीं अधिक सामूहिक था। मनुष्य की उत्पत्ति किसी न किसी प्रकार के आदिम बन्दर से हुई है। यों तो मनुष्य का सम्बन्ध आदिम एक कोष अमीवा नामक प्राणी से है, और मनुष्य का शरीर तथा मन उसी का विकसित रूप है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की उत्पत्ति इन आदिम बन्दरों से हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं। न केवल आदिम मनुष्य सामाजिक रूप में सृष्टि के रंगमंच पर आया था, बल्कि उसके ये आदिम पूर्व-पुरुष भी सामूहिक रूप से रहने के आदी थे। इस प्रकार मनुष्य मनुष्य होने के क्षण से ही नहीं, बल्कि उसके पहले से ही सामूहिक प्राणी रहा है। जी० डी० एच० कोल ने यह ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य समाज को नहीं बनाता, बल्कि मनुष्य समाज में पैदा होता है, और उसी में पलता है—जन्म से ही मनुष्य सामाजिक परिस्थितियों में डाल दिया जाता है।' जिस समय मनुष्य-जाति को हम विकसित रूप में देखते हैं, उस समय मनुष्य अपनी चारों ओर के प्राणियों के मुक़ाबिले में इतना दुर्बल और अक्षम था कि सामाजिकता के वगैर वह जी ही नहीं सकता था। फिर मनुष्य-समाज प्रारम्भ से ही जानवरों के यूथ से गुणगत रूप से भिन्न इस अर्थ में था कि किसी और प्राणी के बनिस्वत मनुष्य अर्थात् सामाजिक मनुष्य प्रकृति को बदलता रहा, और इस दौरान में वह स्वयं बदलता गया। मनुष्य शब्द का अर्थ ही सामाजिक मनुष्य है, उसी रूप में हम उसे उसकी सृष्टि के आदिकाल से पाते हैं, और उसी रूप में उस पर हम आलोचना करते हैं। जो लोग मनुष्य की इस सामाजिकता को न समझकर यह पूछ बैठते हैं कि मनुष्य पहले का है या समाज, वे एक ऐसा प्रश्न करते हैं जिसका भले ही आध्यात्मिक तत्वज्ञान में कोई स्थान हो, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न

बिल्कुल ऊलजलूल है, और उठता ही नहीं चाहिए। मनुष्य यदि सामाजिक न होता तो वह होता ही नहीं। अपनी सामाजिकता के कारण ही मनुष्य ने मैस्टोडोन, मैमथ, शेर आदि विपुल शक्तिशाली जन्तुओं के मुकाबिले में अपनी प्राणि-जाति को कायम रखा है।

२—आदिम मनुष्य के जीवन का मूलमंत्र सामूहिकता—प्रारम्भ में मनुष्य केवल इस अर्थ में सामाजिक नहीं था कि वह झुण्डों में रहता था, बल्कि इस अर्थ में भी वह सामाजिक था कि उसका उत्पादन, वितरण यहाँ तक कि विवाह-पद्धति भी सामूहिक थी। वैयक्तिक सम्पत्ति का उस युग में कोई अस्तित्व नहीं था। सभी सम्पत्ति सामाजिक थी। यूरोप, एशिया, अमेरिका, अफ़्रीका जहाँ भी नवप्रस्तर युग के या उसके पहले के मनुष्य का पता मिला है, यह ज्ञात होता है कि मनुष्य सामाजिक रूप से रहता था। आदिम मनुष्य के लिए शिकार एक बहुत महत्वपूर्ण साधन था। जहाँ भी हमें प्राचीनतम शिकार के प्रमाण मिले हैं, वहीं हम उसे एक सामूहिक रूप में पाते हैं। पूर्व और मध्य-यूरोप के प्रेडमोस्टियन तथा फ़्रांस के ओरगनेशियन और मेगडेलियनों में हम शिकार को सामूहिक रूप में ही पाते हैं। पहले पहल जब बर्तन बने तो उसके सम्बन्ध में भी हमें यह ज्ञात होता है कि उसका बनाने का तरीका भी सामूहिक था। जितने भी शिल्प थे सब सामूहिक थे। समाज इन शिल्पों का मालिक होता था, तथा ये शिल्प सामूहिक रूप से किये जाते थे। नवप्रस्तर युग की आर्थिक पद्धति के सम्बन्ध में जो कुछ मालूम है, उससे ज्ञात होता है कि सामूहिक सहयोग ही उस आर्थिक पद्धति का मूलमंत्र था। 'जंगलों को साफ करने का या दलदल के पानी को उलीचकर उसे सुखाने का काम सामूहिक ही हो सकता था। नालियों का खोदना, बाढ़ और जंगली जानवरों से रक्षा—ये सामाजिक जिम्मेदारियाँ ही हो सकती थीं। मिस्र और पश्चिमीय यूरोप में नव-प्रस्तर युग के जिन गाँवों का पता मिला है, उनके सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो चुका है कि वे व्यवस्थित तरीके से बसे हुए थे न कि विश्रृंखल तरीके से।'[१] हमें मनुष्य के आदिमतम इतिहास के सम्बन्ध में जितना ही अधिक ज्ञात होता जा रहा है, उतना ही हम दृढ़ रूप से इस नतीजे पर पहुँचते जाते हैं कि आदिम

---

१ M. M. H. P. 65

मनुष्य समाज में रहता था, तथा उसकी उत्पादन और वितरण की पद्धतियाँ सामूहिक थीं। भूगर्भ-विद्या, भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्व के अतिरिक्त आधुनिक समय की मौजूद सभ्यता से भिन्न कुछ जातियों के निरीक्षण, अध्ययन तथा उनके रीति-रिवाजों के अनुशीलन से भी यही उपसंहार निकलता है कि मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में एक ऐसी पद्धति में रहता था जिसमें उत्पादन और वितरण समाज का काम था। जितनी भी प्राचीन जातियाँ हैं, उन सबके इतिहास के अनुशीलन से भी यही बात पुष्ट होती है।

३—आदिम यौन सम्बन्ध—मातृगमन, भगिनीगमन—उन दिनों मनुष्य का यौन-सम्बन्ध आज की तरह बाधानिषेधों के दायरे में नहीं चलता था। नेतृत्व से हमें ज्ञात होता है कि अति आदिम समाज में जिसको हम आज विवाह कहते हैं अर्थात् पुरुष विशेष से स्त्री विशेष का या बहुत-सी स्त्रियों का एकाधिकार मूलक सम्बन्ध, उस समाज में अपरिज्ञात था। प्रथम सोपान में तो मातृगमन, मातृष्वसागमन, पितृष्वसागमन पर कोई रोक नहीं थी। यह केवल कपोलकल्पना मात्र नहीं है, सभी साहित्यों में यहाँ तक कि पवित्र वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की अनुश्रुतियाँ मिलती हैं जिससे ज्ञात होता है कि मातृगमन के युग का पता वैदिक ऋषियों को था। इसी प्रकार से ग्रीस से लेकर ईरान, स्कैंडिनेविया जहाँ का भी प्राचीन गाथा, सागा या साहित्य हमें मिलता है, मातृगमन के युग की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इन अनुश्रुतियों के अतिरिक्त उन्नीसवीं सदी तक की बहुत-सी जातियों में मातृगमन एक जीवित पद्धति के रूप में पाया गया है। दूसरे सोपान में चलकर मातृगमन पर रोक लगती है, किन्तु बहुत दिनों तक भगिनीगमन की प्रथा रहती है। यम और यमी के वैदिक उपाख्यान से भगिनीगमन के युग की स्मृति का पता लगता है। केवल यम यमी की बात ही नहीं, हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में भगिनीगमन के बहुत उदाहरण हैं। स्मरण रहे हम जिस मातृगमन या भगिनीगमन का यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, वह कोई अपराध के रूप में नहीं होता था—अपराध के रूप में तो वह अब होता है। मातृगमन और भगिनीगमन से हमारा मतलब यह है कि ऐसा समाज की स्वीकृति मे नहीं होता था, बल्कि समाज का उस समय यही रिवाज था। इस आदिम प्रमिश्रण के युग में यौन सम्बन्ध पर कोई रोक नहीं थी,

और मनुष्य इस सम्बन्ध में पशुवत् थे, यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मातृगमन के युग में तो कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। यही बात स्त्री के लिए भी थी। भगिनीगमन के युग में माँ या माँ के पुश्त की स्त्रियों के अतिरिक्त किसी भी स्त्री से बल्कि और भी निर्दिष्ट रूप से कहा जाय तो अपने पुश्त की किसी भी स्त्री से यौन-सम्बन्ध हो सकता था।

४—मातृगमन, भगिनीगमन का अन्त, क्यों ?—इसके बाद के युग में जब एक एक समाज में जिसे जेन्स या जन कहते थे, विभाजन शुरू होते हैं, तो विवाह-पद्धति में यह फर्क आता है कि अब एक जेन्स की स्त्रियाँ दूसरे जेन्स के सब पुरुषों के पत्नियों के रूप में होने लगीं। इस प्रकार यह जो मातृगमन के युग का अन्त होकर अगला युग आया, उसके भौतिक कारण थे। वे भौतिक कारण यह थे कि एक पुश्त की स्त्रियों या पुरुषों के साथ अगली पुश्त की स्त्रियों तथा पुरुषों के साथ यौन-सम्बन्ध होते रहने से कई तरह की गड़बड़ियाँ उत्पन्न होती थीं। सबसे बड़ी गड़बड़ी यह थी कि तैयार या नवीन पुश्त को अपनी पुश्त की स्त्रियाँ तथा पुरुष भी नहीं मिलते थे, इसके विपरीत पिछली पुश्त को दोनों पुश्तों याने अपनी तथा नवीन पुश्त की स्त्रियों तथा पुरुषों पर एकाधिकार था। इनसे जो स्त्रियाँ तथा पुरुष बच जायँ, वे ही अगली पुश्त को मिलते थे। इस प्रकार की गड़बड़ी से उत्पादन में भी गड़बड़ी होती थी, और समाज में एक तरह की शिथिलता आती थी। इसी को दूर करने के लिए प्राकृतिक निर्वाचन तथा विलोम की प्रक्रिया के अनुसार मातृगमन आदि का अन्त हुआ। हम अन्यत्र इस पर विस्तार से आलोचना कर चुके हैं, फिर भी यह बता देना आवश्यक है कि यह कदम एक बहुत बड़ी प्रगति का सूचक था। इससे उत्पादन पद्धति में सहायता मिली। इसी प्रक्रिया से जब भगिनीगमन का भी निषेध हुआ, तो वह इस रुख में और एक बहुत बड़ा कदम था। भाई और बहन में किस प्रकार यौन-सम्बन्ध का निषेध उद्भूत हुआ होगा, इसके सम्बन्ध में अनुमान यह है कि पहले किसी किसी छुटपुट क्षेत्र में एक माता की सन्तानों में पारस्परिक यौन-सम्बन्ध बन्द हो गया होगा, तब धीरे धीरे इसका अनुकरण समाज में व्याप्त हो गया होगा। मातृगमन और कन्यागमन के निषेध में

पुश्तों का अपनी अपनी पुश्त के प्रति पक्षपात की मनोवृत्ति ने निर्णयात्मक रूप से काम किया होगा, किन्तु इस नये निषेध में कौन-सी ऐसी बात थी जिसने न केवल काम किया, बल्कि धीरे धीरे इस प्रथा को ही मिटा दिया। जब हम इस पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि इस प्रकार बाहर यौन-सम्बन्ध से कुछ विशेष फायदा था। वह यह था कि रिश्तेदारी की परिधि बढ़ जाती थी। जिस युग में किसी एक रिश्तेदारी या जेन्स का अन्तर्भुक्त होना ही एकमात्र बल या दुर्बलता थी, उस युग में इसकी महत्ता की हम कल्पना कर सकते हैं। धीरे-धीरे यह पद्धति उन्नति करते करते कबीले के बाहर विवाह में परिणत हो गई। एंगेल्स ने इस पर यह लिखा है, "इस विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता कि जिन कबीलों में अपने अन्दर यौन-सम्बन्ध को इस प्रकार रोक दिया गया, वे दृढ़ता के साथ बढ़े, और जिन समाजों में भाई और बहन में यौन-सम्बन्ध अभी तक था, उनके मुक़ाबिले में दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति थी। इस प्रगतिमूलक कदम का कितना जबरदस्त प्रभाव हुआ, यह हम उस संस्था में देख सकते हैं, जिसका विकास इन्हीं पद्धतियों से हुआ, याने जेन्स या जन में देख सकते हैं। जगत् के सभी समाजों में कम से कम अधिकांश समाजों में यही संस्था आधार के रूप में रही, इसका प्रमाण मिल चुका है।"[१] यह एंगेल्स की कपोलकल्पना नहीं है, यह डारविन से प्रमाणित है। उन्होंने Animals and plants and domestication नामक पुस्तक में यह लिखा है कि बहुत दिनों तक निकट सम्पर्क में शादी ब्याह होते रहने पर या यौन-सम्बन्ध होते रहने पर उस वंश की शक्ति हीन होती है, कद छोटा हो जाता है, प्रजनन की सामर्थ्य घट जाती है, और अकसर तो अंगविकृति की ओर प्रवृत्ति होती है। यह जीव जगत् और पौधा जगत् दोनों के लिए लागू है। इस विषय पर और भी वैज्ञानिकों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि Trial and error की पद्धति से मनुष्य-जाति ने मातृगमन और भगिनीगमन का अन्त कर दिया।

मातृगमन और भगिनीगमन के युग के बाद भी यौथ विवाह-सम्बन्ध बहुत वर्षों तक कायम रहा। इस युग में जैसा कि हम बतला चुके हैं एक जन के सब पुरुष दूसरे जन की सब स्त्रियों के पति के रूप में होते थे। हम इसके

१ O. F. P. 30-1

ब्यौरे में नहीं जाएंगे, केवल इतना ही बता देना यथेष्ट होगा कि यह युग सैकड़ों बल्कि हजारों वर्षों तक रहा। जिस समय हम ग्रीकों, ईरानियों, भारतीय आर्यों तथा अन्य सभ्य जातियों को इतिहास में पदार्पण करते पाते हैं, तब उनमें हम यह तो देखते हैं कि यौथ समाज का अर्थात् यौथ उत्पादन तथा यौथ यौन-संबंध का अन्त हो चुका है, किन्तु उनके धर्मों, अनुश्रुतियों, प्रथाओं, रीति-रिवाज़ों में बहुत-सी ऐसी बातें प्रस्तरीभूत रूप से अब भी मौजूद हैं, जिनसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वे अभी अभी यौथ समाज के गर्भ से निकले चले जा रहे हैं।

५—यौथ समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध प्रथाएँ—यौथ समाज का किस प्रकार अन्त हुआ, यह इतिहास का एक बहुत बड़ा अध्याय है। जब वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, तभी यौथ समाज की दीवारों की मिट्टी खिसकने लगी, और कालक्रम से युगयुगान्तर से खड़ी इसकी अट्टालिका धूलिधूसरित हो गई। प्रश्न यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति का कैसे उदय हुआ। यहाँ पर वैयक्तिक सम्पत्ति का अर्थ उपभोग के साधनों से नहीं है, यहाँ उसका मतलब उत्पादन के साधनों से है। पहले तो उत्पादन के सब साधन सामाजिक थे। किन्तु उस आदिम युग में भी कुछ उपभोग के साधनों में कहीं कहीं वैयक्तिक सम्पत्ति का परिचय प्राप्त होता है। उत्पादन के ऐसे साधन जैसे तीर धनुष भी व्यक्ति के जीवनकाल में एक हद तक वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जाती थी, एक हद तक हमने इसलिए कहा कि उस विशेष धनुष का उपयोग व्यक्ति-विशेष करता था, किन्तु वह व्यक्ति-विशेष उसका उपयोग अपने लिए नहीं, बल्कि समाज के लिए करता था, अर्थात् जब उसके धनुष के तीर से कोई शिकार मारा जाता था तो वह शिकार-लब्ध मांस सारे समाज का होता था। न कि उस व्यक्ति का। इस हालत में यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह धनुष असल में समाज का था, किन्तु इस्तेमाल के लिए व्यक्ति को जीवन काल के लिए दिया गया था। यौथ समाज में इस बात की बड़ी कोशिश रहती थी कि वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय न हो पावे। इसके लिए कई तरह की प्रथाएँ थीं, जिनका ऊपरी रूप धार्मिक होने पर भी उनकी सामाजिक अन्तर्गत स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कई जातियों में उन्नीसवीं सदी में भी यह प्रथा पाई गई है

कि जब कोई भी बाहरी व्यक्ति उनमें से किसी व्यक्ति को एक चीज़ देता है, तो वह उसे तुरन्त आपस में बाँट लेता है। डारविन ने अपनी यात्रा के दौरान में इसी प्रकार एक जाति के एक व्यक्ति को एक वस्त्रखंड दिया, उस व्यक्ति ने उसे ले लिया, किन्तु तुरन्त ही उसे आपस में बाँट लिया। इस प्रकार बाँटने के बाद प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में दो अँगुल का एक चिट पड़ी। ऊपरी तौर पर देखने से यह प्रथा बहुत ही मूर्खतापूर्ण तथा हास्यास्पद ज्ञात होगी, किन्तु कुछ गहराई तक सोचने पर ज्ञात होगा कि इस प्रकार आदिम समाज ने अपने को वैयक्तिक सम्पत्ति से बचाने की चेष्टा की है। इसी प्रकार की एक प्रथा यह भी थी कि मुर्दे के साथ उसकी सारी सम्पत्ति याने ऐसी सम्पत्ति जो उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जा सकती थी, गाड़ या जला दी जाती थी। इसका आशय स्पष्ट है। बाद को वैयक्तिक सम्पत्ति के युग में इसी प्रथा का रूपान्तर हो गया, और बड़े आदमियों, राजाओं, सरदारों के साथ उनकी पत्नियाँ तथा गुलाम भी गाड़े या जलाये जाने लगे। इस युग में वैयक्तिक सम्पत्ति ही समाज की केन्द्रीय धारणा थी, अतएव जिस प्रथा का अभिप्राय यह था कि वैयक्तिक सम्पत्ति यदि कुछ हो, तो उसे नष्ट कर दिया जाय, अब वह धारणा उसकी विपरीत धारणा में परिवर्तित हो गई। साम्पत्तिक परिवर्तन के साथ साथ इसके सम्बन्ध में विचार भी बदल दिये गये। अब इस प्रकार जो कुछ मुर्दों के साथ गाड़ा या जलाया जाने लगा, उसका यह अर्थ लगाया जाने लगा कि इस प्रकार मरने के बाद भी मनुष्य को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति की जरूरत हो सकती है, इसलिए उसके साथ उसकी सम्पत्ति का एक अंश गाड़ा या जलाया जाता है। धीरे धीरे इस प्रथा के साथ किस प्रकार और धारणाएँ जुड़तीं गईं, किस प्रकार परलोक, स्वर्ग की सृष्टि हुई, किस प्रकार मरे हुए व्यक्ति को समय समय पर रसद पहुँचाने के ख्याल से श्राद्ध, तर्पण आदि प्रथाएँ उत्पन्न हुईं, किस प्रकार पति के साथ जलकर मर जाने की धारणा के अन्दर भी यही उपादान है—ये सब बहुत ही दिलचस्प प्रश्न हैं। किन्तु यहाँ पर हम इतना इंगित करके ही आगे बढ़ जाने के लिए बाध्य हैं कि बाद को जो प्रथाएँ इस प्रथा से उत्पन्न या विकसित हुईं, उनके मूल में केवल यही बात थी कि वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय न हो जाय। उस समय के समाज-शास्त्रीगण इन प्रथाओं को प्रोत्साहन

देते थे—वे लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे तो क्या—अपने समाज के हित को बहुत अच्छी तरह समझते थे। गिनाई हुई प्रथाओं के अतिरिक्त और भी प्रथाएँ इस सम्बन्ध में थीं, किन्तु उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं है।

६—मर्दुमखोरी की सामाजिक पृष्ठभूमि—यौथ समाज के समाज-शास्त्रियों की सारी सावधानियों के बावजूद वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ। वैयक्तिक सम्पत्ति का विकास मनुष्य-जाति के इतिहास की एक बहुत बड़ी घटना है। यह कैसे हुआ, इसे भी हम थोड़े में देखलें। अत्यन्त आदिम युग में मनुष्य-जाति की उत्पादन पद्धति बहुत अनुन्नत थी। जीवन-संग्राम बहुत तीव्र था। प्रकृति पर अभी किसी अर्थ में भी मनुष्य विजय प्राप्त न कर सका था। वह प्राकृतिक शक्तियों के हाथों में क्रीड़नक मात्र था। उसका सारा समय पेट भरने में ही लग जाता था। उत्पादन पद्धति कितनी अन्नुनत थी, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उस आदिम समाज में वृद्ध या अपाहिज के लिए कोई स्थान नहीं था। जब कोई व्यक्ति उत्पादन पद्धति में सहयोग करने में असमर्थ हो जाता था, तो उसे लोग मारकर खा जाते थे। यह न समझा जाय कि इस मारकर खा जाने में कोई असम्मान की भावना थी। सच बात तो यह है कि उत्पादन पद्धति की मजबूरी से उत्पन्न इस प्रथा को विचार-धारा के क्षेत्र में बहुत उदात्त रूप दिया गया था। मनुष्य की भौतिक अवस्था जैसी होती है, मनुष्य उसी के मुताबिक किस प्रकार अपनी धारणाओं को ढाल लेता है, इसका एक प्रकृष्ट उदाहरण हम इस बात में पा सकते हैं कि इस युग में यह समझा जाने लगा कि इस प्रकार जिस व्यक्ति को मारकर खाया जाता है, उसकी वीरता खानेवालों में आ जाती है। इसके अतिरिक्त एक सम्माननीय व्यक्ति के मांस को यों कौवे आदि को कैसे खिलाया जाय? यह तो असम्मान ही होता। इस प्रकार भक्तिभाव से बूढ़ों का मांस खाया जाता था। ऊपर से इस प्रथा को इस तरह एक बहुत प्रभावोत्पादक रूप मिलने पर भी उसके अन्दर असल में क्या शक्ति थी, इसे हम देख सकते हैं।

७—मर्दुमखोरी समाप्त, इसके कारण और नई प्रथा—जिस समय की बात हमने बताई उस समय तो उत्पादन पद्धति बहुत ही अनुन्नत थी, किन्तु बाद को जब उत्पादन पद्धति में कुछ उन्नति हुई और मुर्दे के मांस की कोई आवश्यकता

न रही, उस समय मुर्दा खाने की प्रथा खतम हो गई। अब मुर्दों का दूसरे तरीकों से सत्कार होने लगा। फिर एक बार इस प्रकार मुर्दे के सत्कार की नई प्रथा को नया अर्थ दिया गया। इस युग में मुख्यतः मुर्दे को कहीं न कहीं रख देते थे। कई अफ़्रीकी जातियों में उन्नीसवीं सदी में भी यह प्रथा पाई गई है कि वे अपने मुर्दों को अपने कुल या संयुक्त परिवार के निवासस्थान के पास ही कहीं रखते हैं। ऐसे लोग यह सोचते हैं कि इस प्रकार मुर्दा अपने पहले के प्रियजनों की भलाई-बुराई पर निगरानी करता है। इस प्रकार मुर्दे के लिए एक विशेष स्थान बनाने की प्रथा से तथा इसके साथ संबद्ध इस धारणा से कि वह वहीं से प्रियजनों की भलाई करता रहता है, आत्मा तथा मन्दिर-निर्माण की सृष्टि हुई। इस गुत्थी में हम यहाँ न पड़ेंगे, किन्तु इनका सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट है।

८—**आदिम समाज की सुव्यवस्था**—यह न समझा जाय कि आदिम समाज में किसी प्रकार की व्यवस्था ही नहीं थी। राजतंत्र तथा राजशक्ति के समर्थकों ने यह कल्पना की है कि राजशक्ति या राष्ट्र के उद्‌भव के पहले मनुष्य-समाज मात्स्यन्यायमूलक अव्यवस्था में पड़ा हुआ था, जिसकी लाठी उसकी भैंस थी, जो चाहे सो करता था, लेकिन इतिहास की गवाही इसके बिलकुल विपरीत है। यौथ समाज में भी नियम थे, व्यवस्था थी, और वह व्यवस्था उस समय के समाज को देखते हुए कुछ हीन नहीं थी। जन या जेन्स के अन्दर बहुत सुन्दर व्यवस्था थी। सभी काम सामाजिक अनुशासन से चलते थे। उस समाज में सभी स्वतंत्र थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे स्वेच्छा-चारी थे। उस समाज में गुलामों के लिए स्थान नहीं था। अवश्य यह समझना गलत होगा कि यौथ समाज में गुलामों के लिए जो स्थान नहीं था, उसका कारण यह था कि लोगों में कोई बहुत उदात्त भावनायें नहीं थीं, बल्कि तथ्य तो यह था कि उत्पादन पद्धति इतनी अनुन्नत थी कि इसके लिए कोई गुंजाइश ही नहीं थी। जब एक व्यक्ति मुश्किल से अपने लायक खाद्य-पदार्थ उत्पन्न कर सकता था तो उस हालत में उसे—गुलाम बनानेवाले को क्या फायदा हो सकता था? उस हालत में तो उसे रखना समाज के शिकारगाहों, मछली की जगहों आदि पर एक बोझा-मात्र बढ़ाना होता। इसलिए यौथ समाज के उस युग

में जिसमें अपने अन्दर के वृद्ध और अपाहिजों को भक्तिभाव से मारकर खा जाने की प्रथा थी, लड़ाई के कैदियों को भी मारकर खा जाने की प्रथा थी। इसके बाद के युग में जब बुड्ढों को मार डाला जाता था, उस युग में गुलामों को भी मार डालने की प्रथा उत्पन्न हुई होगी। किन्तु गुलामों के क्षेत्र में मर्दुम-खोरी से मार डालने की प्रथा में आने में कुछ अधिक दिन लगे होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। स्मरण रहे कि उत्पादन के पिछड़ेपन के कारण समाज के सब शिशु जीवित नहीं रखे जाते थे। कुछ थोड़े से ही शिशु जीवित रखे जाते थे, वह भी मार डाले जाते थे। अण्डमन टापू में नृतत्वपिटो ने १९वीं सदी तक इस प्रकार शिशुहत्या करने का पता पाया है। यह शिशुहत्या किसी प्रकार की निर्दयता के कारण नहीं बल्कि एक सामाजिक आवश्यकता—आज-कल की भाषा में वर्थकन्ट्रोल अर्थात् जन्म-नियंत्रण की जरूरत के कारण की जाती थी।

९—**वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय**—उत्पादन पद्धति में अच्छी खासी उन्नति तभी हुई, जब उत्पादन के औजारों में उन्नति हुई। औजारों में उन्नति के साथ साथ औजारों का यह तकाजा हुआ कि जो लोग उन्नत औजारों को बनाते हैं, तथा जिन्होंने उसका आविष्कार किया है, उनको अन्य लोगों के बनिस्बत कुछ अधिक सुविधायें प्राप्त हुईं। मुख्यतः इन उन्नत औजारों के आविष्कर्ता तथा प्रयोक्ता पुरुष ही थे, इसलिए अब इतिहास की सबसे बड़ी क्रान्ति होती है। अब पुरुष स्त्री से प्रबल हो जाता है, मातृकुल मूलक समाज का अन्त होकर अब समाज की गाड़ी पितृ-प्रधान समाज की ओर चल पड़ती है। यौथ सम्पत्ति-प्रथा के टूटने के साथ साथ यौथ विवाह का सामाजिक आधार नष्ट हो जाता है, अब समाज में पहले की सामूहिक एकता दूर होकर वर्गों की सृष्टि होती है। पहले सारे समाज का हित एक था, किन्तु अब समाज में मुख्यतः दो हित, दो वर्ग और दो तरह की धारणायें उत्पन्न हो जाती हैं। जो वर्ग सम्पत्ति का मालिक है, उत्पादन के साधनों पर काबिज है, उनकी संगठित संस्था के रूप में राष्ट्र का उदय होता है, जो सम्पत्तिशाली वर्ग को दूसरे वर्ग से बचाता है। इसके लिए वह जेल, पुलिस, अदालत और धीरे धीरे न मालूम किन किन संस्थाओं को उत्पन्न करता है। पहले सारा समाज ही एक पुलिस या फौज के

रूप में था, किन्तु अब सम्पत्तिशाली वर्ग अपने 'हकों' की रक्षा के लिए अपनी फौज, और पुलिस बनाती है जो समाज के दूसरे अंश का जबरदस्ती दमन करती है। यह एक अकथ कहानी है, हम यहाँ केवल उसका दिग्दर्शन भर कराकर आगे बढ़ जाने के लिए वाध्य हैं।

१०—उत्पादन में विकास से सामाजिक विकास—समाज के विकास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उत्पादन के तरीकों का अध्ययन जरूरी है। उत्पादन के विकास से ही समाज का विकास हुआ है, अर्थात् ज्यों ज्यों उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हुआ है, त्यों त्यों मनुष्यों के श्रम-सम्बन्धों में परिवर्तन हुए हैं, और समाज का रूप बदलता गया है। उत्पादन के साधनों तथा उसके फलस्वरूप श्रम-सम्बन्धों में परिवर्तन के कारण ही आदिम वर्गहीन समाज का अन्त होकर वर्गसमाज का उदय हुआ। उत्पादन के सम्बन्धों पर कई तरह से रोशनी पड़ती है। हम पहले ही बता चुके हैं कि किस प्रकार वर्गसमाज की एक विशेषता के रूप में वर्गसेना की उत्पत्ति हुई। सेना के सम्बन्ध में जो ब्यौरे प्राप्त हैं, उनसे आदिम श्रम-सम्बन्धों पर अच्छी रोशनी पड़ती है। मार्क्स ने २५ सितम्बर १८५७ में एक पत्र में लिखा था—'प्राचीन लोगों ने सेना में ही पहले-पहल मजदूरी की पद्धति को विकसित किया। रोमनों में Peculium Castrence (याने शिविर में रोमन सिपाही को पारिवारिक सम्पत्ति के अलावा जिस सम्पत्ति को रखने का हक था) का रिवाज था, और यही पहला कानूनी रूप था, जिसमें परिवार के पिता के अलावा भी लोगों का चलसम्पत्ति पर अधिकार माना गया। इसी प्रकार सेना में ही पहले-पहल बड़े पैमाने पर यंत्रों का आविष्कार हुआ।......इसी प्रकार एक शाखा के अन्दर श्रम का विभाजन भी पहले-पहल सेना में ही हुआ।' यों तो आदिम समाज में ही प्रथम श्रम का विभाजन स्त्री और पुरुष के बीच हुआ था, किन्तु उस विभाजन का आधार या ध्येय शोषण नहीं था। उत्पादन के साधनों में उन्नति के साथ साथ जब वर्गों की सृष्टि हुई, तभी श्रम के विभाजन ने भी शोषणमूलक रूप धारण किया। अवश्य यहाँ यह भी स्मरण रहे कि इसी समय से श्रम का विभाजन संगठित रूप में हो गया।

११—उत्पादन पद्धति और श्रम-सम्बन्ध में असंगति से क्रान्ति, किन्तु

कई क्षेत्र में क्रान्ति नहीं—उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन के साथ साथ श्रम-सम्बन्धों में परिवर्तन अनिवार्य है। यह हो सकता है कि कुछ दिनों तक उत्पादन की शक्तियाँ प्रचलित श्रम-सम्बन्धों से आगे रहें, किन्तु इसी असंगति के कारण समाज को या तो आगे बढ़ना पड़ता है, या उसका ह्रास हो जाता है। यह आगे बढ़ने का रूप क्रान्ति हो सकती है। क्रान्ति हो सकती है, इसलिए बताया गया कि सभी अवस्था में क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ जिस समय समाज आदिम साम्यवाद से वर्गसमाज में, और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय, तो वर्गसमाज के प्रथम रूप गुलाममूलक समाज पद्धति में आया (कहीं कहीं यह सोपान लुप्त रहा है, और समाज एकदम से सामंतवाद में आ गया), तो ऐसा क्रान्ति के द्वारा नहीं हुआ। क्रान्ति का अर्थ ही यह है कि एक वर्ग के हाथों से शक्ति आकर दूसरे वर्ग के हाथों में शक्ति जावे, किन्तु जब पहले कोई वर्ग ही नहीं था तो यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी वर्ग के हाथों से शक्ति गई। इसलिए आदिम साम्यवाद से समाज जब वर्गसमाज में आया तो वह परिवर्तन बहुत महान् होने पर भी उसकी प्रक्रिया को क्रान्ति नहीं कह सकते, और न यह परिवर्तन किसी विस्फोटक तरीके से ही अया। सब अवस्थायें आ चुकी थीं, केवल राष्ट्र के रूप में वर्गसमाज की केन्द्रीय शक्ति का उदय हुआ, और यह महान् परिवर्तन व्यवहारिक रूप में आ गया। वर्गसमाज के अन्दर जब जब इस प्रकार के महान् युगान्तरकारी परिवर्तन आये हैं, तब तक वे क्रान्ति के जरिये से आये हैं। इन मौकों पर प्रश्न यह है कि एक वर्ग के हाथों से शक्ति छिनकर दूसरे नये वर्ग के हाथों मे आवे। जब गुलाम के मालिकों के हाथ से छिनकर सामन्तवादी वर्ग के हाथों में शक्ति आती है, तब वह क्रान्ति के ही द्वारा आती है। इसी प्रकार सामन्तवादी वर्ग के हाथों से शक्ति पूँजीवादीवर्ग के हाथों में जब जाती है तो वह भी क्रान्ति की प्रक्रिया से जाती है। इसके आगे जब पूँजीवादीवर्ग के हाथों से शक्ति छिनकर सर्वहारावर्ग के हाथों में आती है, तो ऐसा क्रान्ति के ही द्वारा होता है। इसके आगे फिर क्रान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वहारावर्ग के हाथों में राष्ट्र आते ही पहले के परोपजीवी वर्गों को विलुप्त कर देता है, और तब वर्गहीन समाज की स्थापना होती है। इसलिए अब क्रान्ति का प्रश्न नहीं उठता, यद्यपि

उत्पादन में अब भी बराबर उन्नति होती रहती है, किन्तु इस उन्नति से न तो श्रम सम्बन्ध बदलते हैं, और न उत्पादन का तरीका और न श्रम-सम्बन्ध में ही कोई असंगति पैदा होती है। इसके अतिरिक्त उस असंगति के तकाजे के कारण क्रान्ति की आवश्यकता भी नहीं होती है। सर्वहाराराष्ट्र में उन्नति और प्रगति जारी रहेगी, किन्तु उस उन्नति का आधार यांत्रिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि होगी न कि किसी प्रकार का शोषण।

१२—इतिहास में श्रम-सम्बन्ध की प्रगति तथा उसकी संख्या—वृद्धिशील समाज में उत्पादन की शक्तियों तथा मनुष्यों के श्रम-सम्बन्धों में दृश्यमान और कामचलाऊ सामञ्जस्य रहता है (पूर्ण सामञ्जस्य तो समाजवादी समाज में ही हो सकता है)। किन्तु कुछ दिनों बाद जब यही उत्पादन की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं तो श्रम-सम्बन्धों के साथ उनकी असंगति पैदा हो जाती है। इसके कारण पुराने श्रम-सम्बन्ध टूटने लगते हैं, और समाज का रथ आगे बढ़ निकलता है। अब तक के इतिहास में पाँच तरह की समाज पद्धति रही है, किन्तु श्रम-सम्बन्ध चार तरह के रहे हैं—

(१) **आदिम साम्यवादी समाज**—इसमें श्रम का सम्बन्ध यों था कि सब अपनी शक्ति के मुताबिक सामाजिक कार्यों में भाग लेते थे, और सबको, जितनी जिसको जरूरत है, उतनी चीज़ें मिलती थीं।

(२) **गुलाममूलक समाज**—इसमें गुलाम मुख्य उत्पादक था, और गुलाम का मालिक उसके श्रम का सम्पूर्ण रूप से उपभोक्ता था। गुलाम शारीरिक रूप से भी मालिक के अधीन होता था, उसकी जानोमाल पर मालिक का आधिकार होता था। किस प्रकार उत्पादन पद्धति में उन्नति होने के कारण लड़ाई के कैदियों को जीवित रखकर, उनसे काम करवाकर, उनके अपने खर्च से कुछ अधिक उत्पन्न करवा कर गुलामी-प्रथा का उदय हुआ, यह हम पहले ही बता चुके हैं। गुलाम पद्धति पहले के भूनकर खा डालने या मार डालने की पद्धति के मुक़ाबिले में एक बहुत बड़ी उन्नति थी।

(३) **सामन्तवादी समाज**—इसमें अर्द्धगुलाम या किसान गुलाम मुख्य उत्पादक था, और सामन्तवादी प्रभु उसके श्रम का उपभोक्ता था। अब मालिक को अर्द्धगुलाम पर पूर्ण अधिकार नहीं था। वह केवल उसके श्रम तथा समय के

एक बृहत् हिस्से पर ही माँग कर सकता था, इस प्रकार यह पद्धति भी पिछली पद्धति के मुकाबिले में अगला कदम था। उत्पादन पद्धति में उन्नति के कारण ही इस बात की जरूरत हुई थी कि गुलामों से काम न लेकर अर्द्धगुलामों से काम लिया जाय, क्योंकि वे गुलामों के मुकाबिले में काम में अधिक दिलचस्पी लेते थे।

(४) **पूंजीवादी समाज**—इसमें मज़दूर मुख्य उत्पादक है, और पूँजीपति उसके श्रम का उपभोक्ता है। मज़दूर के शरीर या गतिविधि पर पूँजीपति को उस प्रकार का नियन्त्रण क़ानूनी रूप से प्राप्त नहीं है जैसा पिछली समाज-पद्धति के शोषणों को प्राप्त था। वह क़ानूनी रूप से स्वतन्त्र है। देखने में वह स्वतन्त्र ठहराव पर काम करता है। इस प्रकार यह पद्धति पिछली पद्धतियों के मुक़ाबिले में अधिक उन्नत है। अवश्य इसकी उन्नति का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस पद्धति में उत्पादन की शक्तियाँ पहले सब पद्धतियों से कहीं बढ़कर उन्नत हुई हैं। सच बात तो यह है कि इसी उन्नति के तकाजे के कारण पहले की पद्धति को जगह छोड़ देनी पड़ी जहाँ तक कि उसका उच्छेद हुआ और उसकी जगह पर इस उन्नति की स्थापना हुई।

(५) **समाजवादी समाज**—फिर एक बार इस पद्धति में आकर उत्पादक ही अपने श्रम के फल का भोक्ता हो जाता है। इस अर्थ में हमारी बनाई हुई प्रथम अर्थात् आदिम साम्यवाद की समाज-पद्धति में जो श्रम-सम्बन्ध था, वही फिर से आता है, किन्तु वह एक उन्नततर, उच्छ्रिततर रूप में आता है। अब यंत्र और विज्ञान की बहुत उन्नति हो चुकी है। इस प्रभेद तथा पिछले सामाजिक तजुर्बों के कारण यह पद्धति आदिम साम्यवादी पद्धति के मुक़ाबिले में कहीं अधिक उन्नत है।

१३—आर्थिक आधार, श्रम-सम्बन्ध और ऊपरी ढाँचा—जीवन धारण के साधनों या उत्पादन के साधनों को समझना इतिहास को अच्छी तरह समझने के लिए कितना जरूरी है, इसे मार्क्स ने अपनी 'अर्थशास्त्र की आलोचना' की भूमिका में स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में मार्क्स की यह रचना सबसे अधिक महत्त्व की है। (पहले वे एक बड़ी पुस्तक लिखना चाहते थे, जिसमें वे पूँजी, भू-सम्पत्ति, मज़दूरी, राष्ट्र, विदेशी व्यापार, विश्व-बाज़ार आदि कितने ही विषयों

पर लिखना चाहते थे। बाद को यह बृहद् विचार 'डास कैपिटल' या पूँजी के लेखन में परिणत हो गया)। यह पुस्तक पहले-पहल १८५९ में याने भारतीय ग़दर के दो साल बाद जर्मन भाषा में प्रकाशित हुई थी। मार्क्स इसमें लिखते हैं—'जीवन धारण के साधनों के सामाजिक उत्पादन के दौरान में मनुष्य एक दूसरे के साथ कुछ निर्दिष्ट तथा ज़रूरी सम्बन्ध में आ जाता है। ये सम्बन्ध उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध भौतिक उत्पादन की शक्तियों के विकास की उस निर्दिष्ट मंजिल के साथ सामंजस्यपूर्ण होते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धों के योगफल से समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है। यह वह वास्तविक आधार है, जिस पर क़ानूनी तथा राजनैतिक, ऊपरी ढाँचा खड़ा होता है, और इसी के साथ सामाजिक चेतना के निर्दिष्ट स्वरूप भी दृष्टिगोचर होते हैं। जीवन धारण के भौतिक साधनों के उत्पादन का तरीक़ा ही सम्पूर्ण सामाज़िक, राजनैतिक, बौद्धिक प्रक्रिया का निर्णय करता है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्णय नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्णय करता है। विकास की एक ख़ास मंजिल में पहुँचकर समाज की उत्पादन शक्तियाँ वर्तमान उत्पादन के सम्बन्धों के साथ असंगति-ग्रस्त हो जाती हैं याने यदि क़ानूनी भाषा में कहा जाय तो वे जिन साम्पत्तिक सम्बन्धों के साथ अब तक चल रही थीं, अब उनके साथ उनकी असंगति उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन की शक्तियों के विकास के स्वरूपों से ये सम्बन्ध उनकी बेड़ियों में परिणत हो जाते हैं। तब तो सामाजिक क्रान्ति का एक युग ही आ जाता है। आर्थिक नींव के परिवर्तन के साथ ही साथ ऊपर का विशाल ढाँचा कम या अधिक तेज़ी से बदल जाता है। ऐसी क्रान्ति को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि उत्पादन की आर्थिक अवस्थाओं में होनेवाली भौतिक क्रान्ति में, जिसका पता वैज्ञानिक निश्चयता के साथ लगाया जा सकता है, तथा क़ानूनी, राजनैतिक, धार्मिक सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा दार्शनिक—याने एक शब्द में उन विचार-धारागत स्वरूपों में जहाँ, मनुष्य इस संघर्ष के सम्बन्ध में सचेत हो जाता है, और इससे लड़ भी लेता है, प्रभेद करना पड़ेगा। जैसे एक व्यक्ति अपने सम्बन्ध में क्या मत रखता है, इसके आधार पर उसके चरित्र का निर्णय नहीं हो सकता, उसी प्रकार ऐसे क्रान्तिकारी युग को हम उसकी निजी चेतना से नहीं

समझ सकते। किन्तु इसके विपरीत इस चेतना की भौतिक जीवन की असंगतियों, सामाजिक उत्पादन शक्तियों तथा मौजूदा उत्पादन-सम्बन्धों से व्याख्या करनी पड़ेगी। एक सामाजिक पद्धति तब तक नष्ट नहीं होती, जब तक उसका दायरा उत्पादन शक्तियों को विस्तृत होने की गुँजाइश देता है, और नये तथा उच्चतर उत्पादन-सम्बन्ध तब तक उत्पन्न नहीं होते, जब तक उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थायें पूर्वतन समाज के ही गर्भ में परिपक्व न हो चुकी हों। इस प्रकार मनुष्य-जाति हमेशा अपने सामने उन्हीं समस्याओं को रखती है, जिनका वह समाधान कर सकती है, क्योंकि जब हम और भी गहराई के साथ देखते हैं तो हमेशा हम यह पाते हैं कि समस्या तभी उत्पन्न होती है जब उसके समाधान के लिए या तो वे मौजूद हैं या उनका जन्म होने ही वाला है। मोटे तौर पर समाज की आर्थिक पद्धति के प्रगतिशील युगों के रूप में हम एशियाई, प्राचीन साभन्तवादी तथा आधुनिक पूँजीवादी पद्धति को गिना सकते हैं।"[१]

१४—ऐतिहासिक भौतिकवाद सबसे पहले कब?—कहीं यह ग़लतफ़हमी न हो कि मार्क्स ने पहले-पहल इस विचार का प्रतिपादन (संक्षेप में यही ऐतिहासिक भौतिकवाद है) १८५९ में किया था, इसलिए यह बता दिया जाय कि १८४८ में प्रकाशित कम्युनिस्ट—मेनिफेस्टों में ही मार्क्स और एंगेल्स ने इस विचार का प्रतिपादन किया था। जब हम इससे भी पीछे जाते हैं तो देखते हैं कि १८४४ में ही मार्क्स ने Deutosch Frauzosische Jahrbucher में तथा एंगेल्स ने उनसे स्वतन्त्र रूप से उसी साल Working calss in England नामक पुस्तक में इस विचार का प्रतिपादन किया था। जिस समय एंगेल्स १८४४ की ग्रीष्म-ऋतु में पेरिसमें मार्क्स से मिले, उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि उनके विचार एक हैं, और वहीं से उस आमरण मित्रता की नींव पड़ी जिसकी फलप्रदता की दृष्टि से मनुष्य जाति के इतिहास में कोई तुलना नहीं है।

१५—पशु की तुलना में मनुष्य की विशेषता के कारण उन्नततर-श्रम—यों तो पशुओं की तुलना में मनुष्य की न मालूम क्या-क्या विशेषतायें बताई गई हैं। कहा गया है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये तो मनुष्य तथा पशु में सामान्य है, किन्तु मनुष्य की विशेषता यह है कि उसमें धर्म है, इत्यादि। किन्तु मनुष्य की जो

१. C. P. E.—भूमिका

असली विशेषता है और जहाँ से वह पशु से अलग हो गया है, वह यह है कि मनुष्य जीवन धारण के साधनों को उत्पादन करने लगा।[१] जिस समय मनुष्य पहले-पहल अपने भद्दे हथियार या औज़ार से अपने जीवन धारण के साधनों में वृद्धि करने लगा, उसी समय से वह अशरफुल-मखलुकात या सृष्टि का मध्यमणि हो गया। यहीं से उसकी विशेषता या मनुष्यता चल निकलती है। धर्म, कला, साहित्य आदि इसी के फलस्वरूप बाद में उत्पन्न हुए हैं।

जीवन धारण के लिए मनुष्य को कुछ न कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। यही प्रयत्न श्रम का रूप लेता है। श्रम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति पर कार्य करता है, और इस प्रकार उसे अपने अनुकूल बनाता है, अर्थात् उसे परिवर्तित करता है। यों तो उन्नत किस्म के पशु भी एक माने में श्रम करते हैं, प्रकृति को अपने अनुकूल बनाते हैं, किन्तु उसकी मात्रा बहुत कम होती है, और उसमें यह प्रतिभा नहीं होती कि वह गतानुगतिकता से कुछ आगे बढ़े। दस पुश्त पहले एक भालू जिस प्रकार से शिकार करता था, उससे अब उसकी शिकार-पद्धति में कोई उन्नति नहीं हुई; यहीं पर मनुष्य की विशेषता है। इस समय जो मनुष्य मौजूद हैं, वे होमो सैपियन्स मनुष्य कहे जाते हैं, किन्तु इसके पहले जो मनुष्य थे, जो प्रत्यक्ष रूप से हमारे पूर्वज नहीं हैं, वे कई अर्थ में जीवन-संग्राम में हमसे अधिक उपयोगी थे। Eo-authropus या पिल्टडाउन मनुष्य के जो कुत्ते की तरह दाँत थे, वे लड़ने के लिए अच्छे साधन थे। इस प्रकार छोटे-मोटे फर्क एक-आध भले ही मिल जायँ लेकिन सभी तरह केमनुष्य प्रारम्भ से ही पशुओं के मुकाबिले में शारीरिक दृष्टि से जीवन-संग्राम में कम योग्य रहे। उदाहरणार्थ मनुष्य के नख, दंत आदि पशुओं से कमजोर हैं। बाघ, चीता या सिंह की तुलना में वह एक मिनट भी ठहर नहीं सकता। दौड़ने-धूपने में भी वह अन्य जन्तुओं जैसे खरगोश और हिरण के मुकाबिले में बहुत ही कमजोर पड़ेगा। गिद्ध की तरह उसके पंख नहीं हैं, जिनके सहारे उड़कर वह दूर दूर की ख़बर ला सके, न वह हाथों से पंजों की तरह कोई काम ही ले सकता है। फिर भी आज अन्य सब जानवर मनुष्य के सामने फीके पड़ गये

---

१. G. I.

हैं और उसका कारण मनुष्य का दिमाग है। इसी दिमाग के विकास के कारण मनुष्य सच्चे अर्थ में प्राणियों का राजा हो गया है। इस दिमाग की भी उत्पत्ति दीर्घ विकास के दौरान में हुई है। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि मनुष्य के मस्तिष्क का विकास प्रकृति में मौजूद अन्य वस्तुओं के विकास से अलग तरीके से हुआ है, या उसमें कोई रहस्य है, जिसका भेद नहीं खुलता। इस दिमाग के ही कारण मनुष्य पशुओं के मुकाबिले में शारीरिक दृष्टि से जीवन-संग्राम में हर तरीके से निकृष्ट होने पर भी उत्कृष्टतम प्राणी हो गया। दिमाग के साथ ही मनुष्य-शरीर में और भी कई अंश हैं, जिनका कार्य पशुओं के अनुरूप अंश से पृथक् तथा उत्कृष्टतर है। मनुष्य की एक विशेषता यह भी बताई गई है कि वह दो आँखों से एक ही तसवीर देखता है, जब कि दूसरे स्तनपायी जानवर दो आँखों से दो चित्र देखते हैं।[१] कहा गया है कि यदि इस प्रकार मनुष्य दोनों आँखों से एक चित्र न देख सकता तो उसके लिए दूरी का अच्छी तरह पता लगाना या चीजों को फैली हुई (Flat) के बजाय ठोस देखना सम्भव न होता। यदि मनुष्य की आँखों का कार्य इस प्रकार न होता तो उसके हाथ विकसित होकर चाहे कितने भी नाजुक और क्षिप्र हो जाते, वह सूक्ष्म औजार तैयार न कर पाता। इसके अतिरिक्त मनुष्य की स्वाभाविक पद्धति भी मस्तिष्क के साथ पूर्ण सहयोग में काम करती है। मनुष्य का कंठ भी बहुत विकसित है, और वह इतने तरह की आवाज कर सकता है, जितना कोई भी दूसरा जानवर नहीं कर सकता। यह भी बताया गया है कि इस प्रकार मनुष्य की आँखें, कान, पेशियाँ आदि एक साथ सामंजस्यपूर्ण रूप से काम करती हैं। इसका बहुत कुछ श्रेय मनुष्य के दिमाग को है, किन्तु साथ ही यह भी पता लगा है कि जन्म के बाद ही धीरे धीरे इस प्रकार सब अंगों का सहयोग शुरू होता है। इस दृष्टि से शिक्षा का महत्व बहुत अधिक हो जाता है। बचपन में मनुष्य के दिमाग का आवरण नरम रहता है, और उसमें अन्य पशुओं के बनिस्बत बढ़ने की गुँजाइश रहती है। इस प्रकार मनुष्य के शरीर तथा अवयवों में जो विशेषतायें हैं, उन सबका सम्मिलित और कार्यकारी

---

१ M. M. H. p. 29

परिणाम यह है कि मनुष्य पशुओं के मुकाबिले में मात्रागत तथा गुणगत रूप से अधिक श्रम कर सकता है।

१६—मनुष्य बाहरी अवस्थाओं को बदलने के दौरान में खुद बदलता है— हमने यह जो कहा कि मनुष्य श्रम के द्वारा प्रकृति को परिवर्तित करता है तथा उस परिवर्तन के साथ साथ खुद भी परिवर्तित होता रहता है, इसके और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। मनुष्य खेती करता है, तो उसके फलस्वरूप जमीन का जल खिच कर पौधों में आ जाता है, और जमीन सूख जाती है। इस प्रकार जमीन परिवर्तित हो गई। अब इस परिवर्तन के कारण मनुष्य को जमीन को गिली बनाकर अनाज उत्पन्न करने के लिए सिंचाई का काम करना पड़ता है। खेती करने के कारण मनुष्य के स्वभाव में क्या परिवर्तन होता है, वह भी प्रष्टव्य है। जब मनुष्य मुख्यत: शिकारी अवस्था में था, तब वह व्रात्य या बद्दू हालत में रहता था। जंगल में ज्यों ज्यों पशु खतम हो जाते थे, या मौसम के कारण ज्यों ज्यों पशु जल तथा अपने खाद्य की तलाश में इधर-उधर भटकते थे, त्यों त्यों मनुष्य को भी उसकी तलाश में भटकना पड़ता था। जब मनुष्य पशु-पालन भी करने लगा तब भी उसे नये नये चरागाहों की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ता था, किन्तु खेती के शुरू करते ही उसका यह अस्थिर स्वभाव दूर हो जाता है, और अब वह शालीन या सभ्य हो जाता है। अवश्य हर हालत में खेती करने से ही मनुष्य का बद्दूपन दूर हो गया हो ऐसी बात नहीं है। हम इन अपवादों का वर्णन बाद को करेंगे। श्रम के द्वारा बाहरी अवस्थाओं को बदलने के दौरान में मनुष्य के बदलाने का एक और उदाहरण लिया जाय। पूँजीवाद के जमाने में माँग तथा पूर्ति के नियम के दबाव के कारण पूँजीपति मजदूरी घटाने की जो अनवरत चेष्टा करते हैं, मुख्यत: उसी पर रोक-थाम करने के लिए मजदूर सभायें बनती हैं। इसके विपरीत मालिकगण यह कोशिश करते हैं कि जितने श्रम की खपत है, उससे कहीं अधिक मजदूर बाजार में हों, और इस प्रकार वे मनमाने तरीके से जितनी चाहें उतनी मजदूरी दें। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में मजदूर सभाओं को यह मालूम हो जाता है कि यदि केवल आर्थिक माँगों तक ही अपने कार्य-क्रम को सीमित रखा जाय तो काम नहीं चलने का। इसलिए वे बदलती हैं,

और एक नया रूप धारण कर क्रान्तिकारी संस्थाओं के रूप में हो जाती हैं, या खतम हो जाती हैं।[१] इस प्रकार मजदूर सभायें पूँजीवादियों का चरित्र बदलकर उन्हें संगठित होने के लिए मजबूर करती हैं, फिर उस संगठन के फलस्वरूप मजदूरों पर जो दबाव पड़ता है, उसके कारण वे स्वयं क्रान्तिकारी हिस्सा अदा करने के लिए मजबूर हो जाती हैं।

१७—खेती के साथ स्थायी बस्ती का कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं—हमने ऊपर यह बतलाया है कि खेती शुरू करने के साथ ही साथ मनुष्य स्थायी बस्तियों में बसते गये और उसके पहले बद्दू थे किन्तु इसके कई अपवाद हैं। चाइल्ड के अनुसार 'गत शताब्दी में कनाडा के प्रशान्त महासागर की ओर के उपकूलों की कुछ शिकारी तथा मछली मारकर जीनेवाली जातियों के सम्बन्ध में यह ज्ञात हुआ है कि यद्यपि ये लोग खेती नहीं करते थे, फिर भी इनके स्थायी, सुन्दर लकड़ी के मकानों के गाँव बसे हुए थे। इसी प्रकार बर्फ़-युग में फ़्रांस के मैगडेलेनियन गण कई पुश्त तक एक ही गुफा में रहते थे, इसमें सन्देह नहीं। दूसरी तरफ़ कुछ खेती के तरीके ऐसे हैं, जिन्हें करनेवालों को इधर-उधर भटकते रहना पड़ता है। एशिया, अफ्रिका विशेषकर दक्षिण अफ्रिका के कुछ किसानों के लिए अब भी (लेखक ने इन बातों को १९३६ में लिखा था) खेती का अर्थ केवल यह है कि जंगल के एक टुकड़े को या कुछ झाड़ियों को साफ कर लिया, फिर उसे एक हो (Hoe) या कीलनुमा चीज से अथवा डंडानुमा चीज से चला दिया, फिर उसमें बीज बिखरा दिये, और जब फसल तैयार हो गई तो उसे काट लिया। वे इस जमीन को न तो कभी परती छोड़ते हैं, और न उसमें किसी प्रकार की खाद डालते हैं। अगली फसल के समय फिर उसमें बीज डाले जाते हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसी अवस्था में दो एक बोआई या कटाई के बाद जमीन की उत्पादक शक्ति विलुप्त हो जाती है या घट जाती है, तब जंगल का एक दूसरा टुकड़ा साफ किया जाता है, और इस प्रकार उसमें भी दो-तीन बार बोआई-कटाई के बाद उस जमीन को भी छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार बस्ती के पास की सारी जमीन जब बेकार हो जाती है, तब वहाँ से कबीला कूच कर जाता है, और वह दूसरी जगह फिर उसी प्रकार की खेती शुरू करता है। इनके

१ D. M. S.

घरों में सामान इतना थोड़ा होता है कि उन्हें आसानी से इधर से उधर ले जाया जा सकता है, फिर मकान भी इतने मामूली होते हैं कि उनके बदलने में कोई दिक्कत नहीं होती। इसके अतिरिक्त ये मकान भी इस बीच में काफी पुराने हो चुकते हैं, और उनको छोड़ देना अच्छा ही होता है. . . । इस प्रकार की खेती प्रागैतिहासिक युग में आल्पस के उत्तर में सारे यूरोप में प्रचलित थी। ईसवी सन् के प्रारम्भ तक कुछ जर्मन कबीले में इसका प्रचलन था, क्योंकि स्ट्रावों ने लिखा है कि ये हमेशा अपनी बस्तियों को छोड़कर नई बस्ती बसाने के लिए तैयार रहते थे। आज भी इस तरीके की खेती होती है, उदाहरणार्थ आसाम के चावल-उत्पादक नागाओं में, एमजन उपकूल की वोरो जाति में तथा सूडान के खेतिहरों में यह तरीका प्रचलित है।"[१] वैरियर एल्विन ने यह लिखा है कि दक्षिण की मैकालपहाड़ियों के पास रहनेवाली कुछ आदिम निवासी जातियों में अब भी चलती-फिरती खेती होती है।[२] मिर्ज़ापूर के दुधी नामक स्थान के सम्बन्ध में बताया जाता है कि पहले इसका अधिकांश हिस्सा घने जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ जो कुछ खेती होती थी, उसका तरीक़ा यह था कि आदिम निवासीगण जंगलों को जलाकर राख से ढकी हुई ज़मीन में बीज बो देते थे, फिर जिस समय ज़मीन में उपज घट जाती थी, तब फिर नये जंगल में आग लगाई जाती थी।[३]

१८—प्रकृति को बदलने के ज़रिये से मनुष्य की प्रगति—यह जो दिखलाया गया कि खेती के साथ बस्ती में रहने का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, क्या इससे हमारे बतलाये हुए इस नियम में कि मनुष्य प्रकृति को या बाहरी अवस्थाओं को बदलता है और उस बदलने के दौरान में, खुद बदलता है, कुछ व्यतिक्रम हो गया? ऊपर से देखने से ऐसा ही ज्ञात होगा कि व्यतिक्रम हो गया, किन्तु ऐसी बात नहीं है। यदि हम देखें कि चलती-फिरती खेती किस अवस्था में होती थी या हो सकती है, तो हमें ज्ञात होगा कि इस प्रकार की खेती उस युग में तथा उसी भूभाग में सम्भव है जहाँ ज़मीन की कमी नहीं है। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार की खेतिहर जातियाँ कितनी भी

---

१ M. M. H. p. 81-2
२ J. R. A. S. B. Volume IX 1943 no. I p. 99
३ F. P. T.

बद्दू हों किन्तु बोआई से लेकर कटाई तक उन्हें खेत के आस-पास बसना पड़ता था। यहाँ तक तो खेती के साथ बस्ती के सम्बन्ध वाला नियम बिलकुल लागू है। आगे वह किस विन्दु से लागू नहीं होता, इसे यदि हम देखें तो मालूम होगा कि खेतों की अधिकता के कारण इस प्रकार बस्ती बदल देना सम्भव होता था या होता है। जब जनसंख्या बढ़ गई और खेतों के लिए भगदड़ मची उस युग में यह सम्भव नहीं था कि आगे इस प्रकार की खेती चले। यह द्रष्टव्य है कि इस अवस्था पर भी प्रकृति को बदलने के कारण खुद मनुष्य के बदलने का नियम स्पष्ट रूप से कार्यशील दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य ने जंगल काटा, था उसमें आग लगा दी, और खेती के लिए ज़मीन निकाली। वह बिना खाद के खेती करता है, उसने जंगल को बदल दिया, इस नाते वह जंगली से खेतिहर हो गया, किन्तु बिना खाद के खेती करता है, इसलिए उसकी यह खेती अधिक दिन तक नहीं चलती और उसे वहाँ से बदलकर आगे बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार उसे जो पूर्व स्थान छोड़कर नये स्थान के लिए यात्रा करनी पड़ती है, यह अपनी ही करनी या यों कहिये कि अपनी अपेक्षाकृत अविकसित वैज्ञानिक बुद्धि के कारण है। जब एक खेत की उत्पादिका शक्ति खतम हो जाती है, तो उसके सामने दो चारे हैं (स्मरण रहे यह बात आज हमें मालूम है, किन्तु इस प्रकार के खेतिहरों को यह बात मालूम नहीं है, अर्थात् उन्हें केवल एक ही चारा ज्ञात है), एक तो यह है कि वह नया खेत ढूँढ़े और दूसरा यह कि वह उस पुराने खेत को ही खाद डालकर फिर से खेती के लिए समर्थ बनावे। उसे दूसरा तरीक़ा अभी ज्ञात नहीं है, इसलिए उसे स्थान बदल देना पड़ता है; किन्तु जब नाना प्रकार के दबाव से उसे दूसरा तरीक़ा ज्ञात हो जाता है, अर्थात् वह एक बार प्रकृति को बदलकर उसके फलस्वरूप जो परिवर्तन हुआ, उसे दूसरी बार बदलने में समर्थ हो जाता है, तब वह वहीं पर बैठकर फिर से खेती करने के योग्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम यह भी देख लें कि इस प्रकार जब वह खाद, हल-बैल आदि का प्रयोग करना सीख लेता है, तो उसके मकान बनाने की पद्धति में भी परिवर्तन हो जाता है। अब वह साल दो साल के लिए मकान नहीं बनाता, बल्कि अधिक से अधिक स्थायी मकान बनाता है। अब उसके पास सामान भी अधिक हो जाते हैं, अब उसे यह फ़िक्र नहीं है कि यह तो

रैनबसेरा है, साल छः महीने में छोड़कर चल देना पड़ेगा। इसलिए अब वह तरह-तरह के सामान बटोरता है। इस प्रकार बदलते-बदलते एक तरफ़ तो प्रकृति बहुत कुछ बदल जाती है, जहाँ जंगल थे वहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकायें दृष्टिगोचर होती हैं, जहाँ अलंघनीय वाधा के रूप में पर्वतमालायें एक की गोद में एक खड़ी थीं, वहाँ से होकर मानो उनकी अवज्ञा करते हुए और उनको मुँह चिढ़ाते हुए गरजती हुई रेलें निकल जाती हैं; दूसरी ओर मनुष्य अब वह आदिम क़रीब-क़रीब निरस्त्र प्राणी से वर्तमान युग का कोट-बूटधारी रेडियो और राकेट का इस्तेमाल करनेवाला अति आधुनिक मनुष्य हो जाता है।

१९—समाज-पद्धति के अनुसार श्रम की मर्यादा में वृद्धि या कमी—इस प्रकार मनुष्य प्रकृति को परिवर्तित करता है या उसके श्रम के ही द्वारा प्रगति या विकास होता है। श्रम कोई रहस्यपूर्ण प्रक्रिया नहीं है, इसके सब पहलुओं को हम दिव्य दृष्टि के बिना ही समझ सकते हैं। श्रम ही से सभ्यता है, श्रम ही के कारण पंगु गिरियों का लंघन कर सकता है, मूक वाचाल हो सकता है, सच बात तो यह है कि सारी प्रगति की नींव श्रम ही पर है। इसलिए जिस भी मतवाद में श्रम को महत्त्व न दिया गया हो, पलायनवाद, कर्मसन्यास, भाग्यवाद या अकर्मण्य अवस्था को तरजीह दी गई हो, वह मतवाद न तो वैज्ञानिक हो सकता है, और न हमारे कर्त्तव्य के निर्णय में कोई सहायता ह। दे सकता है। इसलिए श्रम की मर्यादा की स्वीकृति व्यावहारिक, ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सर्वप्रथम तकाजा है। यदि हम आदिम साम्यवाद के युग पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि उस युग में श्रम की बहुत बड़ी मर्यादा थी। श्रम के ही दौरान में तथा श्रम के ही लिए साहित्य, संगीत, कला की सृष्टि या यों कहिये कि विकास हुआ है। जिस समय से वर्ग समाज की सृष्टि हुई है, और एक वर्ग तो बैठकर चैन की बाँसुरी बजाता है, और दूसरे वर्ग को सारा उत्पादक श्रम करना पड़ता है, उस समय से श्रम की मर्यादा घट गई है, और तब से उसे निम्नकोटि का समझा जाने लगा है। शोषकों का इस प्रकार समाज पर दोहरा वार हुआ, एक तरफ़ तो वे स्वयं कुछ उत्पादकश्रम नहीं करते थे, और दूसरी तरफ वे उसे को घृणा की दृष्टि से देखते थे। केवल यही नहीं कि वे ही श्रम को निम्नकोटि का कार्य समझते थे, बल्कि शासक वर्ग की विचारधारा होने के नाते यही विचार

समाज की आम विचारधारा हो गई। स्वयं श्रम करनेवाले श्रम को बुरी निगाह से देखने लगे। वे भी मन ही मन यह चाहने लगे कि उन्हें श्रम न करना पड़े तो अच्छा है, इस प्रकार वर्ग समाज के अन्य गुण अवगुणों के साथ अब ऐसे लोगों की उत्पत्ति हो गई जो श्रम से जी चुराते थे। आदिम साम्यवादी समाज से काम से जी चुरानेवाले लोगों की क़िस्म बिलकुल अपरिज्ञात रही होगी। अवश्य यह कहना पूर्ण सत्य न होगा कि शासक वर्ग के विचारों के ही कारण श्रम करनेवालों की आँखों में श्रम की मर्यादा घट गई। सबसे बड़ी बात तो इस सम्बन्ध में यह थी कि श्रम करनेवालों को गुलामी की हालत में श्रम में दिलचस्पी ही क्या हो सकती थी! स्वाभाविक रूप से श्रम के प्रति एक घृणा-भाव समाज में आम हो गया। चीन में स्त्रियों का बहुत छोटा पैर होना—इतना छोटा कि वह चल न सके, शराफत की निशानी समझी गई, यह उसी अकर्मण्य विचारधारा का एक रूप है। वर्ग समाज में स्त्रियाँ धीरे-धीरे पुरुष की क्रीड़ा तथा काम प्रवृत्ति को चरितार्थ करने की वस्तु में परिणत हो गईं, उसी का एक नग्न रूप चीनी शरीफ औरतों को पहनाये जानेवाले लोहे के जूते थे। आदिम साम्यवाद में स्त्रियों के सम्बन्ध में न इस प्रकार की शराफतवाली धारणा ही सम्भव थी, और न इस प्रकार की अकर्मण्य स्त्रियाँ शरीफ ही समझी जा सकती थीं। उस समाज में तो स्त्रियाँ अधिक से अधिक काम करती थीं, ऋग्वेद तक में तो युद्ध करनेवाली जैसे इन्द्रसेना मुदगलानी का पता मिलता है। कहाँ यह चलने-फिरने में असमर्थ लोहे का जूता पहननेवाली स्त्रियाँ और कहाँ इन्द्रसेना मुदगलानी जो दुश्मनों से लड़ने के लिए जाया करती थी? 'शरीफ' स्त्रियों की ऊँची ऐंड़ी इस चीनी लोहे के जूते से बहुत दूर नहीं है। जो कुछ भी हो श्रम की यह अमर्यादा वर्ग समाज की उपज है, और सभी भाववादी विचारधाराओं में—जैसे अध्यात्मवाद, मायावाद, सन्देहवाद, पलायनवाद में श्रम को नीची निगाह से देखा गया है। इन मतों के अनुसार काम न करनेवाले योगीराज, स्टोइक, परमहंस समाज के आदर्श व्यक्ति हैं। सोवियट रूस में समाजवाद की स्थापना के साथ-साथ श्रम को फिर से अपनी अपहृत मर्यादा प्राप्त हुई है। सच बात तो यह है कि सफल समाजवादी क्रान्ति के बाद से वहाँ स्टाखानाव क़िस्म के लोग ही—जो अधिक से अधिक उत्पादक श्रम कर सकते हैं—समाज के वीर समझे जाने लगे

हैं, इन्हीं के फ़ोटो अख़बारों में छपते हैं, अख़बारवाले इनसे इन्टरव्यू करते हैं, और इनका हर तरह से सार्वजिनक सम्मान होता है। समाज़वादी क्रान्ति के पहले जो सम्मान पेशेदार क्रान्तिकारी को प्राप्त होता था, वही अब स्टाखानोववादियों को और और जिस समय नात्सी हमला हुआ, उस समय रूस की लाल सेना के सदस्यों को मिलता है। यह उचित ही है। समाजवादी समाज में श्रम की मर्यादा में अधिक से अधिक वृद्धि होना बिलकुल स्वाभाविक तथा अनिवार्य है।

२०—**श्रम मनुष्य का निर्माता**—श्रम केवल मनष्य को परिवर्तित अर्थात् उन्नत ही नहीं करता रहा है, बल्कि एंगेल्स ने तो अपनी रचना The role of labour in the process of humanising the apes में लिखा है कि श्रम ने ही मनुष्य की सृष्टि की। वे इस रचना के प्रारम्भ में लिखते हैं कि डार्विन ने हमारे जिन वानरवत् पूर्वपुरुषों के सम्बन्ध में लिखा है, जो झुँडों में पेड़ पर रहते थे, उन पर एंगेल्स ने विज्ञान की गवाही के अनुसार यों लिखा है, 'उनके जीवन के तरीके से अर्थात् पेड़ पर चढ़ने की आदत से जिसमें हाथ और पैर विभिन्न काम करते थे, और पेड़ पर चढ़ने में विभिन्न रूप से उपयोगी होते थे, इसका पहला परिणाम यह हुआ कि इन वानरवत् जन्तुओं ने धीरे-धीरे अपने हाथों का उस समय इस्तेमाल छोड़ दिया जिस समय वे ज़मीन पर चलते-फिरते थे, और वे सीधा खड़े होकर चलने लगे। इस प्रकार वानरावस्था से मनुष्यावस्था में बढ़ने की ओर एक निर्णयात्मक क़दम उठा।' एंगेल्स के इन वचनों पर टीका करते हुए वी० एल० कोफोरोफ लिखते हैं—'इस प्रकार इन अत्यन्त अर्थपूर्ण पंक्तियों में हमें उस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है, जिसने जीव वैज्ञानिकों को बहुत परेशान किया है, और वह प्रश्न यह है कि स्वरूप श्रम का निर्णय करता है, या श्रम स्वरूप का निर्णय करता है। सच बात तो यह है कि हमारे किसी भी अवयव के रूप को हम विकास के सर्वोच्च शिखरस्थ रूप में—जिसमें चलकर भ्रूणावस्था से जो प्रक्रिया चली है, उसके अन्तिम सोपान के रूप में बताया जा सकता है, और यह स्वरूप ऐसा है कि वह केवल निर्दिष्ट कार्यों को ही करने देता है। यदि हम अवयवों के विकास की प्रक्रिया को देखें तो ज्ञात होगा कि अवयव श्रम की उपज है। एक शब्द में झूठे दार्शनिकों के द्वारा व्यवहृत 'या तो यह, या तो वह' की जगह पर आधुनिक विज्ञान निर्णयात्मक रूप से इस मीमांसा

की अनुकूलता करता है कि दोनों का ही इस विकास में हाथ है।"[१] जब दूसरे वैज्ञानिकों ने केवल स्वरूप पर जोर दिया था, उस हालत में इस क्षेत्र में एंगेल्स की द्वन्द्वात्मक आलोचना का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, क्योंकि इसमें यह बतलाया गया है, कि अवयवों के शरीर के स्वरूप आसमान से नहीं टपके, किसी लीलामय की लीलामयी इच्छा के कारण नहीं बने, बल्कि भौतिक कारणों से ही बने, और वह भौतिक कारण श्रम तथा रहन-सहन था।

एंगेल्स इसी लेख में यह भी बताते हैं कि मनुष्य और पशु में एक मात्र प्रभेद श्रम है। वे लिखते हैं "सभी प्राणी एक हद तक अपने खाद्य द्रव्य में खर्चीलेपन से काम लेते हैं और अक्सर तो बीजावस्था में ही खाद्रव्य को नष्ट कर देते हैं। भेड़िया भी बकरे को मारता है, और मनुष्य भी, किन्तु भेड़िया अगले साल बियाने वाली बकरी को भी मार डालता है, जब कि मनुष्य उसे छोड़ देता है। ग्रीस में बकरे सब काँटों तथा झाड़ियों को खा डालते हैं, इसका नतीजा यह है कि वे इसे बढ़ने का कोई मौका ही नहीं देते, और इस प्रकार सब पहाड़ बिल्कुल हरियाली से वंचित हो गये हैं। जानवरों में जो 'लूट-खसोट वाली आर्थिक पद्धति' प्रचलित है, वह उनकी किस्मों को धीरे धीरे बदलने की प्रक्रिया में बहुत बड़ा हिस्सा अदा करती है, क्योंकि अपनी इस आदत के कारण वे बराबर नई किस्म के खाद्यों को खाने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जिसके कारण उनके रक्त की बनावट भिन्न होती जाती है, और सारी शारीरिक बनावट भी धीरे धीरे बदल जाती है। इस प्रकार वह पहले से प्रचलित किस्म (Species) मर जाती है।" मनुष्य में खाद्य का सम्बन्ध चूँकि श्रम से है, और खाद्य रक्त में परिवर्तन करने में समर्थ है, इसलिए श्रम का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर बहुत ही महत्व पूर्ण होगा। एंगेल्स ने इस सम्बन्ध में यह भी बात लिखी है कि मनुष्य धीरे धीरे निरामिष खाद्य से हटता गया, यह भी उसकी उन्नति का एक कदम था, क्योंकि आमिष खाद्य पाचन की प्रक्रियाओं को सरलतर बना देता है, और इस प्रकार कर्म शक्ति की बचत होने लगी। हम इस प्रसंग में भी यह देखते कि किस प्रकार मनुष्य प्रकृति को बदल कर अपने को बदलता रहता है।

---

१ M. M. T. p. 200

मनुष्य शारीरिक रूप से पशुओं के मुक़ाबिले में कई मानें में निकृष्ट होने पर भी वह किस प्रकार अपने श्रम से उनसे शारीरिक रूप से भी कहीं अधिक जीवन-संग्राम के लिए अधिक योग्य हो गया है, यह द्रष्टव्य है। गाडेन चाइल्ड ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में लिखा है—'भेड़ एक बहुत ही ठंडे पहाड़ी देश में अपने घने ऊन के कारण जी सकता है, मनुष्य भी उसी परिस्थिति में जी सकता है, किन्तु ऐसा करने के लिए उसे भेड़ के ऊन या चमड़े का कोट बनवाना पड़ेगा। इसी प्रकार ख़रगोश अपने नाख़ूनों तथा दाँतों के द्वारा ज़मीन के नीचे गड्ढे खोदकर ठंड से तथा शत्रुओं से रक्षा कर सकता है, मनुष्य भी इसी प्रकार कुदार और फावड़े के सहारे से ज़मीन के नीचे आश्रय बनाकर रह सकता है, केवल यही नहीं वह ईंट पत्थर और लकड़ी से इससे कहीं आरामदेह मकान बना सकता है। सिंह अपने नखों तथा दाँतों के द्वारा अपने लिए मांस प्राप्त कर सकता है, मनुष्य तीर और बर्छी से इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए शिकार करता है। जेली नामक जो अत्यन्त निम्न क़िस्म की मछली है, वह अपनी अत्यन्त प्राथमिक क़िस्म की स्नायविक पद्धति के बावजूद अपनी पहुँच के अन्दर के शिकार को पकड़ सकती है, किन्तु मनुष्य इससे कहीं अच्छे उपाय काम में लाकर खाद्य पदार्थों का संग्रह कर सकता है, ऐसा करने में वह बड़ों के उपदेश तथा उदाहरण से सीखता है।'[१] इस प्रकार श्रम मनुष्यजाति की निरन्तर प्रगति के लिए ही नहीं बल्कि उसके अस्तित्व के लिए ज़िम्मेदार है। श्रम के ही सहारे मनुष्य अपने को हर तरह की आबोहवा में जीवित रख सकता है। यह बताया जा चुका है कि मनुष्य के शरीर पर भेड़ की तरह ऊन न होने पर भी वह भेड़ के ऊन का उपयोग कोट के रूप में कर सकता है, केवल यही नहीं मनुष्य में यह भी शक्ति है कि वह उस कोट को जब चाहे तब उतार कर फेंक सकता है। इस प्रकार वह भूमध्य रेखा के इर्द-गिर्द के देशों में भी जहाँ सूर्य की तपिश सबसे अधिक है, जी सकता है। श्रम के ही बदौलत मनुष्य आकाश के ऐसे स्थानों में जहाँ की हवा बहुत पतली है जी सकता है। श्रम की ही बदौलत मनुष्य समुद्रगर्भ में घंटों तक रह सकता है। इस प्रकार श्रम के कारण मनुष्य न केवल पृथ्वी का बल्कि आकाश-पाताल, सर्वत्र

---

१ M. M. H. p. 17

विचरण करने में समर्थ है। आगे चलकर कदाचित् वह श्रम के ही प्रसाद से दूसरे ग्रहों की भी यात्रा कर सके।

२१—परिवर्तनशील श्रम-सम्बन्ध—श्रम के दौरान में मनुष्यों को आपस में कुछ सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं, या ऐसे सम्बन्ध अपरिहार्य रूप से स्थापित हो जाते हैं। राबिनसन क्रूसो के द्वीप में जब तक वह बिलकुल अकेला था, तब तक तो कोई बात ही नहीं थी, किन्तु ज्योंही फ़ाइडे से उसकी मुलाक़ात हुई, त्योंही उसमें और फ़ाइडे में एक श्रम-सम्बन्ध स्थापित हुआ। यह श्रम-सम्बन्ध क्या था, इसके पचड़े में हम न पड़ेंगे, किन्तु यह सामाजिक श्रम-सम्बन्ध था, इसमें कोई सन्देह नहीं। ये श्रम-सम्बन्ध चिरन्तन या पूर्व चिन्तित नहीं हैं, बल्कि उत्पादन के तकाजे के अनुसार ये बनते चले जाते हैं। कार्ल्स मार्क्स ने 'मज़दूरी, श्रम और पूँजी' नामक पुस्तक में लिखा है—'सामाजिक सम्बन्धों के दायरे में व्यक्ति उत्पादन करते हैं, याने उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के तथा उत्पादन के भौतिक साधनों के विकास तथा उनमें परिवर्तन के साथ-साथ विकसित तथा परिवर्तित होते रहते हैं।' सच बात तो यह है कि यदि उत्पादन के साधन या उत्पादन के तरीके में परिवर्तन हो जाय, और मनुष्य के श्रम-सम्बन्धों में विकास या परिवर्तन न हो, तो उसका अनिवार्य परिणाम ज़िच, क्रान्ति या विनाश होगा। मार्क्स के समसामयिक मोशियो प्रुधों की ग़लती यही थी कि वे श्रम-सम्बन्धों को चिरन्तन समझ बैठे थे, और वे उनकी बुराइयों को निकाल बाहर कर केवल भलाइयों को रखना चाहते थे। १८४६ के २८ दिसम्बर को ब्रुसेल्स के पी० वी० आनेन काफ़ नामक एक व्यक्ति को पत्र लिखते हुए मार्क्स ने लिखा था 'वे (प्रुधों) यह नहीं समझ पाये कि मनुष्य जैसे-जैसे उत्पादन की शक्तियों को विकसित करते हैं, त्यों-त्यों वे एक दूसरे के साथ कुछ सम्बन्धों को विकसित करते हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विकास के साथ-साथ विकसित तथा परिवर्तित होते रहते हैं।'

२२—गतिशील श्रम-विभाजन—श्रम सम्बन्धों में श्रम का विभाजन भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। समाज जितना ही जटिल तथा उन्नत होगा, उतना ही उसके श्रम के विभाजन का तरीक़ा भी उन्नत तथा विकसित होगा। सभी तरह के समाज में एक ही श्रम का विभाजन नहीं लागू हो सकता; अर्थात्

'उत्पादन शक्तियों की अवस्था से ही इस बात का निर्णय होगा कि समाज का संगठन किस प्रकार हो। इन अवस्थाओं के बदल जाते ही देर में या सवेरे में समाज का संगठन भी अनिवार्य रूप से बदल जायगा। जहाँ पर उत्पादन की सामाजिक शक्तियाँ बढ़ रही हैं, वहीं प्रत्येक विन्दु पर सामाजिक संगठन स्थायी भार साम्य लिए हुए होगा'— (प्लेखनाव)। विभिन्न सामाजिक संगठन में श्रम के विभाजन विभिन्न प्रकार के थे, यह तो हम बता ही चुके हैं। मार्क्स ने उल्लिखित पत्र में ही लिखा था—'मोशिये प्रुधो के निकट श्रम का विभाजन एक बहुत ही सरल वस्तु है, किन्तु क्या जातिभेद पद्धति या शासन एक विशेष श्रम का विभाजन नहीं था? फिर गिल्डों का शासन क्या दूसरी तरह का श्रम—विभाजन नहीं था? और क्या इगलैंड में जिस तरह का श्रम विभाजन १७वीं सदी के बीच से लेकर १८वीं सदी के बीच तक था, वह बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग धन्धों के श्रम विभाजन से भिन्न नहीं था। मोशिये प्रुधों श्रम के विभाजन की बात को इतना कम समझते हैं कि इन्होंने एक बार भी शहर या देहात के पृथक्-करण का, जो जर्मनी में ९वीं से लेकर १२वीं सदी तक चल रहा था, कभी उल्लेख नहीं किया। योशिये प्रुथों के लिए जो न तो इसकी उत्पत्ति से और न इसके विकास से परिचित हैं, यह पृथक्करण एक चिरन्तन नियम का रूप धारण कर लेता है। ऊपरी पुस्तक 'दरिद्रता के दर्शन' में उन्होंने इस विशेष उत्पादन पद्धति का ऐसा वर्णन किया है, मानो वह चिरकाल तक रहेगा। सच बात तो यह है कि प्रत्येक तरह के श्रम-विभाजन के अपने विशेष औजार होते हैं। १७वीं सदी के मध्य से १८वीं सदी के मध्य तक प्रत्येक चीज हाथ से बनाई जाती हो, ऐसी बात नहीं, उस जमाने में भी यंत्र थे, और काफी जटिल यंत्र थे, जैसे करघे, जहाज, लीवर (Lever) इत्यादि......। यह कहा जा सकता है कि १८२५ तक याने पूँजीवाद के प्रथम आर्थिक संकट तक उत्पादन के मुकाबिले में उपभोग की आम माँगें अधिक तेजी से बढ़ती रहीं, और बाजार की जरूरतों के परिणामस्वरूप यंत्रों का आविष्कार अनिवार्य हो गया। १८२५ से यंत्रों का आविष्कार तथा प्रयोग मजदूरों तथा मालिकों की लड़ाई का परिणाम-मात्र था। यह बात केवल इँगलैंड के लिए सत्य है। जहाँ तक दूसरी यूरोपीय जातियों का सम्बन्ध है, उनको तो

अपने घरों के बाजारों तथा बाहरी बाजरों में इँगलैंड से लोहा लेने के लिए यंत्रों को मजबूरन अपनाना पड़ा। अन्त में उत्तरी अमेरिका में यंत्रों का प्रवर्तन दूसरे देशों के साथ प्रतियोगिता, साथ ही काम करनेवालों के अभाव—इन दो कारणों से हुआ, याने उत्तरी अमेरिका की जन-संख्या तथा उसके फलस्वरूप उसकी औद्योगिक माँगों के परिणामस्वरूप वहाँ यंत्र का प्रवर्तन हुआ।'

२३—विकासमान उत्पादन शक्तियाँ—नई उत्पादन-शक्तियों के उत्पन्न होने से समाज-व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाते हैं। 'हस्त-परिचालित यंत्र के परिणामस्वरूप ऐसा समाज पैदा होता है जिसमें सामन्तवादी प्रभु का बोल-बाला होता है, किन्तु वाष्प-परिचालित यंत्र के परिणामस्वरूप औद्योगिक पूँजीवादी समाज पैदा होता है।'[१] हम इस विषय पर थोड़े में विचार करेंगे कि किस प्रकार उत्पादन के साधन में परिवर्तन के साथ साथ राष्ट्र-व्यवस्था में परिवर्तन होता है। यह तो हम देख ही चुके कि उत्पादन की प्रक्रिया कोई स्थायी प्रक्रिया नहीं है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि नई उत्पादन-शक्तियाँ बिलकुल पुरानी उत्पादन-पद्धति के बाहर विकसित नहीं होतीं, बल्कि पुरानी पद्धति के गर्भ में ही उनका जन्म होता है। यह जो नई शक्तियाँ इस प्रकार उत्पन्न होती हैं, वह भौतिक जरूरतों के कारण ही उत्पन्न होती जाती हैं। मनुष्य उत्पादन-पद्धति का केन्द्र है, किन्तु उसकी एक विशेष पुश्त अपनी उत्पादन-पद्धति का निर्वाचन नहीं करती कि हमारी उत्पादन-पद्धति ऐसी ही होगी, वैसी नहीं। पहले की पुश्तों से उसे जो उत्पादन-पद्धति मिली है, उसी पर वह नवनिर्माण करता है। मनुष्य सामाजिक उत्पादन करते समय भविष्य को नहीं देखता (केवल समाजवादी समाज ही दूर भविष्य तक देख लेता है), बल्कि अपने रोजमर्रे की जरूरत को देखकर ही चलता है। उत्पादन हमेशा हर जगह सामाजिक होता है। जो शिकारी घने जंगलों में मृगनाभि की तलाश में अकेला मारा-मारा फिर रहा है, वह भी सामाजिक उत्पादक है। उसका भी समाज से सम्बन्ध है क्योंकि उसे भी आकर अपनी उपज समाज को बेचनी है, और उसके बदले में अपनी जरूरतों की चीजें प्राप्त करनी हैं। यदि कोई

१ P. P. K.

व्यक्ति ऐसा प्रण कर ले कि वह जंगल में जाकर अकेला रहेगा, और कभी नहीं लौटेगा, तो भी स्मरण रहे कि जंगल जाते समय वह समाज के उस समय तक के ज्ञान को अपने साथ ले गया है। भले ही उससे अब समाज को भविष्य में लाभ न हो, किन्तु उसे समाज से अर्थात् समाज के रूप में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उससे बराबर लाभ है। ऐसे लोगों का विचार समाज-शास्त्र में नहीं किया जाता, क्योंकि वे तो चिकित्सा-शास्त्र के विषय हो चुके हैं।

२४—वर्ग की उत्पत्ति का आधार—उत्पादन-शक्तियाँ बदलती रहती हैं, और इसी बदलने के दौरान में एक जगह पर जाकर वर्ग-विभाजन उत्पन्न हो जाता है। सामाजिक उत्पादन में कौन से लोग उत्पादन के साधनों याने जमीन, जंगल, पानी, खान, कच्चे माल, उत्पादन के औजार, इमारतों, आमदनी, रफ्तनी तथा यातायात के साधन पर कब्जा रखते हैं, कौन से लोग अन्य तरीकों से उत्पादन-पद्धति को अपनी मुट्ठी में रखते हैं, सारा समाज इन साधनों तथा तरीकों का मालिक है या कुछ लोग हैं, कुछ लोग हैं तो वे कैसे लोग हैं, उत्पादन का तरीका किस मंजिल पर है, यदि कुछ लोग उत्पादन के साधन के मालिक हैं, तो असली उत्पादकों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, असली उत्पादक स्पष्टरूप से उनके गुलाम हैं, अथवा उनकी गुलामी छिपी है, यदि छिपी है तो कितनी छिपी है—इन सारी बातों का उत्तर मिलने पर ही यह ज्ञात हो सकता है कि समाज की क्या हालत है, और उसमें क्या-क्या वर्ग हैं, और उनके क्या सम्बन्ध हैं। 'श्रम-विभाजन का नियम ही समाज के वर्गों में विभाजित होने की जड़ में है।'[१] याने एक वर्ग तो उत्पादन के साधनों पर शासक और शोषक बनकर बैठ जाता है, और दूसरा वर्ग शासित और शोषित हो जाता है।

२५—वर्गसंघर्ष के ज़रिये इतिहास की अग्रगति—मार्क्स एंगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में लिखा है—'अब तक वर्तमान सारे समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है (उस पर एंगेल्स ने बाद को इतना और जोड़ दिया कि आदिम समाज को अपवाद मानकर ही यह कथन सत्य है)। मालिक और गुलाम, पेट्रि-

---

१. A. D. E.

सियन और प्लेबियन,* गिल्ड मास्टर और जर्नीमन,† लार्ड और अर्द्ध-गुलाम‡ याने एक शब्द में शोषक और शोषित हमेशा एक दूसरे के खिलाफ रहे हैं। उनमें बराबर कभी छिपकर कभी खुलकर संघर्ष जारी रहा है, और इस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप या तो सारे समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण होता आया है, या युध्यमान वर्गों का आम विनाश हो गया। इतिहास के प्रारम्भिक युग में हम सभी जगह के समाजों में कई दस्तूरों की एक जटिल तरतीब पाते हैं, जिनमें सामाजिक दर्जों की कई सीढ़ियाँ मौजूद थीं। प्राचीन रोम में पेट्रिसियन, सरदार, प्लेबियन तथा गुलाम थे, मध्ययुग में हम सामन्तवादी लार्ड, रैवत, गिल्ड मास्टर, जर्नीमन, अपेरन्टिस, अर्द्धगुलाम पाते हैं, फिर इन वर्गों के अन्दर भी उपवर्ग थे। वर्तमान पूँज़ीवादी समाज में जिसकी नींव सामन्तवादी समाज के खण्डहर पर से फूट निकली है, वर्ग-संघर्ष दूर हो गया हो, ऐसी बात नहीं, हाँ, यह जरूरी है कि अब इस नई पद्धति में नये वर्गों की उत्पत्ति हुई है, तथा पुराने संघर्ष और शोषण की जगह पर संघर्ष और शोषण के नये रूपों की उत्पत्ति हुई है। हमारे युग को अर्थात् पूँज़ीवादी युग को फिर भी एक विशेषता प्राप्त है। वह यह कि अब वर्ग-संघर्ष का रूप पहले के मुकाबिले में कम जटिल रह गया है।

---

* प्राचीन रोम में उच्च कुलवालों को पेट्रिसियन और जन-साधारण को प्लेबियन कहते थे। इन दोनों वर्गों के अधिकारों में फर्क है, सच बात तो यह है कि पेट्रिसियनों ही के अधिकार थे, बाक़ी लोगों के कोई अधिकार नहीं थे।

† पूँजीवाद के अभ्युदय के पहले उत्पादकों के जो छोटे-छोटे संघ थे, वे गिल्ड कहलाते थे। भारतवर्ष में उत्तर वैदिक काल से ही श्रेणियों या गिल्डों के होने का परिचय मिलता है। भारतवर्ष में 'मुस्लिम शासन' के बाद इन श्रेणियों का पता नहीं लगता, ऐसा ज्ञात होता है वे जातियों में प्रस्तरीभूत होकर रह गये। जर्नीमन घूम-घूमकर काम करता था, गिल्ड मास्टर इसमें शोषक था और जर्नीमन शोषित।

‡ अर्द्धगुलाम की जगह मूल में 'सर्फ' शब्द आया है। इस शब्द के अन्दर वे खेतिहर आते हैं जो जमीन के साथ बँधे हैं, और जमीन की बिक्री के साथ-साथ वे भी हस्तान्तरित हो जाते हैं। उनकी मृत्यु से लेकर विवाह तक सभी बातों पर मालिक का नियंत्रण होता था। भारतवर्ष के देशी राज्यों में तो करीब-करीब पूर्ण-रूप से और अन्यत्र आंशिक रूप से सामन्तवाद अब भी मौजूद है।

समाज अब दो महान् विरोधी शिवरों के रूप में विभक्त होता जा रहा है, जिसमें दो बड़े-बड़े वर्ग हैं, जो एक दूसरे के सामने युद्ध करते हुए खड़े हैं। वे दो वर्ग हैं पूँजीवादीवर्ग और सर्वहारावर्ग।'

२६—उत्पादन में विकास से गुलामी के लिए गुँजाइस उत्पन्न—इस प्रकार आदिम साम्यवाद के बाद ही से, याने जब से उत्पादन की शक्तियों में इतनी उन्नति हुई कि जीवन धारण के बाद भी कुछ बचत होने लगी तथा वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, बराबर मनुष्य जाति का इतिहास वर्गों के संघर्ष का इतिहास रहा है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि जब उत्पादन-पद्धति में इतनी गुंजाइश नहीं थी कि कुछ बचत हो उस समय लोग गुलाम नहीं बनाये जाते थे। १९ वीं सदी में आदिम जातियों की रहन-सहन से इस सिद्धांत की पुष्टि होती है। भूमध्य रेखा के इर्द-गिर्द, अफ्रिका के पूर्व भाग में बसनेवाली मसाई जाति के सम्बन्ध में रेटजेल ने लिखा है कि यह एक पशुपालक जाति है, इस जाति के लोग किसी शत्रु को जीता नहीं छोड़ते। बात यह है कि उनके यहाँ ऐसे लोगों को जीता छोड़ा जाय तो वे उत्पादन-पद्धति पर एक बोझा-मात्र हो जायँ। इसी मसाई जाति के पास ही में एक वकम्मा जाति बसती थी। यह खेतिहरों की जाति थी, इसलिए इनमें गुलामों के श्रम की खपत थी। इनमें गुलाम रखना लाभजनक था, इसलिए ये लड़ाई में पकड़े हुए लोगों को गुलाम बनाकर रखते थे, मारते नहीं थे। आदिम साम्यवाद के युग में भी कहीं कहीं बाहरी लोगों को समाज में ले लिया जाता था, किन्तु वे गुलाम के रूप में नहीं बल्कि समान मानकर ले लिये जाते थे।[1]

२७—वर्ग, वर्गसंघर्ष तथा वर्गों के अन्दर के संघर्षों का स्वरूप—वर्ग-संघर्ष प्राय: ऐसे रूप में चलता है कि आसानी से ज्ञात नहीं होता। न मालूम कौन-कौन से नारे तथा किन किन विचारों की आड़ में यह वर्ग-संघर्ष चलता रहता है। हम बाद को इस विषय पर विस्तार के साथ आलोचना करेंगे। जिस समय हम आर्थिक नींव के साथ विचार-धारा यानी कला, साहित्य, दर्शन आदि का सम्बन्ध स्थापित करेंगे, उस समय यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायेगी, किन्तु ऐसा करने के पहले हम वर्ग की वैज्ञानिक परिभाषा क्या है, इस पर प्रकाश

1 F. P. M. p. 29

डालेंगे। यों तो साधारण तौर पर किसी भी समूह को वर्ग कहने का रिवाज है, किन्तु जिस समय वैज्ञानिक रूप से इस शब्द का प्रयोग करेंगे, उस समय इसका अर्थ समाज के एक ऐसे तबके से होगा जो आर्थिक रूप से समाज के दूसरे लोगों के साथ एक ही तरह का सम्बन्ध रखता है। पहले ही बताया जा चुका है कि यह सम्बन्ध कोई चिरन्तन नहीं है। वे बराबर बदलते रहते हैं, और इन्हीं सम्बन्धों के गर्भ में नये सम्बन्धों का पोषण होता रहता है। जब पुराने सम्बन्धों के दायरे में उत्पादन-शक्तियों का और आगे विकास सम्भव नहीं होता, उस समय अंडे की तरह पुराने सम्बन्ध टूट जाते हैं, और उसके अन्दर से नया समाजरूपी शिशु भूमिष्ट होकर नये युग को बाँग देकर अभिनन्दित करता है। बुखारिन ने वर्ग की परिभाषा करते हुए कहा है 'सामाजिक वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहा जायेगा जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक ही हिस्सा अदा करते हैं, और उत्पादन की प्रक्रिया में लिप्त दूसरे व्यक्तियों के साथ एक ही सम्बन्ध रखते हैं। ये सम्बन्ध वस्तुओं में भी (याने श्रम के औजारों में भी) प्रकाशित होते हैं।[१]'

बुखारिन ने वर्ग की उल्लिखित परिभाषा से सुन्दरतर परिभाषा उत्पन्न की है। वे कहते हैं—'ऐसे लोगों का एक समूह जो उत्पादन में और इस कारण वितरण में एक ही तरह से अवस्थित है यानी दूसरे शब्दों में जिनमें आमहित (वर्गहित) एक हैं, वह वर्ग कहलाता है।' किन्तु अगले ही वाक्य में बुखारिन एक बात के सम्बन्ध में पाठकों को आगाह कर देते हैं—'किन्तु ऐसा समझना बिलकुल ऊल-जलूल होगा कि प्रत्येक वर्ग सम्पूर्ण रूप से एकीभूत कोई समग्र है, जिसका हर एक हिस्सा बराबर महत्त्व का है।'[२] इसमें और एक बात जोड़ी जा सकती है कि वर्ग के अन्दर भी उपवर्ग होते हैं, और इन उपवर्गों का हित स्थायी रूप से तो नहीं सामयिक रूप से अकसर अन्य उपवर्गों के हितों के साथ संघर्ष में आता है। ऐसा भी हो सकता है कि उपवर्ग का हित सामयिक रूप से उस वर्ग के विरुद्ध हो जिसका वह उपवर्ग है, किन्तु फिर भी इन सारे उपवर्गों का एक साधारण हित होता है जो सर्वोपरि होता है।

१ H. M. p. 275
२ Ibid. p. 304

यदि किसी उपवर्ग का हित स्थायी रूप से अपने वर्ग के विरुद्ध हो जाय तो वह उपवर्ग उस वर्ग से निकल ही गया, उसका तो कुछ कहना ही नहीं है। बराबर एक वर्ग से लोग दूसरे वर्ग में जाते रहते हैं, यह एक अपवादात्मक प्रक्रिया है, किन्तु फिर भी वर्ग के विश्लेषण में इस पहलू को समझ लेना उचित है। सर्वहाराओं में भी, वार्गिक रूप से एकहितता होने पर भी, उपवर्ग हैं। मजदूरों की हड़तालों को तोड़ने के लिए मजदूर ही लाये जाते हैं। किसानों के लड़के वर्दी पहन कर सेना के रूप में किसानों पर गोली चलाते हैं। शोषितवर्ग के उपवर्गों के इस झगड़े से शोषकवर्ग हमेशा फायदा उठाने के लिए तैयार रहते हैं, और तब तक उठाते रहेंगे जब तक शोषितों में वर्ग चेतना उत्पन्न न हो जाय। जिस प्रकार शोषितों के उपवर्गों के आपसी संघर्ष से शोषक फायदा उठाते हैं, उसी प्रकार शोषकों के उपवर्गों के आपसी झगड़ों से शोषितों के बुद्धिमान नेता पर सही मार्ग पर चलनेवाला उनका दल फायदा उठा सकता है। सच बात तो यह है कि शोषक और शोषित बराबर इस प्रकार से फायदा उठाते रहते हैं। समाज के दो मुख्य हिस्से अर्थात् शोषक और शोषित के होते हुए भी दोनों के अन्दर के इन हितसंघर्षों के कारण समाज शतरंज के एक बोर्ड की तरह हो जाते हैं, किन्तु फर्क यह है कि शतरंज के मोहरों की अलग अलग चाल होते हुए भी एक तरह के मोहरे अपनी क़िस्म के मोहरे से कभी लड़ते नहीं हैं, किन्तु सामाजिक शतरंज के बोर्ड में मोहरे अपनी तरह के मोहरों से लड़ते हुए भी सब मिलकर विरोधी मोहरों से लड़ते जाते हैं। कुछ लोग एक ही वर्ग के अन्दर चलनेवाली ईर्ष्या या संघर्ष को देखकर वर्ग के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देते हैं, किन्तु यह बात नहीं है। इतिहास हमें यह बताता है कि छोटे-मोटे पारस्परिक संघर्षों के बावजूद भी एक वर्ग अन्तिम रूप में अपने विरोधी वर्ग से ही लोहा लेता है।

२८—प्रत्येक वर्ग में अन्तर्विरोध भी है—फ़ान्स वर्कनाऊ की तरह लेखकों ने बहुत से तथ्य देकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि दुनिया के सर्वहारा वर्ग की एकता स्वप्न-मात्र है, कार्यक्षेत्र में कहीं यह एकता दृष्टिगोचर नहीं होती। वर्कनाऊ का कहना है कि जिन देशों में रहन-सहन का मानदण्ड तथा मजदूरी ऊँची है, उन देशों में बाहर के मजदूर आने नहीं दिये

जाते। ऐसे देशों के पूँजीपति तो यह चाहते हैं कि बाहर से ऐसे मजदूर बुलाये जायँ जो कम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हों, किन्तु इसके विरुद्ध कानून हो जाने के कारण वे ऐसा कर नहीं पाते। वर्कनाऊ का कहना है कि इस प्रकार के रोक-थाममूलक कानून बनवाने की ९० फी सदी जिम्मेदारी उस देश के मजदूर संगठनों पर है। 'दक्षिण अफ़्रिका में चीनी, क्वीन्सलैंड में कनक जाति के लोग, न्यूज़ीलैंड में सभी अब्रिटिश लोग मजदूरी नहीं कर सकते, और ऐसा नियम वहाँ के मजदूरों के प्रभाव के कारण ही है। इसी प्रकार १९२१ और १९२४ में अमेरिका में जो इमीग्रेशन क़ानून बने, वे संगठित मजदूरों के दबाव ही के कारण बने। १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले जब अमेरिका में मजदूरों का कोई भी राजनैतिक असर नहीं था, उस समय ऐसे क़ानून की कल्पना नहीं की जा सकती थी। फ़्रांस में जहाँ इस सम्बन्ध में क़ानून कुछ उदार है, उसका कारण यदि देखा जाय तो फ़्रांस के मज़दूर-आन्दोलन की कमज़ोरी ही इसके लिए ज़िम्मेदार है...। ऐसा कहना आक्षरिक रूप से सत्य होगा कि बाहर से मज़दूर बुलाने की समस्या के सम्बन्ध में देश के मज़दूर ही सबसे अधिक जातीयतावादी तरीके से सोचते हैं। फिर भी यह कष्टकर रूप से स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्बन्ध में इस रुख को ग्रहण करने के कारण उस देश के मज़दूरवर्ग न केवल अपने अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों के विरुद्ध आचरण करते हैं, बल्कि वे अपने व्यावहारिक हितों का भी विरोध करते हैं।"[१] व्यावहारिक हितों का विरोध कैसे होता है इसे समझाते हुए वर्कनाऊ ने दिखलाया है कि रहन-सहन के निम्न मानदण्डवाली जातियों के लोगों को उच्च मानदण्डवाली जातियों के मजदूरों में आकर काम न करने देने से निम्न मानदण्डवाले देश के मजदूरों का मानदण्ड ऊँचा नहीं हो पाता, वे कम मजदूरी पर काम करने पर तैयार रहते हैं, नतीजा यह है कि पूँजीपतिगण धीरे-धीरे अपने कारखानों को हटाकर रहन-सहन के निम्न मानदण्डवाले देशों में ले आते हैं। इस प्रकार इन्हीं मजदूरों का अन्तिम रूप से नुकसान होता है।

२९—वर्गों के अन्तर्विरोध के बावजूद शोषक-शोषित का संघर्ष मुख्य सामाजिक शक्ति—इसमें सन्देह नहीं कि वर्कनाऊ ने कुछ ऐसे तथ्य लाकर खड़े कर

१. S. N. I. p. 16—17

दिये हैं, जिनके तथ्य होने के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता। हम पहले ही बता चुके हैं कि एक ही वर्ग के अन्दर इस प्रकार के हित-सम्बन्धी विरोध मौदजू हैं। उसे अस्वीकार करना हास्यास्पद होगा। फिर भी उन्होंने इन तथ्यों से यह जो नतीजा निकालने की चेष्टा की है कि अन्तर्राष्ट्रीय वार्गिक एकता एक स्वाप्निक वस्तु है, यह गलत है। इस प्रकार का आपसी विरोध तो अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद में भी है। फिर भी यह तथ्य है कि प्रत्येक देश का पूँजीवाद दूसरे देशों के पूँजीवाद से बराबर लोहा लेता जा रहा है। जिसे साम्राज्यवादी युद्ध कहा जाता है वह पूँजीवाद के आपसी झगड़े के अतिरिक्त और क्या है? ये आपसी युद्ध कितने भयंकर हुए, यह एक इतिहास-विदित बात है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद में किस प्रकार एकता है, तथा अपने सामन्य हितों के लिए कैसे प्रत्येक जाति के पूँजीवादी सम्मिलित रूप से लड़ने के लिए तैयार रहते हैं, इसके कई ऐतिहासिक उदाहरण हैं। जिस समय पहले-पहल सोवियट रूस का उदय हुआ, उस समय यूरोप और अमेरिका की पूँजीवादी शक्तियाँ पारस्परिक रक्तपात में व्यस्त थीं, किन्तु ज्यों ही उन्हें इससे छुट्टी मिली, त्यों ही वे सब मिलकर समाजवादी रूस पर टूट पड़े। यह तो एक बहुत ऊपरी बात हुई जिसे इतिहास का एक साधारण छात्र भी समझ सकता है, किन्तु जिस समय दो देश युद्ध में व्यस्त हों, उस समय भी भीतर-भीतर अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल किस तरह क्रियाशील रहते हैं, तथा किस तरह एक देश के अस्त्रों के व्यापारी अपने देश के विरुद्ध लड़नेवाले देश को अस्त्र पहुँचाते हैं, इसे सब लोग उतनी अच्छी तरह नहीं जानते। जब तक पूँजीवाद के मौलिक हितों पर चोट नहीं होती, तब तक ये पूँजीवादी भले ही आपस में लड़ते-भिड़ते रहें, लेकिन किसी भयंकर विपत्ति के समय वे सब एक दिखाई देते हैं। यदि समाजवादी रूस के साथ पूँजीवादी देशों की परराष्ट्र-सम्बन्धी नीति के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो पग पग पर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद की एकता का प्रमाण मिलेगा। १९३९ की लड़ाई में जिस समय रूस के कन्धे से कन्धा मिलाकर दूसरे कई पूँजीवादी राष्ट्र अपने सामान्य शत्रु फासिवादी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ रहे थे, उस समय भी किस प्रकार वे पूँजीवादी राष्ट्र रूस के विरुद्ध दाँव-पेंच किया करते थे, यह अभी कल के इतिहास की बात है। १९४५ में जब ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ था, उस समय के प्रधान

ब्रिटिश नेता चर्चिल ने समाजवाद के विरुद्ध नारा देकर निर्वाचन युद्ध में जयी होना चाहा था। उनके प्रथम व्याख्यान में ही इस प्रकार के उल्लेख थे, जैसे हम इस लड़ाई के बाद यह नहीं चाहते कि यूरोप में गेस्टापो का राज्य हो जाय, यह उल्लेख स्पष्ट रूप से रूस के विरुद्ध था।

हमारा यह कहने का मतलब कदापि नहीं है कि चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद में अन्तर्विरोध है, इसलिए सर्वहारावर्ग के अन्तर्विरोध पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, और हम यह नहीं चाहते कि उसको अस्वीकार कर दिया जाय। अवश्य हम यह कहना चाहते हैं कि दोनों वर्गों के अन्दर के अन्तर्विरोध एक दूसरे से बहुत कुछ कट जाते हैं। जैसा कि हम बता चुके हैं, सामाजिक शक्तियों के शतरंज का बोर्ड कोई सरल ऋजु बोर्ड नहीं है, इसके विरोधी मोहरे अपने अन्दर आपस में भी लड़ते जाते हैं। सर्वहारावर्ग में बर्कनाऊ द्वारा उल्लिखित अन्तर्विरोध के बावजूद यह भी एक ज्ञात तथ्य है कि जिन दिनों सोवियट रूस के शिशु राष्ट्र पर चारों तरफ से पूँजीवादी पूतनाओं के हमले हुए, उन दिनों सोवियट राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन की एकता के कारण ही जीवित रह सका। यदि उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-आन्दोलन सोवियट राष्ट्र के रक्षार्थ आगे नहीं बढ़ता, तो अभिमन्यु की तरह चारों तरफ से घेरा ज़ाकर वह मारा जाता, इसमें सन्देह नहीं।

केवल यही नहीं कि जब बहुत से महत्त्वपूर्ण सामान्य हित विपत्तिग्रस्त हो जाते हैं, तब सब देशों के पूँजीवादी एक सूत्र में बँधकर काम करने लगते हैं, बल्कि हम इतिहास में यह भी देखते हैं कि पूँजीवाद एक हद तक अपने प्राकृतिक शत्रु सामन्तवाद के—जिसके खण्डहर पर वह अपनी इमारत का निर्माण करता है—साथ मित्रता कर लेता है। इसका हम सबसे अच्छा उदाहरण भारतवर्ष में ही पा सकते हैं जहाँ ब्रिटिश पूँजीवाद ने भारतीय सामन्तवाद को एक हद तक ही मारा, उसके बाद उसे—जब वह उसका मित्र हो गया—जिला रखा। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि पूँजीवादीवर्ग और सामन्तवादीवर्ग दोनों शोषकवर्ग हैं, इसलिए यदि पूँजीवाद सामन्तवाद के विषदन्तों को तोड़कर उसे अपना पिछलगुवा बनाकर रख सकता है तो उसमें उसका कुछ बिगड़ता नहीं है। विशेष कर पूँजीवाद का यह भी तकाजा है कि अपने देश के अतिरिक्त

सभी देशों को—हिटलर का यही स्वप्न था—देहात में अर्थात् कच्चे मालों के उत्पादक भू-खंडों में परिणत कर रखा जाय। ऐसी हालत में औपनिवेशिक अथवा अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में पूँजीवाद अर्थात् उसके साम्राज्यवादी रूप के यह हित में है कि एक हद तक इन अधीन देशों में अर्द्धगुलामी-प्रथा कायम रखी जाय। इस पृष्ठभूमि में और भी शक्तियाँ काम करती हैं, किन्तु हमें उनके ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो केवल इतना ही स्पष्ट करना था कि न केवल सार्वदेशिक पूँजीवाद में एक निविड़योगसूत्र है, बल्कि सभी शोषक वर्गों में एक बहुत गहरा योगसूत्र है। फिर यह हर समय स्मरण रहे कि पद्धतियों को गिनते समय हम यह भूल न करें कि दुनिया में कोई भी पद्धति विशुद्ध होती है। पूँजीवाद में हमें सामन्तवाद के अवशेष मिलेंगे, इसी का नतीजा यह है कि रूस की समाजवादी क्रान्ति को बहुत से ऐसे कर्त्तव्य सम्पन्न करने पड़े जो यदि शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो वे कर्त्तव्य समाजवादी क्रान्ति के नहीं थे, बल्कि पूँजीवादी क्रान्ति के ही कर्त्तव्य थे। इसी लिए किसी नियम को लागू करते समय यदि हम इस बात को स्मरण रखें तभी चीजों को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

संक्षेप में हम यह दिखा चुके कि जब से वर्ग-समाज का उदय हुआ तब से समाज में वर्ग-संघर्ष निर्णयात्मिका शक्ति रही है, अवश्य इसके साथ हम यह भी देख चुके हैं कि प्रत्येक वर्ग के अन्दर बहुत गहरे अन्तर्विरोध भी होते हैं, किन्तु उससे हम यह नहीं भूल सकते कि वर्गशक्तियों का मुख्य लक्षण है—शोषक और शोषितों की लड़ाई।

३०—होनहार वर्ग और ह्रासशीलवर्ग की विशेषताएँ—जिस समय कोई वर्ग होनहार होता है, अर्थात् उदीयमान उत्पादन की शक्तियों का वाहन होता है, उस समय वह बहुत जल्दी-जल्दी अपनी विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त करते हुए आगे बढ़ता चला जाता है। वर्गों का हित भिन्न-भिन्न वाहन के जरिये अपने को व्यक्त कर सकता है। किसी भी शोषकवर्ग को लीजिए कभी उसका हित राजतंत्र में हो सकता है तो कभी उसके विपरीत। जिस समय राजतंत्र के पीछे के वर्ग अभी ताजे हैं, और उनका ऐतिहासिक हिस्सा अभी अदा नहीं हुआ है, उस समय राजतंत्र जोरों से डग भरता है, और उस समय उसके पैरों में

किसी तरह की लड़खड़ाहट दृष्टिगोचर नहीं होती। ट्राटस्की के अनुसार ऐसे समय उसके हाथों में शक्ति के विश्वासयोग्य यंत्र और तरह तरह के कार्य-कारिणियों का समूह रहता है वह जिसे चाहे ले, और एक के विफल हो जाने पर दूसरे को अपनावे। बात यह है कि अभी इस वर्ग को बुद्धिमान् लोगों ने नहीं छोड़ा है। ऐसे समय में राज्य व्यक्तिगत रूप से एक महान् ऐतिहासिक कर्त्तव्य का सम्पादन कर सकता है, किन्तु जिस समय जिस वर्ग का वह प्रतिनिधि है, और वह अस्तगामी है तो उस समय राजतंत्र लड़खड़ाने लगता है, और वह वर्ग तथा राजतंत्र एक दूसरे को अलग अलग करके देखने लगते हैं, राजवंश अलग हो जाता है, उसके विश्वस्त अनुयायी भाग निकलते हैं दूसरी तरफ विपत्तियाँ बढ़ती जाती हैं, राजतंत्र खींचकर इधर-उधर ऐंड़ा-बैंड़ा हमला करने लगता है, कभी पीछे हटता है, कभी आगे बढ़ता है। किन्तु जो कुछ भी वह करता है, वह वर्गशक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के दायरे में आही जाता है। इसलिए इस प्रकार का विश्लेषण कि फलाने राजा का सर्वनाश उसकी स्त्री या अमुक मंत्री के कारण हुआ, ऐतिहासिक रूप से सत्य का अंश-मात्र है। वास्तव में अमुक मंत्री तथा अमुक साम्राज्ञी के पीछे वर्गशक्तियाँ ही काम करती थीं। जब तक ये वर्ग-शक्तियाँ प्रगतिशील हैं, तव तक उनका मूर्तरूप चाहे वह राजतंत्र हो, चाहे अन्य कोई तंत्र, वह प्रगतिशील है, किन्तु ज्यों ही ये शक्तियाँ प्रतिक्रियाभिमुखी हुईं, त्यों ही उस शासन नेत्र की तथा उस शासनतंत्र की परिपोषक विचार-धारा प्रतिक्रियावादी होगी। प्रगति और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में हम बाद को विस्तार के साथ आलोचना करेंगे, यहाँ के विवेचन के लिए इतना ही कहना यथेष्ट है कि जो शक्तियाँ उदीयमान वढ़ती हुई उत्पादन की शक्तियों की अनुकूलता करती हैं, वे ही प्रगतिशील हैं, और जो शक्तियाँ इन्हें पीछे की ओर ले जाने की चेष्टा करती हैं, वे प्रतिक्रियावादी हैं।

३१—गुलाम पद्धति भी अपने समय में प्रगतिशील—इस दृष्टि से देखने पर गुलाममूलक समाज-पद्धति आदिम साम्यवाद के मुकाबिले में प्रगतिशील थी। मनुष्य-जाति प्रारम्भ में हजारों वर्षों तक शोषणहीन, वर्गहीन समाज की अवस्था में रही, किन्तु इसलिए यह कहना कि यदि मनुष्य जाति उसी अवस्था में पड़ी रहती जिसमें कोई वर्गसंघर्ष न था तो अच्छा रहता और ये सब

टंटे ही न होते, केवल व्यर्थ की कल्पना होगी। जिन उत्पादन-शक्तियों के कारण समाज में वर्गों की उत्पत्ति हुई वे वर्गहीन आदिम साम्यवाद के युग में मौजूद थीं, और प्रति पग पर उनका विकास हो रहा था, फिर भला वर्गों की उत्पत्ति क्यों न होती ? आदिम साम्यवाद के युग की ओर टकटकी बाँधकर कोई अकर्मण्य की भाँति उसकी प्रशंसा में शतमुख भले ही हो जाय, किन्तु सामाजिक विकास की दृष्टि से वह कोई स्वर्णयुग नहीं था। मनुष्य-जाति का जो अभूतपूर्व विकास हुआ है, और आगे जो उसके सामने वर्गहीन समाज का स्वप्न नहीं बल्कि क्षितिज दिखलाई देता है, वह कभी भी दिखलाई न देता, यदि वर्ग पैदा न होते, और युगों के दौरान में वे निरन्तर बदलते हुए आगे की ओर न बढ़ते। सामाजिक विकास के लिए यानी उत्पादन की शक्तियों के विकास के लिए वर्गों का पैदा होना अनिवार्य था, इसलिए यह भावुकतापूर्ण क्रन्दन तथा आदिम साम्यवाद के युग की समाप्ति पर नौहगिरी कोई अर्थ नहीं रखती।

३२—गांधी जी का सर्वोदय, और उसकी जाँच—वर्गसंघर्ष की सबसे ऊँची मंजिल वह है जब उत्पादन की नई शक्तियों के साथ प्रचलित राज्य-व्यवस्था की ऐसी असंगति हो जाती है कि वे दोनों एक साथ आगे चल ही नहीं सकतीं। ऐसे समय में या तो समाज में क्रान्ति होकर नया वर्ग शासनारूढ़ हो जाता है या समाज क्षिपमान हो जाता है। इस प्रकार एक समाज-पद्धति के बाद दूसरी समाज-पद्धति आती रहती है। प्रत्येक राजनैतिक उथल-पुथल वार्गिक सम्बन्ध में किसी न किसी नये संतुलन की सूचना करती है—यह नया संतुलन चाहे पूर्वतन संतुलन से बहुत थोड़ा ही भिन्न क्यों न हो। वर्गों के रहते हुए वर्ग-संघर्ष का विलोप नहीं हो सकता है। जब वर्ग समाप्त हो जायँ तभी वर्ग-संघर्ष खतम हो सकता है। जो लोग वर्गों के रहते हुए वर्ग-संघर्ष के विलोप या वर्ग-समन्वय का नारा देते हैं, वे केवल मृगमरीचिका का अनुसरण करते हैं। जिस समय ऐसा मालूम भी होता है कि वर्ग-समाज में वर्ग-संघर्ष खतम हो गया, उस समय असल में वह खतम नहीं होता, बल्कि जैसा कि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों में कहा गया है, उस समय वर्ग-संघर्ष छिपे रूप में चलता रहता है। इसी लिए सर्वोदय अर्थात् एक साथ सब वर्गों के उदय का नारा वर्ग-

समाज में बिलकुल गलत है, सर्वोदय तभी हो सकता है, जब वार्गिक प्रभेद ही विलुप्त हो जाय। वर्ग समाज के रहते हुए बल्कि उसको कायम रखते हुए, सर्वोदय नहीं हो सकता। वैज्ञानिक समाजवाद का भी ध्येय सर्वोदय है, किन्तु गांधी जी की तरह वह वर्ग समाज के रहते हुए सर्वोदय का स्वप्न नहीं देखता। समाज के कुछ नियम हैं, उन्हीं नियमों को जानकर बरतने पर ही हम एक ध्येय को प्राप्त कर सकते हैं, केवल द्रष्टगत रूप से किसी अवस्था की कामना करने से ही वह अवस्था नहीं आ जाती है। समाज के गतिशास्त्र को तथा वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता और उसकी गति के रुख को जानकर ही हम ऐसे समाज में पहुँच सकते हैं जिसमें सर्वोदय सम्भव हो। सामाजिक गति के नियम को न जानकर तथा उस नियम के द्वारा बतलाये हुए सोपानों को छलाँग मारकर, लाँघकर एकदम सर्वोदयमूलक समाज का नारा देने के कारण गांधी जी का सर्वोदयमूलक नारा अव्यावहारिक तथा गुमराहकुन हो जाता है। फिर यहाँ पर ग़लतफ़हमी न हो इसलिए यह साफ कर दिया जाय कि गांधी जी के द्वारा परिकल्पित सर्वोदय मूलक वर्गहीन समाज वही है, जिसमें वर्ग हैं, किन्तु उनके संघर्ष दूर हो गये हैं, तथा जिसमें शोषकवर्ग शोषितों का ट्रस्टी हो गया है। इस कारण गांधी जी वाली परिकल्पना बिलकुल ऊल-जलूलता की श्रेणी में पहुँच गई है। केवल यही नहीं कि यह नारा अव्यावहारिक, ऊलजलूल और गुमराहकुन है बल्कि शोषितों को यह आशा दिलाने के कारण कि पूँजीपतियों के रहते हुए तुम्हारा उदय हो सकता है, यह नारा—चाहे इसके प्रवर्तक व्यक्तिगत रूप से बहुत ही बड़े सन्त या महात्मा क्यों न हों—प्रवंचनामूलक हो जाता है।

३३—सामन्तवाद से पूँजीवाद—जब तक परिस्थिति बिलकुल परिपक्व नहीं हो जाती, पुराने समाज के अन्दर ही नई आर्थिक पद्धति पुष्ट होती रहती है। उदाहरण के तौर पर महान् फ्रेंच-राज्यक्रान्ति (१७८९) के पहले के यूरोप की हालत को लिया जायँ। उस समय सामन्तवादी राज्य-पद्धति के अन्दर ही पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का विकास होता रहा, किन्तु सामन्तवाद के कारण अर्थात् विभिन्न भूभागों में विभिन्न क़ानून तथा कर-पद्धति होने के कारण पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति को पग-पग पर बाधाग्रस्त होना पड़ रहा था। उस समय

भी शोषक और शोषितवर्ग थे यानी सामन्तवादी प्रभु तथा अर्द्धगुलाम थे, किन्तु इसके साथ ही जब पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति की जड़ जमी और वह उन्नति करने लगी, उस समय एक नया शोषक और शोषितवर्ग पैदा हो गया। यह नया शोषक पूँजीवादी था तथा नया शोषित मजदूर था। अर्द्धगुलाम और सामन्तवादी प्रभुओं के पारस्परिक संघर्ष तथा सामन्तवादी राज्य-व्यवस्था के साथ पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के संघर्ष के कारण फ्रेंच राज्यक्रान्ति तथा उसके बाद की अन्य क्रान्तियाँ हुईं। इन क्रान्तियों के फलस्वरूप पूँजीवादी वर्ग अधिकारारूढ़ होता गया, और फिर एक बार इस नई पद्धति के अन्दर असंगति पैदा होती गई।

३४—**क्रान्तिकारीवर्ग कौन?**—इस प्रकार जो नया वर्ग अधिकारारूढ़ होता है, 'वह नवीन सामाजिक तथा आर्थिक पद्धति का संगठनकर्त्ता तथा धारक होकर सामने आता है। कोई भी ऐसा वर्ग जो उन्नततर नई उत्पादन-पद्धति को लेकर नहीं आता, वह समाज में क्रान्ति का वाहन नहीं हो सकता और न वह समाज को परिवर्तित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्ग-शक्ति जिसके अन्दर बढ़ती हुई तथा क्रमोन्नतिशील उत्पादन की अवस्थाएँ हैं, ऐसी मूलगत शक्ति है जिससे सामाजिक परिवर्तन होता है।'[१] इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक पुरानी समाज पद्धति के दायरे में उन्नति करना सम्भव है, यानी जब तक उसमें उत्पादन-शक्तियों के कुछ भी आगे बढ़ने की थोड़ी भी गुंजाइश रहती है, तब तक क्रान्ति की या पद्धति-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती, जब बिलकुल ही उन्नति सम्भव न हो तभी समझना चाहिए कि क्रान्ति के लिए यानी एक तरह के समाज से दूसरी तरह के समाज में जाने की अनिवार्य जरूरत है। उस समय तक विकास का क्रम जारी रहेगा, और क्रान्ति नहीं होगी।[२]

जो नया क्रान्तिकारीवर्ग शक्तिआरूढ़ हो जाता है, उसके हाथों में समाज की सारी उत्पादन-शक्ति का एकाधिकार पहुँच जाता है। शुरू-शुरू में यह एकाधिकार उत्पादन-शक्तियों के विकास के हक़ में अच्छा रहता है, और

१ H. M. p. 247
२ Ibid p. 244

उत्पादन की शक्तियाँ उसके अधीन विकसित होती जाती हैं, किन्तु एक हद के बाद यह नई पद्धति भी उत्पादन-शक्तियों के पैरों में बेड़ियों के रूप में हो जाती हैं। जब ऐसा हो तब समझना चाहिए कि उस वर्ग का क्रान्तिकारी हिस्सा अदा हो चुका और उसकी लगाई हुई बेड़ियों को तोड़कर फेंक देने में ही समाज का कल्याण है।

३५—दिये गये नारों का स्वरूप देनेवाले वर्ग पर निर्भर—वर्ग-संघर्ष का रूप सभी क्षेत्रों में एक ही-सा होता हो, ऐसी बात नहीं। जिस समय उदीयमान पूँजीवादी वर्ग सामन्तवादी वर्ग के शिकंजे से अपना गला छुड़ा रहा था, उस समय यद्यपि उसने समानता, मैत्री तथा स्वाधीनता का नारा दिया था—ऐसा नारा सभी वर्ग देते रहे हैं कि उसकी लड़ाई सारे समाज की लड़ाई है—किन्तु उसके अपने छुटकारे से सारे समाज का छुटकारा नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि जिस समय सामन्तवादी वर्ग के ऊपर पूँजीवादी वर्ग का उदय हुआ, उस समय उसने सर्वहारावर्ग को दबाने के लिए अर्थात् काबू में रखकर अपना शोषण कायम रखने के लिए अपने कल के दुश्मन सामन्तवादी वर्ग से दोस्ती कर ली। इस प्रकार सारे समाज की स्वाधीनता के नारे की पोल खुल गई। लगे हाथों हम यह भी देखें कि नारे किस उद्देश्य से दिये जाते हैं, और असल में उनकी अन्तर्गत वस्तु क्या होती है। नारा चाहे जितना भी क्रान्तिकारी हो, जो गुट, गिरोह या वर्ग उस नारे को बुलन्द कर शक्तिआरूढ़ होता है, वही बाद को नारे का प्रामाणिक व्याख्याकर्त्ता के रूप में आता है। उसी की व्याख्या सही व्याख्या समझी जाती है, दूसरी तरह की व्याख्या देनेवाले लोग मूर्ख, बेईमान, पागल समझे जाते हैं, और यदि उनमें से किसी की बहुत ही भारी इज्जत की गई तो उसे महात्मा कहकर सिंहासन पर बैठा दिया जाता है, किन्तु यह कहकर उसकी बात टाल दी जाती है कि इनकी बातों को तो पहुँचे हुए लोग ही जीवन में कार्यकरी रूप दे सकते हैं।

इतिहास में ऐसा बार बार हुआ है कि उदीयमान वर्ग ने कुछ नारे देकर विजय प्राप्त की, किन्तु बाद को उन नारों को भुला दिया। १७वीं सदी के इँगलैंड की राज्य-क्रान्ति से लेकर १७८९ की महान् फ्रेंच राज्य-क्रान्ति तथा १८४८ के लगभग की यूरोपीय क्रान्तियों में यही बात बारबार हुई, यानी

पूँजीवादीवर्ग की विजय के बाद उसके साथ जिस मजदूरवर्ग ने उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर सामन्तवाद के विरुद्ध लोहा लिया था, उसको धता बता दिया गया, उलटे सामन्तवादीवर्ग के साथ पूँजीवादीवर्ग की मित्रता हो गई। अब यह प्रश्न उठता है कि सर्वहारावर्ग भी तो सबकी स्वतंत्रता का नारा देकर पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ता है, वह भी कहता है कि सारे समाज को स्वतंत्र कर ही वह स्वतन्त्र होगा, इस नारे में कहाँ तक सत्यता है? इस नारे में सत्यता इसलिए है कि वाकई इस वादे को पूरा किये बग़ैर सर्वहारा स्वतन्त्र नहीं हो सकता।[१] मजदूरवर्ग का युद्ध वर्गयुद्ध होते हुए भी उसका चरित्र दूसरे वर्गयुद्धों से बिलकुल भिन्न है। यदि दूसरे वर्गों की तरह सर्वहारावर्ग अपने साथ लेने के लिए सारे समाज की स्वतन्त्रता का नारा भरना चाहे, तो वह ऐस नहीं कर सकता। उसको तो यह नारा सच्चाई के साथ ही देना पड़ेगा, नहीं तो स्वयं स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होगी।

३६—सर्वहारा संग्राम की विशेषता—फ़ासिस्टवाद, पार्लियामेंट्री शासन का स्वरूप—मजदूरवर्ग की विजय के साथ ही वर्गयुद्ध के खात्में का सूत्रपात हो जाता है। सर्वहारावर्ग के द्वारा चलाये हुए वर्गयुद्ध की एक और विशेषता यह है कि उसके पहले जितने भी वर्गयुद्ध हुए हैं, उन सब में वर्तमान शासक तथा भविष्य शासक दोनों समाज की अल्पसंख्या मात्र थे। सर्वहारावर्ग का ही युद्ध प्रथम युद्ध है जो एक अल्पसंख्यावाले वर्ग को हराकर दूसरी अल्पसंख्यावाले वर्ग को स्थापित नहीं करता, बल्कि वह मुट्ठी भर लोगों के शासन को हटा कर बहुसंख्या के शासन को स्थापित करता है। सर्वहारावर्ग के शासन में एक और विशेषता यह है कि वह दूसरे वर्गों की तरह यह दावा नहीं करता कि उसका शासन सबका शासन है। वह खुलकर अपने शासन को सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व बतलाता है। उसके पहले के सभी शासन इसी प्रकार एक न एक वर्ग का छिपा या खुला अधिनायकत्व था, किन्तु बराबर शासकवर्ग यह कोशिश करता था कि शासन या राष्ट्र उसका नहीं है, बल्कि राष्ट्र एक 'निष्पक्ष संस्था' है। यह केवल कहने की बात भर है। जब तक पूँजीवादीवर्ग इस ढकोसले को कायम

१ R. C. R. p. 126

रखते हुए भी, और उसके लिए कुछ मामूली दाम देते हुए भी अपना वर्ग स्वार्थ-सिद्ध करता जाता है, तथा कर पाता है, तब तक वह इस ढकोसले को कायम रखता है, किन्तु जब भी उसका कोई मौलिक हित ख़तरे में पड़ जाता है, तब वह पार्लियामेन्ट सार्वजनिक वोट आदि के ढकोसले को हटाकर उस रुद्रवर्ग रूप में प्रकट होता है, जिसे फासिवाद या नात्सीवाद का नाम दिया गया है। यद्यपि मार्क्स ने फासिवाद या नात्सीवाद के नाम का उपयोग नहीं किया है, तो भी वे उसकी अन्तर्गत वस्तु से परिचित थे, और वे यह लिख गये हैं कि किन परिस्थितियों में पूँजीवाद पार्लियामेन्ट के ढकोसले को त्याग कर इस प्रकार अपने असली रूप में प्रकट होता है। लिवक्नेख्त ने इसीलिए प्रजातंत्र को वह गूलर का पत्ता बताया है जिसके द्वारा पूँजीवाद ने अपनी नग्नता को छिपा रखा है, किन्तु किसी भी मौलिक हित के ख़तरे में पड़ते ही किस प्रकार पूँजीवाद फासिवाद का रूप धारण करता है, इसे हम जर्मनी, इटली के आधुनिकतम इतिहास में प्रत्यक्ष कर चुके हैं।

३७—सर्वहारावर्ग के अधिनायत्व पर लेनिन और मार्क्स—जो कुछ भी हो सर्वहारावर्ग अपने अधिनायकत्व को अधिनायकत्व ही बतलाता है। यह एक बीच का सोपान है, और इसके बगैर हम वर्गहीन समाज में नहीं पहुँच सकते। इस बात को समझना इतना आवश्यक है कि लेनिन ने यह स्पष्ट लिख दिया है कि जो व्यक्ति वर्गसमाज और वर्गहीन समाज के बीच के सोपान के रूप को, सर्वहारा के अधिनायकत्व को नहीं मानते, वे समाजवादी कहलाने के हकदार ही नहीं हैं। उनके शब्दों में 'एक मार्क्सवादी (वैज्ञानिक समाजवादी) और मामूली बुर्जुआ के बीच में यही तो फर्क है।'[१] इस सोपान की स्वीकृति इतने महत्व की है कि लेनिन ने बार बार इसको अनिवार्य बतलाया है। अन्यत्र भी उन्होंने इस चीज को साफ किया है कि क्यों सर्वहारावर्ग को इस अधिनायकत्व की आवश्यकता है। बात यह है कि पुश्तों से शोषकवर्ग को शिक्षा, अनुशासन, समृद्धि की आदतों का फायदा मिलता रहा है, देश-देशान्तर में उनका प्रभाव है, ज्ञान-विज्ञान में वह आगे बढ़े हुए हैं, उनका सामरिक ज्ञान अधिक है, वे पत्रों के विशेषज्ञ हैं। शोषितों में से एक बड़ा हिस्सा कुछ नहीं तो भावुकता में

१ S. R. R. p. 38-9

आकर अब भी इनको बड़ा मानने के लिए तैयार है। ऐसी हालत में जब तक इस वर्ग को—जरूरी नहीं है कि इसके प्रत्येक व्यक्ति को—दबा नहीं दिया जाता, जब तक उनके सिर उठाने की कोई गुंजाइश रहती है, और तब तक उनको दबाकर खतम करने के लिए सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व की आवश्यकता है।[१] इसके अतिरिक्त बाहर के पूँजीवादी राष्ट्रों से लोहा लेने के लिए सर्वहारा-वर्ग के राष्ट्र की आवश्यकता है। यदि एक देश में बहुत कुछ एकवर्गता हो भी गई हो, तो भी जब तक दुनिया के अधिकांश भाग में पूँजीवादी-साम्राज्यवादी—फासिवादी शासन कायम है, तब तक सर्वहारा राष्ट्र को राष्ट्र-रूप में कायम रहना पड़ेगा, नहीं तो किसी भी समय बाहर के पूँजीवादी राष्ट्र उस पर हमला कर उसे खतम कर सकते हैं।

कहीं ऐसी कुचेष्टा न की जाय कि लेनिन ने सर्वहारा के अधिनायकत्व-वाले सिद्धान्त को मार्क्स से अधिक महत्व दे दिया। मार्क्स इस सम्बन्ध में इतना जोर नहीं देते थे, इसलिए यह बता दिया जाय कि मार्क्स ने ५ मार्च १८५२ में एक पत्र में लिखा था—'आधुनिक समाज में वर्ग हैं, तथा उनमें संघर्ष होता रहता है, इनमें से किसी बात के आविष्कार के लिए मुझे यश नहीं दिया जाना चाहिए। मेरे बहुत पहले ही पूँजीवादी इतिहास-लेखकों ने वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास का वर्णन कर दिया था, और पूँजीवादी अर्थ-शास्त्रियों ने आर्थिक रूप से वर्गों की स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया था। मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ किया था वह केवल इतना ही था कि (१) मैंने यह प्रमाणित कर दिया कि उत्पादन के विकास की खास ऐतिहासिक अवस्थाओं के साथ वर्गों का अस्तित्व बँधा हुआ है, (२) वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा के अधिनायकत्व में खतम होता है, (३) पर अधिनायकत्व सर्ववर्गों का उच्छेद होकर वर्गहीन समाज में जाने के लिए एक बीच का सोपान-मात्र है।' इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक समाजवाद में सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्वीकृति किस प्रकार अनिवार्य है।

सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व की अनिवार्यता तथा ऐतिहासिक आवश्य-कता की स्वीकृति के बगैर वर्गहीन समाज की कल्पना अराजकवादियों की विशे-

---

१ P. R. K. R.

षता है। हमारे विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि किस प्रकार ऐसी कल्पना अर्थहीन है। हम गांधी जी के सर्वोदय की भी समालोचना कर चुके हैं। यहाँ पर इतना और बता दिया जाय कि गांधीवादी तथा अराजकवादी दोनों सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व को स्वीकार नहीं करते, किन्तु फिर भी दोनों का बहुत भारी प्रभेद है। अराजकवादी वर्ग-संघर्ष में विश्वास करते हैं, गांधीवादी इसको भी उड़ाकर वहाँ वर्ग-समन्वय की रंगीन कल्पना करते हैं। इस दृष्टि से देखने पर इस विषय के गांधीवादी मतवाद की अन्तर्गत वस्तु अराजकवादियों के मतवाद से कहीं अधिक पिछड़ी हुई तथा प्रतिक्रियावादी है। भारत के तथा विदेश के पूँजीवादी दार्शनिकगण सर्वोदय तथा उसके आनुसंगिक सत्य और अहिंसा-सम्बन्धी विचार-धारा पर वाग वाग क्यों हो रहे हैं, यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

३८—द्विवर्गशासन—रूस, इँगलैंड, फ्रांस का उदाहरण—हमने जो कुछ बतलाया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्गों के उदय के बाद से एक समय में एक ही वर्ग का शासन रहता है, उसी वर्ग का राष्ट्र पर तथा उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, जेल, अदालत, पुलिस सब उसी की होती है, वही वर्ग कानून बनाता है, क्या सदाचार है, और क्या नहीं है इसका फैसला अन्तिम रूप से वही करता है, तथा कला और साहित्य उसी के इशारे पर चलते हैं। जो वर्ग उदीयमान है, किन्तु अभी उदित नहीं है, वह इसके विरुद्ध विद्रोह करता है, संगठित होता है, चुपके चुपके, अधखुले रूप से या जहाँ तक सम्भव है खुले रूप से अपने साहित्य और कला की नींव डालता है, किन्तु जब तक वर्तमान शासगवर्ग का प्रगतिशील हिस्सा अदा नहीं हो जाता और वह समाज के ऊपर एक जाल-मात्र नहीं हो जाता, यानी जब तक दृश्यगत परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जातीं, स्वयं शासक वर्ग के अन्दर द्विधाभाग उत्पन्न नहीं होता, तब तक उदीयमान वर्ग की चेष्टायें सफलता-मंडित नहीं हो पातीं। जैसा कि हम देख चुके हैं वैज्ञानिक समाजवाद इस अनवरत होनेवाले युद्ध को छिपाता नहीं है, बल्कि उसको समझने की कोशिश करता है और उसी की ढाल को देखकर दाँव पेच करता है यानी प्रगति को द्रुततर करने की चेष्टा करता है। एक समय या तो एक वर्ग ही शासक होगा, या कोई

वर्ग ही नहीं होगा, इसी नतीजे पर हम अब तक के विवेचन से पहुँच चुके हैं, किन्तु इसमें नाम-मात्र के लिए अपवाद भी है, उस अपवाद का हम स्पष्टीकरण करेंगे।

ट्राटस्की ने अपनी 'रूसी राज्य-क्रान्ति' नामक पुस्तक में द्विवर्ग शासन नाम से एक सिद्धान्त का प्रतिदादन किया है। मूल रूसी में इसके लिए द्वैव्लास्टिय या द्विशक्ति है। इस सिद्धान्त का प्रतिपाद्य यह है कि सिद्धान्त रूप से तो एक समय में एक ही वर्ग का शासन रहता है, किन्तु सक्रान्तिकाल में ऐसा हो सकता है कि युद्धमान दोनों वर्गों का शासन अलग-अलग कायम रहे। उनके अनुसार इस प्रकार का द्विशक्तिशासन या द्विवर्गशासन केवल बिलकुल असमाधेय वर्ग-संघर्षों के परिणामस्वरूप उदित हो सकता है, और इसलिए केवल क्रान्तिकारी युग में (और यहाँ क्रान्तिकारी से ट्राटस्की का मतलब विस्फोटन, आमूल परिवर्तन तथा छलांग के युग से है) ही द्विशक्ति शासन दिखाई पड़ सकता है। बात यह है कि जैसा हम बता चुके हैं। क्रान्ति का अर्थ एक वर्ग के हाथों से दूसरे वर्ग के हाथों में शक्ति का चला जाना है। किन्तु इस प्रकार शक्ति का हस्तान्तरीकरण एक मुहूर्त में नहीं होता, इसलिए कुछ ऐसे मुहूर्त, दिन, सप्ताह या महीने हो सकते हैं, जब दोनों शक्तियाँ खुलकर एक दूसरे के सामने अस्त्र धारण कर आ तो गई हों, किन्तु न तो अभी कहा जा सकता है कि यह खतम हुई, और न यही कहा जा सकता है कि वही खतम हुई। ट्राटस्की के अनुसार द्विवर्ग-शासन में यह आवश्यक नहीं है कि दोनों भाग बराबर हों, या उनमें दिखावे के तौर पर भार-साम्य भी हो। यह कोई शासन-विधान-सम्बन्धी तथ्य नहीं, बल्कि एक क्रान्तिकारी तथ्य है। इसका अर्थ केवल इतना है कि पहलेवाला सामाजिक भार-साम्य नष्ट तो हो गया है, किन्तु राष्ट्र के रूप में नये भार-साम्य का उदय नहीं हुआ, इसलिए राष्ट्र का ढाँचा द्विधाविभक्त हो गया। कहना न होगा कि यह स्थिति केवल परिवर्तनकालीन है, स्थायी नहीं हो सकती। अकसर ऐसी स्थिति दो ही एक दिन रहती है, किन्तु १९१७ की फरवरीवाली रूसी क्रान्ति के बाद द्विवर्गशासन दीर्घकाल तक स्थायी रहा। एक तरफ मजदूरों और किसानों के शक्ति के मूर्तरूप सोवियट रहे, और दूसरी तरफ़ कथित डूमा कमेटी द्वारा बनाई हुई अस्थायी सरकार सम्पत्तिशाली वर्ग की डावाँडोल शक्ति के

प्रतीक के रूप में रही। ट्राटस्की ने रूसी क्रान्ति के अतिरिक्त द्विवर्ग शासन के उवाहरण के रूप में १७वीं सदी की ब्रिटिश क्रान्ति का भी हवाला दिया है। वहाँ पहले राजशक्ति रियायत प्राप्त वर्गों या इन वर्गों के उच्चतर वृत्तों अर्थात् सामन्तवादी अभिजातों और विषयों पर अवलम्बित है, और इसका विरोध पूँजीवादीवर्ग और गाँव के वे स्कायरस् (squires) कर रहे हैं। पूँजीवादी-वर्ग की सरकारी प्रेस्विटेरीम पार्लियामेंट है, और लन्दन शहर इसका समर्थन कर रहा है। अन्त तक इन शक्तियों का संघर्ष खुले रूप में होता है और गृहयुद्ध छिड़ जाता है। लन्दन पूँजीवादीवर्ग का केन्द्र और आक्सफ़ोर्ड सामन्त अभिजातों और विषयों के केन्द्र के रूप में है। इस प्रकार दो जगह दो सरकारों का प्रधान दफ़्तर है। अन्त में इनके झगड़े का निबटारा लड़ाई से होता है, और पूँजीवादीवर्ग की विजय होती है और तब से इँगलैंड पूँजीवादी स्वर्णयुग का मंगल प्रभात होता है, यह सुपरिचित है, किन्तु इसके बाद इँगलैंड में पार्लियामेंट में अखण्ड रूप से रहा हो, ऐसी बात नहीं। इस बीच में पार्लियामेंटी सेना एक स्वतन्त्र राजनैतिक शक्ति में परिणत हो जाती है, और वह केवल एक सेना के रूप में नहीं, बल्कि समृद्धिशाली और धनी पूँजीवादीवर्ग के विरुद्ध एक नये राजनैतिक प्रतिनिधि के रूप में मैदान में आती है। इस प्रकार सेना एक ऐसे राष्ट्र की सृष्टि करती है जो सामरिक कमाण्ड से ऊपर उठ जाता है, यह सैनिकों तथा सैनिक-कर्मचारियों के प्रतिनिधियों की सभा है। इस प्रकार फिर एक वर्ग-द्विवर्ग-शासन चलता है। एक तरफ प्रेस्विटेरीम पार्लियामेंट का शासन है, और दूसरी तरफ़ स्वतन्त्र लोगों की सेना है। फिर झगड़ा होता है, इसका परिणाम यह होता है कि प्रेस्विटेरीम पार्लियामेंट के शासन की जगह पर क्रामवेल का अधिनायकत्व स्थापित होता है, और एक नाममात्र का शासन रहता है। इसके बाद फिर क्रान्ति का सबसे उग्र हिस्सा (levellers) के नेतृत्व में इस उच्चतर सामरिक सतह के विरुद्ध विद्रोह होता है, किन्तु यह नया द्विशक्ति शासन उद्भूत नहीं हो पाता। क्रामवेल जल्दी ही उसको निबटा देता है। अब एक शासन स्थापित होता है, किन्तु फिर भी कई सालों तक गड़बड़ी रहती है।

ट्राटस्की ने इसी प्रकार प्रथम फ्रेंच राज्यक्रान्ति से इस सिद्धान्त को प्रमाणित

करना चाहा है। वहाँ भी राष्ट्रीय असेम्बली में पूँजीवादीवर्ग का ज़ोर रहा, और प्राचीन राजतन्त्र, पुरोहित, नौकरशाही, सेना तथा विदेशी आक्रमण पर भरोसा किये रहा, यद्यपि वास्टाइल को जनता ने ही तोड़ डाला था। इस प्रकार वहाँ भी द्विशासन रहा। इसका निवटारा लड़ाई से ही हो सकता था। इस बीच में पेरिस के मुहल्लों में सबसे गरीब लोगों तथा मजदूरों ने कम्यून स्थापित किये। इस प्रकार खुल्लमखुल्ला द्विशक्तिशासन उद्भूत हुआ। इस द्विशासन का सूत्रपात १७९० में ही हो चुका था। ट्राटस्की ने फ्रेंच राज्यक्रान्ति का बहुत सुन्दर विश्लेषण कर द्विशासन दिखलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार राष्ट्र-सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है? नहीं, यह केवल राष्ट्र-सम्बन्धी वार्गिक सिद्धान्त का स्पष्टीकरण मात्र है, और इससे राष्ट्र का वार्गिक सिद्धान्त और भी अच्छी तरह समझ में आ जाता है।

इतिहास के सम्बन्ध में विभिन्न भ्रान्त सिद्धान्त

१—इतिहास का धार्मिक सिद्धान्त—लीलावाद, अवतारवाद—मार्क्स के पहले इतिहास लेखन में कोई भी पद्धति नहीं थी। कोई तो इतिहास को ईश्वर की लीलामात्र समझता था, और उसमें जो उत्थान-पतन और तरह-तरह की विचित्र घटनाएँ दीख पड़ती थीं, उनकी वे हरिइच्छा कहकर व्याख्या करते थे। धर्मवादियों में से एक मतवाद में इतिहास की यों व्याख्या की जाती है कि जब लोगों के पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तो वे मनुष्य-लोक में आते हैं। बार-बार देव-देवीगण किसी न किसी कारण से स्वर्गच्युत होकर भूतल में आये हैं। ऐसे लोगों की इतिहास में यानी मनुष्य के इतिहास में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं मालूम हो सकती थी। धार्मिक लोगों का यह भी कहना है कि ८४ लाख योनियों में भ्रमण करते-करते जीव मनुष्य देह धारण करता है। अवश्य ऐसे लोग मनुष्य योनि को ८४ लाख योनियों में से एक योनिमात्र समझने पर भी उसे उच्चतम योनि समझते हैं। कुछ लोग यह भी समझते हैं कि जब इस पृथ्वी पर पाप का बोझा बहुत भारी हो जाता है, उस समय साधुओं के परिणाम तथा दुष्कृतों के विनाश के लिए स्वयं भगवान् मनुष्य रूप में अवतरित हो भूभार को लघु कर देते हैं। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अवतारों के जरिए से इतिहास को समझने की चेष्टा करना प्रकारान्तर से महापुरुष या वीर सिद्धान्त को ही मानना हुआ। साथ ही अवतारवाद के सिद्धान्त से यह भी ध्वनि निकलती है कि स्वाभाविक रूप से मनुष्य की प्रवृत्ति पाप की ओर है, और ज्यों ही भगवान् उसमें कुछ दिन प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करते, त्यों ही उसमें पाप का पल्ला भारी हो जाता है, और तब उसे हलका करने के लिए अवतार की जरूरत होती है। यद्यपि अवतारवाद विशेषकर हिन्दू जैनी तथा बौद्धों की विशेषता है, फिर भी किसी न किसी रूप में यह सिद्धान्त अरब के उद्भूत धर्मों में मौजूद है। वहाँ भी एक के बाद एक पैगम्बर (स्मरण रहे पैगम्बर का शाब्दिक अर्थ सन्देश-वाहक है) आते हैं और समाज के बिगड़े हुए संतुलन को सँभालते हैं। अवश्य

पैगम्बर और अवतार में एक भारी फर्क यह है कि अवतार स्वयं भगवान् हैं, जब कि पैगम्बर केवल भगवान् का सन्देशवाहक है।

अवतारवाद-सम्बन्धी सिद्धान्त अवतारों के लिए चाहे कितना भी सम्मान-जनक हो, मनुष्य के लिए यह सिद्धान्त सिवाय इसके कोई चारा नहीं छोड़ता कि वह भगवान् से प्रार्थना करता रहे कि हे नाथ अब आकर हमें इस प्रपंच से उबारो। इस प्रकार इतिहास में मनुष्य का स्थान बहुत गौण हो गया। या तो इतिहास लिखा ही नहीं गया, और जब लिखा भी गया तो वह पुराण के रूप में भगवान् की विचित्र लीला का बखान करने के लिए लिखा गया। जब ईसाई धर्म के प्रचार के बाद यूरोप में इतिहास लेखन भिक्षुओं के हाथ चला गया था, उस समय इतिहास लेखन शैली धर्म की बाँदी हो गई। अब इतिहास से सत्य और सम्भावना का कोई वास्ता न रहा। इतिहास अब मुअज्जिजों का भाण्डार हो गया। इस प्रकार धर्म की बलिवेदी पर सम्पूर्ण रूप से इतिहास को चढ़ा दिया गया। ऐसी धाँधली क़रीब एक हज़ार वर्ष तक चली। पन्द्रहवीं सदी में ह्यूमनिज़्म की लहर ने इतिहास के क्षेत्र में धर्म-याजकों की इस मनमानी को खतम कर दिया और लियोनार्डो ब्रूनो (१३६९-१४४४), मैकियावेली (१४६९-१५२७) आदि लेखक इतिहास को पादरियों के स्वर्ग से उतार कर मर्त्यलोक पर ले आये, किन्तु यह मर्त्य बड़े लोगों का मर्त्य था।

२—इतिहास ऊलजलूल गतियों का संग्रह—लीलावाद से ही बिलकुल मिलता हुआ वह सिद्धान्त है जिसमें इतिहास को ऊलजलूल गतियों का संग्रह-मात्र बतलाया जाता है, ये लोग इतिहास को समझने में अपने को इतना असमर्थ पाते हैं कि वे उसें आदि से अन्त तक ऊलजलूल तथा नियमहीन समझकर सन्तोष कर लेते हैं। ये लोग इतिहास की अन्तर्निहित शक्ति को समझने की चेष्टा नहीं करेंगे, यह तो साफ़ है, ऐसे लोग उपलब्ध साधन तथा सम्बन्धों को समझने की कोशिश न कर केवल घटनावलियों को देखते हैं, और इन घटनावलियों में कोई योग सूत्र निकालने में असमर्थ होकर ऊलजलूल का नारा देते हैं। यह ऊलजलूल बात = लीलावाद—ईश्वर है। सच कहा जाय तो यह कोई सिद्धान्त ही नहीं है।

३--इतिहास का आकस्मिक सिद्धान्त--इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि सारा इतिहास केवल आकस्मिक घटनाओं का समूह-मात्र है। ऐसे लोग अकर्मण्य तरीके से केवल इस बात की उड़ान भरते रहते हैं कि एक अमुक घटना घटित हुई, इसलिए ऐसा हुआ, तथा एक अमुक घटना घटित न होती तो ऐसा न होता। यह दृष्टिकोण केवल उड़ानों तक ही सीमित नहीं है, कुछ लोगों ने ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर इस बात को प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि मानो आकस्मिक घटनायें ही इतिहास की परिचालिका शक्ति है। आकस्मिक घटनाओं को इतिहास की परिचालिका शक्ति माननेवाले कम से कम उन्हें इतिहास की गति को मोड़ने में समर्थन करनेवाले लोग एक-एक छोटी घटना को कितना महत्त्व देते हैं, यह आगे दिये हुए उदाहरणों से ज्ञात हो जायगा। लोग आमतौर से यह कहते हैं कि यह जो रुपया उछाला गया, या टिकट निकाला गया, तथा इसके फलस्वरूप भाग्यों का निर्णय हो गया, किसी को लाटरी से हज़ारों या लाखों रुपये मिल गये, इसमें कौन-सा नियम काम कर रहा है। क्या इस प्रकार की घटना सरासर आकस्मिक नहीं है? यदि गहराई के साथ सोचा जाय तो इसमें भी नियम ज्ञात होंगे। यदि एक रुपये को ठीक उसी तरह से उतना ही दबाव देकर, उतने ही ज़ोर से उछाला जाय, और हवा उतनी ही तेज़ न हो तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि बराबर वे ही परिणाम होंगे। इस बात को अस्वीकार करना एक साधारण दृश्यमान बात को अस्वीकार करना होगा। इसको मान लेने पर फिर आकस्मिकता कहाँ रही? रहा यह कि हम इस प्रकार अपने हाथों के दबाव को नियंत्रित नहीं कर सकते, या नहीं कर पाते, यह दूसरी बात है, किन्तु इससे नियम में कोई फ़र्क़ नहीं आता। पाँसा और कौड़ी आदि के गिरने में भी इसी प्रकार के नियम हैं। यह भी अक्सर कहा जाता है कि सिर पर आकस्मिक रूप से छत गिर पड़ी, छत का यह गिरना अप्रत्याशित होने पर भी छत के नियमानुसार ही यह गिरना हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं। अब रहा यह कि जिस समय छत इस प्रकार अपने ही नियम के कारण गिरने ही वाली है, ठीक उसी समय उसके नीचे या उसके पतन के दायरे में कौन-कौन व्यक्ति होंगे, और इन व्यक्तियों में से किसको कितनी चोट लगेगी या नहीं लगेगी, ये सब भी नियमानुसार घटित

होते हैं। इसमें कहीं भी कोई आकस्मिकता नहीं है। यदि कहा जाय कि छत का गिरना, और ठीक उसी समय उसके नीचे उपस्थित होने का संयोग ही आकस्मिकता है, तो यह केवल शाब्दिक बारीकीमात्र होगी क्योंकि दोनों घटनायें अपने-अपने नियम से एक ही समय में घटित हुई हैं। इसलिए जिसे हम आकस्मिक कहते हैं, वह केवल ज्ञात शक्तियों की अज्ञात क्रियाशीलता या अभी तक केवल आंशिक रूप से ज्ञात शक्तियों की अज्ञात क्रियाशीलतामात्र है। इस प्रकार की आकस्मिकता (यदि वह बुरी है) से बचने और (यदि वह अच्छी है, तो) उसकी पुनरावृत्ति करवाने का उपाय यह है कि हम अधिकतर ज्ञान प्राप्त करें, न कि यह कि सिर पर हाथ धरकर बैठ जायँ कि जो मंजूरेखुदा होगा, वही होगा। आकस्मिकता की हमारी परिभाषा हमें और क्रियाशीलता तथा अधिकतर ज्ञानहरण के लिए उद्‌बुद्ध करती है, न कि कुसंस्कार ग्रस्त बनाकर हमें पंगु बनाकर बैठा देती है। आकस्मिक घटनाओं के सम्बन्ध में आंकड़ा-शास्त्र कुछ बहुत मज़ेदार बातें बताता है। उदाहरण स्वरूप कलकत्ता की सड़कों पर ट्राम और मोटर से जितने मनुष्य सालाना मरते हैं, उनका एक औसत है, और प्रति साल दुर्घटनाओं की संख्या इसी आंकड़े के इर्द-गिर्द रहती है। इस प्रकार डकैती तथा हत्या की भी वात है, अपराध वैज्ञानिक से पूछने पर ज्ञात होगा कि किसी एक साल में जितनी डकैतियाँ और हत्यायें होती हैं, उनकी संख्या कुछ नियमों से निर्णीत होती हैं। यदि सूखा पड़ा या किसी भी कारण से अन्न दुष्प्राप्य हुआ तो सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराध अधिक होंगे। पहले नदियों में बाढ़ आना, एक आकस्मिक घटना समझी जाती थी, और सैकड़ों गाँव जब तब डूब जाते थे, किन्तु मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अब यह सम्भव है कि इस प्रकार ख़तरनाक परिस्थिति में रहनेवाले गाँववालों को पहले से बाढ़ की ख़बर दे दी जाय, जिससे वे अपनी रक्षा कर सकें। इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ हम कम से कम बाढ़ को पहले से जान जाने में समर्थ हो गये, अर्थात् उसकी आकस्मिकता बहुत कुछ घट गई। विज्ञान की अधिकतर उन्नति के साथ-साथ न केवल इन कथित आकस्मिक घटनाओं को पहले से जानना सम्भव होगा, बल्कि इन्हें रोका भी जा सकेगा। पहले हैज़ा चेचक आदि बीमारियाँ अपदेव-देवियों के कोप से उद्‌भूत अर्थात् दूसरे शब्दों में आकस्मिक समझी जाती थीं,

किन्तु अब विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ यह जान लिया गया है कि किन परिस्थितियों में ये रोग होते हैं, इसलिए इनको या तो होने ही नहीं दिया जाता, या ज्योंही प्रथम प्रकोप का लक्षण दिखाई पड़ता है, त्योंही तरह-तरह के इन्जेक्शन, विष निवारक ओषधि तथा अन्य उपचारों से इनको नियंत्रित कर दिया जाता है। विज्ञान के कारण इनकी आकस्मिकता बहुत कुछ खतम हो गई। कुछ अवान्तर होते हुए भी यहाँ ग़लतफ़हमी से बचने के लिए यह बतला दिया जाय कि भारतवर्ष में जो आज भी हज़ारों व्यक्ति इन रोगों से मरते हैं, इसका कारण आकस्मिकता नहीं है, बल्कि यहाँ की सरकार की इन मृत्युओं के प्रति उदासीनता है। फ़ौजों की छावनियाँ भी तो भारतवर्ष में हैं, किन्तु उनमें ये रोग घुस तो जायँ, यदि कभी घुस भी जाते हैं तो फ़ौरन रोग का गला दबा दिया जाता है।

४—दर्देदानियाल का सिगनल. सिराजनों, आंरियों का मतवालापन, क्लियोपेन्ट्रा की नाक—अब हम ऐसी घटनाओं पर आते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि एक घटना ने इतिहास का चेहरा बदल दिया। 'ऐसा कहा जाता है कि १९१४-१८ के महायुद्ध के हमले के अवसर पर यदि दर्रेदानियाल पर एक विशेष सिगनल देनेवाला देख लिया जाता तो उसी वक्त ब्रिटिश फ़ौजों की विजय हो जाती, न केवल हज़ारों के जीवन बच जाते, और क़ुस्तुन्तुनिया पर रूसियों का क़ब्ज़ा हो जाता, बल्कि १९१७ की रूसी क्रान्ति भी न हो पाती। उस हालत में जो समाजवादी राष्ट्रों का संघ बना है, उसकी नौबत न आती, और दुनया के इतिहास की सारी गति ही बदल जाती।'[१] इसी प्रकार कहा जाता है कि यदि सिराज़वो में आर्क ड्यूक फर्डिनेण्ड की हत्या न होती तो १९१४-१८ का महायुद्ध न होता। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के इतिहास से इसी प्रकार यह बतलाया जाता है कि यदि एक विशेष व्यक्ति शराब पीकर मतवाला न हो जाता, तथा एक विशेष समय पर पानी न बरसता तो रावसपियर मारे न जा सकते, तथा फ्रांस के इतिहास की कुछ दूसरी ही शक्ल होती। पासकाल ने इसी किस्म का एक उदाहरण देते हुए लिखा है कि यदि क्लियोपेट्रा की नासिका छोटी होती तो संसार का चेहरा बदल जाता।

१. P. M. M.

५—रूस की हार का कारण—अब हम इनमें से एक एक घटना को लेकर देखेंगे। पहली घटना को ही लेते हैं। 'हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय रूस (स्मरण रहे उस समय जार रूस के शासक थे) १९१४-१८ के युद्ध में शामिल हुआ था, उस समय वह एक अवैधानिक सामन्तवादी राष्ट्र था। जन, धन, सब तरह से वह कमजोर था, और उसे आधुनिक यंत्र समन्वित सेना से भिड़ना पड़ रहा था, ऐसी हालत में रूस की हार करीब करीब निश्चित थी। रहा यह कि यह हार किस प्रकार होती, यह शायद इस मानी में आकस्मिक घटना से निर्णीत हुई कि क्या परिस्थितियाँ थी। उनके सम्बन्ध में हमें व्यौरेवार ज्ञान नहीं है।'[१]

६—१९१४-१८ के युद्ध के पृष्ठभूमि—दूसरा जो सिराजवो वाला उदाहरण दिया गया है, वह भी अकेला किसी बात की व्याख्या नहीं करता। आर्कड्यूक फर्डिनेन्ड की तरह बहुत से बड़े बड़े ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध व्यक्तियों, राजाओं की हत्या हो चुकी है, किन्तु उन सब की हत्याओं पर महायुद्ध नहीं छिड़ा। १९३४ के नवम्बर में फ्रांस में यूगोस्लेविया के राजा अलेक्जेन्डर की हत्या करीब करीब उन्हीं परिस्थितियों में हुई, जिनमें आर्कड्यूक फर्डिनेन्ड की हत्या हुई थी। उनके साथ ही मोशिये वार्थ मारे गये। इस हत्याकाण्ड के पीछे अन्टनपवलिच था, जो हंगरी तथा इटली और बाद को नात्सी जर्मनी का एजेन्ट बना। १९४० की नात्सी नव व्यवस्था में यह व्यक्ति कठपुतली सरकार का प्रधान बनाया गया। संक्षेप में एलेक्जेन्डर की हत्या राजनैतिक थी, यह शक करने का कारण भी था कि इस हत्या के पीछे सरकारों के हाथ हैं, फिर भी उसके फलस्वरूप कोई युद्ध नहीं हुआ।[२] इसीलिए यह स्पष्ट है कि १९१४-१८ के युद्ध का कारण आर्कड्यूक फर्डिनेन्ड की हत्या नहीं है, बल्कि जिन परिस्थितियों में वह घटना घटित हुई, या इससे अधिक अच्छा यह कहना होगा कि जिन परिस्थितियों में हत्या भी एक परिस्थिति हो गई, उन परिस्थितियों के कारण युद्ध हुआ। जिन परिस्थितियों में यह हत्या घटित हुई यदि उन परिस्थितियों में यह हत्या घटित न होती तो वह युद्ध का कारण कदापि नहीं

१. Ibid.
२. P. L. H. p. 129.

हो सकती थी। स्मरण रहे कि ऐसी आकस्मिक घटनाओं का मूल्य शून्य नहीं है, क्योंकि आखिर कथित आकस्मिक घटना भी तो एक घटना है। उसका अपना कुछ असर होगा ही, किन्तु उस घटना का असर एक घटना से अधिक इस अर्थ में हो सकता है, और शायद इसी कारण वे ऐतिहासिक समझी जाती हैं कि उनके आइने के अन्दर उस समय के समाज में जो असंगतियाँ मौजूद हैं वे एकाएक ऐसी खाई के रूप में प्रकट हो जाती हैं, जिसे पाटा नहीं जा सकता। इस प्रकार एक घटना होते हुए भी वे बारूद खाने में डाली गई चिनगारी की तरह विषफोट करने में समर्थ दिखलाई देती हैं। यह इसलिए लिखा है कि असल में बारूद ही असली कारण है, चिनगारी तो केवल एक द्रुतकारी तात्कालिक कारण मात्र है।

१९१४-१८ के युद्ध को गहराई के साथ अध्ययन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि यह महायुद्ध कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। १९वीं सदी के अन्त तक ही जर्मन और बृटिश साम्राज्यवाद के बीच का विरोध इतना तीव्र हो चुका था कि किसी भी समय लड़ाई छिड़ सकती थी। गत शताब्दी के अन्त में ही पिछड़े हुए जर्मन पूँजीवाद ने बढ़ते बढ़ते न केवल बृटिश पूँजीवाद को पकड़ लिया था, बल्कि वह भारी उद्योग धंधों में जिनमें लौह व्यवसाय मुख्य है तथा यान्त्रिक संगठन और कलाकौशल में उसको पार कर गया था। बीसवीं सदी तक यह होड़ बढ़ते बढ़ते इस दरजे तक पहुँच गई थी कि दोनों शक्तियों ने समझ लिया था कि अदूर भविष्य में युद्ध क्षेत्र में ही इस बात का निपटारा होगा कि विश्व बाजार पर किस शक्ति का दौर दौरा रहेगा। जर्मनी ने अपनी नौसेना को बढ़ाना शुरू कर दिया था, और खुल्लम खुल्ला उपनिवेशों की माँग करता जाता था। बृटिश पूँजीवादी भी इस तैयारी के बात से बेखबर नहीं थे, और इस प्रकार लड़ाई के बादल क्रमशः घिरते चले जा रहे थे। इन्हीं दो शक्तियों की शत्रुता के इर्द गिर्द अन्य तमाम शक्तियाँ भी, कोई इस तरफ कोई उस तरफ एकत्रित होती जा रही थीं। १९०२ में पहली बार तथा १९११ में दूसरी बार यह लड़ाई छिड़ते छिड़ते टल गई थी।[१] इससे यह स्पष्ट है कि १९१४-१८ के महायुद्ध की नींव आर्कड्यूक फार्डिनेन्ड

१. W. P. P. p. 31

के जन्म के पहले से पड़ चुकी थी, इसलिए उनको, उनकी हत्या को या उनके हत्यारे को महायुद्ध कराने के लिए जिम्मेदार समझना केवल असली सामाजिक शक्तियों को न समझकर इधर उधर भटकना है।

७——रामायण, महाभारत, ट्राय के युद्ध का कारण स्त्री हरण नहीं—— हमें युद्ध के असली कारणों को उस समय की सामाजिक आर्थिक अवस्थाओं में ढूँढ़ना चाहिए न कि घटना विशेष पर उसकी सारी जिम्मेदारी लाद देनी चाहिए। युद्ध के असली कारणों की खोज करने का साहस न कर कुछ बुर्जुआ लेखकों ने यह अजीब सिद्धांत भिड़ाया है कि यौन इच्छा के कारण युद्ध होते हैं। जब यह कहा गया था कि सीता के लिये राम-रावण का युद्ध हुआ था हेलेन के लिए ट्राय का ध्वंश हुआ, या द्रौपदी के कारण महाभारत हुआ तो वह कुछ हद तक देखने में तो सत्य ही ज्ञात होता था, किन्तु युद्ध के लिए यौन सिद्धान्त तो नितान्त हास्यास्पद ज्ञात होता है। राम को हिन्दुओं ने जो अवतार करके माना है, वह एक साम्राज्य निर्माता के नाते है। यह भक्ति उसी प्रकार की है जिस प्रकार वृटिश जाति के लोग क्लाइव या वारेन हेस्टिंग्स में भक्ति रखते हैं। यदि एकाध स्त्री के हरण या यज्ञ में विघ्न का बहाना न होता तो आर्यगण अनार्यों के देशों पर कब्जा कैसे जमाते जाते। आर्यों ने सारे भारतवर्ष को जो जीता तो वह स्त्री हरण के बहाने से नहीं जीता। भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न कारण बतलाये गये; कभी यह बहाना लेकर अनार्यों पर हमला कर दिया गया कि वे ऋषियों पर अत्याचार करते हैं, या यज्ञ में विघ्न पहुँचाते हैं, कभी यह बहाना लिया गया कि आर्य स्त्रियों के साथ अनार्यों ने ज्यादती की, किन्तु असली कारण साम्राज्य की इच्छा बल्कि नई जमीनों की भूख थी। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि यज्ञ में विघ्नवाला बहाना चीन में चीनियों द्वारा पादरियों पर होनेवाले कथित अत्याचार के बहाने से कोई अच्छा बहाना नहीं था, और न स्त्री हरणवाला बहाना उस बहाने से अच्छा था जिसकी आड़ लेकर अमेरिका के श्वेतांग गण वहाँ के हब्शियों को लिंच करते हैं। यदि महाभारत और रामयण के युद्ध हुए हों तो वे सामाजिक आर्थिक हितों में गम्भीर संघर्षों के कारण हुए, सीताहरण या दुशासन द्वारा द्रौपदी का अपमान अधिक से अधिअ उत्तेजक कारण रहे होंगे। इसी प्रकार ट्राय का ध्वंश दो

व्यापारी जातियों का युद्ध था। हेलेन ऐमी सुन्दरी स्त्रियों का हरण उन दिनों रोज की बात थी। हम जब भारतीय पुराण की ओर लौटते हैं तो इस बात के और भी स्पष्ट उदाहरण पाते हैं कि केवल स्त्री हरण के कारण भयंकर युद्ध नहीं हुआ करते। स्त्री हरण या इस प्रकार का कोई भी तात्कालिक कारण सामाजिक विस्फोट करने में तभी समर्थ होता है जब आर्थिक, सामाजिक शक्तियाँ पहले से परिपक्व हो चुकी हों, और उनमें केवल घोड़ा दबाने भर की जरूरत रह गई हो। नहीं तो एक घटना में कभी यह शक्ति नहीं होती कि वह समाज में इस प्रकार का आलोड़न उत्पन्न कर दे कि वह एक महान युद्ध का रूप धारण करे। महाभारत में ही हम देखते हैं कि कृष्ण की मृत्यु के बाद उनकी स्त्रियों को आभीरगण हरण कर ले गये, किन्तु इस घटना के कारण कोई भी महाभारत नहीं हुआ। ऐसा दिखाया गया है कि जिस कृष्ण को अपने जीवन काल में ही स्वयं भगवान् का पद मिल गया था, उनकी स्त्रियों को एक असभ्य जाति के लोग हरण कर ले गये, और किसी के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। रावण ने सीता को हर कर लंका की अशोक वाटिका में छिपा रखा था, वहाँ से तो उन्हें ढूँढ़ निकाला गया, किन्तु कृष्ण की स्त्रियों के लिए किसी ने अँगुली भी नहीं उठाई। इससे क्या सूचित होता है? इससे यही सूचित होता है कि स्वयं स्त्री-हरण युद्ध कराने के लिए कारणों में से एक होने पर भी एकमात्र कारण नहीं हो सकता।

८—युद्ध के सम्बन्ध में यौन सिद्धान्त—वुर्जआ वैज्ञानिक लेखकों ने दूसरी ही तरह से यौन आवेदन (sexual urge) को युद्ध का कारण माना है। इस मत के अनुसार सब खुराफातों के पीछे स्त्रियाँ ही हैं। अपराध विज्ञान में भी एक ऐसा मतवाद है जो प्रत्येक अपराध की पृष्ठ भूमि में एक स्त्री को ही देखता है, किन्तु उस विज्ञान में भी यह प्रमाणित हो चुका है कि अपराधों का सामाजिक रूप से अध्ययन सम्भव है। फिशर और दुवुआ ने यह लिखा है कि 'मामूली समयों में व्यक्ति का यौन जीवन बहुत स्वादहीन होकर साप्ताहिक या प्रतिरात्रि के नियम में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस एकरसता से बचने की इच्छा मनुष्य के मन में सर्वदा मौजूद रहती है। इसलिए बहुत से मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि युद्ध कराने में जो कारण होते हैं, उनमें एक प्रधान कारण

यह भी है कि प्रात्यहिक यौन में कुछ परिवर्तन लाया जाय।' यह भी कहा गया है कि रक्त-पिपासा और कामपिपासा दोनों एक ही वृत्त के दो पहलू हैं। बतलाया गया है कि युद्ध के कारण कामपिपासा अधिक जागृत हो जाती है। नेपोलियन के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि आगस्वुर्ग के युद्ध के समय उनको इतना कामोद्रेक हुआ कि फ़ौरन एक स्त्री मँगाई गई, और उन्होंने उसके साथ सम्भोग किया। इसी प्रकार एक मेज़र के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जिस समय वह दुर्बीन के ज़रिये युद्ध के दृश्य देख रहा था, उस समय इतना ज़बर्दस्त तरीके से उसका कामोद्रेक हुआ कि उसने हस्त से अपने को स्खलित कर लिया। यह भी कहा गया है कि युद्धकाल में स्त्रियों में विशेष रूप से कामोद्रेक होता है, इसलिए वे युद्ध के दिनों में जल्दी से जिस किसी को आत्मसमर्पण करती हुई पाई जाती हैं। जर्मन यौनतत्त्व विशारद इवान ब्लाख ने १९१४–१८ के युद्ध के दौरान में यह सिद्धान्त पेश किया कि यह युद्ध-जर्मनी के शत्रुओं की सादवादी (Sadist)* प्रवृत्तियों के कारण हुआ है। यह भी कहा गया है कि युद्धकाल में सब सामाजिक बन्धन ढीले हो जाते हैं, इसलिए लोग बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए युद्ध चाहते हैं। इटालियन वैज्ञानिक अध्यापक गैलो तो यहाँ तक पहुँच गये हैं कि उनके अनुसार राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्य महज बहाने हैं, असली उद्देश्य तो यौन होता है। अवश्य इसके विपरीत जर्मन लेखक फैलिण्डायर का कहना है कि युद्ध के कारण यौन सहजात अवदमित होता है। सुधीन्द्रलाल[१] राय नामक एक भारतीय लेखक इस मत पर टीका करते हुए यह कहते हैं कि कदाचित् सत्य इन दोनों सीमाओं के बीच में है। सच बात तो यह है कि सत्य इन दोनों मतों से कोसों दूर है। यह दृष्टिकोण ही ग़लत है।

मनुष्य सामाजिक अवदमनों से (inhibitions) ऊब चुका है, इसलिए वह आदिम अवस्था में लौट जाने की सुविधा प्राप्त करने के लिए

---

*यह शब्द काउंट साद के नाम पर बना है। यह व्यक्ति बहुत ही निष्ठुर था, विशेषकर वह जिन स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करता था उन्हीं के साथ निष्ठुरता करता था। सादवादी शब्द का अर्थ इस प्रकर अत्यन्त निष्ठुर, साथ ही यौन-रूप में भी निष्ठुर लिया जाता है।

१. W. I. S.

युद्ध चाहता है, इस बात को मानने के बजाय सत्य बल्कि इस एकांगी मत में भी अधिक है कि युद्ध द्रव्य के उत्पादक व्यापारीगण युद्ध करा देते हैं। यदि हम यह मानें कि पेशेवर सैनिक तथा सेनापतिगण युद्ध करा देते हैं जिससे उनको तरक्की का मौका मिले, तो यह युद्ध के यौन सिद्धान्त से कहीं अधिक बुद्धि-संगत है। यह बात सही है कि युद्धकाल में यौन सदाचार बहुत कुछ शिथिल हो जाता है, किन्तु इसका कारण युद्ध में की गई निष्ठुरता या नरहत्या नहीं है। युद्ध के कारण जो दम्पत्ति बिछुड़ जाते हैं, तथा हर समय मोर्चों पर मृत्यु का जो भय बना रहता है, साथ ही किसी आदर्श की पुकार नहीं होती, तो मोर्चों के सैनिकों में, साथ ही जिन स्त्रियों को वे घर पर छोड़ आये हैं, उनमें यौन सदाचार का शिथिल हो जाना कोई आश्चर्य नहीं है। युद्धकाल में जिन्हें जीवन के मूल्य (values of life) कहते हैं—हम किसी चिरन्तन मूल्य की ओर इशारा नहीं कर रहे हैं—वे बहुत तेज़ी के साथ बदलते हैं,। युद्धकाल में देश की हालत की खराबी, साथ ही बुर्जुआ देश में किसी प्रकार आदर्श का अभाव होने के कारण सब तरह की प्रचलित नीतियों में शिथिलता आ जाती है। फिर यह कोई ईश्वरीय नियम नहीं है कि युद्धकाल में यौन सदाचार शिथिल ही हो जाय। यह इस बात से ज्ञात होता है कि १९४१–४५ के सोवियट-जर्मन युद्ध में रूस में किसी प्रकार यौन सदाचारगत शिथिलता देखने में नहीं आई, बल्कि इस बात पर दूसरे मित्र देशों से रसद ले जानेवाले लोगों ने दुख प्रकट किया है कि वे जब अमेरिका या इँगलैंड से सामान लेकर रूस में पहुँचे, तो वहाँ उनका खूब आदर हुआ, किन्तु वहाँ की स्त्रियों ने उनको किसी भी प्रकार से 'पुरुष' रूप में देखने से इन्कार किया। केवल एक मोर्चे से ही नहीं बल्कि मुर्मान्स्क से लेकर सुदूर दक्षिण के सब मोर्चों की रूसी स्त्रियों के विरुद्ध इन भाड़े के टट्टू-सैनिकों की ओर से ऐसी शिकायत आई है।

हम समझते हैं कि यौन इच्छा से युद्धों की उत्पत्ति को प्राप्त करने का जो तरीक़ा है, वह ग़लत विज्ञान है, और इस ग़लत विज्ञान का आविष्कार असली कारणों पर राख डालने के लिए किया गया है। इन लोगों के कथन का यदि विश्लेषण किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि युद्ध प्रकृति का नियम है, इसलिए अपरिहार्य है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। साम्यवाद स्थापित होते ही

तथा सब जातियों का आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त होते ही युद्धों के लिए कोई गुँजाइश नहीं रहेगी। १९१४–१८ के महायुद्ध में इँगलैंड की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री मेरी पिकफ़ोर्ड तथा फ़्रांस की सुन्दरी गैवी डेसलिस लड़ाई में भर्ती होने-वाले प्रत्येक स्वेच्छासेवक को एक चुम्बन देती थी। इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि यौन इच्छा से युद्ध उत्पन्न होते हैं, बल्कि इससे यही सिद्ध होता है कि युद्ध जब अन्य कारणों से आ गया तो सरकारें स्त्रियों के रूप-यौवन को इस्तेमाल कर अपनी तोपों की खूराक तैयार करती हैं। इसी प्रकार माताहरी इत्यादि गुप्त-चरियों ने जो रूप-यौवन दिखाकर गुप्तचरी का काम किया, उससे भी यही सिद्ध होता कि युद्ध से जिनको फ़ायदा है, या कम से कम जो समझते हैं कि उन्हें फ़ायदा होगा वे स्त्रियों का अत्यन्त गर्हित रूप से व्यवहार कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। अवश्य इस विषय में यह मानना पड़ेगा कि माताहरी आदि ने जो कुछ किया, वह कोई नई बात नहीं थी, ईसा के कई सौ वर्ष पहले कूटनीतिज्ञ कौटिल्य इस सम्बन्ध में जो कुछ लिख गये हैं, उससे वे ऐसे कूटनीतिज्ञों के पूर्व-पुरुष सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे लिख गये हैं कि परिव्राजिकाओं के रूप में गुप्तचरियों की नियुक्ति की जाय।

९—रावसपियर की शक्ति का अन्त आकस्मिक घटनाओं के कारण हुआ?— हम युद्ध की आलोचना करते करते कुछ बहक गये हैं, इसलिए फिर एक बार इति-हास के आकस्मिक सिद्धान्त पर लौट चलें। फ्रेंच राज्यक्रान्ति (१७८९) के दौरान में हमें एक जगह पर कुछ ऐसी घटनायें मिलती हैं जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे आकस्मिक घटनायें थीं, और यदि वे घटित न होतीं तो इतिहास किसी और ही धारा में प्रवाहित होता। जिस समय ९ थर्मीडोर (२८ जुलाई) १७९४ के कन्वेनशन के फलस्वरूप रावसपियर तथा उनके मुख्य साथीगण गिरफ्तार कर लिए गये, उस समय जब इस बात की ख़बर उनके साथी फ्लेरियो के पास पहुँची जो उन दिनों मेजर थे, तो उन्होंने झट रावसपियर तथा अपने मित्रों को मुक्त करने की योजना बनाई। फ़ौरन उन्होंने शहर के दरवाज़ों को बन्द कर दिया, और ख़तरे की घंटी बजवानी शुरू कर दी, साथ ही उन्होंने सब जेलरों को ख़बर कर दी कि कोई भी इन कैदियों को अपनी जेल में लेना स्वीकार न करे। ख़तरे की घंटी सुनकर जनता फौरन इकट्ठी होगई, किन्तु कन्वेनशन भी कोई घास-

फूस नहीं थी, उसके अपने अधिकार तथा अपनी सेना थी। इसलिए यह जरूरी समझा गया कि कोई सामरिक नेता जनता का नेतृत्व करे, तदनुसार आँरियो (Henriot) की पुकार हुई, किन्तु वे उस दिन शराब के नशे में इतने चूर थे कि उनसे कोई कार्य-क्रम करवाना मुश्किल था। इस प्रकार इस व्यक्ति के आकस्मिक रूप से शराब पीकर मतवाला होने के कारण रावसपियर को छुड़ाने के लिए एकत्र जनता को नेतृत्व न मिल सका। इसके बाद भी आशा बिल्कुल खतम हो गई, ऐसी बात नहीं। जनता फिर डटी रही। दोनों तरफ से तैयारियाँ होती रहीं, किन्तु ठीक आधीरात के समय बड़े जोर से वर्षा शुरू हो गई, और इस कारण जनता अपने घर चली गई। नतीजा यह हुआ कि रावसपियर को मुक्त न किया जा सका। कन्वेनशन की ओर से आए हुए एक पुलिसवाले ने उनके जबड़े पर एक गोली मार दी, और वे हिरासत में रहे, बाद को रावसपियर का सिर काट लिया गया।

रावसपियर की मृत्यु केवल एक व्यक्ति की मृत्यु नहीं, बल्कि एक धारा की मृत्यु थी। यह कहा जा सकता है कि रावसपियर जनता के असली प्रतिनिधि थे, इसलिए उनकी मृत्यु से फ़ान्स के इतिहास में एक नये क़दम की सूचना मिली। हमें इसके ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि फिर तो हमें सारी फ़्रेन्च राज्यक्रान्ति की पृष्ठभूमि को समझना पड़ेगा। यहाँ केवल प्रश्न इतना है कि क्या एक सामाजिक धारा केवल एक व्यक्ति के आकस्मिक रूप से शराब पीकर बेहोश हो जाने या मध्यरात्रि में आकस्मिक रूप से पानी बरसने के कारण बदल गई? देखने में तो रावसपियर की असफलता इन दो आकस्मिक घटनाओं के मत्थे मढ़ दी जा सकती है, किन्तु तथ्य कुछ और ही है। पहली बात तो यह है कि रावसपियर ने जिस आतंकवाद के युग (La Terreur) का प्रवर्तन किया था, पूँजीवादी वर्ग को उसकी अब आवश्यकता नहीं थी। सामन्तवादी वर्ग निर्णयात्मक रूप से पिट चुका था, आगे रावसपियर के रहने से उठती हुई साम्यवादीधारा के बलशाली हो जाने का डर था। इसलिए उठते हुए पूँजीवादी वर्ग के निकट रावसपियर की अब कोई ऐतिहासिक आवश्यकता नहीं थी। रावसपियर के अन्त के सब कारण तैयार थे।

फिर उन आकस्मिक घटनाओं को ही लिया जाय, जिनके बल पर यह

कहा जा सकता है कि रावसपियर का अन्त इन्हीं के कारण हुआ। रावसपियर को जब उनके दोस्त भगाकर टाउनहाल में ले भी आए, तो उस समय कुछ ने कहा कि सेना के प्रति एक अपील प्रकाशित की जाय, किन्तु रावसपियर ने अन्त तक वैधानिक आपत्ति करते हुए कहा कि यह अपील किसकी ओर से की जाएगी। इसके पहले भी रावसपयिर ने भागने से इन्कार किया था। कहना न होगा कि ऐसा व्यक्ति समाजवादी क्रान्ति का वाहन नहीं हो सकता था। सच बात तो यह है कि फ्लोरियो उनको भगाकर टाउनहाल में ले आये थे। रावसपियर ने इस अपील पर दस्तखत तब किये जब शत्रुओं ने उनको बिल्कुल घेर लिया था। लुई मांदला ने तो यहाँ तक लिखा है कि जिस समय वे पकड़े गये, उस समय वे अपने नाम के प्रथम दो अक्षर ही लिख पाये थे। फिर आंरियो के शराब पीकर मतवाला होने की बात को भी हम अन्य घटना से सम्बन्ध विहीन आकस्मिक घटना नहीं कह सकते। जब आंरियो को कई दिन से पता था कि कनवेन्शन और रावसपियर में जीवन मरण संग्राम हो रहा है, उस हालत में इस प्रकार बेखबर होकर शराब पीने से उस संगठन का खोखलापन सिद्ध होता है, जिसके आंरियो, रावसपियर आदि नेता थे। फिर यदि एक आंरियो ने शराब पीली तो जनता का नेतृत्व करने के लिए दूसरा नेता क्यों न मिला? यदि इस संगठन की इतनी दमनीय दशा थी कि एक नेता के अतिरिक्त कोई नेता ही नहीं था, तो क्या उस संगठन के सम्बन्ध में यह कहना कुछ अत्युक्ति होगी कि उसकी कजा पहले ही आ चुकी थी। फिर जनता को इस काम में नेतृत्व की ही क्यों आवश्यकता हुई? जनता के अन्दर से नेता क्यों न निकल आये? इसी पेरिस की जनता ने इसके पहले कई बार कितने ही कार्य बिना नेतृत्व के किये थे। वास्तील कारागार को तोड़ने से लेकर कितनी ही घटनाएँ ऐसी हुईं जिनमें जनता ने अपना नेतृत्व अपने आप किया। नेतृत्व के वगैर जनता ने कुछ न किया, इसका अर्थ ही यह है कि जनता द्विविधे में थी। फिर मान लिया जाय कि नेता मिल भी जाता तो इसी जनता को गोलियों का सामना करना पड़ता, फिर वह बरसा से क्यों भाग खड़ी हुई। इसका अर्थ यह है कि जनता के साथ रावसपियर का योगसूत्र शिथिल हो चुका था, और जनता एक बहाना मिलते ही चल देने

को तैयार थी। फिर यदि जनता चली भी गई तो उसके साथ-साथ आंरियो के जो गनरगण थे, वे क्यों चले गये? थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि कथित सब आकस्मिक घटनायें रावसपियर के पक्ष में घटित होतीं (जैसा मान लेना केवल कल्पना की उड़ान भरकर घटनाओं के द्वन्द्ववाद से घटित होता है) तो भी जब रावसपियर की सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि कमज़ोर हो चुकी थी तो वे जल्दी ही किसी और बहाने और तरीक़े से निकाल दिये जाते, इसमें सन्देह नहीं। आकस्मिक घटनायें केवल सामाजिक शक्तियों को द्रुत या विलम्बित कर सकती हैं, उनका स्थान नहीं ले सकतीं। इसी कारण मार्क्स 'ऐतिहासिक घटनाओं को आकस्मिक घटना मात्र नहीं समझते, जो चाहे तो घटित होतीं, और चाहे तो घटित नहीं होतीं, और जिन पर मनुष्य का न तो कोई प्रभाव है न कोई नियंत्रण। वे ऐतिहासिक घटनाओं को मानवीय इच्छाओं तथा कामनाओं के परिणामों के रूप में भी देखते हैं। इस मत के अनुसार यह स्पष्ट है कि मनुष्य जाति अपने भाग्य का पथ-प्रदर्शन तथा निर्णय कर सकती है। इतिहास कुछ नियमों के साथ काम करता है, और इन नियमों को मानकर ही समाज चलता है।'[१]

१०—नारी का रूप भी अपने दायरे में एक सामाजिक शक्ति—क्लियोपेट्रा की नाक आकस्मिक रूप से छोटी न होने के कारण विश्व इतिहास का रूप दूसरा हुआ, इस सम्बन्ध में पासकाल का जो कथन है, वह इतना हास्यास्पद है कि उस पर विचार करना ही अयुक्तियुक्त मालूम देता है। हो सकता है कि किसी सुन्दरी के रूप ने किसी वीर या उस समय के शक्तिशाली पुरुष पर प्रभाव डाला हो, और उसे कुछ हद तक परिचालित भी किया हो, इस मानी में यह कहा जा सकता है कि क्लियोपेट्रा ने जूलियस सिनर पर अपने सौन्दर्य का जादू डाला, किन्तु यह कहना कि इस सौन्दर्य ने समाज की गति को ही बदल दिया यह व्यर्थ की जलपना मात्र है। स्मरण रहे सौन्दर्य भौतिक है, इसलिए यदि सौन्दर्य का कुछ प्रभाव पड़ता है तो वह प्रभाव एक भौतिक प्रभाव ही है। सौन्दर्य अपने दायरे में एक शक्ति है, और सब शक्तियों की तरह वह समाज की गति को द्रुत या विलम्बित कर सकता है, किन्तु यह समझना

---

१ B. P. S. S.

कि दुनिया की सबसे सुन्दरी रमणी का सौन्दर्य भी आर्थिक सामाजिक शक्तियों के बिल्कुल विपरीत कुछ काम कर सकेगा, गलत है। अभी-अभी मिसेस सिम्पसन की बात बहुत ताजी है। उनके सौन्दर्य का कहिये या प्रेम का कहिये जादू जार्ज पंचम के ज्येष्ठ पुत्र पर चल गया, किन्तु वह इतिहास को किसी भी हद तक न बदल सका। हाँ जो व्यक्ति सम्राट् होता वह एक ड्यूक होकर रह गया। इँगलैंड के उच्च वर्ग के लोग—जिनके हाथों में वहाँ का शासनसूत्र है—अपने प्रगतिशील विचारों की शेखी के बावजूद इस बात को गवारा करने के लिए तैयार नहीं थे कि एक ऐसी स्त्री जो पहले किसी साधारण व्यक्ति की स्त्री रह चुकी हो, उनके देश की रानी बने। परिणाम यह हुआ कि राजकुमार के सामने यह प्रश्न आया कि या तो वे अपनी प्रेयसी को छोड़ें या राज्य को। उन्होंने राज्य को ही त्याग दिया। इस प्रकार जहाँ तक राजकुमार के भाग्य के निर्णय की बात है, वह भी मिसेस सिम्पसन के प्रेम या रूप के द्वारा नहीं बल्कि सामाजिक शक्तियों के द्वारा निर्णीत हुआ। यदि इँगलैंड का शासक वर्ग इतना दकियानूसी न होता तो ड्यूक आफ़ विन्डसर ड्यूक न होकर कुछ और ही होते। इसके साथ ही हमें इस बात के स्वीकार करने में कुछ आपत्ति नहीं है कि नारी का सौन्दर्य एक शक्ति है, और उसके नियमों को जानकर उसका सामाजिक इस्तेमाल किया जा सकता है। प्रत्येक देश का प्रचार विभाग इन बातों को बखूबी समझता है। हमें इसके ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं।

११—आकस्मिक सिद्धान्त के कुछ और उदाहरण—जान गुन्थर ने अपनी पुस्तक Inside Europe में ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण आकस्मिक घटनाओं के कई उदाहरण गिनाये हैं। एक तो यह है कि यदि एक जर्मन जनरल लेनिन को एक बन्द गाड़ी में रूस में दाखिल कराने पर राजी न होता तो रूस का इतिहास कुछ और ही होता। दूसरा यह है कि यदि ट्राटस्की आवेश में आकर लेनिन की अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर उपस्थित होने से अस्वीकार न कर देते तो रूस में पाँच वार्षिक योजनाओं की नौबत न आती, यानी स्टालिन की न चल पाती। तीसरी घटना यों बताई जाती है कि यदि आस्ट्रियन पार्लियामेंट के एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन के अवसर पर एक सदस्य को मल त्याग की हाजत न होती, तो आस्ट्रिया

में डोल्फस शासन ही न होता और मध्ययोरप का चेहरा कुछ और ही होता। हमें बताने की ज़रूरत नहीं है कि ये घटनायें वहीं तक सफल या असफल रहीं जहाँ तक वे सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल या प्रतिकूल रहीं। इन तीनों घटनाओं में से प्रत्येक की जाँच करने पर हमें यही बात ज्ञात होगी।

१२—हालवाख का इतिहास सम्बन्धी आणविक सिद्धान्त—१८वीं सदी के यांत्रिक भौतिकवादी हालवाख ने इतिहास के सम्बन्ध में एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है, जो देखने में आकस्मिकता का सिद्धान्त न होते हुए भी अन्तिम विश्लेषण में आकस्मिकता के सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। हालवाख अपने भौतिकवाद से प्रेरित होकर इस नतीजे पर पहुँचे कि अणु तथा परमाणु से ही सारी दुनिया बनी है, इसलिए वे ही असल में इतिहास के निर्माता हैं। वे इस सम्बन्ध में यह परिणाम निकालते हैं कि 'प्रकृति में प्रत्येक वस्तु सम्बद्ध है, उसमें प्रत्येक वस्तु क्रिया-प्रतिक्रिया शील है, प्रत्येक वस्तु हिलती-डुलती है, बनती है। एक भी अणु ऐसा नहीं है जो महत्त्वपूर्ण ज़रूरी हिस्सा अदा न करता हो, ऐसा कोई भी अदृश्य परमाणु नहीं है, जिसको यदि उपयुक्त परिस्थितियों में रखा जाय तो वह अघटन घटन न कर सके।.... एक धर्मान्ध के यकृत में अत्यन्त कड़ुवापन, विजेता के हृदय में स्फीत रक्त, राजा की पाकस्थली में विकार तथा एक स्त्री के दिमाग़ की खाम-ख्याली—इनमें से प्रत्येक बात किसी लड़ाई को छिड़ा देने, लाखों आदमियों को कटवा देने, किसी नगर की दीवारों को तोड़वा देने, तथा कई सदियों के लिए सारे जगत् को सर्वनाश के भंवर में डाल देने के लिए यथेष्ट है।' हालवाख के इस विचार की आलोचना करते हुए प्लेखनाव ने जो लिखा है, उसे भी सुन लिया जाय। वे लिखते हैं कि हालवाख का यह सिद्धान्त क्रामवेल के सम्बन्ध में कही हुई उस बात से पृथक् नहीं है, जिसे किसी धार्मिक पुरुष ने कहा था कि ईश्वरीय इच्छा के कारण क्रामवेल के पेट में एक दाना ऐसी जगह पर पहुँच गया जिससे वह मर ही कर रहा। हाँ, हालवाख का सिद्धान्त इस मानी में पृथक् अवश्य है कि वे ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु दाने ने जो हिस्सा इतिहास में अदा किया, उसे वे निर्विकार चित्त से मान लेंगे।[१]

---

१ E. H. M. p. 36

कहना न होगा कि हालवाख प्रतिपादित इतिहास का आणविक सिद्धान्त एक तरफ तो आकस्मिक सिद्धान्त का प्रच्छन्नरूप है, दूसरी ओर इसमें मनुष्य की चेष्टा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, यह तो भाग्यवादी है क्योंकि न मालूम किस समय कौन परमाणु क्या आफत ढा दे। इस प्रकार भौतिकवाद की आड़ में यह सिद्धान्त केवल अदृष्टवाद है। कहना न होगा कि यांत्रिक भौतिकवाद के लिए ऐसी भूलभुलैयाँ में पड़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

१३—इतिहास का स्वतःस्फूर्ति सिद्धान्त—फरवरी क्रान्ति का उदाहरण— घटनायें खुद बखुद होती हैं, यह भी आकस्मिकता के सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है, क्योंकि इस बात में यह माना जाता है कि घटनायें न मालूम किस तरह से हो जाती हैं, अपने आप होती हैं, और उन पर कोई नियंत्रण इसलिए नहीं हो सकता कि उनके घटित होने में कोई नियम नहीं है। रूस की क्रान्ति आधुनिक इतिहास में एक बहुत बड़ी क्या शायद सबसे बड़ी घटना है। १९१७ की फरवरी क्रान्ति में किसी दल का नेतृत्व नहीं था, इससे कहा जाता है कि स्वतःस्फूर्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है। हम पहले यह देखेंगे कि इस क्रान्ति में क्या वस्तु स्थिति सचमुच वैसी ही थी जैसी बतलाई जाती है। हम एक एक करके वहाँ के विभिन्न दल के सम्बन्ध में देखेंगे कि वस्तुस्थिति क्या थी। सोशल रिवोल्यूशनरी दल के सभापति जंजीनाफ ने बाद को लिखा कि 'यह क्रान्ति हमारे ऊपर बिजली की तरह फट पड़ी। हम इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट वादिता से काम लें। अवश्य हम क्रान्तिकारीगण बहुत दिनों से इसके लिए काम कर रहे थे, और बराबर इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।' तो इतना स्पष्ट है कि इस दल ने क्रान्ति का न तो बटन ही दबाया और न नेतृत्व ही किया। मेनशेविकों का हाल इससे कुछ बेहतर नहीं था। जब क्रान्ति आई तो वे बिल्कुल तैयार नहीं थे, यद्यपि बाद को इन लोगों ने दावा किया कि क्रान्ति इन्हीं की की हुई है। इस सम्बन्ध में एक व्यक्ति ने मज़ेदार तरीक़े से यह लिखा है कि फरवरी २१ (१९१७) यानी क्रान्ति से एक सप्ताह पहले जिस समय इस दल के स्कोवेलेफ नामक एक व्यक्ति लेखक से मिले तो उन्होंने कहा कि यह सब क्या गड़बड़ी हो रही है, इसे बन्द करना चाहिए। फिर भी उसी लेखक के अनुसार इसी व्यक्ति स्कोवेलेफ ने यह दावा किया कि क्रान्ति कराने में उनका

भारी हाथ रहा। करेन्सकी के विषय उनके अन्तरंग वृत्त के एक व्यक्ति ने लिखा है कि वे भी इस बात से घबड़ाते थे कि जनता एक दफे भड़क जाय तो कहीं ऐसा न हो कि वह फिर इतनी उग्र हो जाय कि क़ाबू में न आये। इसलिए यद्यपि बाद को घटनाचक्र ने अर्थात् वर्गशक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया ने भले ही करेन्सकी को नेपोलियन तृतीय की तरह बहुत ज़िम्मेदारी की जगह पर बैठा दिया हो किन्तु क्रान्ति करने में उनका क्या हिस्सा था, यह उनके उल्लिखित वचनों से स्पष्ट है। रह गया वाल्शेविक दल, सो उसके प्रधान नेता लेनिन निर्वासिन में थे, जिनोविन उसके साथ थे, कामिनाफ, स्वेर्डलाफ, राइकाफ, स्टेलिन ये सब भी निर्वासित थे। ड्यूमा में जो मज़दूरों के पाँच वाल्शेविक प्रतिनिधि थे, वे १९१४ से ही जेल में सड़ रहे थे। दल बहुत अस्तव्यस्त हालत में था। बात यह है कि लड़ाई के प्रारम्भ होते ही जारशाही ने इस पर बहुत जोर का हमला किया था, इसी की चोट से अभी यह उठ नहीं पाया था। जब हम दूसरे तरीक़े से और गहराई के साथ देखते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि पेट्रोग्रेड ने ही इस क्रान्ति के अवसर पर सारे देश का नेतृत्व किया। मास्को तथा अन्य शहरों ने, और बाद को अंगड़ाई लेते-लेते देहात ने इसी प्रकार का अनुसरण किया। अब हमें यह देखना है कि पेट्रोग्रेड में वाल्शेविकों के नेतागण क्या कर रहे थे। उस समय ट्राटस्की के अनुसार पेट्रोग्रेड के तीन वाल्शेविक नेता थे,—शिलियाय निकाफ, जलूटस्की और मोलोटोफ। इनमें से सबसे ज़िम्मेदार शिलियाय निकाफ समझे जाते थे क्योंकि ये बहुत दिनों तक लेनिन के साथ रह चुके थे। जब क्रान्ति ने जोरों से डगमारना शुरू किया, तब शिलियाय निकाफ ने चुगुरिन की माँग पर २७ फरवरी की सुबह को सेनाओं के प्रति एक अपील निकाली। यह ठीक-ठीक पता नहीं है कि यह अपील छप भी पाई या नहीं। कुछ भी हो यदि छपी भी हो, तो उसकी कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि सेनायें क्रान्ति में आ ही चुकी थीं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यदि किसी दल ने कोई चेष्टा की तो वाल्शेविक दल ने की। २७ तारीख को जिस समय पेट्रोग्रेड की जेल तोड़ दी गई, उस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि जेल के फाटक पर ही अन्य दलों के मुक़ाबिले में वाल्शेविक दल की श्रेष्टता स्पष्ट हो जाती है। मेनशेविक दल के जो नेता इस समय जेल से छुड़ा लिए गये वे फौरन ड्यूमा

की ओर दौड़े जहाँ ओहदे बट रहे थे, किन्तु वाल्शेविक नेतागण जेल से सीधे ही मज़दूरों के मुहल्ले तथा सेनाओं के शिविरों को ओर चल दिये, जिससे राजधानी में क्रान्ति की विजय हो। इस प्रकार वाल्शेविक दल की चेष्टा तो स्पष्ट है, किन्तु फिर भी यह दावा किया जाय कि उसने फरवरी क्रान्ति का नेतृत्व किया तो यह दावा अतिरंजित होगा। तो फिर किसने क्रान्ति का नेतृत्व किया। यहीं से इतिहास के स्वतःस्फूर्ति सिद्धान्त को जोर मिलता है, किन्तु फिर भी वैज्ञानिक समाजशास्त्र को मान्य नहीं हो सकता, इसलिए हमें और गहराई के साथ घटनाओं की छानबीन करनी चाहिए। किसी दल ने नेतृत्व न किया हो, किन्तु नेतृत्व किसी ने तो किया ही होगा।

ये नेता कौन थे? क्रान्ति के बाद पुलिसवालों के कागज़ात की जब छानबीन की गई तो यह मालूम हुआ कि अन्दर ही अन्दर क्रान्ति ने किन लोगों के जरिये से बल प्राप्त किया। क्रिस्टिया-निनाफ नामक एक खुफिया ने क्रान्ति के असली महाभारत को अपनी रिपोर्टों में साकार कर दिया है। उसकी रिपोर्ट के अनुसार एक मज़दूर और सैनिक में ट्रेन पर यों बातचीत हुई। सैनिक यह कह रहा है कि उसके रेजिमेंट में किस प्रकार आठ आदमियों को इसलिए सजा हुई कि उन्होंने नेवोल कारखाने में मज़दूरों पर गोली चलाने से इन्कार कर पुलिस पर गोली चला दी। यह बातचीत बिल्कुल खुल्लमखुल्ला हो रही थी। एक दूसरे दिन की रिपोर्ट यों है कि इसी प्रकार की बातचीत में मज़दूर ने यह कहा कि हम लोगों को संगठित होकर एक हो जाने चाहिए। इस पर सैनिक ने कहा परेशान न हो, हम लोग बहुत दिनों से संगठित हैं......ये लोग काफी खून पी चुके हैं, ट्रेन्चों में लोग मर रहे हैं, और इन लोगों की तोंदें बढ़ती जा रही हैं। इस प्रकार अन्दर ही अन्दर मज़दूर और सैनिकों की मित्रता बढ़ती जा रही थी। मज़दूरगण सैनिकों की हर घड़ी की मानसिक अवस्था का पता लेते रहते थे, और उसी के अनुसार काम करते थे। इस प्रकार एक तरफ मज़दूर, और दूसरी तरफ सैनिकों के रूप में आये हुए किसानों की शक्ति जारशाही के विरुद्ध संगठित होती चली जा रही थी। इसके व्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार, सड़कों, दूकानों, बैरकों के जरिए से इन दो महाशक्तियों का संगठन होता गया, इसी के फलस्वरूप क्रान्ति हुई।

इसकी पृष्ठभूमि में सबसे पहले तो युद्ध की छाया में परिपक्वमान आर्थिक सामाजिक संकट, जारशाही का खोखलापन, देश में क़रीब-क़रीब उसका कोई मित्र न रह जाना, १९०५ की क्रान्ति से प्राप्त जनता की अभिज्ञता, लड़ाई में रूस की हार, साथ ही राजनैतिक दलों और सर्वोपरि लेनिन के दल का प्रचार तथा उनके कार्यकर्त्ताओं का त्याग, लगन आदि बातें थीं। सब बातों की छानबीन करने के बाद ट्राटस्की सही तौर पर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इस क्रान्ति का नेतृत्व न लेनिन ने किया, न लेनिन के दल ने किया, किन्तु मुख्यतः लेनिन के दल के द्वारा तैयार किये हुए मज़दूरों ने—और हम उसमें इतना जोड़ देते हैं कि सैनिकों के रूप में किसानों ने किया। इसलिए इतिहास का स्वतःस्फूर्ति वाला सिद्धान्त लचर तथा अवैज्ञानिक है। भले ही किसी समय किसी घटना का कारण समझ में न आवे, किन्तु इस बात से घबड़ाकर इस सिद्धान्त की गोद में आत्मसमर्पण करना ग़लत है।

फरवरी क्रान्ति में किस प्रकार जनता ने अपना नेतृत्व आप किया, यह क्रान्ति के बाद की घटनाओं से ज्ञात होता है। जिस समय क्रान्ति का वेगबल उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था, उस समय २७ फरवरी को घटनाओं के रुख से घबड़ाकर ड्यूमा के सदस्यगण सबेरे ही एक नियमित अधिवेशन में एकत्र हुए, किन्तु जब वे इकट्ठे हुए तब उन्हें मालूम हो गया कि ड्यूमा को भंग कर दिया गया है। ड्यूमा के सदस्यगण फिर एक निजी कान्फ्रेंस में इकट्ठे हुए, और सब अपनी कमज़ोरी पर हाथ मलते रहे। उस कान्फ्रेंस में कैडेट दल के नेक्रासव ने एक प्रस्ताव रखा था कि एक सामरिक अधिनायकत्व स्थापित किया जाय, और सारी शक्ति किसी जनप्रिय जनरल के हाथों में सौंप दी जाय। इन लोगों ने ग्रैन्ड ड्यूक मिखैल को पेट्रोग्रेड में बुलाकर उनके हाथों में अधिनायकत्व सौंपना चाहा, जार की व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डली (persoual staff) से इस्तीफा देने के लिए अनुरोध करना चाहा, और जार से तार देकर एक ज़िम्मेदार मंत्रीमंडल बनाने की प्रार्थना करनी चाही। इस प्रकार ड्यूमा के इन सदस्यों के जरिये रूस का सम्पत्तिशाली वर्ग अन्तिम घड़ी में जार को नाम मात्र के लिए हटाकर क्रान्ति को अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर चढ़ाने का षड़्यंत्र कर रहा था। उधर जेल से छूटे हुए मेनेशेविकागण मजदूर सभा

तथा सहकारिता आन्दोलन के नेतागण मिलकर मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सोवियट की स्थायी कार्यकारिणी समिति बना रहे थे। इसमें बहुत से ऐसे भूतपूर्व क्रान्तिकारी भी थे, जिनका नाम तो अभी वहुत था, किन्तु जनता से उनका कोई संस्पर्श नहीं था। इस कार्यकारिणी समिति ने फौरन मजदूरों से कहा कि वे अपने प्रतिनिधियों को चुनें। मज़दूरों और विद्रोही सैनिकों ने इस कमेटी के सदस्यों के निर्वाचन को उसी दिन तस्दीक कर दिया। इसके बाद पहले ही अधिवेशन में यह तय हुआ कि मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों का एक आम सोवियट कायम किया जाय। इस सोवियट ने राष्ट्रीय बैंक, ख़ज़ाना, टकसाल और छापेख़ानों पर पहरा डालकर उन पर अधिकार कर लिया। हर घड़ी सोवियट के कार्य जनता के दबाव के कारण बढ़ते ही गये, किन्तु जिन समाजवादियों के हाथों में इस समय सोवियट का नेतृत्व था, वे क्रान्ति की सफलता से "ऐसा ज्ञात होता है मन ही मन इतना घबड़ा गये थे कि किसी भी तरह वे पूँजीवादी वर्ग के हाथों में शक्ति सौंपना चाहते थे। ये लोग न तो क्रान्ति के लिए तैयार थे, और न अपने में शक्ति ग्रहण करने की सामर्थ्य ही पाते थे। इन्हीं की इस ढुलमुल यकीनी और विचारों की कोताही के कारण (जिसके पीछे उनका निम्न मध्यमवर्गीय चरित्र काम कर रहा था) ड्यूमा की कमेटी के हाथों शक्ति सौंप देने के लिए बातचीत चलने लगी। ड्यूमा के ये सदस्य भी शक्ति ग्रहण करने को तैयार थे, ऐसी बात नहीं। वे भी समझ नहीं पा रहे थे कि क्या हो रहा है, इसलिए लम्बी कान्फ़्रेंस के बाद इन्होंने धड़कते हुए हृदय से शक्ति ग्रहण करना स्वीकार किया। इन लोगों की तरफ़ से मिल्युकाफ़ ने सोवियट की ओर से आये हुए प्रतिनिधि मंडल को यह बतलाया कि हमने शक्ति ग्रहण करने का फैसला कर लिया है। इस प्रकार जिनके हाथों में क्रान्ति का नेतृत्व आ पड़ा था, वे और साथ ही साथ जिनको वे क्रान्ति के परिपक्व फल को सौंप देना चाहते थे वे, दोनों अपनी-अपनी जगह पर गड़बड़ा रहे थे। साथ ही साथ वे जनता को भी गड़बड़ी में डाल रहे थे, किन्तु कुछ मामलों में मज़दूर और सैनिकजनता बिल्कुल दृढ़-प्रतिज्ञ थी कि कुछ भी हो, इसके पीछे नहीं हटना है, किसी भी हालत में वे ज़ारशाही को वापस नहीं आने देना चाहते थे। रोरिडे प्रासाद में बराबर भूतपूर्व राजकर्मचारी

गिरफ्तार कर करके लाये जा रहे थे। रोडजियन्को जो ड्यूमा के सदस्यों के एक तरह से नेता थे, इस बात पर क्रोध से थरथर काँप रहे थे कि कैसे यह अज्ञात कुलशील सैनिक बिना हुक्म के लोगों को गिरफ्तार कर करके लाते चले जा रहे हैं। स्मरण रहे कि सोवियट ड्यूमा कमेटी के हाथों में शक्ति समर्पण करने के लिए तैयार होने के कारण रोडजियन्को एक तरह से क्रान्ति के प्रधान अधिकारियों में हो चुके थे। भूतपूर्व मत्री शैग्लोविटाफ गिरफ्तार होकर आये तो रोडजियन्को ने चाहा कि उनको दफ्तर में बुलाकर उनसे कुछ बातचीत की जाय। यह बातचीत किस किस्म की होती यह तो स्पष्ट ही है, किन्तु रोडजियन्को के कहने पेर पहरे के सैनिकों ने शैग्लोविटाफ को उनके सुपुर्द करने से इन्कार किया। बाद को रोडजियन्को ने अपना संस्मरण लिखते हुए इस पर लिखा, 'जब मैंने उस पर अपने अधिकार की बात कही तो सैनिकों ने अपने कैदी को घेर लिया और अत्यन्त गुस्ताखी और चुनौती देनेवाला चेहरा बनाकर अपने राइफलों की ओर इशारा किया। फिर वे बिना कुछ बोले ही शैग्लेविटाफ को न मालूम कहाँ ले गये।'

सच बात तो यह है कि स्वयं रोडजियन्को एक तरह से क्रान्तिकारी सैनिकों के हाथों में कैद थे, और वे हर घड़ी इस बात के लिए शंकित थे कि शायद गिरफ्तार कर लिए जायँ। इससे स्पष्ट है कि जनता कुछ मामलों में बिलकुल स्पष्टता के साथ अपना नेतृत्व आप कर रही थी। यह बात ज़रूर है कि नेताओं की गड़बड़ी अर्थात् उनके निम्न मध्यवर्गीय चरित्र तथा उसके पीछे हुए उनके हितों के कारण जनता की ताकत अन्त तक मिरवेल रोमानोफ के हाथों में जाते-जाते रह गई। जहाँ तक मिल्युकाफ़—रोडजियन्को कम्पनी का सम्बन्ध है, वे तो मिखैल के हाथ में सब शक्ति सौंपने को तैयार थे, किन्तु मिखैल ने अधिकतर राजनीतिज्ञता के साथ यह समझ लिया कि मिलने को तो शायद मिल जाय, किन्तु जान खतरे में पड़ जायेगी, इसलिए शक्ति ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार यदि नेताओं के षड्यन्त्र के फलस्वरूप मिखैल राज्याधिकार ग्रहण करते, तो क्या होता उसका भी हम एक बड़ी हद तक अनुमान कर सकते हैं। जनता अवश्य ही ऐसे मौकों पर अपनी कारगुजारी दिखा जाती, इसमें सन्देह नहीं। रहा यह कि जब जनता इतनी जाग्रत थी, तो

सोवियट ने ड्यूमा कमेटी के हाथों में शक्ति देना स्वीकार क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि जनता अपने तजुर्बे से थोड़ा-थोड़ा करके सीखती है, किन्तु जितना वह सीखती है, वह पूरा सीख लेती है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण योग्य है कि १९०५ के तजुर्बे का जनता ने १९१७ की फ़रवरी में पूरा फायदा उठाया था। हाँ यदि नेता ठीक होते—ठीक नेता तो उस समय भी मौजूद थे, किन्तु अभी उनकी चलती नहीं थी—तो क्या होता इसका हम अनुमान कर सकते हैं। फिर भी नेताओं पर ही सब कुछ निर्भर है, यह भी हमने इसी घटना में देख लिया। नेताओं ने तो क्रान्ति को डाकुओं के हाथों में सौंप दिया था, किन्तु शैंग्लोविटाफ के उदाहरण ने (ऐसे उदाहरण न मालूम कितने हुए होंगे) यह दिखला दिया कि नेता एक हद तक ही सामाजिक, आर्थिक शक्तियों में खींचातानी कर सकते हैं।

कुछ भी हो इन ब्यौरों से स्पष्ट है कि फ़रवरी क्रान्ति के अन्दर नियम थे, और इन्हीं नियमों के अन्दर वह चली। फ़रवरी क्रान्ति किसी भी तरह स्वतः-स्फूर्ति नहीं थी। उसके प्रवाह में हम उस समय की सामाजिक आर्थिक शक्तियों, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों, वर्ग चेतना की मात्रा और परिणाम को मूर्त्तिमान पाते हैं। यदि फ़रवरी क्रान्ति पर दृश्यमान रूप से किसी दल का ठप्पा नहीं लग पाया, तो न सही, किन्तु उससे समाज के गतिशास्त्र की पुष्टि होती है, न कि खण्डन। यह जो हमने लिखा है कि नेताओं की चलती तो फ़रवरी क्रान्ति का रूप और ही होता, इस सम्बन्ध में तथ्य है कि बोल्शेविकों की चलती नहीं थी, और जनता भी उन्हें अन्य बनावटी समाजवादियों से अलग करके नहीं समझ पा रही थी। बोल्शेविकों को इन झूठे समाजवादियों से अलग करके समझने के लिए फ़रवरी से अक्टूबर तक ८ महीने समय की ज़रूरत थी। क्रान्ति बाद फौरन जो सोवियट क़ायम हुए, उनमें मेनशेविकों और सोशल-रिवोल्युशनरी दल के लोगों की बहुसंख्या थी। फिर भी जनता इतनी सजग थी कि वह अपने और पूँजीवादियों के फ़र्क को खूब समझती थी। इसी समझ के कारण उस समय के नेताओं की गड़बड़ी और बोल्शविकों की अल्पसंख्या तथा कम प्रभाव के बावजूद जनता धीरे-धीरे अगले आठ महीने में आगे बढ़ती गई, और ठोकरों के अन्दर अपने सही मित्र बोल्शेविक दल को पहचानती भी गई।

फ़रवरी क्रान्ति के बाद टोरिडे प्रासाद में एक तरफ़ सोवियट और दूसरी तरफ डयूमा कमेटी का दफ़्तर रहा। क़ानूनी दृष्टि से डयूमा के प्रतिनिधि ही बड़े थे, किन्तु इन प्रतिनिधियों पर साथ ही रेजिमेंट के अफ़सरान, कारख़ानों के डाइरेक्टर तथा मैनेजर, रेल-तार के परिचालक, ताल्लुकेदारियों के व्यवस्थापक, मैनेजर—इन सब पर जनता कड़ी निगाह रखती थी। जो लेख छपने के लिए जाते थे, उन पर कम्पोज़ीटर निगाह रखते थे। तारघर के मुँशी देखते थे कि तार से क्या ख़बर जा रही है। सैनिक देखते थे कि उनके अफ़सर कहाँ आते-जाते, उठते-बैठते हैं। इस प्रकार स्वयं जनता एक बड़ी हद तक इन लोगों की निगरानी रखती थी। सच बात तो यह है कि जनता ने नई सरकार को बहुत कुछ under house arrest यानी मकान में गिरफ़्तार कर रखा था।

१४—मिल्युकाफ शासन के विरुद्ध धर्म प्रदर्शन कहाँ तक स्वतःस्फूर्त था?— रूसी क्रान्ति से ही सम्बद्ध एक दूसरी घटना के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह स्वतः-स्फूर्त थी। जिस समय फ़रवरी क्रान्ति के बाद मिल्युकाफ की सरकार ने मित्र पक्ष के राजदूतों की प्ररोचना पर रूस को अन्त तक या विजय तक लड़ाई में डटे रहने का ऐलान किया तो उस समय समाजवादी अखबार हल्ला मचाकर रह गये। मेनशेविक अख़बार 'रावोचम्पागाजेटा' ने यह कहा कि इस प्रकार की घोषणा करना लोकतंत्र की खिल्ली उड़ाना है। इस अखबार ने यह भी माँग की कि सोवियटों को चाहिए कि इसके भयंकर परिणामों से बचने के लिए कोई न कोई क़दम उठाया जावे। इस पर सोवियट की कार्य-कारिणी ने, जिसमें सुधारवादियों का बहुमत था, यह तय किया कि सोवियट का खुला अधिवेशन बुलाया जाय, किन्तु ऐसा करने में उसका उद्देश्य केवल समय प्राप्त करना बताया गया, उसका असली उद्देश्य इस बात को देखना था कि निम्नतर कतार के लोग इस ऐलान से कहाँ तक असन्तुष्ट हैं। सारांश यह है कि नेताओं ने कुछ भी नहीं किया। इस बीच में जनता एक दिन हथियार लेकर निकल पड़ी और उनके पोस्टरों में 'मिल्युकाफ का नाश हो' का नारा बुलन्द किया गया। यह प्रदर्शन इस अर्थ में बहुत सफल रहा कि इसके फलस्वरूप अस्थायी सरकार को पीछे हटना पड़ा। कहा जाता है कि यह, प्रदर्शन सम्पूर्ण रूप से स्वतः स्फूर्त था। हम देखें कि यह बात कहाँ तक सत्य की

कसौटी पर ठहरती है। इस दिन लिण्डे नामक एक व्यक्ति ने प्रदर्शन का पहिया चला दिया था। यह व्यक्ति विद्वान्, गणितज्ञ और दार्शनिक था। इस व्यक्ति का किसी दल से सम्बन्ध नहीं था। समाजवादी अखबारों की टिप्पणियों को पढ़कर यह व्यक्ति जोश में आ गया, और जाकर फ़िनलैण्ड रेजिमेंट कमेटी में पहुँचा। वहाँ उसने यह प्रस्ताव रखा कि फ़ौरन निकलकर मेरेन्स्की प्रासाद पर चला जाय। लिन्डे की बात वहाँ मान ली गई, उसी दिन शाम को फ़िनलैण्ड वालों का रेजिमेण्ट पोस्टरों के साथ राजधानी की सड़कों पर घूमने लगा। इसी के पीछे-पीछे और सेनायें भी निकल पड़ी, और इनकी संख्या तीस हज़ार सशस्त्र सेना में पहुँच गई। अब इसमें इतनी बात तो सही है कि किसी दल ने इस प्रदर्शन को न तो शुरू ही किया था, और न संगठित ही किया था, किन्तु फिर भी वोल्शेविक अखबार तथा नेताओं ने ही लड़ाई के विरुद्ध नारा दिया था; और मिल्युकाफ की निन्दा की थी, इसे हम कैसे भूल सकते हैं? स्मरण रहे इन्हीं अखबारों से निस्पृह वैज्ञानिक लिन्डे को जोश आया था। यह भी ज्ञात है कि मेनशेविक अखबार रावोचा पर गरजेटा ने जो मिल्युकाफ-विरोधी टिप्पणी की थी, वह वोल्शेविकों के प्रभाव तथा दबाव के कारण की गई थी। इसमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वोल्शेविकों को यह पता नहीं लग पाया कि इस पैमाने पर इतना जल्दी प्रदर्शन हो सकता है। इसमें वे अवश्य पीछे रह गये। फिर भी जैसा हम देख चुके कि लिन्डे के जोश में आने की घटना को स्वतः-स्फूर्ति नहीं कहा जा सकता है। बारूदखाना तैयार था, लिन्डे ने अपनी चमत्कारी से धधका दिया। इस घटना से यह भी पता चलता है कि कैसे अक्सर प्रबल समाजिक शक्तियाँ अपने अनुकूल एक नेता पैदा कर लेती हैं। हमेशा का यह तजर्वा है कि ऐसे अवसरों पर न मालूम कहाँ से, शायद आकाश से नेता उतर आते हैं। इसमें कोई रहस्यवादी पहलू नहीं है। इसकी पृष्ठभूमि में सामाजिक शक्तियाँ ही रहती हैं, नहीं तो लिन्डे को यदि अकेले जोश आता तो वह पागल समझा जाता, और शायद आवारागर्दी में जार की जेलों में सड़ता रहता। रेजिमेंट ने क्यों नहीं और लिन्डे ने ही क्यों इस अवसर पर नेतृत्व किया, इसका उत्तर यह है कि किसी भी क्रान्तिकारी विस्फोट के आगे हमेशा वहीलोग रहते हैं जो अधिकतर अनुभूतिशील होते हैं, और जिनमें सहनशक्ति अपेक्षाकृत कम होती है।

१५—इतिहास के सम्बन्ध में विश्वासघात सिद्धान्त—इतिहास की ग़लत व्याख्या का एक और प्रचलित तरीक़ा यह है कि प्रगति के अभाव या प्रगति की हार को किन्हीं विशेष व्यक्तियों की दुष्टता या विश्वासघात पर थोप दिया जाय। ऐसे ही लोग राम-द्वारा लंका-विजय के लिये विभीषण को, भारत की अफ़ग़ानों-द्वारा विजय के लिए जयचन्द को (ऐतिहासिक रूप से यह प्रमाणित हो चुका है कि जयचन्द और पृथ्वीराजवाली सारी घटनायें कवि कल्पना हैं) और अँगरेज़ों द्वारा विजय के लिए मीरजाफ़र को दोषी क़रार देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह लोग अपनी जगह पर दोषी ज़रूर थे, किन्तु यह कहना कि इन्हीं दो एक व्यक्तियों की बदौलत सारे इतिहास का रंग ही बदल गया, यह उनकी निन्दा करना नहीं, बल्कि इनको ज़रूरत से अधिक महत्त्व देकर बड़ा कर देना है। भारतीय आतंकवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के सम्बन्ध में इसी प्रकार की बातें कही जाती हैं कि कृपालसिंह के द्वारा क्रान्ति की तारीख़ खोल दिये जाने से १९१४-१८ के युग में उत्तर भारत में क्रान्ति न हो सकी, इत्यादि इत्यादि। प्रश्न यह कि जहाँ विभीषण, जयचन्द, मीरजाफ़र या कृपालसिंह थे, वहाँ इनके समतुल्य शक्तिशाली या उनसे अधिक शक्तिशाली बहुत से व्यक्ति इस धारा के विरुद्ध लगे हुए थे, फिर क्या कारण है कि इन लोगों की चल गई और दूसरे लोगों की नहीं चल पाई ?

१६—१८४८ की क्रान्ति और विश्वासघात सिद्धान्त—१८४८ की फ़रवरी और मार्च में जो क्रान्ति हुई थी, उसके बाद कुछ लोग उसके सम्बन्ध में मारास्ट, लेद्रूरोंला, या लुई ब्लां पर दोष मढ़ते रहे। इस पर मार्क्स-एंगेल्स ने इसके सम्बन्ध में यों लिखा है कि—'१८४८ की फ़रवरी के आकस्मिक आन्दोलन व्यक्ति विशेषों के कार्य नहीं थे, बल्कि ऐसे राष्ट्रीय अभाव थे, ऐसी ज़रूरतें थीं और ऐसी स्वतः उद्भूत अदम्य अभिव्यक्तियाँ थीं, जिनको प्रत्येक देश की बहुत-सी श्रेणियाँ स्पष्ट रूप से अनुभव तो करती हैं, किन्तु कम समझती हैं। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसको सभी मानते हैं, किन्तु जब आप प्रति क्रान्ति सफलताओं का कारण ढूँढ़ने चलते हैं, तो आपके लिए चारों तरफ़ से लोग कहने लगते हैं कि अमुक व्यक्ति तथा अमुक नागरिक ने जनता के साथ विश्वासघात किया। परिस्थितियों के अनुसार यह उत्तर बहुत सत्य भी हो सकता है और नहीं भी, किन्तु किसी भी हालत में

यह किसी बात की व्याख्या नहीं करता—यहाँ तक कि यह भी नहीं दिखलाता कि यह हो कैसे गया कि लोगों ने इस प्रकार अपने को विश्वासघात का शिकार होने दिया। उस राजनैतिक दल की कितनी दयनीय दशा है जिसकी सारी पूँजी केवल इसी बात के ज्ञान पर निर्भर है कि अमुक व्यक्ति का विश्वास न किया जाय। क्रान्तिकारी उत्थान और उसके दब जाने के कारणों का अनुसन्धान ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ये तमाम टुच्चे, व्यक्तिगत कलह और दोषारोपण—ये तमाम विरोधी कथन कि मारास्ट या लेद्रु रोंला या लुई ब्लां पर अस्थायी सरकार का अमुक सदस्य या उनमें से सबके सब ने क्रान्ति की नाव को ले जाकर ऐसे चट्टान पर भिड़ा दिया, जहाँ पर वह टकराकर चकनाचूर हो गई—ये सारी बातें एक अमेरिकन या अँगरेज़ के लिए जो बाहर से इन विभिन्न आन्दोलनों को देख रहा है, क्या दिलचस्पी पैदा कर सकती हैं, या रोशनी डाल सकती हैं। कोई भी सही दिमाग़ का व्यक्ति इस बात का कभी भी विश्वास न करेगा कि ११ व्यक्ति जिनमें से अधिकांश भलाई और बुराई दोनों के लिए बहुत कम सामर्थ्य रखते थे, उन्होंने ३ करोड़ ६० लाख आबादी-वाली जाति का सर्वनाश कर दिया।'[१]

१७—मालिनोवस्की आदि रूस क्रान्ति को रोक न सके—जब सामाजिक, आर्थिक शक्तियाँ प्रबल रूप से संगठित होती हैं तो एक जयचन्द, मीरजाफ़र या कृपालसिंह कुछ बिगाड़ नहीं सकते। इसका सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि १९१७ की क्रान्ति के ऐन पहले तक बोल्शेविक दल की सबसे बड़ी केन्द्रीय कमेटी में मालिनोवस्की नामक एक व्यक्ति था, जिसे क्रान्तिकारी तो क्रान्तिकारी समझते थे, किन्तु वह असल में पुलिस का आदमी था। वह बराबर पुलिस को खबर दिया करता था, इस बात का तो पता तब लगा जब क्रान्ति हो गई, और पुलिस का रेकार्ड क्रान्तिकारियों के हाथ लगा। फिर भी मालिनोवस्की ने क्या बिगाड़ लिया? केवल यही नहीं बोल्शेविक पार्टी के दो प्रसिद्ध नेता कामेनेफ और जिनोविफ ने जब केन्द्रीय कमेटी में नवम्बर क्रान्ति के ऐन पहले, क्रान्ति फौरन की जाय या कुछ देर में, इस पर आलोचना हुई, तो उसके विरुद्ध वोट दिया। इतने से सन्तुष्ट न होकर उन दोनों ने मेनशेविकों के अख़बार

१ R. C. R. p. 10

नोवाया जिज्न (नवजीवन) में यह बात खोल दी कि वोल्शेविक पार्टी सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कर रही है, और वे इसे जुआ खेलना समझते हैं। लेनिन ने इस पर कामेनेफ और जिनेविफ को विश्वासघातक क़रार दिया, किन्तु परिणाम क्या हुआ? क्रान्ति के लिए शक्तियाँ इतनी तगड़ी हो चुकी थीं कि एक तरफ़ मालिनोवस्की और दूसरी तरफ कामेनेफ और जिनोविफ के विश्वासघात से उसका कुछ नहीं बिगड़ सका। इसलिए किसी आन्दोलन की सफलता या विफलता एक या दस-बीस आदमियों के विश्वासघात पर निर्भर नहीं होती। प्रत्येक आन्दोलन में कुछ विश्वासघातक का आधुनिकतम भाषा में पाँचवें दस्ते-वाले निकलेंगे। जिस समय रूस में समाजवाद को स्थापित हुए क़रीब पचीस वर्ष हो चुके थे, और क़रीब-क़रीब एक मुश्त समाजवाद की शिक्षा में पल चुकी थी, उस समय कि जब नात्सियों का हमला हुआ, तो कुछ न कुछ विश्वासघातक वहाँ भी निकले। अवश्य इन विश्वासघातकों की संख्या नात्सीगणों के द्वारा आक्रान्त अन्य देशों के मुक़ाबिले में कुछ भी नहीं थी, फिर भी ऐसे लोग निकले, यही क्या कम है? फिर भी उन्होंने क्या कर लिया? जहाँ सामाजिक शक्तियाँ प्रबल होती हैं, वहाँ दो चार विश्वासघातों से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। लगे हाथों यह बता दिया जाय कि जो लोग विश्वासघात के भय से किसी प्रकार के क्रान्तिकारी कार्य में विश्वास नहीं रखते, वे कितने ग़लत हैं, यह स्पष्ट है। ऐसे लोग केवल एक आड़ लेकर अपनी अकर्मण्यता को छिपाना चाहते हैं।

१८—इतिहास मनोविज्ञान की समस्या है—यह मतवाद—ए० आई० ट्यूमेनियेफ ने एक बहुतथ्यपूर्ण लेख में कुछ वुर्जुआ इतिहास लेखकों के इतिहास-सम्बन्धी मत का संकलन किया है। यह सम्भव नहीं है कि उस लेख का अनुवाद यहाँ पेश किया जाय, इसलिए हम उसका कुछ सार संकलन कर पाठक के सम्मुख पेश करेंगे। यूरोप में वेर (berr) एक ख्यातनामा इतिहास लेखक समझे जाते हैं, इनके अनुसार इतिहास मनोविज्ञान की एक समस्या है, और इतिहास लेखक का कर्त्तव्य यह है कि वह इसी तथ्य को लेकर चले, और विभिन्न व्यक्तियों के दर्मियान होनेवाले संघर्ष तथा लेन-देन को दिखलावे। ट० वर्नहाइम का मत भी वेर के मत से मिलता-जुलता है। वे सभी

ऐतिहासिक तथ्यों और ऐतिहासिक विकास को मानवीय प्रकृति के मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक गुणों के रूप में देखते हैं। उन्होंने लिखा है कि मनुष्य की क्रियाएँ जो हमारे विज्ञान के विचार्य विषय हैं मुख्यत: मनोवैज्ञानिक कारणों पर निर्भर हैं। अन्य बहुत से जर्मन विद्वान्, उदाहरणार्थ स्प्रानोर, लाप्रेख्त, ब्राइजिंग, लिन्डनेर, वेरवेर इसी मत का समर्थन करते हैं। इतिहास का यह दृष्टिकोण बहुत ही व्यक्ति—केन्द्रिक है, अवश्य ही मनुष्य की मनोवृत्तियाँ बहुत बड़ी चीज़ हैं (हम बाद को उनका महत्त्व भी दिखलायेंगे) किन्तु यह कहना कि वे ही इतिहास की एक मात्र शक्ति हैं, ग़लत है। फिर प्रश्न तो यह है कि जिसे हम मनोवृत्ति या भावना या भावुकता कहते हैं, वह भी तो कोई स्थायी वस्तु नहीं है। उदाहरण स्वरूप यौथ समाज के युग में जिसे हमें आज प्रणयगत ईर्ष्या समझते हैं, उसका कहीं पता नहीं था। इसी प्रकार जिसे हम साम्पत्तिक भावना कहते हैं, वह भी उस रूप में यौथ उत्पादन के युग में नहीं थी। इसलिए केवल व्यक्ति या उसके मन को इतिहास की केन्द्रीभूत शक्ति मानना ग़लत होगा।

१९—लांगलोवा और सेनोवों का इतिहास सम्बन्धी सिद्धान्त—लांगलोवा और सेनोवो (Seignobos) ने एक बहुत ही सुन्दर इतिहास का ग्रन्थ लिखा है। इसमें उन्होंने यह लिखा है कि ऐतिहासिक विकास अनुकरण या अभ्यासों के कमज़ोर पड़ जाने के ज़रिए से ही समझा जा सकता है। इनके इस विज्ञान का ज़रा नमूना दिया जाय। वे लिखते हैं कि प्रत्येक अभ्यास, रिवाज या संस्था पहले कुछ व्यक्तियों की स्वेच्छाचारी बुद्धि से उत्पन्न होती है, जब दूसरे लोग उनका अनुकरण या अनुसरण करते हैं, तब वह एक माना हुआ या सम्मानित रिवाज हो जाता है...। यह पहला सोपान है। इस प्रकार जब एक रिवाज मान लिया जाता है तो वह एक वाध्यतामूलक नियम हो जाता है। जो लोग सार्वजनिक व्यवस्था के शीर्षस्थान पर होते हैं, वे जब इन रिवाजों को ग्रहण कर लेते हैं, तो यह रिवाज परम्परा का रूप ग्रहण कर शक्तिशाली हो जाता है, यह दूसरा सोपान है। इसी प्रकार अगले सोपान में फिर एक बार रिवाज कमज़ोर पड़ने लगते हैं, और धीरे-धीरे उनके विरुद्ध विद्रोह होने लगते हैं। यह ह्रास का सोपान माना गया है। कुछ सभ्य जातियों में एक समय ऐसा आता है, जब इस प्रकार का क़ानून, नियम या रिवाज समालोचित होता है, और

शासकगण निन्दित होते हैं, जनता का एक हिस्सा फिर सुधार का नारा देता है, और यह कहता है कि शासकों पर नियंत्रण होना चाहिये। ये सुधार तथा नियंत्रण के सोपान है। हमने इतिहास का जो थोड़ा बहुत विश्लेषण किया है, उससे देखा जाय तो लाँगलोवा और सेनोवो का मत कितना धुँधला ज्ञात होगा। एक बार रिवाज बने, फिर टूटने लगे, फिर इन पर नियंत्रण की माँग हुई, यही उनके सारे ज्ञान का किष्कर्ष है। आख़िर ये रिवाज क्यों उत्पन्न हुए, क्यों उनका अनुकरण हुआ, क्यों वे टूटे, क्यों कुछ रिवाजों का अनुकरण होता है, और कुछ का दमन ? इन प्रश्नों का इन लेखकों के निकट कोई उत्तर नहीं है। इस प्रकार ये लेखक बीच ही में ठहर जाते हैं, और समझते हैं कि उन्होंने समाज के गतिशास्त्र के रहस्य को समझ लिया। यह जो बतलाया गया है कि नये रिवाज या संस्था व्यक्तियों की स्वेच्छाचारी बुद्धि से उत्पन्न होती है, आख़िर इन व्यक्तियों में यह बुद्धि क्यों आती है ? जिस समय यौथ समाज का आर्थिक आधार टूटने लगा उस समय थोड़े से लोग जोड़े की शादी के रूप में समाज के विरुद्ध विद्रोही हो गये। अब तक यह रिवाज था कि एक जन (Jens) के सारे पुरुष दूसरे जन की सारी स्त्रियों के पति होते थे, इसलिए जिन्होंने जोड़े की शादी का नया रिवाज चलाया वे यौथ समाज के विरुद्ध विद्रोही थे। इस विद्रोह की प्रेरणा के मूल में जब हम जाते हैं तो देखते हैं कि यौथ समाज के गर्भ में विकासमान वैयक्तिक सम्पत्ति ही वह नींव थी जिस पर उनकी इस नई भावुकता की इमारत खड़ी हुई थी। फिर भी मानना पड़ेगा कि लांगलोवा और सेनोवो यथार्थता के बहुत पास पहुँच गये, हाँ वे मूल तक नहीं पहुँच सके, ऐसा करने में बुर्जुआ समाज को ख़तरा था।

२०—हमेशा से पूँजीवाद है, और रहेगा सिद्धान्त—सत्य से बचने के लिए अकर्मण्य लोगों ने तथा बुर्जुआ लोगों ने तरह-तरह के मतवादों की सृष्टि की है। कहीं मनोविज्ञान की आड़ ली गई है तो कहीं व्यक्तित्व के रहस्यमय क्षेत्र में लोग भटक गये हैं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वे वर्ग-संघर्ष को छिपाना चाहते थे, इसी लिए उन्होंने इस प्रकार के मनमाने मतों का प्रतिपादन किया। वे कई क्षेत्रों में सत्य के बहुत इर्द-गिर्द रहे, बल्कि सच कहा जाय तो उनके लेखों में सत्य की झलक आ गई, किन्तु फिर भी वे असली बात को टाल

गये---ऐसे मौके पर टाल गये जब उसको टालने से उनका सारा लेख बिलकुल तर्क-विरुद्ध होकर रह गया। यह भी एक मजे की बात है कि उदीयमान पूँजीवाद-युग के लेखकों ने वर्ग-संघर्ष को अपनी समाजशास्त्र-सम्बन्धी खोजों का आधार बनाया था---वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता मार्क्स नहीं बल्कि उनके पहले के कुछ बुर्जुआ लेखक हैं (हम बाद को इसका ब्यौरा देंगे) किन्तु, यह तो उस युग की बात थी जब पूँजीवाद स्वयं एक निर्यातित शक्ति थी। ज्योंही पूँजीवाद अधिकारारूढ़ हो गया, उसके लेखकों में परिवर्तन की सूचना हुई। अब तक उन्हें यह दिखाना था कि सामन्तवाद एक अस्थायी सामाजिक व्यवस्था है, इसलिए वे वर्ग-संघर्ष का प्रतिपादन करते रहे, किन्तु अब तो उन्हें यह दिखाना था कि पूँजीवाद चिरन्तन है, उसमें कोई क्षय नहीं है, इसलिए उनकी रचनाओं का आधारभूत सुर बिलकुल बदल गया। अब यह दिखाया जाने लगा कि पूँजीवाद सभी देशों में और सभी युगों में रहा है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पहले के पूँजीवादी (और उस समय पूँजीवाद चूँकि क्रान्तिकारी था, इसलिए हम कहेंगे, क्रान्तिकारी पूँजीवादी) तत्त्ववेत्ता यदि यह सुनते कि सामन्तवाद चिरन्तन है तो वे कितना चौंकते ? जो कुछ भी हो इ० मेयर, वेलारख, पोलमान, रोस्टोवस्टेव आदि लेखक पूँजीवाद को प्राचीन यूरोप में, मध्ययुगीन इतिहास में, प्राचीन जर्मनों में तथा शारलमेन (charlemagne) के राज्य में पाते हैं। 'फ्रेंच इतिहास-वेत्ता हाउसेर इसी प्रकार सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदी में विकसित पूँजीवाद का अस्तित्व देखते हैं, और इस प्रकार वे जहाँ तक हो सका है पूँजीवाद के जन्मकाल को पीछे की ओर घसीट ले जाते हैं, जिससे यह दिखाया जा सके कि आज की समस्याएँ कोई आज की समस्या नहीं है, बल्कि युग-युग से यही समस्याएँ रही हैं।' स्वाभाविक रूप से ऐसे लेखकों का यह भी कहना है कि चूँकि पूँजीवाद बराबर से था, इसलिए बराबर रहेगा। इन लोगों का कहना है कि जातियाँ आईं और गईं, पृथ्वी का चेहरा बार-बार बदला, मानचित्र के रंगों में परिवर्तन हुए, किन्तु पूँजीवाद बराबर से है, और बराबर रहेगा। १९१३ में गेरलिख ने पूँजीवाद का इतिहास तथा 'सिद्धान्त' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने दिखलाया कि पूँजीवाद चिरकाल से सब जातियों में रहा है। डाप्स नामक विद्वान् ने इस बात को अपने लेखों तथा व्याख्यानों में बराबर कहा है।

सोम्बार्ट नामक कथित मार्क्सवादी लेखक ने अपना यह अजीब सिद्धान्त पेश किया है कि पूँजीवाद के साथ-साथ पहले के युग की दस्तकारी छोटी कृषक आर्थिक पद्धति, साथ ही पूँजीवाद के बाद के युग की सहकारी समितियाँ राष्ट्र, म्युनिसिपल कारखाने, मिश्रित सार्वजनिक धन्धे मौजूद रहे हैं, और रहेंगे। उनका तो कहना है कि मज़दूरों की हालत खुद ही सुधरेगी। असली बात तो यह है कि वे वर्ग-संघर्ष के इस तार्किक उपसंहार से घबड़ाते हैं कि पूँजीवाद का भी उसी प्रकार से नाश होना अनिवार्य है, जिस प्रकार से सामन्तवाद का नाश हुआ। इसलिए वे इससे बचने के लिए अजीबोग़रीब सिद्धान्त पेश करते हैं। सोम्बार्ट के भौतिकवाद की तो यह हालत है कि स्पिरिट या भावना पर विचार इतिहास को आगे ले जाते हैं। यदि यह भौतिकवाद है तो भाववाद क्या है ?

२१—इतिहास स्वान्तःसुखाय—तथ्यों का खब्त—जर्मनी के बुर्जुआ इतिहास लेखकों में शीर्ष स्थानीय विद्वान् रान्के इतिहास में केवल तथ्य ही तथ्य—तथ्यों का एक अन्त हीन ताँता देखते हैं। इनको इन तथ्यों से किसी प्रकार किसी सामान्य नियम का पता लगाने की ज़रूरत नहीं, इसलिए मार्क्स ने इनके सम्बन्ध में कह दिया था कि ये बस कहानियों को इकट्ठा करते हैं, और तमाम बड़ी घटनाओं को तुच्छता तथा बेहूदगी में परिणत करते हैं। इन लोगों को केवल तथ्य से मतलब है। कहना न होगा, ऐसे लोगों के हाथों में पड़कर इतिहास एक निष्प्राण दन्तकटाकटी मात्र हो जाती है। इन लोगों को केवल यह जानना है कि अमुक तथ्य क्या है। रान्के तथा उनके शिष्यों के लिए घटनाओं का सही वर्णन—चाहे वे घटनायें कुछ भी हों—उच्चतम नियम हैं। ऐसे लेखकों को कदाचित् यह जानने का अवकास नहीं है कि एक ही घटना भिन्न-भिन्न लोगों की आँखों में भिन्न रूप से अर्थपूर्ण हो जाती है। जब मज़दूर एक कारखाने के नज़दीक या उसके सामने हड़ताल करने हैं, और मज़दूरों पर गोली चलाई जाती है, तो इस घटना को मजदूर और पूँजीपति बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। घटना को अवश्य ही देखना पड़ेगा, किन्तु घटना की पृष्ठभूमि को भी भुलाया नहीं जा सकता। क्या यह सम्भव है कि निष्प्राण तथ्यों को पिरोकर इतिहास बने ? ऐसा तो नहीं ज्ञात होता, इसलिए रान्के का तथ्यों के सम्बन्ध में जो पागल-पन है, वह समझ में नहीं आता। इसे हम केवल एक तरह की लीपापोती ही

समझ सकते हैं। अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन होना चाहिए, किन्तु हम इन तथ्यों के कंकाल में रक्त संचार तभी कर सकते हैं जब किसी प्रगतिशील दृष्टिकोण को लेकर इतिहास को समझा लिखा—जाय। रान्के के शिष्यों में माइनेके (Meinecke) ने यह लिखा है कि इतिहास का उच्च उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों का विशुद्ध मनन है, क्योंकि इस पवित्र मन्दिर में और शान्त आश्रम में बैठकर आत्मा को जीवन के अन्धकारपूर्ण और दुःखमय पहलुओं से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार इन लोगों के हाथों में पड़कर इतिहास का पठन-पाटन एक अध्यात्मवादी तुरीयानन्द का रूप धारण कर लेता है, और एक रोगग्रस्त प्रवृत्ति के अतिरिक्त उसमें कुछ रह नहीं जाता। इतिहास ऐसे लोगों के निकट स्वान्तः सुखाय है। कहाँ मार्क्स का यह मानवीय—वैज्ञानिक आदर्श जो यह बतलाता है कि इतिहास के अध्ययन का हमारा उद्देश्य इतिहास को बदल सकने के लिए है, और कहाँ यह रोगग्रस्त प्रवृत्ति कि इतिहास स्वान्तः सुखाय है। कहाँ वह क्रान्तिकारी नारा, और कहाँ यह अकर्मण्य आदर्श ?

२२—इतिहास का आधुनिक मनुष्य केन्द्रवादी सिद्धान्त—टयूमिनियेफ ने यह दिखलाया है कि डेलवाक्र नामक एक जर्मन इतिहासवेत्ता का यह कहना है कि वे मनुष्य का वासस्थान होने के कारण पृथ्वी के इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं। उनका कहना है कि 'मनुष्य शरीर में ही दिव्यशक्ति अपने को मुक्त कर सकती है, तथा सुदूर स्थित सूर्य और नक्षत्र इसलिए हैं जिससे कि मनुष्य यह कह सके कि यह नक्षत्र खचित आकाश मेरे सिर पर है और हममें ईश्वरीय नियम है।' एक दूसरे रूप में यह मतवाद मध्ययुग के उस मतवाद का पुनरुद्धार मात्र है जिसमें यह कहा जाता था कि पृथ्वी जगत का केन्द्र है, सूर्य उसी की प्रदक्षिणा करता है; क्योंकि मनुष्य इसमें निवास करता है। कहना न होगा यह मतवाद इतिहास ऐसे जीवन से ओतप्रोत विषय को बिलकुल नपुँसक बनाकर उसे अध्यात्मवाद के रथ में जोत देता है। इससे इतिहासाध्ययन की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति जाती रहती है, यह तो स्पष्ट ही है।

२३—क्रोचे का द्रष्टगट सिद्धान्त—आधुनिक लेखकों में क्रोचे बहुत बड़े

विद्वान् हैं। कुछ दिनों वे मार्क्स में भी दिलचस्पी रखते थे। क्रोचे की दृष्टि में 'इतिहास मृत है, यह वहीं तक जीवित है, जहाँ तक यह हमारा ध्यान अपनी ओर खींच सकता है, और उसका विषय हो सकता है। यह भी तभी तक के लिए जब तक हमारा ध्यान उस पर केन्द्रित होता है। प्राचीन ग्रीक और रोमन शान्तिपूर्वक तब तक अपनी क़ब्रों में सड़ते रहे, जब तक रेनेमांस या पुनरुज्जीवन को युग ने आकर पुनरुज्जीवित नहीं किया। जर्मन वर्बर भी भुला दिये गये थे, किन्तु रोमान्टिक युग ने उन्हें पुनरुज्जीवित किया।' इस प्रकार क्रोचे के निकट इतिहास द्रष्टगत है। उनके निकट इतिहास का कोई जीवनप्रद अस्तित्व नहीं है। वह केवल मानसिक कसरत का एक क्षेत्र है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि क्रोचे के विचार अन्य बुर्जुआ लेखकों से अधिक प्रगतिशील है, क्योंकि उसमें फिर भी मृतकाल को वर्तमान के द्वारा जीवित करने की बात है, किन्तु बस यहीं तक। वे भविष्यकाल तक नहीं जाते।

ए० आई० ट्यूमेनयेफ ने इस बात की एक सूची सी तैयार कर दी है कि कौन से बुर्जुआ विद्वान् किन शक्तियों को इतिहास की परिचालिका शक्ति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि 'कई लेखक सामाजिक नियम का जीवविज्ञान के नियमों में (हमप्लोविच—नस्लसिद्धान्त—समाजिक सहजात प्रवृतियों का सिद्धान्त तो विशेषकर अमेरिका में फैला हुआ है), कई शरीर विज्ञान के नियमों में (समाजशास्त्र में अवयवगत सिद्धान्त यानी Organic theory in sociology) और अन्त में बहुत से लेखक तो अक्सर मनोविज्ञान तथा विभिन्न मानसिक गुणों की अभिव्यक्ति तथा क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में इतिहास को देखते हैं। कुछ तो यह कहते हैं कि मनुष्यों की योग्यताओं और सर्वोपरि मानवीय बुद्धि का विकास (डेयर, वकल), कई वैयक्तिक मनोविज्ञान (तार्क, लाकोंब्र, पालां, सिमेल, वार्ड, वाल्डविन), कई सामूहिक मनोविज्ञान और सामूहिक चेतना (डूर्कहाइम, टेनिस, लामप्रेख्त), कई जातीय मनोविज्ञान को (लेवन, फुलियर, लाजारस, स्टाइन्थहार्लं, वुन्डट), कई जनमन विज्ञान, भीड़ मनोविज्ञान जिसे नकारात्मक पहलुओं से चित्रित किया गया है (तार्द, लवाँ, सेगाल, लेनोब्र, एन० के० मेरवोलवस्की), तथा मग्नमन को (फ़ायड) कई बाहरी भौगोलिक

परिस्थिति का मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक परिस्थितियों पर जो असर होता है, उसे (वकल तथा राट जेल का नर भौगोलिक मतवाद) इतिहास की प्रधान शक्ति मानते हैं, इन्हीं समस्याओं को लेकर बुर्जुआ लेखक काय माथा-पच्ची किया करते हैं।'[१] यदि टचूमिनेयेफ की सूची को देखा जाय, और उसका विश्लेषण किया जाय तो वह कुछ थोड़े से मदों में आ सकती है। इनमें से मुख्य मतवादों पर इस अध्याय में विचार हो चुका है, कुछ पर हम बाद को विस्तार के साथ विचार करेंगे।

---

१ M. M. T. p. 260.

इतिहास का हेगेलीय सिद्धान्त

१—मार्क्सवाद विज्ञान भी और कर्त्तव्यशास्त्र भी—ऐतिहासिक भौतिकवाद का सबसे मुख्य प्रतिपाद्य और कदाचित् उसका सार भाग यह है कि जिस प्रकार हम प्रकृति के नियमों को जानकर प्रकृति को नियंत्रित कर सकते हैं, उसी प्रकार हम समाज की गति को जानकर समाज को नियंत्रित कर सकते हैं। अन्य सब तरह के समाज शास्त्री केवल समाज की व्याख्या भर करते हैं, किन्तु मार्क्स के समाजशास्त्र का उद्देश्य दुनिया को जानकर उसे बदलना है। मार्क्सवाद इसलिए न केवल एक विज्ञान है, बल्कि यह एक कर्त्तव्यशास्त्र भी है, अर्थात् यह हमें बतलाता है कि हमें क्या करना चाहिए। लेनिन ने मार्क्सवाद के इस पहलू को स्पष्ट करते हुए यह लिख दिया है कि मार्क्सवाद न केवल अन्य समाजशास्त्रों से बल्कि अन्य समाजवादों से इस अर्थ में भिन्न है कि 'उसमें विकास की दृश्यगत प्रक्रिया तथा दृश्यगत अवस्थाओं का न केवल एक सही वैज्ञानिक विश्लेषण है, बल्कि उसके साथ-साथ जनता, व्यक्ति, गुट, संगठन तथा ऐसे दलों की (जो जनता के साथ सम्पर्क कायम कर सकती है) क्रान्तिकारी क्रियाशीलता, क्रान्तिकारी सृजन शक्ति तथा क्रान्तिकारी कर्मशक्ति के महत्त्व की बहुत जोरदार स्वीकृति पाई जाती है।'[१] सामाजिक शक्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण स्वयं एक बहुत बड़ी बात है, किन्तु यदि इसके साथ-साथ उसमें इस बात का स्पष्टता पूर्वक निर्देश न दिया गया हो कि कर्त्तव्य क्या है तो वह बहुत कुछ जीवनहीन शुष्क वितंडा मात्र होगा।

वैज्ञानिक समाजशास्त्र केवल समाज की गति का दिग्दर्शन कराकर, उसकी गति का रहस्योद्घाटन कर चुप नहीं रहा जाता, बल्कि वह इसके साथ ही मनुष्य को आगे के कर्त्तव्य के लिए भी उद्बुद्ध करता है। जहाँ तक वह केवल पहले कार्य को करता है, यानी वैज्ञानिक तरीके पर समाज की गति का मर्मोद्घाटन करता है, और दृश्यमान अनियम के अन्दर नियम का अखंड राज्य

१ D. M. A. p. 75

स्थापित कर देता है, वहाँ तक वह एक विज्ञान है, किन्तु इसी में उसके कर्त्तव्य की इति नहीं हो जाती। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के आविष्कार के पहले के युगों के दार्शनिकों का कार्य केवल मानसिक उड़ानों के सहारे विश्व की व्याख्या करना था। तरह-तरह से दिमाग़ दौड़ाकर बाल की खाल निकालकर, दूर-दूर की कौड़ियाँ लाकर वे केवल व्याख्या से ही सन्तुष्ट रहने थे, किन्तु वैज्ञानिक समाजशास्त्र ने न केवल इनकी विज्ञान-सम्मत बल्कि वास्तविकता सम्मत व्याख्या की अर्थात् वास्तविकता से नियम निकाले और इस व्याख्या को व्यवहारिक इतिहास की कसौटी पर सही साबित किया। सच बात तो यह है कि इतिहास ने पहले-पहल एक सिलसिला स्थापित किया, बल्कि इसके साथ ही उसने किये गये विश्लेषण के आधार पर यह बताया कि समाज की गति आगे इस ओर रहेगी, और इस प्रकार के कार्य करने से समाज की शक्तियों को विकसित करने में सहायता देना होगा।

२—इतिहास की गति किस ओर है, जानना सम्भव—बोल्शेविक दल का उदाहरण—किस ओर जाने से समाज की उत्पादनशक्तियाँ विकसित होंगी, इसे वैज्ञानिक समाजशास्त्र बड़े परिश्रम से बताता है। प्रगति और प्रतिक्रिया की परिभाषा के लिए यह ज़रूरी है कि हम जानें कि समाज की गति किस ओर है। वर्तमान समय में वह किस ओर है, यह जानना तो बहुत ही ज़रूरी है। इस गति ज्ञान के बगैर हम कैसे जान सकेंगे कि क्या प्रगति है और क्या प्रतिक्रिया है? प्रगति और प्रतिक्रिया ये दोनों शब्द तुलनात्मक हैं। प्राचीन दर्शन शास्त्रों में यहाँ तक कि अपने युग के लिए प्रगतिशील दर्शनशास्त्रों की भी यह मौलिक गलती थी कि वे गतिहीन रूप से प्रगति और प्रतिक्रिया की कल्पना करते थे, किन्तु वैज्ञानिक समाजशास्त्र की विशेषता यह है कि इसमें प्रगति की भी प्रगतिशील परिभाषा की जाती है। इसलिए किसी विशेष युग में क्या प्रगतिशील है और क्या प्रतिक्रियावादी है इसे जानने के लिए उस युग की सामाजिक, आर्थिक शक्तियों का प्रवाह किस ओर है, जमाने की चाल किधर को है, यह जानाना ज़रूरी है। रहा यह कि इतिहास की गति किस ओर है, इसे पहले से जानना सम्भव है या नहीं, इस पर तर्क हो सकता है। ट्राटस्की ने अपनी पुस्तक 'रूसी क्रान्ति' में इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। उन्होंने

लिखा है कि एक क्रान्तिकारी अपनी सारी कार्यपद्धति को इस बात के आधार रूप में मानकर चलता है कि इतिहास के गति के रुख को पहले से न केवल जानना बल्कि उसको नियंत्रित करना भी सम्भव है। 'बोल्शेविकवाद की ऐतिहासिक गति ने इस बात को प्रमाणित कर दिखला दिया कि इस प्रकार से पहले से हिसाब लगाना तो कम से कम एक मोटे तौर पर सम्भव है ही।' एक क्रान्तिकारी युग में जब हर घड़ी परिवर्तन हो रहे हैं, उस समय हवा किस ओर बह रही है तथा किस ओर बहेगी, इन दोनों बातों को मोटे तौर पर जाने बग़ैर सही मान में कोई नेतृत्व नहीं हो सकता। दल का तथा नेता का कर्त्तव्य यही है कि वह इस रुख को पहिचाने, इसके विरोध में खड़ी शक्तियों तथा सहयोगी शक्तियों को जाने, और तब अपने मोहरों को चलावे। इसलिए इसका ज्ञान बहुत ही आवश्यक है। ऐसे ज्ञान के लिए प्रत्येक वर्ग के क्या हित हैं, तथा उसकी भावुकतायें किस ओर जा सकती हैं, इसे जानना बहुत जरूरी है। यह बात सही है कि इस प्रकार का ज्ञान बहुत ही कठिन है, स्वयं मार्क्स और एंगेल्स कई बार घटनाओं को, उदाहरणार्थ १८४८ में योरप में क्या होने जा रहा है, इसे ब्यौरे में नहीं समझ पाये,* तभी तो इस ज्ञान को प्राप्त करने

---

* एंगेल्स ने 'फ्रांस में वर्गयुद्ध' की भूमिका लिखते हुए एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह यह मान लिया कि 'इतिहास ने हमें गलत प्रमाणित किया, और दिखला दिया कि हम उन दिनों जो बात रखते थे, वह भ्रान्त था। इतिहास इससे भी आगे गया, इसने न केवल हमारी इस ग़लती को सुधार दिया, बल्कि इसने उन परिस्थितियों को बिल्कुल बदल दिया, जिनमें आगे सर्वहारा वर्ग को संग्राम करना पड़ेगा'। १८४८ के सम्बन्ध में इनकी जो ग़लती थी, वह यह थी कि वे उस समय के सर्वहारावर्ग की जागृति को देखकर यह समझते थे कि सर्वहारा क्रान्तियाँ होने ही वाली हैं, किन्तु एक तो सर्वहारावर्ग अभी इस योग्य नहीं हुआ था कि राष्ट्र की बागडोर अपने हाथों में ले सके, दूसरे अभी तक पूँजीवादी वर्ग उन्नतिशील था इसलिए उसका विनाश नहीं हो सकता था। १८४८ से लेकर उद्योगधन्धों में जो वृद्धि हुई, उसी के कारण प्रतिक्रिया का युग आया। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि अभी मार्क्स और एंगेल्स ने अपने सिद्धान्त का केवल प्राथमिक रूप से ही प्रतिपादन किया था।

के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है। जनजागृति के घनत्व में तथा स्वयं जनता को बनानेवाले अंशों में क्या/दिनानुदैनिक परिवर्तन/हो रहे हैं, वर्गशक्तियों का किस प्रकार संतुलन बदल रहा है, इन सब बातों को जानना दल तथा नेता का परम कर्त्तव्य है। रूस के बाल्शेविक दल का इतिहास तो इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार से इतिहास के नियमों को जानकर इतिहास निर्माण करना सम्भव है, इसलिए १९१७ की क्रान्ति के बाद से मार्क्स-एंगेल्स द्वारा पद्धतिगत रूप से आविष्कृत समाज गतिशास्त्र एक प्रतिष्ठित ज्ञान की मर्यादा प्राप्त कर चुका है।

जनता जब किसी क्रान्ति में कूद पड़ती है, तो वह यह सोचकर नहीं कूदती कि वह क्रान्ति कर रही है, बल्कि वह एक तीव्र भावना को लेकर चलती है कि अब आगे चीजें उसकी सहनशक्ति के बाहर हैं। इसी लिए यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि सज्ञानरूप से चीज़ों को चलाया जाय, और इसके लिए यह ज़रूरी है कि सही ढंग से चीज़ों को समझा जाय।

३—वैज्ञानिक समाजशास्त्र एक विज्ञान है—अमुक समय चन्द्र या सूर्य ग्रहण होगा, अमुक समय अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा यह ज्योतिष से बतलाया जा सकता है। इसी प्रकार बाढ़, आँधी, पानी आदि के सम्बन्ध में भी विज्ञान भविष्यवाणी करने लगा है, यद्यपि अभी वह पूर्ण विज्ञान नहीं हुआ है। क्या इसी प्रकार सामाजिक शक्तियों के सम्बन्ध में भी कहना सम्भव है कि अमुक दिन इतने बजकर इतने मिनट पर क्रान्ति होगी? यदि नहीं तो फिर समाजशास्त्र को विज्ञान कैसे कहा जा सकता है? बात यह है कि सूर्य ग्रहण ऐसी घटनाओं में मनुष्य की इच्छा का कोई सवाल नहीं उठता। वे इच्छाओं से स्वतंत्र रूप से घटित होते हैं, किन्तु समाज की गति के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती, बल्कि समाज की गति मनुष्यों की इच्छा पर भी निर्भर है, अवश्य अन्तिम विश्लेषण में मनुष्यों की ये इच्छाएँ भौतिक कारणों पर निर्भर हैं, किन्तु जब वे एक बार जन्म ले लेती हैं, तो वे एक हद तक एक स्वतंत्रशक्ति भी हो जाती है। मार्क्सवाद इन इच्छाओं से इन्कार नहीं करता, बल्कि उनकी व्याख्या करता है अर्थात् उनके अन्तर्निहित कारणों का उद्घाटन करता है। समाजशास्त्र अभी इतनी हद तक विज्ञान तो हो ही चुका है कि वह

हमें बतला सकता है कि घटनाओं का रुख किस ओर है, किन्तु अभी घड़ी और मिनट का निर्णय करना कठिन है, फिर भी यदि रीड़ की बात का वि विश्वास किया जाय तो लेनिन ने नवम्बर क्रान्ति के विषय में पहले ही से कहा था कि ६ तारीख को क्रान्ति करना जल्दी बहुत करना होगा, और ८ को करना बहुत देर कर देना होगा, अतएव ७ ही को सर्वहारा का हमला हो जाना चाहिए। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि एक सुलझा हुआ नेता घड़ी और मिनट का भी निर्णय कर सकता है। जैसे अणुवीक्षण यंत्र का इस्तेमाल सभी नहीं कर सकते इसके लिए शिक्षाप्राप्त आँखें चाहिये, उसी प्रकार समाजविज्ञान के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति बिल्कुल सही सही भविष्य वाणी नहीं कर सकता। केवल एक सुलझा हुआ नेता अधिक से अधिक तथ्यों को ख्याल रखकर ही किसी निर्दिष्ट निर्णय पर पहुँच सकता है। अभी यह आशा करना गलत है कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसे जटिल शास्त्र का प्रयोग इस हद तक कर सकेगा कि वह भविष्य वाणी करने में समर्थ हो। अतएव और किसी बात की आलोचना करने के पहले हम मनुष्य समाज के विकास पर वैज्ञानिक, ऐतिहासिक दृष्टि डालेंगे।

४—हेगेल ने ही पहले पहल इतिहास को विकासमान प्रक्रिया रूप में देखा—हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मार्क्स के पहले इतिहास लेखन कला में बड़ी ही अन्धा धुन्धी फैली हुई थी। सच बात तो यह है कि मार्क्स के पहले हेगेल (१७७०-१८३१) ने इतिहास को सिलसिले के अन्दर लाने की कोशिश की, यद्यपि अपने भाववादी विचारों के कारण वे इसमें पूर्णतः सफल नहीं हो सके, किन्तु उन्होंने जिस नींव की स्थापना की मार्क्स ने उसी का इस्तेमाल कर इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या में सफलता प्राप्त की। इस सम्बन्ध में हेगेल की सेवायें महान हैं, साथ ही हेगेल को समझने पर मार्क्स को समझना आसान होगा, इसलिए हम कुछ विस्तार के साथ हेगेल के मत का दिग्दर्शन करायेंगे। हेगेल को यहाँ तक कि उनके इतिहास सम्बन्धी मतवाद को समझने के लिए उनकी द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझने की आवश्यकता है।

५—हेराक्लिटस की द्वन्द्ववादी पद्धति—हेगेल से २५०० वर्ष पहले हेराक्लिटस (५४०-४७५ ई० पू०) के तर्कशास्त्र में द्वन्द्वात्मक पद्धति भ्रूण रूप से मौजूद थी। हेराम्लिटस ने निरवच्छिन्नता की ऊल जुलूल धारणा को

नष्ट कर दिया, और कहा कि 'प्रत्येक वस्तु बराबर परिवर्तन की प्रक्रिया में है। सभी चीजें हैं भी और नहीं भी हैं, क्योंकि यद्यपि वास्तव में प्रत्येक चीज मौजूद है, किन्तु साथ ही वह खतम भी हो रही है।' हेराक्लिटस ने कहा कि हम एक नदी में दोबारा प्रवेश नहीं कर सकते। इस कथन की क्रान्तिकारी सम्भावना बहुत महान् है। इसी को मानो जारी रखते हुए उन्होंने कहा था कि 'जो आम है वही सत्य है, जो अपवाद है वही मिथ्या है। जो मरणशील मन की समझ के बाहर है, वह सत्य नहीं है, बल्कि स्वप्न है, ज्ञान नहीं है, भ्रम है।'[१] हेराक्लिटस ने नास्तित्व से अस्तित्व तथा अस्तित्व से नास्तित्व में घटनाओं के क्रमागत रूप से परिवर्तन की बात कही थी। साथ ही उन्होंने यह कहा था कि एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन हो रहा है। विरोधी वस्तुओं की एकता से उनका विभाजन तथा विभाजन से फिर एकता में आना जाना लगा रहता है। हम देखेंगे कि इस प्रकार हेराक्लिटस के मत में बीज रूप से हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मौजूद थी। हेगेल ने स्वयं भी माना है कि उनका जो प्रसिद्ध सिद्धांत है Sein und Nichtsein is dasselbe अर्थात् होना या न होना एक है, वह हेराक्लिटस के मतवाद में आ चुका था।[२]

६—प्राक हेगेल युग में द्वन्द्ववाद—उच्छवृतिवादी दार्शनिक जेनो (ई० पू० पंचम शताब्दी) ने भी गति की असंगतियों का वर्णन किया था। उनका कहना था कि यदि एक तीर चल रहा है, तो वह वहाँ नहीं है जहाँ था, यदि वह नहीं चल रहा है तो वह वहीं है जहाँ था। इस प्रकार उन्होंने गति की असंगति को व्यक्त किया था। एक दूसरे ग्रीक दार्शनिक प्रोटागोरस (ई० पू० पंचम शताब्दी) ने सेम्सटस इम्पीरगस के अनुसार यह कहा था कि 'भूत चिरन्तन परिवर्तन के अन्दर रहता है। इसमें क्रमशः वृद्धि तथा क्षति होती है। इद्रियानुभूतियाँ भी बराबर उम्र तथा शरीर की अवस्था के अनुसार बदलती रहती हैं।' इसी प्रकार अन्य कई ग्रीक दार्शनिक हेगेल के पहले ही द्वन्द्वात्मक पद्धति तथा विश्व की सतत परिवर्तन शीलता के विषय में उपसंहार पर पहुँच चुके थे। इनमें से अरस्तू ने द्वन्द्वात्मक विचार के अपरिहार्य स्वरूपों का विश्लेषण किया था। 'दूसरी तरफ यूरोप के नवीन दर्शन में यद्यपि डेकार्ट और

१ B. H. P. p. 59 २ Ibid p. 59

स्पिनोजा द्वन्दात्मक तर्क शैली के मानने वाले थे, किन्तु फिर भी वह अँग्रेजी विचारधारा के प्रवाह में बिल्कुल अचल हो चुकी थी।.....संकुचित क्षेत्र में दार्शनिक क्षेत्र के बाहर भी फ्रेन्चों में इस तर्कशैली के कई अच्छे ग्रन्थ लिखे गये। यहाँ पर केवल दिदरों लिखित Le neveu de Rameau तथा रूसो लिखित 'असामानता की उत्पत्ति' का उल्लेख करना ही यथेष्ट है।[१]

७—हेगेल प्रथम वैज्ञानिक द्वन्द्ववादी—हेगेल के पहले ही हेगेल की तर्कपद्धति अविकसित रूप में मौजूद थी, किन्तु फिर भी उसको एक वैज्ञानिक रूप देने का तथा विरोधी वस्तुओं की एकता के तार्किक नियमों को स्थापित करने का एक मात्र गौरव हेगेल को दिया जाना चाहिए। हेगेल की यह तर्क शैली क्या है, और वह किस प्रकार इतिहास की व्याख्या पर लागू की जाती है, इसे हम देखेंगे।

आम तौर से यह समझा जाता है कि दो विरोधी बातें एक दूसरे के सम्पूर्ण वहिर्भूत हैं, जैसे यह समझा जाता है कि अस्तित्व के विचार में नास्तित्व नहीं आता है। हेगेल ने कहा कि इस प्रकार की तर्कना गलत है, उन्होंने कहा कि प्रत्येक बात असंगतियों से पूर्ण है, असंगति ही उसके अस्तित्व का सार भाग है, यह एक बात या वस्तु इसलिए मौजूद है कि उसमें विरोधी बातों की एकता है। हेगेल के अनुसार पहला स्थूल विचार होना (seiu) है। इसका विपरीत विचार न होना (nichtseiu) है। हेगेल कहते हैं कि इन दोनों को मिला दो तो वह अस्तित्व—becoming (werdeu) हो जाता है, और यह जो werdeu है, वह एक वास्तविकता है। बहुत संक्षेप में हेगेल की द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति यही है। अब यह पूछा जाय कि ऐसा कैसे होता है तो इसका कोई उत्तर हेगेल नहीं देते। 'हेगेल केवल इतना उत्तर देते हैं कि इस प्रकार यह वास्तविकता हो जाती है, किन्तु उससे प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।'

८—होना और न होना एक है—इसका हदाहरण—इतने से शायद स्पष्ट न हो इसलिए हेगेल का दिया हुआ एक उदाहरण भी दिया जाता है। उनका कहना है कि विशुद्ध रोशनी में यानी ऐसी रोशनी में जिसमें रंग या छाया का

१ A. D. E.

नाम नहीं है, हम कुछ भी नहीं देख सकते। हम इसी प्रकार निरवच्छिन्न अन्धकार में कुछ नहीं देख सकते। इस प्रकार निरवच्छिन्न रोशनी निरवच्छिन्न अन्धकार के साथ एक है। हेगेल का कहना यह भी है कि होना और नहोना अर्थात् एक बात तथा उसकी विरोधी बात, अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों एक हैं। इस बात का वे यों प्रतिपादन करते हैं कि होने की हम विशुद्ध रूप से कल्पना नहीं कर सकते। इसी प्रकार हम न होने की भी विशुद्ध रूप से कल्पना नहीं कर सकते; अतएव दोनों एक हैं। दिये गए उदाहरण में भी अन्धकार तथा विशुद्ध रोशनी एक है। इसी को हेगेल ने विरोधी बातों की एकता कहा है। इसके बाद हेगेल का कहना यह है कि विशुद्ध अन्धकार तथा विशुद्ध रोशनी दोनों को मिला देने से यानी एक वस्तु को उसके विपरीत से मिला देने पर तीसरी चीज़ की उत्पत्ति होती है, और वह तीसरी वस्तु हमारे लिए ऐसी रोशनी बनती है जिसमे हम देख सकते हैं। इसी से हेगेल का कहना है कि विरोध के बग़ैर कोई चीज़ उत्पन्न नहीं होती।

५—हेगेल में भाव का स्वरूप और उसके विकास की प्रक्रिया—हेगेल की द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति की इन बातों को यदि हम गले से उतार लें, तो उनकी क्रिया यों शुरू होती है। भाव (idea) एक वास्तविकता है, और वह द्रष्टा का विचारमात्र नहीं है। इस भाव में अन्तर्निहित क्रियाशीलता है। वह उसे विकसित होने के लिए आगे बढ़ाती है। यह विकास विरोधों की एकता से होता है। इसलिए एक भाव के बजाय विरोधी भाव को लेकर दो भाव हो जाते हैं, किन्तु प्रक्रिया यहीं पर खतम नहीं होती। अब प्रतिषेध का प्रतिषेध (negation of negation) होता है, और पहला भाव अपनी आदिम शक्ति में लौट जाता है, किन्तु वह वहीं नहीं है, जहाँ पहले था। इस प्रकार प्रतिषेध के प्रतिषेध से केवल प्रथम प्रतिषेध का ख़ातमा नहीं होता बल्कि साथ ही साथ उसकी रक्षा भी होती है। 'मूल जर्मन में aufheben शब्द होने के कारण इस शब्द क्रीड़ा में सहूलियत होती है। aufheben शब्द का मतलब दमन करना और साथ ही साथ रक्षा करना है।' प्रतिषेध के प्रतिषेध के फलस्वरूप जो नई बात आती है, उसमें पहले वाली विरोधी बात को भी ज़ज्ब कर लिया गया है। हम चलते हुए यह कह सकते हैं कि हेगेल की ईश्वर की जो धारणा है, वह

यह है कि ईश्वर दर्शनशास्त्र में अपने विषय में सज्ञान होते हैं, और इस प्रकार अपने उच्चतम विकास को प्राप्त कर लेते हैं। अपने विषय से बाहर होने के कारण हम इस ओर अधिक नहीं जाएँगे, किन्तु इतना बता देना ज़रूरी है कि हेगेल अपने द्वन्द्ववादी नियम के क्षेत्र में स्वयं ईश्वर को भी ले आने से नहीं छोड़ते।

१०—परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन—हेगेल के तर्कशास्त्र में एक और मौलिक नियम यह है कि किसी वस्तु के अन्दर जो परिमाणगत या मात्रागत परिवर्तन होता है, वह जाकर गुणगत परिवर्तन हो जाता है। गुणगत परिवर्तन का यह मुहूर्त छलांग का मुहूर्त है। लोग साधारणतः कहते थे कि Historia non facit saltus इतिहास में छलांगे नहीं हुआ करती, फिर भी क्रान्तियाँ होती ही हैं। हेगेल ने प्रति पक्षियों की आलोचना का उत्तर देते हुए कहा था, 'यह कहा जाता है कि प्रभृति में छलांग नहीं होती। साधारण रूप में जब उत्थान या विनाश की कल्पना क्रमिक रूप से की जाती है, तभी वह ठीक समझी जाती हैं। किन्तु हम देखते हैं कि होने का परिवर्तन केवल आम तौर पर एक परिमाण से दूसरे परिमाण में परिवर्तन नहीं है, बल्कि परिमाण से गुण और गुण से परिमाण में परिवर्तन होता है। ठंडा किए जाने पर पानी धीरे-धीरे कीचड़ की तरह शक्ल से कठिन होकर बर्फ नहीं होता, बल्कि एकाएक कठिन हो जाता है। सच बात तो यह है कि जमने के विन्दु पर पहुँचने पर वह तरल रह सकता है (यदि वह निश्चल रहे), किन्तु ज़रा भी हिलाते ही वह फौरन कड़ा हो जाता है।'[१]

११—ब्राउनीय गति और मात्रागत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन—मार्क्स ने हेगेल ही से यह विचार लिया था कि द्वन्द्व के जरिए से विश्वास होता है। इसलिए यह विचार मार्क्सवादी विचारधारा का भी एक प्रमुख अंग है। लेवी ने विज्ञान के क्षेत्र से इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। "विज्ञान में ब्राउनीय गति (Brownian movement) नाम से एक गति है। किसी तरल पदार्थ में भूत के बहुत छोटे परमाणु डाल दिए जाते हैं, उस तरल पदार्थ को बड़ी देर तक स्थिर रखा जाता है, और जहाँ तक सम्भव होता है किसी चीज से उसे हिलने या हवा लगने नहीं दिया जाता। जब काफी देर

१ Logic by Hegel book I quoted in E. H. M.

के बाद यह समझा जाता है कि वह पदार्थ स्थिर हो गया है, तब उसको अनु-वीक्षण यंत्र से देखा जाता है। ऐसा करने पर ऐसा मालूम होता है कि वे डाले हुए परमाणु टेढ़े-मेढ़े तरीके से झटके के साथ चल रहे हैं। यह दिखाया जा सकता है कि उनकी रफ्तार और 'मनमानी' गति तरल पदार्थ के गति शील अणुओं के साथ संघर्ष में आने की क्रिया के साथ सामंजस्य पूर्ण है। इसी को ब्राउनीय गति कहते हैं, और इसी प्रभाव पर तरल पदार्थों का आणविक (molecular) सिद्धान्त निर्भर है। जो कुछ भी हो, यदि सारे तरल पदार्थ को एक वस्तु के रूप में लिया जाय तो वह स्थिर है, किन्तु उसके अन्दर जो अणु हैं जिनसे वह बना है, वे बराबर गतिशील हैं। इस प्रकार एक ही समय में गति और विराम, आंकड़ेगत दृष्टि से विराम और आणविक दृष्टि से गति मौजूद है। अब यदि इस तरल पदार्थ को गर्मी पहुँचाई जाय, किन्तु फिर भी इसे साधारण तौर पर स्थिर रखा जाय तो उसके अन्दर की गति बढ़ती है। उस समय हम कहते हैं कि और अधिक उत्ताप जज्ब करने के कारण उसकी आन्तरिक स्फूर्ति (internal energy) बढ़ रही है।"[१] इस प्रकार उसके अन्दर के अणुओं की आपसी टक्कर बढ़ते-बढ़ते इस हद तक पहुँच जाती है, जिसे हम उबाल कहते हैं। जब यह संघर्ष और जोर पकड़ती है, तो वह तरल पदार्थ भाप में परिणत हो जाता है, इस प्रकार क्रमिक मात्रा गत परि-वर्तन से एक हद पर पहुँच कर गुणगत परिवर्तन हो जाता है।

१२—रस्सी, वायलर, पत्थर, तिनका, रोटी का उदाहरण—बुखारिन ने परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन के दो एक और सहजबोध्य उदा-हरण दिए हैं। यदि एक रस्सी में कुछ वजन झुलाया जाय, और उसमें धीरे-धीरे वज़न बढ़ाया जाय, तो वह एक हद तक बढ़ते हुए वज़न को बरदास्त कर लेगी, किन्तु विन्दु पर जाकर पट से टूट जाएगी। इसी प्रकार एक वायलर में एक मात्रा तक भाप बढ़ाई जाय तो बढ़ सकती है, किन्तु उसके बाद एकाएक वायलर फट जायगा। इसी प्रकार कई आदमी मिलकर एक पत्थर को उठाने की चेष्टा करते हैं, तब एक आदमी और लगता है, किन्तु फिर भी वज़न को उठा नहीं पाते। बाद को एक दुबली बुढ़िया उसमें हाथ लगा देती है, और तब वह वज़न

१ P. M. M. p. 108-9

उठ जाता है। बुखारिन के इस उदाहरण में जो सत्य है वही दूसरे रूप में सुप्रसिद्ध अँगरेज़ी कहावत, 'It is the last straw that breaks the camel's back अर्थात् ऊँट की पीठ पर बड़े वज़न रखने पर भी कुछ नहीं होता किन्तु एक आखिरी तिनके से पीठ टूट जाती है' में है। इसमें तिनका वह विन्दु है जहाँ पर पीठ और बर्दाश्त नहीं कर सकती।/

टालस्टाय की एक कहानी में एक व्यक्ति एक के बाद एक रोटी खाता जाता है। प्रथम रोटी के खाने के बाद उसका पेट नहीं भरता, द्वितीय के बाद भी वह भूखा रहता है, तृतीय के बाद भी कुछ भूख रह जाती है, किन्तु इसके बाद ही वह एक टुकड़ा खा लेता है तो उसका पेट भर जाता है। इस पर वह अफ़सोस करता है कि क्यों उसने इतनी रोटियाँ खर्च कीं, पहले ही वह टुकड़ा क्यों न खाया। हम जानते हैं कि वह व्यक्ति ग़लती पर था। रोटियाँ विना खाये टुकड़ा काम न देता।[१]

१३—इतिहास पर हेगेल—इतिहास के क्षेत्र में अपने तर्कशास्त्र को लागू करते हुए हेगेल कहते हैं कि इतिहास मूल विचार भाव का ही दृश्यगत विकसित रूप है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह अपनी व्याख्या आप कर सचेतनता प्राप्त करता है। ऐसा वह बाद, प्रतिवाद और युक्तवाद (thesis, anti-thesis and synthesis) की प्रक्रिया से करता है। इस प्रकार हेगेल का कहना यह है और यही इतिहास के सम्वन्ध में उनके सिद्धान्त की मूलगत वात है कि विचार या भाव से ही अस्तित्व उत्पन्न होता है। हेगेल के अनुसार एक विचार आता है, और उसी विचार के अनुरूप अवस्थाएँ पैदा होती हैं। दूसरा विचार आता है, वह उससे टक्कर लेता है। फिर इन दोनों विचारों के टक्कर से एक तीसरा विचार उत्पन्न होता है, इसी प्रकार इतिहास चलता रहता है। हेगेल के अनुसार महापुरुष अपने युग के विचार के प्रतीक या अवतार स्वरूप हैं। युग का जो विचार है, वही उस युग की राजनीति, धर्म, विज्ञान, क़ानून में प्रतिफलित होता है। हेगेल इतिहास संबंधी बल्कि अपनी इस द्वन्द्ववादी तर्क पद्धति के इतने पक्के हैं कि वे ईश्वरवादी होते हुए भी यह मानने के लिए तैयार नहीं कि ईश्वर इस पद्धति से बाहर है,

१ H. M. p. 80-81

और उसने विश्व की सृष्टि की। वे कहते हैं कि दुनिया एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में ईश्वर तभी उत्पन्न होते हैं, जब निरवच्छिन्न भाव (Absolute idea) अपने आत्म विकास की प्रक्रिया को खतम कर लेता है। इन गहरे आध्यात्मिक-रहस्यवादी क्षेत्रों में जाने के बजाय, इस अवसर पर इतना ही समझना यथेष्ट होगा कि हेगेल सृष्टि को एक क्रिया नहीं मानते, बल्कि एक चिरन्तन प्रक्रिया, एक की हुई बात नहीं, बल्कि एक चिरन्तन रूप से होता हुआ आन्दोलन मानते हैं। अब यह पूछा जाय कि यह प्रक्रिया कहाँ से शुरू हुई, क्या वह कुछ भी नहीं से शुरू हुई, तो इस पर हेगेल का उत्तर पहले ही आ चुका है कि कुछ तथा कुछ भी नहीं दोनों एक हैं। यदि इसका कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि हेगेल विश्व की उत्पत्ति तथा इतिहास को एक प्रक्रिया भर मानते हैं जो आदिम प्रक्रिया से उत्पन्न हुई। स्पिनोजा की तरह हेगेल यह विश्वास करते थे कि यह विश्व एक बुद्धिसंगत पद्धति है, और इसमें भी प्रत्येक वस्तु में पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिए हेगेल के अनुसार इतिहास को समझने के लिए उसके सिलसिले तथा पूर्वापर सम्बन्ध को विकसित रूप में समझने की आवश्यकता है।

१४—**इतिहास पर यांत्रिक भौतिकवादी**—हेगेल के तर्कशास्त्र में दुर्बोधता है फिर भी 'सामाजिक घटनाओं में द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति के प्रयोग ने एक क्रान्ति ही पैदा कर दी। बिना अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है कि हम मनुष्य जाति के इतिहास को इसी के कारण नियम द्वारा नियंत्रित एक प्रक्रिया के रूप में सोचने में समर्थ हुए हैं।'[१] औरों की बात दूर रही प्राक् हेगेल युग के भौतिकवादी (द्वन्द्वात्मक नहीं यांत्रिक) इतिहास या मनुष्य समाज के विकास की कोई धारणा ही नहीं रखते थे। वे किसी युग को मूर्खतापूर्ण तथा किसी युग को कुछ और विशेषण देकर सन्तोष कर लेते थे। मनुष्य के इतिहास के विभिन्न युगों को विकास की एक लड़ी में पिरोने के विचार से वे कोसों दूर थे। फ्रेन्च दार्शनिक मध्ययुग से असन्तुष्ट थे, इसलिए वे उस युग के प्रति कुछ अपशब्द इस्तेमाल करने में ही अपनी इतिहास-चर्चा की सीमा समझते थे। 'सुप्रसिद्ध भौतिकवादी हेलवेसिपस के नजदीक मध्ययुग बेहूदगी की पराकाष्ठा थी। हेगेल

१ E. H. M, p.

ने मध्ययुग की संस्थाओं तथा तौर तरीकों की तारीफ़ के पुल तो नहीं बाँधे, किन्तु वे इस युग को मानव-जाति के इतिहास की एक अपरिहार्य कड़ी अवश्य मानते हैं। इसके अलावा वे यह भी देखते हैं कि मध्ययुग के सामाजिक जीवन की आन्तरिक असंगतियों से ही आधुनिक समाज की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार फ़्रेन्च भौतिकवादी दार्शनिक धर्म को मनुष्य के कुसंस्कारों से तथा पुरोहितों और पैगम्बरों की बेईमानी तथा ढोंग से उत्पन्न करार देकर चुप बैठ गए। उन्होंने धर्म को गिराने के लिए इतना समझ लिया था कि धर्म प्रति-क्रियावादियों के हाथों में एक शक्ति है, इसलिए उससे लोहा लेकर उसे रसातल पहुँचाना है। इससे अधिक वे नहीं जानते थे। उन लोगों ने धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की चेष्टा नहीं की, किन्तु हेगेल के द्वन्द्वात्मक भाववाद ने इस प्रकार के अध्ययन के लिए ज़मीन तैयार कर दी।

१५—य़ोरोपियनों के विचार और हेगेल—जब प्राक् हेगेल युग के दार्शनिक इतिहास का अध्ययन करने का कष्ट भी उठाते थे, तो वे ऐसा अपनी पद्धति को पुष्ट करने के पक्ष में तर्क ढूँढ़ने के लिए करते थे, या पहले की पद्धतियों को काटने के लिए करते थे, किन्तु हेगेल ने कहा कि प्रत्येक पद्धति अपने समय की आमदनी है। इस कारण प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपनी जगह पर फिट बैठता है। साथ ही उन्होंने कहा कि 'जो दर्शन सबसे बाद में पैदा हुआ है, उसे अपने से पहले के तमाम दर्शनशास्त्रों को अपने अन्त-र्मुक्त करना चाहिए, और इस बात के साथ ही साथ यदि वह और तरह से भी दर्शन नाम के योग्य है, तभी समग्रतम, व्यापकतम पद्धति हो सकेगा। हेगेल पूर्व युग में काल्पनिक आदर्श जगतों (Utopia) के सम्बन्ध में उड़ानों की भरमार थी। इस प्रकार की सैकड़ों स्वाप्निक योजनाएँ एक से एक अलौकिक परिकल्पना रूपी वर्षा में मेढ़क की तरह आविर्भूत हुईं। सर टामस मोर (१४७८-१५३५) ने यूटोपिया (शाब्दिक अर्थ न कहीं), जान विकलिफ (मृत्यु १३८४) ने राजतांत्रिक साम्यवाद, वेकन (१५६१-१६२६) ने दक्षिण द्वीप पुंज के एक काल्पनिक द्वीप को अपने स्वप्नों का आधार बनाकर एक कल्पनाराज्य, यूवान वालेन्टीन आंड्रे ने क्रिस्टिया पोलिस, टामस कैम्पानेल्सास (१५६८-१६६९) ने सूर्यपूरी, जेराड विन्स्टन ले ने अपना एक कल्पनाजगत, जेम्स हैरिंगटन ने (१६११-

१६७७) ओसियाना की परिकल्पना पेश की है। इन सबका तथा अन्य बहुतों का उद्देश्य यही था कि समाज में आमूल परिवर्तन हो। वे प्रचलित समाज पद्धति से ऊब चुके थे। वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जायँ। उन सव को यही रट लगी रहती थी कि बस सही क़ानून बना दिये जायँ तो सब ठीक हो जाय, और वर्तमान विषमता और दुख के युग का खातमा होकर मर्त्य पर स्वर्ग-राज्य का प्रवर्तन हो जाए। हेगेल ने कहा कि इस प्रकार क़ानून बनाना राष्ट्र से अलग होकर नहीं सोच सकते। क़ानून शासन यंत्र का एक स्वरूप या प्रकाशमात्र है, विधान या क़ानून केवल दूसरी सूक्ष्म सामाजिक शक्तियों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध ही नहीं है बल्कि सारी नैतिक तथा बौद्धिक विशेषता—जिसमें उसके अन्तर्गत सारी शक्तियाँ आ जाती हैं, उसी का एक स्वरूप है। अतएव वह विधान वही है जो उस जाति के उपयुक्त है। इस प्रकार हेगेल ने आंशिक परिवर्तन द्वारा मौलिक परिवर्तन की चेष्टा को अयुक्ति-युक्त बतलाया। साथ ही उन्होंने कहा जो वास्तविक है वह बुद्धिसंगत है, यदि वह बुद्धि-संगत नहीं है, यदि उसकी जड़ें युग की आत्मा स्वरूप विचार में नहीं है तो वे हैं कैसे ? हेगेल के इन विचारों का पूरा तार्किक परिणाम क्या-क्या हुआ, इसे देखने के पहले हम देखेंगे कि हेगेल के इतिहास-सम्बन्धी विचार में जो सिलसिला, पद्धति तथा विकास का उपादान है, वह अन्य भाववादी दार्शनिकों के इसी विषय के विचारों से कितने उन्नत हैं।

१६—अन्य भाववादियों के इतिहास सम्बन्धी विचार और हेगेल की श्रेष्ठता—फ्रेंच लेखक वोसथे (१६८२) का कहना है कि इतिहास इस बात को उद्घाटित कर दिखलाता है कि किस प्रकार ईश्वर ने मनुष्य जाति का पथ-प्रदर्शन किया है। जर्मन भाववादी दार्शनिक लेंसिग का कहना है कि इतिहास द्वारा ईश्वर मनुष्य जाति को शिक्षा देते हैं।[१] यह द्रष्टव्य है कि ये लोग खुलकर ईश्वर को ले आते हैं, किन्तु हेगेल उसी को विचार या idea या विश्वभावना अथवा world spirit के नाम से छिपा रखते हैं। इसके अतिरिक्त उद्धृत मतों में सेलिंग के अतिरिक्त किसी ने भी इतिहास की एक विकासमान प्रक्रिया के रूप में कल्पना नहीं की। सेलिंग में भी यह विचार अस्पष्ट है।

१ H. M. p. 59

'विकासवाद की कसौटी पर कसने पर प्राक हेगेलीय दार्शनिकों का अजीब ही हाल था। उन लोगों में इतिहास एक विकसमान प्रक्रिया है, ऐसी कोई धारणा नहीं थी। डेकार्ट ने तो यहाँ तक लिख मारा कि प्राचीन पुस्तकों को और उनके इतिहासों तथा कहानियों को पढ़ना केवल समय का अपव्यय है। ऐसा लिखने में डेकार्ट का शायद यह कारण रहा हो कि उनके समय में जो बातें इतिहास के रूप में, घोटवाई जाती थीं, उनका वाकई यही हाल था। आधुनिक ह्यूम का कहना है कि ग्रीकों और रोमनों की बातों को पढ़ने से कोई फायदा नहीं। फ्रेंच और अँगरेज़ों के सम्बन्ध में पढ़कर पाठक जिन नतीजों पर पहुँचेंगे, वे कुछ अधिक ग़लत न होंगे, यानी उस हालत में भी ग़लत न होंगे जब उनको ग्रीकों और रोमनों पर भी लाद दी जाय। ह्यूम का कहना है कि मानव जाति सब युगों में और सब देशों में इतनी एक रही है कि इतिहास हमें कुछ भी नया या असाधारण प्रदान नहीं करता।' टच्यूमिनेयेफ ने दिखलाया है कि इसी प्रकार ह्यूम, दनेमूर इससे भी आगे बढ़ गए, और उन्होंने तो कह दिया कि इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं है कि सम-सामयिक मनुष्य-समाज का अध्ययन किया जाय, बल्कि बीवर (Beaver), मधुमक्खी और चींटी जाति का अध्ययन किया जाय, इसी से मनुष्य समाज का ज्ञान मिल जाता है।[१]

१७——जीव विज्ञान का इतिहास पर हमला——वेल्स का मत——हेगेल ने ही प्रथम बार इतिहास को एक सिलसिलेवार प्रक्रिया के रूप में देखा, इसमें कोई सन्देह नहीं। एच० जी० वेल्स ऐसे परम स्वतन्त्रचेता व्यक्ति (अवश्य इनके क्षेत्र में यह स्वतन्त्रचित्तता वर्तमान पद्धति की कुछ वागाडम्बरपूर्ण सुन्दर समालोचना तक ही रह जाती है, वह किसी प्रकार का रचनात्मक विचार पेश करने में समर्थ नहीं होती) इतिहास में यह जो सिलसिला दिखाई पड़ने लगा है, उसकी व्याख्या में कहते हैं कि जीव-विज्ञान ने इतिहास पर हमला कर दिया—Biology invads history। हम बाद को दिखलाएँगे कि जीव-विज्ञान तथा इतिहास में विकासवाद की धारणा एक ही समय में आई। इतिहास में और जीव-विज्ञान में यह जो विकासवाद का बोलबाला हुआ, वह एक ही आवश्यकता की पूर्ति के कारण हुई। ऐसा कहने या मानने की कोई

१ M. M. T. p. 241

आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि इतिहास में यह नियम जीव-विज्ञान से लिया गया। बाद को हम इसकी सन् तारीख़ पर भी आलोचना करेंगे। यह मत अमान्य होते हुए भी कि जीव-विज्ञान से यह धारणा इतिहास में ली गई वेल्स ने इस मत के प्रतिपादन में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही दिलचस्प है, इसलिए हम उसे यहाँ उद्धृत करेंगे।

वे लिखते हैं कि "इन लोगों को क़रीब-क़रीब कोई भी ऐतिहासिक परिप्रेक्षित नहीं था। वे अपने पीछे कई हज़ार वर्षों तक यहाँ तक कि समय के प्रारम्भ तक दृष्टि दौड़ा जाते हैं किन्तु उनकी निगाह में उस युग में भी मनुष्य जीवन क़रीब-क़रीब वैसा ही था जैसा उनके अपने समय में था। उनकी निगाह में मनुष्य-समाज चिरकाल से कुछ सामाजिक टाइपों की कमोवेश आपस में सँभली हुई पद्धति है—ये हैं शासक और शासित, शिकारी और खेतिहर, पुरोहित और सैनिक। इसी को वे मनुष्य जीवन की चिरकालीन पद्धति समझते थे। वे इतिहास को इस रूप में देखते थे कि इस बीच में शहर और खेत, मरुभूमि और समुद्र—इन ख़ास बातों में थोड़ा बहुत परिवर्तन होते हुए भी मनुष्य अपरिहार्य रूप से वैसा ही रहा है। हाँ इस बीच में जो आविष्कार हुए हैं, उनसे उसका जीवन कुछ ऐश्वर्य-शाली अवश्य हुआ है। उनके निरीक्षण तथा तुलना करने का तरीक़ा इतना सीमित था कि वे इस बात को महसूस नहीं कर सकते थे कि जंगलों को साफ कर घासवाली ज़मीनों के भण्डारों को बढ़ाकर वे जिन भूभागों में फैल रहे थे, उनको धीरे-धीरे ऐश्वर्यहीन तथा वंचित बना रहे हैं। वे साम्राज्यों के उत्थान और पतन के साथ अपने साधारण जीवन के अज्ञात विनाश को सम्बद्ध नहीं कर पाते थे। वे जनसंख्या तथा कर्म शक्ति के संतुलन में जो बराबर स्थान परिवर्तन होते रहते हैं, उसके कारणों को कुछ और ही समझते थे। इसलिए भूतकाल के ये विचारशील व्यक्ति अपरिवर्तनीय मनुष्य-स्वभाव की बातें करते थे। वे कहते थे कि मनुष्य स्वभाव परिवर्तित नहीं हो सकता। वे सतरंगी आशा पर निर्भर रहते थे, और ऐसा इसलिए कि स्वयं ईश्वर ने ही कह दिया है कि जब तक पृथ्वी रहेगी, तब तक बोआई का समय भी रहेगा, और फ़सल भी होती रहेगी....। इसी ढर्रे पर कोई एक दर्जन शताब्दी के पहले तक वे यह समझते थे कि दुनिया चपटी है। वे समझते थे कि जिस समुद्र पर वे यात्रा करते थे,

वह चपटा है, और उनको यह समझने में बहुत आयास लगता था कि समुद्र के धरातल का दृश्यमान समतल वास्तव में बंकिम था, और जितनी ही तेज़ी के साथ और जितने ही दूर तक वे जाते थे, वे इस बात को उतना ही समझते गये कि चपटी पृथ्वीवाली धारणा टूट रही है। इसके बाद मनुष्य की इस प्रकार की बहुत-सी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारणाओं की बधिया बैठती गई। आश्चर्यचकित नाविकों को आकाश में नई-नई नक्षत्रमालायें दिखलाई देने लगीं। दो शताब्दियों में ही मनुष्य ने यह आविष्कार कर लिया कि वह चपटी पृथ्वी पर नहीं बल्कि एक गोल पृथ्वी पर रहता है, और गत दस शताब्दियों में उसने यह भी पता पा लिया कि मनुष्य विश्व का मध्यम विन्दु नहीं, बल्कि एक बहुत ही दोयम दर्जे के ग्रह का अधिवासी है। मनुष्य को अपने जीवन के साथ इन नये विचारों को सामंजस्य में लाना पड़ा और कुछ हद तक वह इसमें सफल भी हुआ है, किन्तु केवल कुछ ही हद तक।"

वेल्स आगे चलकर शेषोक्त विचार के साथ इतिहास-सम्बन्धी धारणा को एक पंक्ति में लाकर यों समझाते हैं—"हमारे ऐतिहासिक विकास अब लाखों वर्ष तक पीछे की ओर जाते हैं। हम मनुष्य को मनुष्य से निम्नतर परिस्थितियों से, तुलनात्मक रूप से, एकाकी बन्दरों के जीवन से ढ़ाई लाख वर्ष पहले निकलते पाते हैं। हम अब निरन्तर वृद्धिशील सहीपन के साथ जानते हैं कि उस सुदूर भूतकाल में शिकार का जीवन था, हम देखते हैं कि खेती के उत्पन्न होते होते सैकड़ों वर्ष लग गये...। इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में जो स्थिरता की धारणा थी, वह दूर हो गई। ...अब धीरे-धीरे यह हमें मालूम हुआ है कि गत बीस या पचीस हज़ार वर्षों से मनुष्य इस प्रकार के निरन्तर परिवर्तन की परिस्थितियों में आगे बढ़ता जा रहा है।"[१]

१८—वेल्स का मत प्रामाणिक नहीं—वेल्स ने क्रम-विकास का जो सिलसिला बतलाया है, वह ठीक है, किन्तु इसे बताने के लिए उन्हें यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि इतिहास पर यह जीव विज्ञान का हमला है। ऐसा उन्होंने हेगल तथा मार्क्स को श्रेय न देकर अन्य लोगों को श्रेय देने के व्यर्थ प्रयत्न के कारण ही किया है। इतिहास पर विकासवाद को लागू करने का श्रेय सब से

१ O. S. p. 18-20

पहले हेगेल को है, किन्तु उसे अकाट्य वैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का श्रेय मार्क्स को है, यह हम बाद में देखेगें।

१९—हेगेलवाद में प्रतिक्रियावाद के उपादान—अब हम फिर हेगेल पर लौट जाते हैं। हेगेल ने यह जो कहा है कि जो है वह बुद्धि-संगत है, इसके लिए उन पर प्रतिक्रियावादी होने का दोषारोपण किया है, क्योंकि इस मतवाद से हर तरह के सामाजिक अत्याचार, अन्यान्य तथा विषमता का समर्थन होता था। सच तो यह है कि इस प्रकार का दोषारोपण केवल वायवीय था, बात नहीं प्रुसीय राजतंत्र ने सचमुच हेगेलवाद को अपने समर्थन में इस्तेमाल किया। यह कहा गया कि प्रुसीय राजतन्त्र मौजूद है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह बुद्धिसंगत है। इस गड़बड़ी के लिए केवल हेगेल के व्याख्याकार ही ज़िम्मेदार थे, यह बात नहीं। हेगेल स्वयं विचारों की इस गड़बड़ी के कारणीभूत हुए। जिस समय नेपोलियन ने येना में प्रवेश किया था, उस समय हेगेल ने उनको श्वेत अश्व पर आसीन निरवच्छिन्न स्पिरिट करके स्वागत किया। यह तो कुछ हद तक समझ में आ सकता था कि नेपोलियन संगीनों के द्वारा ही सही जर्मनी में नये पूँजीवादी सम्बन्धों को स्थापित करने आये थे। उनका इस प्रकार स्वागत करना सचमुच नवयुग के प्रति अभिवादन-ज्ञापन करना था। नेपोलियन की विश्वव्यापी विजयों का कारण ही यह था कि वे जिस देश में गये उस देश में पूँजीवादी गुट को बल पहुँचाकर पहले के सामन्तवादी वर्ग को नीचा दिखाते गये। रूस में उनको जो सफलता नहीं मिली इसके गौणकारण रूसियों की बहादुरी और उनकी Scovched earth policy तथा जनरल वारफ थे, किन्तु असली कारण यह था कि रूस में अभी पूँजीवादीवर्ग बिलकुल बलहीन था। इसलिए नेपोलियन का हेगेल द्वारा स्वागत बिलकुल समझ में आता है, किन्तु इसके बीस वर्ष बाद जब फ्रेड्रिक विलियम तृतीय के अधीन जर्मनी में प्रतिक्रियावादी सामन्त-वादी राजतन्त्र दृढ़ीभूत हो रहा था, उस समय हेगेल अपने क्रान्तिकारी विचारों को निर्णयात्मक रूप से खो चुके थे, और कार्यरूप में प्रतिक्रियावादी हिस्सा अदा कर रहे थे।

२०—हेगेल के अनुसार इतिहास के चार युग—हेगेल ने सारे इतिहास को जिस प्रकार विभक्त कर दिया है, उससे उनके विचारों का प्रतिक्रियावादी

उपादान बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने बताया कि इतिहास के चार मुख्य युग हैं—

(१) पूर्व देशों में भाव ने (Idea) ने अभी अपनी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की है, वहाँ अभी substantiality की प्रधानता है। मनुष्य के हक अभी अज्ञात हैं क्योंकि पूर्व केवल इतना जानता है कि एक (अन्य नहीं) मुक्त है। यह दुनिया के बचपन का युग है।

(२) ग्रीस में हम वैयक्तिकता की प्रधानता पाते हैं। भाव जानता है कि वह मुक्त है, किन्तु केवल कुछ ही स्वरूपों में यानी केवल कुछ ही लोग मुक्त हैं। मन अभी तक भूत से मिश्रित है, और उसी में अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य है। यह दुनिया के यौवन का युग है।

(३) रोम में हम दृश्यगत और दृष्टगत के बीच में विरोध पाते हैं। राजनैतिक सार्वदेशिकता तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता दोनों का विकास हुआ, किन्तु अभी इनका समन्वय नहीं हुआ। यह दुनिया की परिणतावस्था या अधेड़पन का युग है।

(४) ट्यूटनिक जातियों में हम इन असंगतियों की एकता पाते हैं, भाव को स्व का ज्ञान हो जाता है, और ग्रीस तथा रोम की तरह यह मान लेने के बजाय कि कुछ ही लोग स्वतन्त्र हैं वह जान लेता है कि सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। यह दुनिया की वृद्धावस्था है, यद्यपि शरीर की वृद्धावस्था का अर्थ कमज़ोरी है, मन की वृद्धावस्था परिपक्वता है।'[१]

२१—मैकाले और टामस हाब्स के साथ हेगेल की तुलना—हेगेल के इतिहास-सम्बन्धी दर्शन की कलई यहीं पर खुल जाती है, यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने ज़माने के प्रुसीय राज्य को राष्ट्र की सबसे उच्चावस्था समझते थे। इस मामले में वे मैकाले (१८००–१८५९) से उच्चतर किस प्रकार कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने भी अपने ज़माने के इँगलैंड की वैधानिक शासन की पद्धति को सब शासनों में उच्चतम समझा।[२] इसी प्रकार टामस हाब्स (१५८८–१६७९) अपने ज़माने के राजतन्त्र के समर्थन में एक दर्शनशास्त्र खड़ा कर गये थे। ये सभी दार्शनिक अपनी-अपनी सरकार के समर्थक थे, फिर भी हेगेल की

१. B. H. P. २ A. J. A.

विशेषता यह है कि उन्होंने विकास के सिद्धान्त को लागू कर तब प्रुसिया में प्रचलित राजतन्त्र को विकास का उच्चतम सोपान साबित किया।

२२—हेगेलवाद का क्रान्तिकारी पहलू—रूस में भी हेगेल का यह विचार बुद्धि-संगत है, लेकिन विसारियन वेलिन्स्की ऐसे उनके चेलों के लिए बहुत दुखदायी साबित हुआ, क्योंकि वे इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे कि ज़ार का शासन भी बुद्धिसंगत हो सकता है। तुलनात्मक रूप से कुछ ही दिनों के लिए वेलिन्स्की इस दार्शनिक शान्तिवाद को मानकर चल सके। निकोलाई वोगोस्लोवस्की ने वेलिन्स्की के सम्बन्ध में लिखा है कि 'वास्तविकता के साथ सामंजस्य अर्थात् यह मानकर चलना कि निकोलस प्रथम का अर्द्धगुलाम-शासन ठीक है, और उसमें कुछ ग़लती नहीं है, यह वेलिन्स्की के ऐसे विद्रोही प्रकृतिवाले व्यक्ति के लिए बहुत बड़ी असंगति साबित हुई....। धीरे-धीरे वे हेगेल की एकदेशीय व्याख्या पर विजय पाकर मुक्ति के आदर्श के उग्र उपासक हो गये।'[१] किन्तु हेगेल के विचारों का एक दूसरा पहलू भी था, और वह क्रान्तिकारी था। वह यह था कि यदि कोई पद्धति या वस्तु बुद्धि-संगत नहीं है, तो दृश्यमान रूप से उसकी मौजूदगी या अस्तित्व होने पर भी यह समझना चाहिए कि वह ज़बर्दस्ती मौजूद है, और उसका अन्त हो जाय तो अच्छा है। इसका अर्थ यह है कि जीवन और वास्तविकता में उस अस्तित्व की जड़ें नहीं रह गईं, और वह समाज के विकास के नये सोपान के साथ सामंजस्यपूर्ण नहीं है, इसलिए वह नष्ट होगा ही। गीता के छात्रों को स्मरण होगा कि उसमें भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करते हुए इसी प्रकार विश्व रूप से दिखलाते हुए दिखला दिया कि राजाओं के झुण्डों समेत धृतराष्ट्र के सब पुत्र भीष्म, द्रोण और सूत पुत्र (कर्ण) पाण्डवों की ओर के मुख्य-मुख्य योद्धाओं के साथ भगवान् की विकराल डाढ़ोंवाले अनेक भयंकर मुखों में घुस रहे हैं, और कुछ लोग दाँतों में दबकर ऐसे दिखाई दे रहे हैं कि उनकी खोपड़ियाँ चूर-चूर हो गईं (गीता ११।२७–२८)। इस प्रकार से जो लोग जीवित हैं उनको मृत दिखाकर कृष्ण ने वही तर्क दिया था जो वामपक्षीय हेगेलवादी देते हैं, अर्थात् जो दृश्यमान

---

१ I. L. F. no. V 1944 p. 55

रूप से है, ऐसा प्रतीत हो रहा है, वह नहीं है। अवश्य इन दोनों दृष्टिकोणों में कुछ प्रभेद भी है किन्तु हम इस अवसर पर इस बारीकी में नहीं पड़ेंगे।

वामपक्षीय हेगेलवादियों का एक अलग ही मत खड़ा हो गया। इन लोगों ने यह साबित किया कि ईसाई-धर्म या आमतौर से धर्म बुद्धि विरुद्ध है, इसलिए उनका विनाश अनिवार्य है, और उसके विरुद्ध तर्क करना चाहिए। रूस के वामपक्षीय हेगेलवादियों ने इसी धारा का अनुसरण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि ज़ारशाही के विरुद्ध संग्राम करना चाहिए। हेगेल के विचारों के क्रान्तिकारी पहलू को हृदयंगम कर रूस के स्थिर स्वार्थवाले पादरी वर्ग ने उसके विरुद्ध जेहाद बोल दिया। १८६० तथा १८७० के अन्दर ही के युग में उन्होंने शिक्षालयों में हेगेल का पठन-पाठन बन्द कर दिया। इस सम्बन्ध में सबसे मज़े की बात यह है कि हेगेल स्वयं भाववादी थे, और निरवच्छिन्न भाव (Absolute Idea) के नाम से ईश्वर को मानते थे। उस ज़माने में रूस के सारे शिक्षालय पादरियों के नियंत्रण में थे, इस कारण हेगेल सभी शिक्षालयों के लिए परिया क़रार दिये गये।'[१]

२३—हेगेलवाद की द्वयर्थता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—हेगेल प्रतिपादित सिद्धान्त का इस प्रकार दो विरुद्ध अर्थों में प्रयुक्त होना हेगेल के दर्शन की न्यूनता का सूचक है। शिरकाथ ने इस बात की व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि हेगेल की विचारधारा की यह द्वयर्थता उस समय के पूँजीवादीवर्ग में फैली हुई गड़बड़ी को प्रतिफलित करती है। इस वर्ग में एक प्रगतिशील तथा दूसरा प्रतिक्रियावादी हिस्सा था। एक तरफ सड़े गले प्राचीन गतानुगतिक सनातन को नष्ट करने की आवश्यकता अनुभूत हो रही थी, दूसरी तरफ आगामी नवीन, भविष्य, आगन्तुक के लिए इस वर्ग के मन में भय तथा शंका थी क्योंकि फ़्रेन्च राज्यक्रान्ति के तजर्बे से जर्मन पूँजीवादीवर्ग किसी नतीजे पर पहुँच नहीं पा रहा था। फिर भी हेगेलवाद की जो मूलभूत बात है, यानी संसार की, मनुष्य की, पद्धतियों की परिवर्त्तनशीलता, विकास, परिमाणगत परिवर्तन के जरिये से गुणगत परिवर्तन कर नये सोपान में पहुँचते रहना—ये बातें ऐसी थी, जिनको कितना भी तोड़ा-मरोड़ा जाय, वे प्रतिगामी नहीं हो सकती थी। यद्यपि हेगेल

१ D. M. A.

ने स्वयं अपने राजनैतिक मतवादों से तथा आचरण से अपने ही दर्शन शास्त्र के साथ एक प्रकार से विश्वासघात किया था, फिर भी उस दर्शन के मन्तव्य स्पष्ट, स्फटिक की भाँति स्वच्छ थे। ऐसा कई बार हुआ है कि लेखक की रचना तो एक क्रान्तिकारी दशा ले रही है, किन्तु लेखक की राजनीति दकियानूसी है, और उसने कार्यरूप में प्रगति का विरोध किया। जर्मनी के गरमपंथी पूँजीवादियों ने कुछ दिनों तक हेगेलवाद को अपने दर्शनशास्त्र के रूप में इस्तेमाल करने की चेष्टा की, किन्तु तजर्बे से यह जल्दी ही ज्ञात हो गया कि या तो हेगेलवाद अपरिवर्तनवादी, पूँजीवादी तबके की प्रतिक्रियावादी विचारधारा बनकर प्रस्तरीभूत हो जाता या बुद्धिसंगत धर्म का चरित्र धारण करता है, अथवा वह इतना क्रान्तिवादी हो जाता है कि पूँजीवादी वर्ग के किसी मतलब का नहीं रहता, उल्टा उससे इस वर्ग को खतरा पैदा हो जाता है।

२४—**विज्ञान में विचार से अस्तित्व उत्पन्न नहीं**—बाद को जब हम इस बात को और विशदरूप से दिखलायेंगे कि अस्तित्व से विचार उत्पन्न होते हैं, उस समय हम हेगेलवाद के इस पहलू की, कि विचार से अस्तित्व उत्पन्न होता है, विस्तृत समालोचना करेंगे, किन्तु इस जगह पर इतना तो बता ही दिया जाय कि उनका यह विचार कि भाव या विचार से ही जगत् बनता जाता है, समझ में नहीं आता। कैसे दो विचारों के विरोध से ही भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते हैं, यहाँ तक कि भूत का जन्म होता है, यह तो बिल्कुल ही दुर्बोध्य है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवी ने लिखा है कि 'वैज्ञानिक इतिहास की सारी वैज्ञानिक व्याख्या भौतिकवादी है। एक जटिल प्रक्रिया का विश्लेषण कुछ प्राथमिकतर पादार्थिक घटनाओं के सिलसिले को एक साथ सम्बद्ध कर विश्लेषण किया जाता है। भूगर्भ की बनावट की व्याख्या पहले से मौजूद भूत के शब्दों में की जाती है, एक रसायनिक यह नहीं कहता कि सलफ्युरिक ऐसिड या नाइट्रोग्लेस्टिन या कृत्रिम रेशम कुछ परिस्थितियों में इस प्रकार उत्पन्न होता है कि अणु (atom) के भाव या विचार ने कांच के गिलास के विचार की अन्तर्गत वस्तु पर क्रिया की है। वह साथ-साफ कहता है कि उन विविध द्रव्यों को जिन्हें वह मिश्रित कर रहा है, उनका क्या होता है। वह बताता है कि वे उत्ताप तथा दबाव की किन परिस्थितियों में कैसे साथ रखे जाते हैं। वह बताता है कि उनकी पारस्परिक क्रिया

प्रतिक्रिया कैसी होती है। वह तभी सन्तुष्ट होता है और यह समझता है कि उसने एक तार्किक व्याख्या दे दी, जब वह उनके वास्तविक ऐतिहासिक व्यवहार का वर्णन तथा उनका वर्गीकरण कर लेता है।'

लेवी के इस कथन से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक रूप से हेगेल का विकास सम्बन्धी विचार जहाँ तक कि विचारों से वस्तु निर्मित होती हैं, बिल्कुल लचर है। बाद को हम देखेंगे कि मार्क्स ने तथा उनके पहले फायरबाक ने हेगेल के इस कमजोर पहलू पर हमला किया है। सच बात तो यह है कि इस मत को इस न्यूनता से शुद्ध कर दिये जाने पर जो कुछ बचता है, वही वैज्ञानिक समाज-शास्त्र का आधार है। लेनिन का कहना था कि हेगेल की सभी बातों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, उनकी चुनी हुई तार्किक ज्ञान सम्बन्धी बातों को लेना चाहिए और उन्हें रहस्यवादी आवरण से मुक्त कर जब शुद्ध कर लिया जावेगा तभी वे काम दे सकती हैं।

हेगेल के दर्शन के अनुसार मनुष्य जाति का विकास 'एक ऐसी प्रक्रिया है जो अपनी ही प्रकृति के कारण किसी कथित निरवच्छिन्न सत्य के आविष्कार में भौतिक अन्तिमता प्राप्त नहीं कर सकती, किन्तु इसके विपरीत हेगेलवाद ने इस बात का दावा किया कि वह इसी निरवच्छिन्न सत्य पर ही आधारित है, किन्तु इस प्रकार ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक ज्ञान की एक पद्धति जो सर्वव्यापी तथा सर्वकाल के लिए अन्तिम है द्वन्द्वात्मक विचार शैली के मूलगत नियमों के विरुद्ध है क्योंकि इसके अन्तर्गत यह बात आती है कि वाह्य जगत् का पद्धतिगत ज्ञान पुस्त दर पुस्त विपुल उन्नति कर सकता है।'[१]

---

१ A. D. E.

हेगेल, कोंत, डारविन, फायरवाख के विचार और मार्क्सवाद से उनका सम्बन्ध

१—कोंत-वर्णित इतिहास के तीन सोपान—इतिहास की प्राक्मार्क्स धारणाओं में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मत फ्रेञ्च दार्शनिक औगुस्त कोंत (१७९८-१८५७) का है। यदि हम इस बात को याद रक्खें कि हेगेल तथा मार्क्स के अलावा वे ही एकमात्र दार्शनिक हैं, जिन्होंने इतिहास को विकसित रूप में समझने की चेष्टा की, तो उनका महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। यों तो मार्क्सवादी पाठ्य पुस्तकों में हेगेल के बाद ही फायरवाख को गिनाने की परिपाटी है, और वह ठीक भी है, क्योंकि अगली कड़ी वही हैं; किन्तु प्रायः समसामयिक एक विचार-धारा के रूप में कोंत के इतिहास-सम्बन्धी मतवाद में कुछ ब्यौरे में जाना अनुचित न होगा। कोंत ने अपनी विकास सम्बन्धी धारणा को न केवल इतिहास पर बल्कि मनुष्य के विचारों के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अलग-अलग तथा सामूहिक रूप से लागू किया। इससे उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। उनकी धारणा के अनुसार मनुष्य के विचार में तथा इतिहास में एक के बाद एक तीन सोपान आते हैं। वे तीन सोपान यों हैं—

(१) अति प्राकृतिक (theological) युग, जिसमें प्रत्येक वस्तु को अलौकिक दृष्टि से देखा जाता है, तथा अति प्राकृतिक माध्यम के ज़रिये समझा जाता है। समझा तो क्या जाता है, किन्तु जहाँ भी कोई अनियमितता या गड़बड़ी दृष्टिगोचर होती है, कोई बात समझ में नहीं आती, फ़ौरन उसे किसी अति प्राकृतिक माध्यम पर लादकर निश्चिन्त होकर बैठा जाता है। प्रत्येक असाधारण घटना या तो किसी ऐसे माध्यम की खुशी को ज़ाहिर करती है, या नाखुशी को। इसकी सबसे निकृष्ट अवस्था, जंगलियों की अवस्था है, जो हर बात को बुत बनाकर पूजने की अवस्था है। इसकी सबसे उच्च अवस्था वह है जब एक ही बुत सब बुतों की जगह तथा सब कारणों के कारणरूप में पूजित होता है।

(२) अलौकिक (metaphysical) युग जो पहले युग का परिवर्तित रूपमात्र है, किन्तु जो परिवर्तनकालीन सोपान के रूप में महत्त्वपूर्ण है। अति प्राकृतिक बुतों की जगह अब अदृष्ट सूक्ष्म शक्तियाँ आ जाती हैं, जिनके सम्बन्ध में यह धारणा की जाती है कि वे विभिन्न वस्तुओं में मौजूद है, और वे स्वयं घटनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इस सोपान की सबसे उच्च अवस्था वह है जब ये तमाम शक्तियाँ एक सार्वभौमशक्ति के रूप में लाई जाती हैं।

(३) धनात्मक (positive) युग जिसमें मन कारणों तथा अन्तिम तत्त्वों के अनुसन्धान की व्यर्थता का अनुभव कर निरीक्षण तथा ऐसे नियमों के वर्गीकरण में, जो परिणामों को नियंत्रित करते हैं, लगता है। इस युग में एक के बाद एक सिलसिला आता है; उसका तथा उसके साथ आनेवाले सोपान की समता का अध्ययन किया जाता है। इस सोपान की सबसे उच्च अवस्था वही होगी जब एक ही सार्वभौम दृष्टिकोण के विविध ब्यौरे के रूप में सब घटनाओं की व्याख्या करना सम्भव होगा।

इस मत का उदाहरण देते हुए उन्होंने दिखाया है कि पहले ज्योतिष अथेलो नामक देवता तथा उनके रथवाली व्याख्या प्रचलित थी, फिर पेथागोरस की संख्याएँ, सामंजस्य (harmonies) तथा तरह-तरह के अलौकिक विचारों की उड़ान के ज़रिये होते हुए अब माध्याकर्षण के नियम तक पहुँचा है। कोंत के युग तक माध्याकर्षण का ज्ञान ही अन्तिम ज्ञान था। अभी आइन्स्टाइन का उदय नहीं हुआ था। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि कोंतवाद में विकास-वाद की धारणा बहुत स्पष्टता के साथ मौजूद है।

२—कोंतवाद की त्रुटियाँ—सामाजिक विकास के सम्बन्ध में कोंत का मत अन्य मतों से कई दृष्टि में श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें परिवर्तनशीलता और विकास की बात मानी गई है, किन्तु इस विकासवाद में त्रुटि यह है कि इसमें उन शक्तियों के उद्घाटन करने की चेष्टामात्र नहीं है जिनसे ये परिवर्तन होते जाते हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि यह विकास एक हद तक जाकर यानीं धनात्मक सोपान तक पहुँचकर रुक-सा जाता है। विकास के कारणों का उद्घाटन करने में असमर्थ होने के कारण कोंतवाद के पैर मज़बूत नहीं हो पाते, यह कोई पद्धति नहीं हो पाती,

बल्कि एक मन्तव्यमात्र होकर रह जाता है। जब वे इस परिवर्तन का कोई कारण नहीं बता पाते, साथ ही यह कहते हैं कि परिवर्तन होता है, और इस परिवर्तन का स्वरूप अग्रगति है, तो यह एक तरह का भाग्यवाद या ईश्वर की सदिच्छावाद (teleology) होकर रह जाता है। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के मुक़ाबिले में यह मतवाद इसलिए बहुत निकृष्ट ठहरता है। धनात्मक सोपान ही आख़िरी सोपान है, यह बात तभी समझ में आ सकती, जब यह बता दिया जाता कि बराबर यह धनात्मकता भी उन्नति करती जाती है। कौंत ने अपने दर्शनशास्त्र को positism या धनात्मकवाद नाम दिया, अतः यह सन्देह हो जाता है कि कहीं वे अपने ही मत को अन्तिम सत्य और अपने को आख़िरी पैग़म्बर तो नहीं समझते। कौंतवाद समाज में होनेवाली घटनाओं को एक सिलसिले में बाँधने में असमर्थ हैं। इसका कहना यह मालूम देता है कि पहले लोगों के पास ज्ञान के साधन कम थे, और धीरे धीरे ज्यों-ज्यों ज्ञान के साधन बढ़े, त्यों-त्यों वे धनात्मक सोपान की ओर बढ़ते गये। इस अत्यन्त सरल बात को कौंत ने बहुत वागाडम्बर और नये पारिभाषिक शब्दों के साथ कहा है। यह मतवाद हमारे सामने समाज के विकास का कोई सर्वांगपूर्ण चित्र पेश करने में असमर्थ है। वह यह भी नहीं बताता है कि इस परिवर्तन में मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है। यदि कौंत से यह पूछा जाय कि आख़िर किस तरह वर्तमान परिस्थितियों को पार कर मनुष्य आगे बढ़ेगा, तो कौंत इसके उत्तर में १८वीं शताब्दी के फ्रेंच विश्वकोषवादियों की तरह यह कहते हैं कि लोगों को धनात्मकवाद की शिक्षा दी जाय, या उसी की छत्रछाया में उनकी शिक्षा हो। कहना न होगा कि इस प्रकार से जो मतवाद का ढाँचा हमारे सम्मुख खड़ा होता है, उसे हम बहुत हुआ तो Liberalism या उदारवाद कह सकते हैं। एक तो पद्धति ही भ्रान्त है, दूसरे उसकी शिक्षा से ही सब कुछ हो जायगा, यह मतवाद एक पंगुवत् है। इस दृष्टि से देखने पर कौंतवाद में विकासवाद को जो तरजीह दी गई है, वह खटाई में पड़ जाता है क्योंकि शिक्षा से ही विकास हुआ है, यह मतवाद तो ऊपर से प्रथम दृष्टि में ही अकर्मण्य मालूम पड़ जाता है। मार्क्सवाद में विकास के कारणों का उद्घाटन किया गया है, फिर भी यदि उसके क्रान्तिकारी हिस्से को छोड़कर यह कह दिया

जाय कि न तो वर्गसंघर्ष आदि के तीव्रीकरण की कोई आवश्यकता है और न किसी संगठन की ज़रूरत है, बस मार्क्सवाद की शिक्षा दी जाय तो वह भी एक नपुंसक मतवाद हो जायगा। ऐसी हालत में कोंत को भी भाववादियों में गिनना पड़ेगा, यद्यपि साथ ही यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान के प्रति उनकी श्रद्धा अगाध थी और अपने युग में उन्होंने कुसंस्कारों के विरुद्ध अच्छा संग्राम किया। विश्व की व्याख्या के रूप में पंगु होने के अतिरिक्त इस मतवाद में कर्त्तव्य-शास्त्र का तो बिलकुल अभाव है। इस प्रकार का मतवाद मानव-जाति के लिए कभी पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता।

टच्यूमिनियेफ कोंत के समाजशास्त्र पर सही रूप से कहते हैं कि कोंत ने सामाजिक विकास की कल्पना सिर के बल खड़े रूप में की है, तथा उनकी शिक्षा में सामाजिक विकास के भौतिक आधार को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। 'यदि सेंट साइमन ने विज्ञान के विकास को उद्योग-धन्धे के विकास के साथ रक्खा, तो कोंत ने ऐसा किया कि मानवीय बुद्धि तथा मानवीय विचार के विकास को सामाजिक विकास की मुख्य शक्ति के रूप में दिखाया.......। जिस प्रकार वे तीन सोपानों को देखते हैं, उस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण वे विश्वकोषवादियों से कुछ आगे नहीं प्रतीत होते। सामाजिक जीवन की वास्तविक सारी अन्तर्गत वस्तु उनकी समाज-सम्बन्धी शिक्षा में या तो ग़ायब ही है या मानवीय बुद्धि की प्रगति पर उसे सम्पूर्ण रूप से निर्भर माना गया है। समाज का क्या स्वरूप होगा, यह उनके अनुसार बुद्धि के विकास के सोपान पर निर्भर है। बहुदेववाद के साथ समरवाद तथा प्राप्ति की प्रवृत्तियाँ हैं, इसी प्रकार अलौकिक दर्शनशास्त्र के साथ कई प्रकार के परिवर्तनकालीन सामन्तवाद हैं, तथा धनात्मक सोपान के साथ औद्योगिकवाद चलता है।'[१] इसी प्रकार और भी बहुत सी बातें हैं जिनका मतलब यही है कि बुद्धि सामाजिक अवस्थाओं को परिचालित करती है, जब कि वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है।

३—इरासमस, विफो, लामार्क, गेटे, डारविन—मार्क्स जिस समय अभी अपने विचारों को परिपक्व कर रहे थे, उसी ज़माने में विज्ञान में विकासवाद के सिद्धान्त का बोलबाला होता जा रहा था। चार्ल्स डारविन (१८०९-८२, जो

१ M. M. T. p. 258

मार्क्स के लगभग ९ साल पहले पैदा हुए, और क़रीब क़रीब एक साल पहले मरे, यानी जो मार्क्स के क़रीब क़रीब समसामयिक थे) के पहले ही कई और वैज्ञानिक अपने विचारों में विकासवाद का आभास दे चुके थे। इनमें से इरासमस, डारविन, विफो (Buffon) तथा लामार्क विकासवाद के कायल हो चुके थे। जर्मनी के महाकवि गेटे विज्ञान से स्वतन्त्र रूप से इस नतीजे पर पहुँच चुके थे। चार्ल्स डारविन ने १८३७ में अपना पहला ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने बिगुल नामक जहाज़ पर चरचा के दौरान में जो तजरबे हुए थे, उनका वर्णन किया। इसी में कुछ भ्रमरूप से उनके विचार आ चुके थे। १८४५ में डारविन ने अपने इस भ्रमण-वृत्तान्त के नये संस्करण विकासवादी सिद्धान्त को कुछ अधिक स्पष्टता के साथ रक्खा था। १८५९ में उन्होंने The origin of species नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने विकासवाद सम्बन्धी अपने विचारों को स्पष्टरूप में रक्खा। यह एक बहुत ही क्रान्तिकारी विचार था। डारविन ने इस पुस्तक में प्राणी जातियों (Species) के विकास के सिद्धान्त को प्राकृतिक निर्वाचन (natural selection) तथा जीवन-संग्राम में योग्यतम के टिक जाने (Survival of the fittest) पर आधारित दिखलाया। उन्होंने इस सम्बन्ध में बीस वर्ष तक मसाला इकट्ठा किया था, और इस सिद्धान्त के कारण पहले-पहल जीव-विज्ञान को ऐसा समन्वय प्राप्त हुआ जिसके कारण हम इसकी तुलना पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन के माध्याकर्षण के सिद्धान्त से कर सकते हैं।[१]

४—Origin of species **पर मार्क्स**—Origin of Species नामक ग्रन्थ का मार्क्स पर क्या प्रभाव पड़ा, यह केवल अटकलपच्चू की बात नहीं है, बल्कि १८६१ की १६ जनवरी को उन्होंने एक मित्र को लन्दन से जो पत्र लिखा था, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पुस्तक को पढ़कर वे कितने प्रभावित हुए थे। अवश्य स्मरण रहे कि १८४४ में मार्क्स और एंगेल्स एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से सामाजिक विकास-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त को परिपक्व कर चुके थे। १८४८ में तो कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में इन दोनों विद्वानों ने अपने इस सम्बन्ध के मत का बहुत विशद स्पष्टीकरण भी कर दिया था। जो

१ A. wolf in O. M. K. p. 43

कुछ भी हो, उल्लिखित पत्र में मार्क्स ने यह माना था कि 'डारविन की पुस्तक वहुत ही महत्त्वपूर्ण है, और प्राकृतिक विज्ञान के आधार के तौर पर इतिहास में वर्गसंघर्ष दिखाने के लिए काम देती है।'

५—डारविन का मत और प्रचलित धर्म के साथ उसका विरोध—डारविन ने अपनी इस प्रसिद्ध पुस्तक में यह कहा कि सभी प्राणी या तो किसी साधारण प्राणी से या कुछ साधारण प्राणियों से विकसित हुए हैं। मनुष्य भी इस प्रकार दूसरे प्राणियों से उद्भूत करार दिया गया। हमें यहाँ पर इस सिद्धान्त के ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो हेगेल के विकास-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त और डारविन के वैज्ञानिक सिद्धान्त की एकता कई अर्थों में दृष्टिगोचर होगी। डारविन के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पादरियों ने तथा आध्यात्मिक नेताओं ने उनके सिद्धान्त का विरोध किया। यह स्वाभाविक था, क्योंकि डारविन ने बाइबिल के कई मूलभूत सिद्धान्तों का पर्दाफाश कर दिया था। बाइबिल के अनुसार पृथ्वी की उम्र अधिक से अधिक सात हज़ार वर्ष थी, किन्तु डारविन के सिद्धान्त से यह बात बिलकुल कट गई। इसके अतिरिक्त बाइबिल के अनुसार मनुष्य सृष्टि का मध्यम बिन्दु था, किन्तु इसमें यह दिखा दिया गया कि अवश्य ही यह मनुष्य सबसे अधिक विकसित प्राणी है, किन्तु वह निम्नतर प्राणियों से उद्भूत है। डारविन स्वयं वैयक्तिक जीवन में धर्मवादी थे, किन्तु उनके सिद्धान्त धर्म के बिलकुल विरुद्ध पड़ते थे।

६—emergent evolution सिद्धान्त के द्वारा डारविनवाद की त्रुटि की पूर्ति—डारविन के विकासवादी सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि विकासवाद के ज़रिये नये गुणों की कैसे उत्पत्ति होती है। "डारविन का विचार था कि ये परिवर्तन सूक्ष्म तब्दीलियों (Variations) के कारण होते हैं। तब्दीलियाँ होती हैं यह तो स्पष्ट है, क्योंकि यदि सन्तान पूर्ण रूप से माता-पिता के सदृश होती तो फिर दुनिया अब तक अमीबा (amoeba) और जेली मछली (जो साठ करोड़ से लेकर छः करोड़ वर्षों के बीच जीवन के काल में समुद्र में मौजूद रही होगी) से ही भरी होती, किन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए हम लोगों को यह समझना चाहिए कि इन सन्तानों में कुछ ऐसे

प्रभेद दृष्टिगोचर होते गये जो उनके पिता-माता में नहीं थे।"[१] डारविन इसका कोई उत्तर न दे सके थे। बाद को चलकर अध्यापक एस० अलेक्जेंडर (जन्म १८५९) तथा अध्यापक सी० लायड मारगन (जन्म १८५२) ने विकासवाद के सिद्धान्त को (emergent evolution) नवगुणोत्पत्तिशील विकास के रूप में परिवर्तित कर दिया। नवगुणोत्पत्तिशील विकासवाद के सिद्धान्त का उद्देश्य उन कठिनाइयों का सामना करना है, जिनके कारण विकासवाद का पुराना सिद्धान्त नये गुण तथा मूल्यों की उत्पत्ति के मामलों में कच्चा पड़ता था इस सिद्धान्त का यह उद्देश्य है कि विकास की प्रक्रिया को यान्त्रिक विकास से कुछ अधिक समझा जाय। नये सिद्धान्त के अनुसार विकास में यह गुण है कि वह ऐसे प्राणियों को पैदा कर सकता है, जिनको विकास के पूर्वतन प्रवाह को देखनेवाले लोग कभी नहीं जान सकते थे, और जो वास्तव में पहले की अवस्थाओं के योगफलमात्र (mere resultant) नहीं हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जीवन, चेतना और आत्मचेतना विकास की प्रक्रिया के दौरान में उद्भूत (emerge) हुए हैं।'[२] तो यह स्पष्ट है कि लायड मारगन तथा अलेक्जेंडर के नवगुणोत्पत्तिशील विकास के बग़ैर डारविन का सिद्धान्त यान्त्रिक रहता, और उसमें नये गुणों तथा नये तत्त्वों की उत्पत्ति का विषय उसी प्रकार अन्धकार में रहता, किन्तु हेगेल तथा इसलिए मार्क्स के द्वन्द्वात्मक न्याय से ये दोनों बातें यानी विकास, साथ ही नये गुणों की उत्पत्ति की बात साफ़ हो चुकी थी। इस दृष्टि से हेगेल ने इन वैज्ञानिक के पहले इन प्रश्नों को सुलझा लिया था।

७—डारविन पर मार्क्स—यह तो हम कह ही चुके कि मार्क्स पर डारविन का क्या प्रभाव पड़ा। डारविन की रचना को पढ़ते ही मार्क्स उसकी अन्तर्निहित धारा को पहचान गये और उन्होंने इसकी बड़ी प्रशंसा की। केवल यही नहीं, मार्क्स ने यह भी समझ लिया कि डारविन की रचना का teleology या प्रकृति सोद्देश्यवाद या प्रकृति से उद्देश्य है और वह सचेतनरूप से उन्नति की ओर बढ़ रही हैं, इस मतवाद को गहरा धक्का लगा। मार्क्स ने यह भी कहा कि अब तक प्रकृति में ऐतिहासिक विकास के आविष्कार करने की ओर इतना विराट् प्रयास

१ G. M. T. २ O. M. K. p. 61

किसी ने नहीं किया था। हमने मार्क्स के जिस पत्र को उद्धृत किया, उसके पहले ही १८६० की २९ दिसम्बर को मार्क्स ने एक पत्र में यों लिखा था 'गत चार हफ़्तों में मैंने न मालूम क्या-क्या पढ़ डाला। इनमें डारविन की प्राकृतिक निर्वाचन-सम्बन्धी पुस्तक भी है। यद्यपि विचार भद्दे अँगरेज़ी ढंग से प्रकट किये गये हैं, फिर भी इस पुस्तक में हमारे मतवाद के लिए प्राकृतिक इतिहास का आधार मौजूद है।' वी० एल० कामोरोफ ने यह दिखलाया है कि परिपक्व आलोचना के बाद मार्क्स अपने इस सम्बन्धी विचार को कुछ बदल देते हैं। वे १८६२ की १८ जून को यों लिखते हैं—'डारविन के इस बयान से मेरा बड़ा मनोरंजन हुआ कि वे पौधों और इतर प्राणियों पर मालथसिप सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं, जब कि मिस्टर मालथस का वक्तव्य यह है कि वे अपने सिद्धान्त का प्रयोग पौधों और इतर प्राणियों पर नहीं करते, बल्कि केवल मनुष्य पर करते हैं।' यहाँ पर यह बता दिया जाय कि इस प्रसंग में मार्क्स मालथस के जिस मत का हवाला दे रहे हैं वह यह है कि मनुष्य रेखागणितिक श्रेढ़ी (geometrical progression) से बढ़ता है, यानी दो, चार, सोलह इस तरीक़े से बढ़ता है, जब कि मनुष्य जिनको खाकर जीता है, वे पौधे और पशु-पक्षी अंकगणितिक श्रेढ़ी से (arithmetical progression) यानी दो, चार इस प्रकार से बढ़ते हैं। मार्क्स इस पत्र में यह भी लिखते हैं कि 'यह बहुत ही ख़ूब रहा कि डारविन पौधों और इतर प्राणियों में अपने ही अँगरेज़ी समाज का आविष्कार करते हैं, जिसमें श्रम का विभाजन, प्रतियोगिता, नये बाज़ारों का खुलना, आविष्कार और मालथसिप अस्तित्व के लिए संघर्ष है। यह तो असल में हाब्स का Bellum omnium contra-omnes अर्थात् सबके विरुद्ध सबके युद्धवाला सिद्धान्त है, और इसे पढ़कर हेगेल के phenomenology के विचार याद आ जाते हैं, जिसमें नागरिक समाज आध्यात्मिक प्राणि राज्य (Spiritual animal kingdom) के रूप में व्यक्त है। डारविन साहब के अनुसार प्राणि-जगत् भी एक नागरिक समाज है।'

भला यह कैसे हो सकता था कि मार्क्स डारविन के वैज्ञानिक आविष्कार से इतने मुग्ध होकर बह जाते कि वे 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' के सिद्धान्त के समाज-शास्त्रीय पहलू को भूल जायँ। यह नहीं कि मार्क्सवादियों का यह

कहना है कि अस्तित्व के लिए संघर्ष है ही नहीं। बृहत्तर सत्य तो यह है कि अस्तित्व के लिए संघर्ष भी है, सहयोग भी है। क्रोपाटकीन ने सहयोग के पहलू को स्पष्ट करने के लिए 'पारस्परिक सहयोग' नामक एक बहुतथ्यपूर्ण पुस्तक ही लिख डाली। एंगेल्स ने यह कहा था कि विकास में इसी प्रकार विकास चलता है।

डारविन ने मालथस के सिद्धान्त का जिन शब्दों में उल्लेख किया था, वह यों है 'मालथस का सिद्धान्त मानो बहुशक्ति-संयुक्त होकर समग्र प्राणी और वनस्पति जगत् पर लागू हुआ है, क्योंकि इस क्षेत्र में न तो खाद्य कृत्रिम रूप से बढ़ाया जा सकता है, और न विवाद से बुद्धिपूर्वक बचने का कोई सवाल हो सकता है।' कामोरोफ ने इस पर टीका करते हुए सही तौर पर लिखा है कि 'जब इस प्रकार अस्तित्व के संघर्ष की परिभाषा करने के बाद ही मालथस का हवाला दिया जाता है, तो हम यह बिना महसूस किये नहीं रह सकते कि डारविन के लिए यह अच्छा होता यदि वे बिलकुल मालथस का नाम न लेते। वर्गसंघर्ष के जगत् से शब्दों को लेकर कोई प्राणी और वनस्पति-जगत् पर लागू करे और फिर उसकी समालोचना न हो और वह बचकर जाय, यह असम्भव है।'[१]

८—प्राण की उत्पत्ति पर डारविन का ग़लत मत—डारविन का जो मत सबसे आपत्तिजनक है, वह यह है कि वे प्राण की उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्न पर विचार करते समय प्रयोगात्मक पद्धति से हटकर यह कह देते हैं कि 'ईश्वर ने प्रारम्भ में कुछ स्वरूपों में या एक स्वरूप में साँस फूँक दी।' एंगेल्स ने इस मत का बहुत ही डटकर विरोध किया, और यह कहा कि ज्यों ही अलबूमन-युक्त शरीरों की बनावट का पता लग जावेगा त्यों ही यह सम्भव होगा कि जीवित अलबूमन का उत्पादन किया जा सके। अवश्य यह समझना कि रसायनशास्त्र रात भर में उस बात को करने में समर्थ होगा जिसे करने में प्रकृति बहुत ही अनुकूल परिस्थितियों में केवल कुछ ही ग्रहों में लाखों वर्ष बाद समर्थ हुई है, भ्रान्त है, और विज्ञान से जादू की माँग करना है।' एंगेल्स की यह भविष्यवाणी कहाँ तक सफल हुई है, यह सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के निम्न उद्धरण से ज्ञात होगा।

९—प्राण की भौतिक उत्पत्ति पर जीन्स—जीन्स लिखते हैं "एक मत का

१ M. M. T. p. 194

तो यह कहना है कि ज्यों ज्यों पृथ्वी धीरे धीरे ठंडी पड़ती गई त्यों त्यों यह स्वाभाविक और क़रीब क़रीब अनिवार्य था कि जीवन की उत्पत्ति हो। दूसरा मत यह है कि जब एक आकस्मिक घटना से पृथ्वी उत्पन्न हो गई, तब जीवन को उत्पन्न करने के लिए एक दूसरी आकस्मिक घटना की ज़रूरत हुई.....। जीवन के भौतिक उपादान बिलकुल साधारण रासायनिक ऐटम हैं, यानी कार्बन जैसा कि हमें पानी में प्राप्त होती है, नाइट्रोजन जिससे वातावरण का अधिकांश हिस्सा बना है, हाइड्रोजन तथा आक्सिजन, जैसा कि हमें पानी में प्राप्त होता है। जीवन के लिए ज़रूरी हर तरह के ऐटम नवजात पृथ्वी पर रहे होंगे। बीच बीच में ऐटमों के झुण्ड उस प्रकार से एकत्र हो जाते होंगे जिस प्रकार वे जीवित कोष में रहते हैं। सच बात तो यह है कि यथेष्ट समय में वे इस प्रकार कहीं न कहीं मिल जाते हों, किन्तु क्या इतने से ही वे मिलकर जीवित कोष में परिणत हो जाते हैं? दूसरे शब्दों में क्या एक जीवित कोष महज़ उन साधारण ऐटमों का उसके असाधारण रूप से एकत्रित झुण्डमात्र है, या इससे कुछ अधिक? क्या जीवन महज़ ऐटमों का झुण्ड है, या ऐटमों का झुण्ड और जीवन है? हम इसके उत्तर को नहीं जानते।' इसके बाद भी अध्यात्मवादी जीन्स जिस बात को मानने के लिए मजबूर होते हैं वह यों है—'जीवित भूत में कुछ साधारण ऐटम रहते हैं, किन्तु ये ऐटम प्रधानतः वे ऐटम हैं जिनमें यह विशेष योग्यता है कि वे परमाणुओं (molecules) के बहुत बड़े झुण्ड को एकत्र कर सकें, किन्तु अधिकांश ऐटम में यह गुण नहीं है। उदाहरणार्थ हाईड्रोजन और आक्सिजन के ऐटम मिलकर हाईड्रोजन के परमाणुओं का (H_2 or H_3) आक्सिजन या ओजोन के (O_2 or O_3) पानी के (H_2O) या हाईड्रोजन पैरोक्साइड (H_2O_2) के परमाणुओं का निर्माण कर सकते हैं। किन्तु इनमें से किसी भी मिश्रण में चार से अधिक ऐटम नहीं हैं। नाइट्रोजन को जोड़ने से यह मामला कुछ सुधरता नहीं है। हाईड्रोजन, आक्सिजन और नाईट्रोजन के मिश्रणों में तुलनात्मक रूप से बहुत कम ऐटम रहते हैं, किन्तु कार्बन को इसमें जोड़ते ही बिलकुल तसवीर बदल जाती है। अब सैकड़ों ही नहीं, लाखों ऐटम मिश्रित हो सकते हैं। ऐसे परमाणुओं से ही जीवित शरीर बना है। कोई एक सदी पहले तक यह आम तौर से समझा जाता था कि किसी न किसी प्रकार की जीवनयुक्त

शक्ति की इन तथा दूसरे उपकरणों को उत्पादन करने में ज़रूरत है, जिनसे जीवित शरीर बनता है। इसके बाद वोलेर ने चूरिया (Co (N. H. 2) 2) को अपनी प्रयोगशाला में मामूली रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न किया, और इसके बाद जीवित शरीर को बनानेवाले दूसरे उपकरणों का एक के बाद एक आविष्कार होता जा रहा है। आज परिस्थिति यह है कि जिन बातों को लोग पहले जीवनयुक्त शक्ति से युक्त समझते थे, वे एक एक करके रासायनिक प्रक्रिया की उपज ज्ञात होती जा रही हैं। यद्यपि इस समस्या का समाधान अभी दूर है, फिर भी यह दिन बदिन साफ़ होता जा रहा है कि जीवित शरीर की विशेषता कथित जीवनयुक्त शक्ति का जौहर नहीं, बल्कि बहुत ही मामूली उपादान की महिमा है जो सर्वदा अन्य ऐटमों के बहुत बड़े परिमाण के साथ और बहुत से परमाणुओं के साथ झुण्ड बनाकर रहता है।.....कार्बन के विना जीवन नहीं है। यह शायद विशेष द्रष्टव्य इसलिए है कि यह धातु और अधातु के बीच में परिवर्तन-कालीन रूप है। कार्बन की पादार्थिक बनावट में कोई ऐसी बात नहीं है जिसे रहस्यमय कहा जा सकता है, और जिसके कारण वह दूसरे ऐटमों को जुटाने में समर्थ होता है। कार्बन ऐटम में छः एलेक्ट्रन होते हैं जो उपयुक्त न्यूक्लस या सार भाग के चारों ओर, सूर्य के चारों ओर छः ग्रहों की भाँति, घूमते रहते हैं। इसके एक तरफ़ तो वोरन है और दूसरी तरफ़ नाइट्रोजन है क्योंकि वोरन में चार और नाइट्रोजन में सात एलेक्ट्रन होते हैं।"[१]

१०—आधुनिक जीव-विज्ञान से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रमाणित—जेम्स जीन्स के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि जीवन में किसी प्रकार का रहस्य इस अर्थ में नहीं है कि वह अभौतिक है। अब तो किसी किसी प्रयोगशाला से यह दावा किया जा रहा है कि जीवन रासायनिक रूप से उत्पन्न किया गया है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ज्यों ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जा रही है, त्यों त्यों किस प्रकार जीवन की भौतिकता तथा उसकी भौतिक उत्पत्ति प्रमाणित होती जा रही है, यह तो हम देख चुके। वाई० एम० यूरानवस्की ने इस पर १९३६ तक के जीव-विज्ञान को सामने रखते हुए यह कहा है कि 'आधुनिक जीवविज्ञान की सफलताओं के द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समर्थन हो रहा है। भौतिकवादी

१ M. U. J. p. 4-5

द्वन्द्वात्मक न्याय ही इस क्षेत्र में तत्त्वानुसन्धान के लिए एक पद्धति प्रदान करता है, और वह पद्धति है विरोधी वस्तुओं की एकता की धारणा। यही प्राणि-जगत् की प्रक्रियाओं का नियम है—Assimilation and dissimilation—अर्थात् परिपाक करना और बिखरना, autonomy and correlation of organs अवयवों की स्वतन्त्रता और उनका पारस्परिक सम्बन्ध। भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक न्याय ही हमें जीव-विज्ञान की श्रेणियों (genus, Species, individual—वर्ग, उपवर्ग, व्यक्ति इत्यादि) की तुलनात्मकता, सूक्ष्मता तथा तरलता को समझने में समर्थ करता है। यदि जीव-विज्ञान को उसकी समग्रता में लिया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति सही है, और हमें प्राणि-जगत् की एकता को देखने में समर्थ करती है।'[१]

डारविन के विषय में आलोचना करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं कि मार्क्सवाद और डारविनवाद दोनों में विकासवाद स्वीकृत होने पर भी उनमें कुछ मौलिक भेद है। ये प्रभेद बहुत ही भारी हैं, और इनके कारण दोनों मतवाद स्वतन्त्र हो जाते हैं। हमने यह इसी आलोचना के दौरान में दिखला दिया कि ये भेद मुख्यतः कहाँ कहाँ और क्या क्या हैं।

११—मार्क्स और हेगेल का विकासवाद डारविन-वाद से अधिक उन्नत— मार्क्स ने हेगेल से द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया, इस बात को स्वयं मार्क्स भी स्वीकार करते हैं, इसलिए जहाँ तक ऋण स्वीकार करने की बात है न तो मार्क्स ही इसमें पीछे हैं, और न अन्य मार्क्सवादी लेखक ही। हम किसी अगले अध्याय में दिखलायेंगे कि मार्क्स ने किस हद तक अपने सामाजिक, आर्थिक विचार भी अपने पूर्ववर्तियों से लिये। लेनिन का कहना है कि "मार्क्स और एंगेल्स ने हेगेल के दर्शनशास्त्र के आधारगत द्वन्द्वात्मक विचार को जैसे प्रतिपादन किया है, वह विकासवाद के प्रचलित सिद्धान्त से अधिक व्यापक तथा अधिक सारयुक्त है। विकास मानो अपनी पार की हुई मंजिलों की विभिन्न रूप से किन्तु एक उच्चतर समतल पर पुनरावृत्ति करता है; 'प्रतिषेध का प्रतिषेध' यानी एक ऐसा विकास जो सरल रेखा में नहीं बल्कि भँवरक्रम में चलता है; छलाँग, प्राकृतिक विपत्तियाँ, क्रान्तियों में चलनेवाला विकास क्रमिकता

१ M. M. T. p. 167

के अवकाशों के साथ चलनेवाला विकास, परिमाण का गुणगत परिवर्तन, विकास की आन्तरिक उत्तेजना, असंगतियों तथा एक वस्तु पर, एक घटना पर एक समाज में क्रियाशील विभिन्न शक्तियों एवं प्रवृत्तियों के संघर्ष से प्राप्त होती है; प्रत्येक घटना के प्रत्येक पहलू के बीच के अविभाज्य तथा घनिष्ठतम सम्बन्ध है पारस्परिक निर्भरता (इतिहास बराबर नये पहलुओं का उद्घाटन करता है)—एक ऐसा सम्बन्ध जो गति के नियमानुसार चलनेवाली विषम प्रक्रिया के सम्बन्ध को बतलाता है।"[१] लेनिन ने ये सब बातें मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए कही हैं, किन्तु इनमें से सभी बातें ऐसी हैं जो मार्क्सवाद और हेगेलवाद में साधारण हैं।

१२—मार्क्स और हेगल के बीच की कड़ी फायरवाख—हेगेल और मार्क्स के बीच कड़ी के रूप में फायरवाख (१८०४-७२) का बहुत बड़ा महत्त्व है। लुडविग फायरवाख नामक पुस्तक की भूमिका में एंगेल्स ने यह साफ़ लिख दिया था कि हेगेल के दर्शन और उनकी धारणा तथा उनके दर्शन के बीच कड़ी के रूप में फायरवाख को माना जा सकता है।[२] इसलिए फायरवाख पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा केवल हम विचार के ऐतिहासिक सिलसिले को दिखाने के लिए ही नहीं बल्कि मार्क्स के विचारों को अच्छी तरह समझने के लिए करेंगे। फायरवाख हेगेलवादी थे, और इस नाते वे इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि हेगेलवाद ही जर्मन दर्शनशास्त्र का सबसे उच्च बिन्दु है। फायरवाख ने हेगेलवाद को अपनाया, किन्तु एक बिन्दु पर जाकर वे हेगेल से बिलकुल मूलगत रूप से अलग हो गये। हेगेलवादी पद्धति में प्रकृति केवल निरवच्छिन्न विचार की बेगानगी (alienation of the absolute idea) अर्थात् विचार का अधःपतनमात्र था, किन्तु फायरवाख ने 'ईसाइयत का सार' में अपने गुरु के इस विचार को बिलकुल नहीं माना। 'एक ही चोट में इस पुस्तक ने हेगेलवाद की इस असंगति को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया, और बिना घुमाव-फिराव के इसने फिर भौतिकवाद को सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया। इसका कहना था कि प्रकृति सब दर्शनों से स्वतन्त्र रूप से वर्तमान है। यह वह नींव है जिस पर प्रकृति की ही उपज हम मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति और मानव

१ T. K. M. २ L. F. p. 15

के बाहर कुछ भी नहीं है, और हमारी धार्मिक ख़ामख्यालियों ने जिन उच्चतर सत्ताओं की सृष्टि की है, वे हमारी ही ख़ामख्याली का प्रतिफल मात्र है।' एंगेल्स ने यह लिखा है कि ईसाई मत का सार किस प्रकार उस युग में एक बहुत क्रान्तिकारी पुस्तक साबित हुई। वे लिखते हैं—'लोगों में आम जोश था, हम लोग फ़ौरन फायरवाखवादी हो गये। मार्क्स-लिखित 'पवित्र परिवार' को यदि कोई पढ़े तो मालूम होगा कि कई मामलों में मतभेद के बावजूद मार्क्स ने इस पुस्तक में प्रतिपादित मतवाद का कितने ज़ोर के साथ स्वागत किया तथा उन पर इसका कितना प्रभाव पड़ा। पुस्तक की जो त्रुटियाँ थीं, वे भी इसके असर को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुईं। इसकी साहित्यिक शैली के कारण, जो अक्सर वागाडम्बरपूर्ण थी, इसके पाठकों की संख्या बहुत बढ़ गई, और सूक्ष्म दन्तकटा-कटीपूर्ण सालों के हेगेलवाद के बाद यह बहुत ताज़गी देनेवाला साबित हुआ। इसमें प्रेम को जो बढ़ा-चढ़ाकर बिलकुल ख़ुदाई अर्पित की गई थी, वह भी इस पुस्तक की सफलता में सहायक हुआ। क्योंकि 'विशुद्ध बुद्धि' (pure reason) के असहनीय साम्राज्य के बाद प्रेम का यह नारा बहुत सफल रहा, किन्तु इस सम्बन्ध में हमें भूलना नहीं चाहिए कि फायरवाख की इन दो कमज़ोरियों से ही वह 'सच्चा समाजवाद', जो एक ताऊन की तरह १८४० के बाद शिक्षित जर्मनी में फैल रहा था, (और जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान के स्थान पर सुललित वाक्यावली का प्रयोग होता था, तथा उत्पादन के आर्थिक परिवर्तन के ज़रिये सर्वहारा की मुक्ति के स्थान पर प्रेम के द्वारा मनुष्य-जाति की मुक्ति का नारा दिया जाता था) उसका फायरवाख से गठबन्धन हो गया।' [१]

१३—फायरवाख का भौतिकवाद—फायरवाखवाद की वर्णित कमज़ोरियों के बावजूद उसने जो भौतिकवाद को अपनाया, यह हेगेलवाद पर एक बहुत बड़ी विजय थी। 'सारे दर्शनशास्त्र का प्रधान आधारगत प्रश्न, विशेषकर आधुनिक दर्शनशास्त्र का प्रधान प्रश्न विचार और अस्तित्व में क्या सम्बन्ध है, इसी पर मतामत है।' इसी प्रश्न के साथ स्वाभाविक रूप से ऐसे प्रश्न भी आ गये कि भगवान् ने विश्व की सृष्टि की है, या नहीं। दार्शनिकों ने इन प्रश्नों का जैसा उत्तर दिया, उसी के अनुसार उनके दो शिविर हो गये। जिन्होंने यह कहा कि

१. L. F. p. 28

चित्त या मन प्रकृति से पहले से मौजूद है, और इसलिए किसी न किसी रूप में यह कहा कि इसी से भौतिक जगत् की उत्पत्ति हुई (हेगेल में जाकर यह बात ईसाई धर्म से कहीं अधिक जटिल और ऊलजलूल रूप धारण करती है), वे लोग भाववादी शिविर के हुए। इसके विपरीत जिन्होंने प्रकृति को प्राथमिक कहा, वे भौतिकवाद के विभिन्न मतवाद के अन्तर्गत हुए।'[1] फायरवाख ने इस विषय में भौतिकवाद को माना, और कहा कि हेगेल का मतवाद व्यावहारिक रूप से असत्य ठहरता है। उन्होंने कहा कि भविष्य में दर्शनशास्त्र को एक नये रास्ते पर ले जाना पड़ेगा। इस नये दर्शनशास्त्र का उन्होंने संक्षेप में यों वर्णन किया—विचार या भाव अस्तित्व पर बनते हैं। यह कहना ग़लत है कि अस्तित्व विचार से बनते हैं, अस्तित्व स्वयं अपने आपका निर्धारण करता है, उसकी नींव उसी में है। फायरवाख ने इसी विचार को अपने लेखों, विशेषकर ईसाइयत के सार में प्रचार किया। इसमें ईसाई-धर्म की ही नहीं, बल्कि सब धर्मों की आलोचना की गई है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत अच्छी है। फायरवाख ने इस आलोचना में धर्म की जड़ ही यह कहकर काट दी कि धर्म केवल मनुष्यों की आवश्यकताओं तथा आशाओं का काल्पनिक रूप से प्रसारित रूप मात्र है। उन्होंने कहा कि मनुष्य ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि की सृष्टि कर इन इच्छाओं की पूर्ति करता है। वह इस प्रकार बार बार घूम-फिरकर अपनी ही पूजा तथा प्रदक्षिणा करता है। फायरवाख की जो सबसे बड़ी सेवा थी, वह यह थी कि वे दर्शनशास्त्र को विचारों की उड़ान के पहाड़ी ऊसर से उतारकर प्राकृतिक विज्ञान तथा आम तौर से विज्ञान के क्षेत्र में ले आये। उन्होंने कहा कि यह भौतिक जगत् इन्द्रिय से ज्ञातव्य है तथा जिस जगत् में हम रहते हैं, वह वास्तविक है। उन्होंने यह भी कहा कि हमारे विचार भौतिक इन्द्रियों, उदाहरणार्थ मस्तिष्क से उद्भूत होते हैं। भूत की उत्पत्ति चित् द्वारा नहीं होती बल्कि चित् भूत का ही उच्चतम स्वरूप है।

१४—फायरवाखवाद की त्रुटियाँ—फायरवाख भौतिकवाद पर पहुँच जाने पर भी उनके विचार कई दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रह गये। वे हेगेलवाद की अच्छी बातों को भी नहीं अपना पाये। वे घटनाओं को प्रक्रियाओं के रूप में नहीं देख

१. L. F. p. 30-31

पाये। उन्होंने यह तो कह दिया कि अस्तित्व चेतना का निर्णय करता है, किन्तु ऐसा किन नियमों से होता है, इसका उद्‌घाटन करने में वे असमर्थ रहे। उन्होंने धर्म और तमाम विचारधाराओं को मनुष्य के मस्तिष्क तथा उसकी भौतिक अवस्थाओं से जोड़ तो दिया, किन्तु वे मनुष्य की कोई व्याख्या करना भूल गये। सच तो यह है कि उन्होंने उसको क़रीब क़रीब एक निरवच्छिन्न धारणा के रूप में व्यक्त किया। आगे चलकर मार्क्स ने फ़ायरवाख के विचारों को पूर्णता प्रदान की।

मार्क्स ने फायरवाख पर यह लिखा कि 'अब तक मौजूद सारे भौतिकवाद की, जिसमें फ़ायरवाख का भौतिकवाद भी है, प्रधान त्रुटि यह रही है कि वस्तु, वास्तविकता, इन्द्रियग्राह्य वस्तु को केवल वस्तु या वस्तुदर्शन के रूप में कल्पना की गई है, किन्तु इसे मानवीय इन्द्रियगत क्रिया तथा व्यवहार के रूप में यानी दृष्टिगत रूप से कल्पित नहीं किया गया। इसलिए ऐसा हुआ कि भौतिकवाद में जिस क्रियाशील पहलू का विकास न हो सका, उसका विकास भाववाद के द्वारा हुआ; किन्तु केवल सूक्ष्म रूप से ही हुआ, क्योंकि भाववाद इन्द्रियगत क्रिया के रूप में नहीं मानता। फ़ायरवाख चाहते हैं कि इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं को विचार के विषयों से पृथक् करके देखा जाय, किन्तु वे स्वयं मनुष्य की क्रिया को वस्तुओं के ज़रिये होनेवाली क्रिया करके कल्पना नहीं करते। इसके फलस्वरूप वे 'ईसाई मत का सार' नामक पुस्तक में सैद्धान्तिक रुख़ को ही एकमात्र सही मानवीय रुख़ देखते हैं, और वे व्यवहार की कल्पना केवल उसके गन्दे यहूदी (यानी बाहरी) स्वरूप यानी दृश्यमान के रूप में करते हैं, इसलिए वे क्रान्तिकारी तथा व्यावहारिक समालोचनात्मक क्रिया के महत्त्व को नहीं समझ पाते।'[१]

मार्क्स फायरवाख पर एक पूरी पुस्तक ही लिखनेवाले थे, किन्तु कार्य की अधिकता के कारण वे इस पुस्तक को नहीं लिख पाये। उनके मरने के बाद उनकी एक पुरानी कापी मिली जिसमें उन्होंने फायरवाख के सम्बन्ध में ग्यारह बिन्दु तैयार किये थे। उनको एंगेल्स ने अपनी पुस्तक लुड्विग फायरवाख के १८८८ वाले संस्करण में प्रकाशित किया। जो लोग गम्भीरता से फायरवाख और मार्क्स

---

१. T. F. K. (First thesis)

के दर्शनों के प्रभेदों का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक अपरिहार्य है। मार्क्स के सारे वक्तव्य का निचोड़ ग्यारहवें बिन्दु में आ जाता है। वह ग्यारहवाँ बिन्दु एक सूत्र के रूप में है। वह यों है, 'दार्शनिकों ने विभिन्न तरीक़े की व्याख्या भर की है, किन्तु प्रश्न तो है उसको बदलने का।' जैम्सन ने इस सूत्र का अनुवाद यों किया है—'अब तक दार्शनिक केवल जगत् की व्याख्याओं को बदलते रहे हैं, किन्तु हमारा काम जगत् को बदलना है।'[१] मूल न होने के कारण हम यह कहने में असमर्थ हैं कि प्रचलित अनुवाद सही है या जैम्सन का अनुवाद, किन्तु दोनों में कोई मूलगत प्रभेद नहीं है। इस सूत्र में फायरवाख की पूरी समालोचना आ जाती है। फायरवाख ने केवल एक व्याख्या को छोड़कर दूसरी व्याख्या को—वह चाहे भौतिकवादी व्याख्या ही हो—अपनाया था, कुछ कर्मधारा की ओर इशारा नहीं किया था। 'फायरवाख ने धर्म की जो समालोचना की है, वह धर्म के विरुद्ध लड़कर उसे ख़तम कर देने के लिए नहीं, बल्कि उसको एक नये कथित उच्चतर रूप में पुनरुज्जीवित करने के लिए।'[२]

इतने पर भी फायरवाख के सम्बन्ध में "मार्क्स और एंगेल्स जब भी लिखते हैं तो यही लिखते हैं कि उन्होंने एक दार्शनिक के रूप में भौतिकवाद को उसकी सही जगह पर पहुँचा दिया। तो भी मार्क्स और एंगेल्स का भौतिकवाद फायर-वाख के भौतिकवाद से भिन्न है। सच तो यह है कि मार्क्स और एंगेल्स ने फायर-वाख के भौतिकवाद से केवल उसका आन्तरिक सार भाग ग्रहण कर लिया, और उसको भौतिकवाद के वैज्ञानिक दार्शनिक सिद्धान्त में परिणत कर दिया, तथा उसके ऊपर जो भाववादी धार्मिक नैतिक तामझाम थे, उनको निकाल कर अलग कर दिया। हम जानते हैं कि यद्यपि फायरवाख मूलगत रूप से भौतिकवादी थे, फिर भी उन्होंने बौद्धिकवाद के नाम पर आपत्ति की। एंगेल्स ने एकाधिक बार यह कहा कि 'भौतिकवादी नींव के बावजूद फायरवाख परम्परागत भाववादी बेड़ियों में जकड़े पड़े रह गये,' और यह कि 'फायरवाख का वास्तविक भाववाद उसी समय स्पष्ट हो जाता है, जिस समय वे धर्म तथा सदाचार के दर्शन पर आते हैं।'"[३] इन सब त्रुटियों के होते हुए भी मार्क्स और हेगेल के बीच की

१ D. T. २ R. L.
३ D. M.

कड़ी के रूप में फायरवाख का महत्त्व निर्विवाद सिद्ध है। हेगेल का दर्शनशास्त्र जो अब तक सिर पर खड़ा था उसे, आगे चलकर, मार्क्स ने पैरों पर खड़ा किया, उसकी मुख्य बात यह थी कि विचार अस्तित्व पर निर्भर है। हम देख चुके कि मार्क्स के पहले ही फायरवाख ने इस विचार का प्रतिपादन किया था, किन्तु एक तो वे इसकी विकास प्रक्रिया को न दिखा सके; दूसरे वे इसके तार्किक उपसंहार तक न जाकर मझधार में रह गये, और प्रेमवाद से अपनी नाव बाँध दी जिसका नतीजा यह हुआ कि वह कहीं भी न पहुँच पाई।

१५—मार्क्सवाद पर भी विकास का नियम लागू—मार्क्स की रचनाओं को अध्ययन करते समय बार बार यह बात ध्यान में आती है कि मार्क्स येनकेन प्रकारेण, जगत् की व्याख्या करने में ही अपनी इति कर्त्तव्यता नहीं समझते थे, बल्कि उनके शरीर का प्रत्येक रक्त-बिन्दु जगत् को परिवर्तित करने के लिए लालायित था। इसी व्याकुलता के कारण मार्क्स एक शुष्क वैज्ञानिक के अतिरिक्त एक महान् क्रान्तिकारी के रूप में हमारे सामने आते हैं। मार्क्सवादीगण हेगेल की तरह कभी यह दावा नहीं करते कि मार्क्सवाद सर्वांगपूर्ण हो चुका। मार्क्स के सबसे बड़े अनुयायी तथा कार्यक्षेत्र में उनके सिद्धान्त को सफलता मंडित करनेवाले लेनिन ने ही लिखा है कि 'किसी भी अर्थ में हम मार्क्सवाद के सिद्धान्त को कोई सम्पूर्ण सिद्धान्त नहीं समझते बल्कि इसके विपरीत हम यह समझते हैं कि यह सिद्धान्त उस विज्ञान का मूलतत्त्व है, जिसे समाजवादियों को प्रत्येक दिशा में बढ़ाना पड़ेगा यदि वे जीवन के पीछे रह जाना नहीं चाहते।' मार्क्सवाद की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। मार्क्सवाद केवल इतिहास को ही एक क्रम विकासशील प्रक्रिया के रूप में नहीं देखता। ऐसा तो हेगेल भी करते हैं, यद्यपि वे ग़लत तरीक़े से, भाव से ही सारी प्रक्रिया को उद्भूत बतलाते हैं। बल्कि मार्क्सवाद अपने को भी इस दायरे में समझता है और अपने को भी विकसमान सिद्धान्त के रूप में देखता है। हम इस पर आगे और आलोचना करेंगे।

१६—हेगेलवाद से अपने मतभेद पर मार्क्स—मार्क्स ने अपनी पद्धति की तुलना हेगेल की पद्धति के साथ करते हुए 'पूँजी' के द्वितीय जर्मन संस्करण की भूमिका में लिखा है 'मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से न केवल मूलगत रूप से विभिन्न है, बल्कि उसके बिलकुल विपरीत है। हेगेल के

लिए विचार की प्रक्रिया (जिसको वे भाव नाम देकर एक स्वतन्त्र वस्तु के रूप में परिणत करते हैं) वास्तविकता की स्रष्टा है, और उनके लिए वास्तविकता केवल भाव की बाह्य अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत मेरे निकट भौतिक जगत् जब मनुष्य के अन्दर पहुँचा है, और उसका अनुवाद हुआ है, तब भाव बना है। इसके अलावा भाव कुछ भी नहीं है।' हेगेलवाद के साथ अपने सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए मार्क्स इसी प्रसंग में लिखते हैं 'कोई तीस साल पहले जिस समय अभी हेगेलवाद का दौरदौरा था, उस समय मैंने हेगेल के द्वन्द्वात्मक न्याय के रहस्यवादी पहलू की समालोचना की; किन्तु उसी समय जब मैं Das Kapital का प्रथम संकरण तैयार कर रहा था, वे प्रतिभाहीन उद्धत तथा बदमिज़ाज लोग, जिन्होंने आज शिक्षित जर्मन जनता के कानों पर एकाधिकार स्थापित कर रखा है, हेगेल के साथ उसी प्रकार बर्ताव करने के लिए उद्यत रहते थे, जिस प्रकार लेसिंग के दिनों में मोसेस मेलडोल सोन की दुनिया स्पीनोजा के साथ व्यवहार करती थी, यानी एक 'मरे कुत्ते' की तरह। यद्यपि हेगेल के हाथों में द्वन्द्वात्मक न्याय ने रहस्यवादी रूप ग्रहण किया था, किन्तु इससे यह तथ्य दूर नहीं हो जाता कि वे ही प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इसकी गति के आम रूपों को एक व्यापक तथा सम्पूर्ण रूप से सज्ञान तरीक़े पर रखा। हेगेल के लेखों में द्वन्द्वात्मक न्याय को नीचे सिर ऊपर टाँग करके पेश किया गया है। रहस्यवाद के आवरण के अन्दर जो भौतिक सार भाग छिपा हुआ है, उसका आविष्कार यदि आप करना चाहते हैं तो आपको इसे फिर से उलट देना पड़ेगा।'[१] इस प्रकार मार्क्सवाद की विचारधारा में हेगेलवाद का दान स्पष्ट हो जाता है।

---

१ C. K. M. (भूमिका)

इतिहास-निर्माण में भूगोल तथा आबहवा का स्थान

१—भौगोलिक अवस्था एक शक्ति—उत्पादन का स्वरूप तथा उत्पादन की परिस्थितियाँ जीवन धारण की भौतिक अवस्थाओं पर निर्भर हैं। जीवन धारण की इन भौतिक अवस्थाओं में कई बातें आती हैं। 'सामाजिक उत्पादन के दौरान में मनुष्य विशिष्ट सम्बन्धों में संयुक्त हो जाते हैं, जिनका निर्णय उनकी इच्छा से स्वतन्त्र रूप से होता है। ये उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों की निर्दिष्ट विकास की मंज़िल के अनुयायी हैं। उत्पादन के इन सम्बन्धों के योगफल से समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है। यह वह वास्तविक आधार है जिस पर क़ानूनी तथा राजनैतिक ऊपरी ढाँचा विकसित होता है।'[१]

उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों में जो बातें आती हैं उनमें भौगोलिक अवस्था का बहुत महत्त्व है। स्टालिन लिखते हैं 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि भौगोलिक परिस्थितियाँ समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाओं में एक बहुत ही अपरिहार्य और धारावाहिक अवस्था है। ज़रूर ही इसका समाज के विकास पर असर पड़ता है।'[२] प्लेखनाफ भी इस बात को मानते हैं। उनका कहना है 'हम अब इस बात को जानते हैं कि उत्पादन की शक्तियाँ भौगोलिक विकास की अवस्थाओं की विशेषताओं पर प्राथमिक रूप से निर्भर हैं, किन्तु ज्योंही कोई खास सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं, त्योंही वे अपनी बारी में उत्पादन की शक्तियों के विकास पर एक विशेष असर डालते हैं। इसलिए जो प्राथमिक रूप से परिणाम था, वह अब कारण के रूप में परिणत हो जाता है। एक तरफ़ उत्पादन की शक्तियों के विकास तथा दूसरी तरफ़ सामाजिक प्रणाली के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है जो विभिन्न युग में विभिन्न रूप धारण करती है।'[३]

---

१. C. K. M. द्वितीय जर्मन संस्करण की भूमिका।
२. D. M. ३. F. P. M.

२—भौगोलिक परिस्थिति के असर के उदाहरण—भौगोलिक परिस्थिति के कुछ मोटे-मोटे परिणामों को तो बहुत स्थूल दृष्टिवाला व्यक्ति भी समझ सकता है। उदाहरण-स्वरूप राजपूताने के लोग आमतौर से अच्छे नाविक या तैराक अथवा तिब्बत कोई नौशक्तिशाली व्यापारी देश नहीं हो सकता। सूक्ष्मतर प्रभावों को समझने के लिए इससे सूक्ष्मतर दृष्टि की आवश्यकता है। श्वाइन फुर्थ ने लिखा है कि अफ़्रीका में जब किसी स्थान में आबादी अधिक हो जाती है, तो आबादी का कुछ हिस्सा अपना वासस्थान बदल देता है, और वासस्थान बदलते ही फ़ौरन अपनी जीविका का तरीक़ा भी बदल देता है। जो कबीले खेती करते थे वे शिकार से जीवन धारण करने लगते हैं और जो अब तक पशु-पालन करते थे वे खेती करने लगते हैं। श्वाइन फुर्थ ने और भी दिखलाया है कि मध्य अफ़्रीका के जिन हिस्सों में लोहा है, उनमें लोग लोहा गलाने और हथियार तथा औजार बनाने लग जाते हैं। प्लेखनाफ ने यह दिखलाया है कि जिन स्थानों में धातु नहीं थे, वहाँ के आदिम-निवासी बाहरी सहायता के बग़ैर प्रस्तरयुग से बाहर नहीं जा सके। इसी प्रकार यह भी दिखलाया गया है कि आदिम मछली मारनेवाले लोगों तथा शिकार जीवियों को पशुपालन तथा खेती के सोपान में पहुँचाने के लिए यह ज़रूरी था कि अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति तथा अनुकूल वनस्पति और पशु हों। 'ल्युइस मारगन ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि नवीन जगत् अर्थात् अमेरिका और प्राचीन जगत् के सामाजिक विकास में जो भारी अन्तर है, उसे हम एक ही तरीक़े से समझ सकते हैं; वह यह है कि अमेरिका में ऐसे प्राणी नहीं थे जो पालतू बनाये जा सकें, तथा इन दोनों गोलार्द्धों के वनस्पति जगत् में भी फ़र्क़ था। उत्तरी अमेरिका के लाल चमड़ीवाले लोगों के विषय में लिखते हुए वाइटस ने लिखा है कि इनके पास कोई पालतू जानवर नहीं थे। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही मुख्य कारण है जिससे ये लोग विकास के इतने निम्न स्तर पर रह गये।'[१] जूलियस सीज़र ने जिस समय इँगलेंड पर आक्रमण किया था, उस समय इँगलैंड के लोग समुद्र के द्वारा बाहरी जगत् से कटे होने के कारण ही यूरोप की अन्य जातियों के मुक़ाबिले में असभ्य थे। जिस समुद्र के विषय में ब्रिटेन के लोग यह कहते हैं—

१. F. P. M. p. 27

Rule Britania, rule the waves
Britons shall be never slaves/

अर्थात्—'ब्रिटानिया, तुम सागर की लहरों पर शासन करती रहो, फिर ब्रिटेन के लोग कभी गुलाम नहीं होंगे,' वही समुद्र ब्रिटेन की असभ्यता का कारण था। हम अपने परिणाम को पहले से न बता करके इतना तो कही सकते हैं कि जब नौविद्या की उन्नति हुई अर्थात् ब्रिटेन के लोगों ने सागररूपी भौगोलिक परिस्थिति को नियमित्र करके उसे एक बाधा की जगह सहायक अवस्था में परिणत कर लिया, तो इँगलैंड सागर का राजा हो गया। १९३९-४५ के महायुद्ध में ब्रिटिश खाड़ी के कारण कह लीजिए या श्रेष्ठतर नौसेना के कारण, हिटलर इँगलैंड को नहीं जीत सका, किन्तु एक दिन जब ब्रिटेनवाले नौविद्या से अपरिचित थे, जूलियस सीज़र ने सागर के रास्ते इँगलैंड को जीता था।

कुछ विद्वान् भौगोलिक तथा आबहवा-सम्बन्धी परिस्थितियों को इतना महत्त्व देते हैं कि वे उसी को इतिहास की निर्णयकारी शक्ति मानते हैं। पीक और फ्लार ने अपनी लेखमाला The corridors of times में इसी मत का प्रतिपादन किया है। जूलियन हक्सले ने मुख्यतया इस लेखमाला को आधार मानकर जिस मत का प्रतिपादन किया है, वह बहुत ही दिलचस्प है। ऐसे लोगों के अनुसार इतिहास की व्याख्या का कुछ नमूना पेश कर तब हम इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण प्रकट करेंगे। संक्षेप में ये विद्वान् इतिहास को जिस प्रकार देखते हैं, वह यों है—

३—मनुष्य की उत्पत्ति भौगोलिक कारणों से?—स्वयं मनुष्य की उत्पत्ति ही आबहवा-सम्बन्धी कारणों से हुई। कहा जाता है कि जब आदिम जंगलों के बीच से पानी हट गया, उस समय मनुष्यों के पूर्वपुरुष पेड़ों से उतर आये और वे मुख्यतया ज़मीन पर रहने लगे। उस युग में हिमालय बहुत ऊँचा था। यह अनुमान किया गया है कि मनुष्य की उत्पत्ति हिमालय के उत्तर में हुई। ज्यों ज्यों यहाँ पर ज़मीन सूखती गई, जंगल दक्षिण की ओर खिसकते गये, किन्तु एक जगह पर जाकर उनका सामना अलंघ्य पहाड़ों से हुआ, और एशिया से उनका उच्छेद ही हो गया। इसलिए इन भूभागों के मनुष्य सदृश (Authro poid) अधिवासी या तो ख़तम होने के लिए बाध्य हुए, या नई परिस्थितियों

में अपने को अधिकतर भूतलवासी तथा मांसभक्षक बनकर बचाने में समर्थ हुए। ऐसे विद्वानों का अनुमान है कि पाँच लाख वर्ष पहले बरफ़ युग में ज़रूर किसी रूप में मनुष्य मौजूद रहे होंगे। इस सम्बन्ध में अभी काफ़ी मसाला न मिलने के कारण कोई सिलसिलेवार इतिहास लिखना सम्भव नहीं हुआ है।

४—सहारा की सभ्यता का विनाश भौगोलिक कारणों से—जिस समय हिमानी युग (glacial period) की बरफ़ आख़िरी बार के लिए जाने को तैयार हो रही थी, उस समय उत्तर अफ़्रीका के ऊपर 'आँधी की पेटी' (Storm belt) थी यानी इस दायरे में आये हुए भूभागों में मौसम तेज़ी से और बार-बार बदलते थे। ऐल्सवर्थ हन्टिंगटन ने कहा है कि इस प्रकार का जलवायु मनुष्य की कर्मशक्ति तथा सफलता के लिए परम उत्तेजक है। यह अनुमान किया जाता है कि इसी आँधी की पेटी के कारण इस समय की सहारा मरुभूमि हरी-भरी और उर्वर थी। शायद अफ़्रीका या दक्षिण एशिया से ही ई० पू० २०,००० में यूरोप को आधुनिक मनुष्य प्राप्त हुए। सहारा की यह समृद्धि अधिक दिन स्थायी न हो सकी, क्योंकि ज्यों ज्यों बरफ़ उत्तर की ओर जाने लगी, त्यों-त्यों आबहवा की पेटियाँ भी उसके पीछे धसकने लगीं, और सहारा शुष्क पेटी के दायरों में आ गया। इस प्रकार सहारा के उजड़ने का कारण आबहवा की पेटियों का धसकना है। सहारा भी कभी हरा-भरा था, और वहाँ भी कभी प्रचुर जल था, इसका प्रमाण छिटफुट नख़-लिस्तानों में मौजूद घड़ियालों तथा कुछ ताज़े पानी की मछलियों के अस्तित्व से मिलता है। सहारा के सूख जाने पर वहाँ के लोग दक्षिण तथा उत्तर की ओर भागने के लिए मजबूर हुए।

५—आबहवा के दबाव से कृषि की उत्पत्ति—इस बीच में जो भूभाग सबसे उर्वर तथा मनुष्य की कर्मशक्तियों के लिए सबसे उत्तम था, वह भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द की भूमि, इराक, तुर्किस्तान साबित हुए। इससे फिर नई गतियाँ शुरू हुईं। प्राचीन प्रस्तर युग के अन्तिम मनुष्य वृक्षहीन समतलों में ख़तम होते हुए, शिकार का पीछा करते हुए उत्तर की तरफ़ चल दिये। अन्त में वे जाकर जंगल और समुद्र के बीच फँस गये, और बाल्टिक के किनारे घोंघा, मछली

तथा जंगली फलों को बीननेवाले लोग होकर रह गये। प्रस्तर युग के दूसरे लोगों के जो वंशधर उत्तर अफ़्रीका और स्पेन में रह गये थे, उन्होंने कास्पीय संस्कृति (Caspian culture) का विकास किया। बाद को वे भी उत्तर की ओर चले गये, और अन्त में पश्चिमी एशिया में पहुँचे। इस मत के अनुसार ज्यों ज्यों जंगलों की अग्रगति के सामने खुले मैदान घटते गये, त्यों त्यों बड़े शिकार घटते गये; ज्यों ज्यों बड़े शिकार कम हो गये, मनुष्य अन्य खाद्यों की तरफ़ झुकने लगे। वे शिकार के साथ साथ जंगली फल-मूल पर गुज़र-बसर करने लगे। ऐसा वे मजबूरी के कारण ही करने लगे। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से आज हम इसे जाति कह सकते हैं फिर भी आदिम मनुष्य को जब शिकार की कमी हुई होगी, और उसे मजबूरी से फल-मूल आदि पर आना पड़ा होगा, उसने इसको एक महान् दुर्भाग्य समझा होगा। इस प्रकार मनुष्य फिर एक बार आबहवा के परिवर्तन के कारण प्रगति के लिए मजबूर हुआ। इसी प्रकार फल-मूल बीनने से उसकी प्रगति फल-मूल तथा अनाज को उत्पन्न करने यानी कृषि की ओर हुई होगी। समझा जाता है कि ईसा पूर्व पाँच हज़ार के लगभग निकट पूर्व में कृषि का आविष्कार हुआ था। यह अनुश्रुति है कि देवी इसिस ने शाम में हरमन पर्वत पर अनाज पाया, और उसने इसे अपने पुत्र को दिया। हक्सले के अनुसार इस अनुश्रुति में सत्य के दो हिस्से होंगे। एक तो यह कि अधिक सम्भव है, पुरुष के बजाय स्त्री को ही अनाज उत्पन्न करने का विचार हुआ होगा; क्योंकि पुरुष तो शिकार में ही लगा रहता था। दूसरी बात यह है कि शाम अथवा इसके आसपास कहीं कृषि का आविष्कार हुआ होगा।

६—**खेती का प्रारम्भ**—समझा जाता है कि ई० पू० पाँच हज़ार में अनाज उत्पन्न करने की रीति फिलिस्तीन से घूमकर इराक़ में पहुँची, और स्थायी बस्तियाँ बस गईं, किन्तु यह तथ्य अभी सुनिश्चित नहीं है। फिलिस्तीन इसलिए खेती का उत्पत्ति स्थल माना गया है कि वहाँ के गुफा-निवासों में कुछ प्राचीन हँसिये प्राप्त हुए हैं, किन्तु ये हँसिये खाद्य एकत्र करने के उपयोगी हैं, न कि खेती द्वारा खाद्य उत्पादन के। गाडने चाइल्ड का कहना है कि ये गुफा-निवासी, जिन्हें नाटु-फियन कहा गया है, एक पिछड़े हुए कबीले के थे, और इन्होंने किसी और जाति से खेती का कुछ काम सीख लिया था, किन्तु वे अभी तक अपनी आर्थिक पद्धति

को इस नये आविष्कार के अनुसार संगठित नहीं कर पाये थे।[१] इधर प्राक्-आर्य भारत में भी खेती के होने का पता लगा है। भारतीय आर्यों ने यहाँ की आदिम-निवासी आस्ट्रिक जाति से कई मुख्य चीज़ों की खेती सीखी, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह प्रमाणित हो चुका है कि आर्यों ने आदिम निवासियों से धान, इमली, नारियल, केला, पान, सुपारी और शायद हल्दी, अदरक, बैंगन तथा लौकी की खेती सीखी। खेती के विकास के सम्बन्ध में ब्यौरे आगे दिये जायँगे।

७—नूह की कहानी का आधार, मिस्र की सभ्यता का भौगोलिक कारण— हिमानी युग चुपचाप ख़तम नहीं हुआ, बार बार वह मरकर भी ज़िन्दा होता रहा। इसके फलस्वरूप भूभाग में भी परिवर्तन होता रहा। ई० पू० ४,५०० में क़रीब एक सदी तक बरफ़ के प्रकोप की वृद्धि हुई। इससे ज़मीन ऊँची उठ गई। इसके दो दिलचस्प नतीजे हुए। इराक़ के इर्द-गिर्द इतनी बरफ गिरी कि मालूम होता है, बाढ़ के मारे कई बसे हुए भूभाग उजड़ गये। हज़रत नूह की बाढ़ की कहानी, मालूम होता है, इसी घटना से संश्लिष्ट है। मिस्र पर बरफ़ के इस प्रकोप का विशेष प्रभाव पड़ा। इस समय के पहले तक नील नदी की उपत्यका दलदल से भरी हुई तथा मुख्यतया बस्ती के अयोग्य थी। हक्सले का अनुमान है कि ज़मीन के उच्च हो जाने से यह उपत्यका सूख गई, और बस्ती के लायक़ हो गई। ज्यों ही ज़मीन में इस प्रकार का परिवर्तन हुआ, त्यों ही चारों तरफ़ से कृषि करनेवाले लोग इस तरफ़ आकर बसने लगे। इस प्रकार मिस्र की सभ्यता का उदय हुआ। मिस्र की सभ्यता ने जो और सभ्यताओं को अपने सामने फीका कर दिया, इसका भी कारण प्राकृतिक परिवर्तन बतलाया जाता है।

८—अरब और मिस्र की सभ्यताओं की भौगोलिक पृष्ठभूमि— हक्सले लिखते हैं कि ई० पू० ४,००० के पहले ही मनुष्य ने लेखन-कला, सिंचाई तथा शराब बनाना सीख लिया था। एक हज़ार वर्ष तक यह सभ्यता बेरोक-टोक बढ़ती रही। मोटे तौर से यह सभ्यता मिस्र से लेकर शाम अर्थात् दजला फ़रात के किनारे तक थी। धीरे धीरे ज़मीन फिर नीची होने लगी, और अरब प्रायद्वीप तथा स्टेपों (Steppes) में नम आबहवा रही, और वहाँ की

१. M. M. H. p. 77

बद्दू जाति अपने ही देश में खूब बढ़ती रही। इराक़ की सभ्यता किस दर्जे पर पहुँची थी, यह खाल्दियों के ऊर नामक स्थान से प्राप्त द्रव्यों से ज्ञात होता है। इस सभ्यता का समय हक्सले के अनुसार ई० पू० ३,५०० है। इस युग की सबसे बड़ी प्राप्तियों में पुरोहित, राजा, पत्थर की स्थापत्यकला, मेहराब (arch) का निर्माण, लिखित क़ानून तथा समुद्री जहाज़ हैं। इसी के बाद फिर ज़मीन उच्च हुई और सूखे का एक नया युग आया। इस कारण प्राचीन सभ्यता अपने आदिम स्थान ऊर में तो ढह गई, किन्तु अब यूरोप, अफ़्रीका और एशिया में फैल गई। मिस्र की सभ्यता ने अपने ही वेगबल से परिचालित होकर नई सफलताओं को प्राप्त किया। पत्थर के सुन्दर मन्दिर और पिरामिड बने। गणित और ज्योतिष की उत्पत्ति हुई। राष्ट्र एक नियमित नौकरशाही के द्वारा परिचालित होने लगा। थोड़े ही दिन बाद इराक़ में राजा सारगन का उदय हुआ जो उन विजेताओं में प्रथम थे, जिन्होंने सेनाओं के द्वारा राज्य का निर्माण किया। सेनाएँ इसी युग की नई उत्पत्ति थीं। वर्ग-समाज की उत्पत्ति के साथ साथ वर्ग राष्ट्र की तरफ़ से एक संगठित दमनकारी शक्ति के रूप में सेना का उदय अनिवार्य था। यों तो आदिम शिकारीगण भी लड़ते होंगे, किन्तु उन लड़ाइयों में सीधा सीधा एक समाज सारे दूसरे समाज से भिड़ जाता था; उस युग में सेनाओं के द्वारा लड़ाई नहीं होती थी। हक्सले भी यह मानते हैं कि सम्पत्ति और रियायतों की उत्पत्ति के साथ साथ लड़ाई का लड़ाई के रूप में विकास हुआ। ई० पू० ३,००० के पहले स्टेपों में पहले-पहल घोड़ों को पालतू बनाया गया। घोड़ों को पालतू बनाने के कुछ ही दिनों बाद सूखे का प्रादुर्भाव हुआ, और बद्दू लोग खाने की कमी के कारण घोड़ेसहित स्थायी बस्तियों पर टूट पड़े। ये घोड़े उस युग में रणनीति के क्षेत्र में उतने ही बड़े हथियार थे जैसे १९३९–४५ के युद्ध में टैंक थे। इस प्रकार मिस्र और इराक़ की सभ्यता पर जो हमले हुए, उनका कारण स्टेपों में सूखा पड़ना था।

९—आबहवा के कारण, वाणिज्य का प्रसार तथा आयरिश संस्कृति का उदय—इस बीच में कई कारणों से अनाज-उत्पादक मनुष्य सब दिशाओं को जाने के लिए मजबूर हुए। जन-संख्या की वृद्धि के साथ साथ आबहवा-सम्बन्धी परिवर्तन इसके कारणरूप हुए। हक्सले का अनुमान है कि ई० पू०

३,००० तक यूरोप महादेश पर अनाज-उत्पादक मनुष्यों की बस्ती नहीं थी। इसके बाद हज़ार साल में थ्रेस, जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस के अधिकांश भाग में ऐसे लोग बस गये थे। भूमध्यसागर इनके मध्यवर्ती होने के कारण व्यापार का वाहन हो गया, और ईजियन समुद्र के नाविक ई० पू० २,२०० तक एटलांटिक के किनारे पहुँच गये। इसी के साथ पूर्व की ओर लोग फैले और एक नई संस्कृति उत्तर भारत तथा चीन में पहुँची। हक्सले समझते हैं कि इसी से संस्कृति के पहले कीटाणु वहाँ पहुँचे। यह भी समझा जाता है कि अमेरिका की पहली किश्त पहुँची, और यह उस जगह के ज़रिये पहुँची जहाँ अब वेयरिंग स्थल डमरू-मध्य है। अगले हज़ार वर्ष में जहाज़ों की सहायता से मनुष्य की आबादी फैली। यूरोप के उत्तर-पश्चिम में भी मनुष्य फैले। सामुद्रिक वाणिज्य आयरलैंड और स्कैंडिनेविया तक पहुँचा। आयरलैंड ने संस्कृति की एक उच्च सतह प्राप्त की। हक्सले समझते हैं कि पहले आयरलैंड की आबहवा सदियों तक अत्यन्त आर्द्र थी, इसलिए वहाँ के लोगों की कर्मशक्ति कुंठित हो जाती थी, किन्तु अब शुष्क तथा स्वास्थ्यकर आबहवा के कारण इस संस्कृति का उद्भव हुआ।

१०—विभिन्न सभ्यताओं के उदय तथा विलय में आबहवा-सम्बन्धी कारण—ई० पू० १८०० में फिर आबहवा-सम्बन्धी एक परिवर्तन हुआ, और आबहवा क्रमशः आर्द्र और शीतल होती गई। ई० पू० १२०० से २०० ईसवी तक आर्द्रता तथा ठंडक का एक नया चक्र चला जो ई० पू० ४०० में पराकाष्ठा को पहुँचा था, और धीरे धीरे गिरते गिरते ५०० ई० तक सूखे में पहुँच गया। फिर एक बार आँधियों की पेटी भूमध्यसागर के अन्दर से चली। इस प्रकार बैबीलोनिया, असीरिया, केनान, फिनिसिया तथा बाद के युग के क्रीट, मिस्र, ट्राय, ग्रीस, कारथेज तथा रोम आदि की सभ्यता का उदय हुआ। भूमध्सागर मानवीय कर्मशक्ति का केन्द्र हो गया। चूँकि बद्दूगण अपने स्टेपों में तब तक आराम से रह सकते थे जब तक यह आर्द्र हवा चलती रही, ये जातियाँ बर्बरों के आक्रमण से पीड़ित न होकर उन्नति करती रहीं, किन्तु इस समय आबहवा में परिवर्तन होने से उत्तरी देशों का सर्वनाश हो गया। उन पर ठंडक और आर्द्रता का प्रकोप हुआ, सड़ी हुई वनस्पति के दलदल और जंगल फैल गये। आबहवा में इसी परिवर्तन के कारण आयरलैंड और स्कैंडिनेविया की संस्कृति का पतन आ

और ई० पू० पंचम तथा चतुर्थ शताब्दियों में बड़े ज़ोर की ठंडक पड़ी। स्कैंडिनेवीय गाथाओं में शायद इसी की बातें मौजूद हैं।

११—ग्रीस और रोम की सभ्यता का कथित भौगोलिक कारण—इसके बाद भूमध्यसागर की सभ्यता के पतन का प्रारम्भ हुआ। जोन्स नामक एक विद्वान् का यह विचार है कि ग्रीस के पतन का कारण अफ़्रीका से लाया हुआ मलेरिया था। हक्सले लिखते हैं कि इस युग में सूखने की प्रक्रिया जारी थी, इसलिए यह अनुमान सही हो सकता है। नदियों तथा तलाबों के सूखने से मलेरिया के मच्छड़ बनने में सहायता मिली। बतलाया जाता है कि शायद रोम के पतन का कारण भी मलेरिया हो, किन्तु हक्सले समझते हैं कि शायद इटली में ग्रीस से अधिक वृष्टि होने के कारण मलेरिया के विस्तार का प्रभाव पीछे हुआ। इसी बीच भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द देशों में आबहवा-सम्बन्धी कारणों से कृषि भी घट गई, फिर बर्बर लोग भी चढ़ आये।

१२—गाथ और हूण जातियों के हमलों का आबहवा-सम्बन्धी कारण—५०० ई० से १००० ई० तक का युग निश्चित रूप से शुष्क था। हक्सले की समझ में यही कारण है कि हूण और गाथ जातियाँ सारे यूरोप में फैल गईं और सूखे से पीड़ित अरब देश से इस्लाम के विस्तार की उत्तेजना मिली, किन्तु इसी कारण दलदलयुक्त उत्तर में नये जीवन का संचार हुआ, आयरलैंड की संस्कृति पुनरुज्जीवित हुई। इसी युग में स्कैंडिनेविया में वाइकिंगों का दबदबा रहा। इस युग के अन्त में आर्द्रता बढ़ी, और आर्द्रता के कारण वे अपनी जीविका तथा ज़मीनों से वंचित हो गये। वे फिर इधर-उधर चलने लगे, यहाँ तक कि सिसली में पहुँच गये।

१३—माया सभ्यता की आबहवागत व्याख्या—हक्सले ने इन नियमों को केवल प्राचीनतर गोलार्द्ध पर लागू नहीं किया, बल्कि नवीन गोलार्द्ध के यूकाटान की माया सभ्यता पर लागू किया है। माया लोगों के इतिहास के दो स्वर्णयुग शीतल तथा आर्द्र युगों से मिलते हैं।

१४—मनुष्य के चरित्र तथा कर्मशक्ति पर ज़मीन और जानवर का असर—हक्सले ने दिखलाया है कि मानवीय इतिहास पर आबहवा तथा प्राकृतिक घटनाओं के प्रभावों का प्रश्न केवल अटकलपच्चू नहीं है। उनके कथनानुसार

इनका कुछ व्यावहारिक परिणाम उस समय उस देश के जानवर, ज़मीन तथा घास के मैदानों पर दृष्टिगोचर हो सकता है। इस सिलसिले में ज़मीन की रासायनिक बनावट, साथ ही आबहवा महत्त्वपूर्ण बातें हैं, किन्तु एक तरह से ये दोनों परस्पर सम्बद्ध भी हैं। समय समय पर जानवर अज़ीब चीज़ों को खाने लगते हैं जैसे वे हड्डियाँ चबाने लगते हैं या मरे हुए जानवरों को खा जाते हैं। इस पर भी अध्ययन किया गया और विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे कि उन जानवरों में गम्भीर शारीरिक न्यूनताएँ हैं, तभी वे इन चीज़ों को खाकर उन न्यूनताओं को पूर्ण करते हैं। वे इस प्रकार खाद्य में किसी उपादान की न्यूनता की पूर्ति कर लेते हैं। यह न्यूनता अन्तिम विश्लेषण पर ज़मीन की न्यूनता पर सम्बद्ध है। यों तो कई उपादानों की कमी से जानवरों में यह अस्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है, किन्तु फासफोरस या कैल्सियम की या दोनों की कमी होने पर ही पशु ऐसा आचरण करता है। हड्डियों के लिए ज़रूरी उपादान होने के कारण इन दोनों में से किसी की कमी से सही तौर पर हड्डियों की वृद्धि नहीं हो पाती, इसी कारण जानवर अपने स्वभाव के विरुद्ध आचरण करते हैं। ऐसे जानवरों के दूध में कैल्सियम और फासफोरस की कमी हो जाती है। उनके बच्चे इस कमी के कारण पीड़ित हो जाते हैं। हड्डियों तथा लाशों के लिए अस्वाभाविक भूख की तृप्ति से इस कमी की तृप्ति होती है, किन्तु कई बार लाशों तथा हड्डियों में रोग-कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए अकसर इनके खानेवालों को पुष्टि प्राप्त होने के बजाय भारी नुक़सान होता है। बताया जाता है कि फाकलैंड द्वीपपुंज के चरागाहों में कैल्सियम की कमी के कारण वहाँ के जानवरों की वृद्धि रुक गई थी। इन सब बातों का असर यह हुआ कि जो मनुष्य इन जानवरों के मांस तथा दूध पर गुज़ारा करते हैं, उनके शरीर में भी त्रुटि हो गई। इस प्रकार ज़मीन की न्यूनता के कारण ऐसे भूभागों के जानवर समय समय पर चरने के लिए ऐसी जगह पहुँच जाते थे, जहाँ ये कमियाँ न हों। यह बहुत ही स्वाभाविक बात है। हक्सले ने दिखलाया है कि अफ़्रीका के कुछ भागों में, जहाँ इस प्रकार खाद्य में खनिज पदार्थगत न्यूनता है, वहाँ के बच्चे नमक के कंकड़ों को उसी प्रकार पसन्द करते हैं, और उसी प्रकार से नमक पर टूटते हैं जैसे सभी बच्चे मिठाई पर टूटते हैं। जिस

समय फ़्रांस में नमक पर टैक्स था, बताया जाता है कि उस समय फ़्रांस की गौओं की दशा बहुत ख़राब थी। इसके फलस्वरूप उन गौओं का मांस तथा दूध इस्तेमाल करनेवालों को यथेष्ट पुष्टि नहीं मिलती थी।

१५—घास और इतिहास का सम्बन्ध—इसी प्रकार घास भी मनुष्य की परिस्थिति का बहुत निर्णय करती है। घास से केवल मांस ही नहीं बल्कि ऊन, चमड़ा, दूध, मक्खन, पनीर, और हड्डियों, चमड़ों, सींगों से विभिन्न उपजें प्राप्त होती हैं। ब्रिटेन में हर साल घास की उपजों का मूल्य ४० करोड़ पौंड तक पहुँचता है। न्यूज़ीलैंडवाले तो घास की ही कमाई खाते हैं। भुट्टा और गेहूँ की क़िस्म की उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया गया है। उस अनुपात से घास के लिए कुछ नहीं किया गया, फिर भी घास का कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट हो गया। घास से मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

१६—विज्ञान की उन्नति के साथ जलवायु और भूगोल के प्रभाव का ह्रास—भौगोलिक प्राकृतिक कारणों को जो लोग इतिहास की निर्णयकारी शक्ति मानते हैं, उनका मत संक्षेप में संकलित कर दिया गया। हमने इस सम्बन्ध में जो तथ्य दिये हैं, वे मुख्यतः जूलियन हक्सले,[१] चाइल्ड आदि की पुस्तकों से लिये गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें से कुछ तथ्य अपनी जगह पर बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिस समय पृथ्वी पर नित्य नये भौगोलिक परिवर्तन हुआ करते थे, साथ ही मनुष्य अभी प्राकृतिक नियमों को क़रीब क़रीब कुछ भी नहीं समझता था, उस समय भौगोलिक तथा आबहवा-सम्बन्धी परिस्थिति का प्रभाव अधिक था। अब तो प्रकृति के नियमों के साथ उत्तरोत्तर अधिक परिचय हो जाने के कारण मनुष्य प्रकृति पर एक बड़ी हद तक नियंत्रण करने में समर्थ है। भूडोल ऐसी प्राकृतिक दुर्घटना पर भी मनुष्य इस हद तक तो नियंत्रण प्राप्त कर ही चुका है कि अब भूडोलप्रूफ मकान आदि बन सकते हैं। भूडोल किधर से आ रहा है, कहाँ से आ रहा है, इसका ज्ञान भी सम्भव है। जब वायुयानों का चलन साइकिलों की तरह हो जायगा तब भूडोल के समय वायुयानों का इस्तेमाल कर यानी सामयिक रूप से उन पर रहकर बहुत बड़ी हद तक भूडोल के उपद्रव से शायद बचना सम्भव होगा। अब

१ U. M. J.

मरुभूमियों के विस्तार को भी रोका जा सकता है। शायद नहर निकालने में तथा अन्य विज्ञानों में इतनी उन्नति हो कि इस समय जो हज़ारों मील ज़मीनें मरुभूमि के रूप में पड़ी हुई हैं, उन पर खेतीबारी हो सके। आखिर जैसा कि हम देख चुके, सहारा मरुभूमि किसी युग में हरी-भरी थी, और वहाँ एक सभ्यता की खेती लहलहा रही थी। जंगलों में कमी-बेशी पर किसी देश के वृष्टिपात में कमी-बेशी की जा सकती है।

१७—भूगोल और जलवायु से इतिहास की व्याख्या सम्भव नहीं—इस संबन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि वैज्ञानिकों के अनुसार गत १००० वर्ष से आबहवा में कोई विशेष उलट-फेर करनेवाले परिवर्तन नहीं हुए। इस बीच में ऐसा नहीं हुआ कि जो देश ठंडे थे, वे एकाएक गरम हो गये हों, या जो देश गरम थे, वे एकाएक ठंडे हो गये हों, जैसा कि इस ग्रह के प्रारम्भिक युग में बार बार होता रहा, ऐसा वैज्ञानिकों का मत है। इसके साथ हम यह जानते हैं कि गत हज़ार दो हज़ार वर्षों में मनुष्य की समाज-पद्धति बार बार मौलिक रूप से बदली है, इसलिए इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि भौगोलिक परिस्थिति को इतिहास की शक्तियों में मानते हुए भी उसे निर्णयकारी शक्ति कैसे माना जा सकता है। हम भौगोलिक परिस्थिति को इतिहास की शक्तियों में मानने से इन्कार नहीं करते, किन्तु हमारी इस स्वीकृति में ही यह बात अन्तर्निहित है कि ज्यों ज्यों मनुष्य प्रगति कर रहा है त्यों त्यों इन प्राकृतिक शक्तियों का प्रभाव घटता जा रहा है। हम यह तो देख ही चुके कि किस प्रकार जो समुद्र कभी इँगलैंड के पिछड़ेपन का कारण था, वही समुद्र नौविद्या की उन्नति के कारण इँगलैंड के साम्राज्य में सूर्य को अस्त होने नहीं देता है। साथ ही यह भी बता दिया जाय कि हक्सले आदि विद्वानों ने जिस प्रकार आयरलैंड, रोम, ग्रीस आदि के पतन के प्राकृतिक कारण या आबहवा-सम्बन्धी कारण बतलाये हैं, उन्हें हम ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेते। प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य सदृश अधिवासी या प्रस्तर युग के मैगडेलियनों, ओरगेनेशियनों में किस प्रकार प्रगति हुई या उनका क्यों विलय हुआ, केवल भौगोलिक तथा आबहवा-सम्बन्धी कारणों से ही इनका उत्थान या पतन हुआ या नहीं, इस पचड़े में हम नहीं पड़ेंगे; क्योंकि इस सम्बन्ध में हमारे पास बहुत कम तथ्य हैं। किन्तु रोम, ग्रीस तथा अन्यान्य

ऐतिहासिक जातियों का क्यों पतन हुआ, इसके सम्बन्ध में हम बहुत ब्यौरे में जानते हैं। भले ही जोन्स या हक्सले ऐसे कुछ विद्वान् मलेरिया को ही इसका कारण समझें, किन्तु बुर्जुआ स्कूल तथा कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों में और विशेषज्ञों की पुस्तकों में भी इन जातियों के पतन का कारण कुछ और ही बताया जाता है। जब कोई समाज उत्पादन के तक़ाज़े के अनुसार प्रगति कर उत्पादन के सम्बन्धों को परिवर्तित नहीं कर पाता, अपने गतानुगतिक पथ पर चला जाता है तो उस समाज में पहले आबद्धता आती है, और फिर एक हद पर जाकर उसका बिखरना शुरू हो जाता है। इसमें कोई रहस्य की बात नहीं है। मिस्र, रोम, यूनान का यही हुआ। हम यहाँ पर इस सम्बन्ध में और अधिक ब्यौरे में नहीं जायँगे। फिर यदि मलेरिया के पतन का एकमात्र कारण माना जाय तो यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि ये लोग बड़े बड़े आविष्कार तो कर पाये, किन्तु मलेरिया को रोकने में समर्थ नहीं हुए। जब हम इन बातों की तह में जायँगे तब हम किसी और ही नतीजे पर पहुँचेंगे।

१८—भूगोल और जलवायु के प्रभाव पर स्टालिन—स्टालिन इसलिए बहुत ही सही तौर पर यह कहते हैं कि "गत तीन हज़ार वर्षों से यूरोप का मनुष्य-समाज तीन विभिन्न सामाजिक पद्धतियों से अर्थात् आदिम साम्यवादी समाज, गुलाम पद्धतिमूलक समाज तथा सामन्तवादी समाज से गुज़र कर वर्तमान युग में पहुँचा है। रूस में तो समाज इससे भी आगे जा चुका है, यानी वह पूँजीवादी पद्धति से गुज़र कर साम्यवादी समाज में प्रविष्ट हो चुका है, किन्तु इस बीच में यानी गत तीन हज़ार वर्षों में यूरोप की भौगोलिक परिस्थिति या तो कुछ भी नहीं बदली या इतनी कम बदली कि और तो और, भूगोलशास्त्र भी उनकी बिलकुल अवज्ञा करता है। कोई महत्त्वपूर्ण भौगोलिक परिवर्तन होने में लाखों साल लग जाते हैं, किन्तु कई सौ या हज़ार दो हज़ार वर्षों में मनुष्य की समाज-पद्धति में महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौगोलिक परिस्थितियाँ सामाजिक विकास का निर्णयकारी कारण या प्रधान कारण नहीं हो सकतीं क्योंकि जो बात दसियों हज़ार वर्ष तक अपरिवर्तित रहती है, वह ऐसे मौलिक परिवर्तनों का कारणीभूत नहीं हो सकती जो कई सौ सालों में कई बार बदलती है।'

मनुष्य सभ्यता के किस दर्जे में है, इसी के अनुसार भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव कम या अधिक होता है। जिस समय मनुष्य प्रकृति के मुक़ाबिले में बिलकुल असहाय होता है, और उसने न तो खाद्य द्रव्य उत्पन्न करना सीखा है न मकान बनाना ही, उस समय वह प्राकृतिक तथा भौगोलिक अवस्थाओं के हाथों में उसी प्रकार एक असहाय खिलौना रहता है जिस प्रकार पशु होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य तजर्बे से तथा ज़रूरतों के कारण नई बातें तथा जीवन-निर्वाह के उच्चतर तरीक़े सीखता जाता है, त्यों-त्यों वह प्रकृति, आबहवा तथा भौगोलिक अवस्था की ग़ुलामी से हटता जाता है। मूसलाधार वर्षा होती रहे, किन्तु मनुष्य अब खड़े-खड़े नहीं भीगता। कड़ाके की धूप पड़ती रहे किन्तु अब वह छाँह में बैठकर चैन की बाँसुरी बजा सकता है। यदि उसने नाव बनाना सीख लिया तो समुद्र उसके मार्ग को रोक नहीं सकते। यदि उसने इतना अनाज उत्पन्न कर लिया कि कुछ संचय भी कर सकता है तो अब यह ज़रूरी नहीं रहता कि पानी ठीक समय पर बरसे या न बरसे। यदि ज़मीन में कुछ न्यूनता है तो आज मनुष्य कृत्रिम रूप से बाहर से चीज़ें लाकर इस कमी की पूर्ति कर सकता है, साथ ही एक बड़ी हद तक जानवरों को भी हर आबहवा का आदी किया जा कसता है। हेगेल का कहना है कि समुद्र और नदियाँ मनुष्य को नज़दीक लाती हैं तथा पहाड़ उन्हें दूर करते हैं। पहाड़ भी मनुष्य को तभी तक दूर कर सकते हैं जब तक मनुष्य पहाड़ को काटकर या उन्हें तोड़कर रास्ता न तैयार कर सके। हेगेल के समय में नौविद्या की उन्नति हो चुकी थी, इसलिए उन्होंने यह तो लिख दिया कि नदी और सागर मनुष्य को निकटतर कर देते हैं, किन्तु पहाड़ अभी तक बाधक बने थे, इसलिए उन्होंने इसे एक चिरन्तन नियम के रूप में लिख दिया कि पहाड़ मनुष्य को दूर कर देते हैं। आदिम मनुष्य की दृष्टि से देखा जाय तो नदी, पहाड़, सागर सभी समान रूप से मनुष्य को एक दूसरे से दूर करते थे। पहाड़ों की जहाँ तक बात है अब—जब कि ऐटम को विभक्त कर उसकी शक्ति को काम में लाना सम्भव हुआ है तब—पहाड़ों-वाली बाधा शायद अधिक दिन तक स्थायी न हो सके। इस नए आविष्कार से शायद यह सम्भव हो कि न केवल आल्प्स ही कोई बाधा न रहे, बल्कि हिमालय को भी दस बीस जगह से तोड़कर इतनी चौड़ी सड़कें बनाई जा सकें कि तिब्बत,

चीन और पामीर से भारतवर्ष के लोगों का उसी प्रकार सम्बन्ध हो जाय जिस प्रकार भारत के विभिन्न प्रान्तों में है। प्रत्येक नये आविष्कार के साथ कथित भौगोलिक और आबहवा-सम्बन्धी प्रभावों से मनुष्य मुक्त होता जा रहा है। अतः समाज-पद्धति की निर्णयकारी शक्ति क्या है, इसकी खोज हमें भौगोलिक तथा आबहवा-सम्बन्धी कारणों को छोड़कर अन्यत्र करनी पड़ेगी।

१९—भूगोल और आबहवा के असर-सम्बन्धी सिद्धान्त का दुरुपयोग— कुछ लोगों ने भौगोलिक कारण को इतना और इस प्रकार से महत्त्व दिया है कि वे विज्ञान के दायरे में न रहकर साम्राज्यवाद के पक्के समर्थक हो गये हैं। ऐसे लोगों में मो० तस्किये का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। इन्होंने बोरडिन का अनुसरण कर भूगोल और आबहवा पर बहुत ज़ोर दिया, और यह दिखाने का प्रयत्न किया कि राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का उद्भव तथा विलय आबहवा तथा ज़मीन की उर्वरा शक्ति पर निर्भर होता है। वे तो यहाँ तक कह गये कि ठंडे देशों में राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा गरम देशों में ग़ुलामी स्वाभाविक है। उन्होंने यह कहा कि पहाड़ी देश स्वतन्त्रता के लिए उत्तेजक सिद्ध होते हैं, और समतलों में, ज़ुल्म को उत्तेजना मिलती है। उनका यह भी कहना था 'एशिया के वृहत् भौगोलिक विभाजन तानाशाही को प्रोत्साहित करते हैं, किन्तु यूरोप की छोटी इकाइयाँ स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देती हैं'। अन्य लोगों के मुक़ाबिले में द्वीपवासियों का झुकाव लोक तान्त्रिक सरकार की ओर होता है।[१]

इस कथन की एक-एक बात को ग़लत प्रमाणित किया जा सकता है। यदि ठंडे देश के लोग ग़ुलाम हुए तो गरम देश के लोग भी ग़ुलाम हुए। जिन कारणों से यूरोप में पहले-पहल सामन्तवाद का अन्त होकर पूँजीवाद और उसके अत्यन्त परिणत रूप साम्राज्यवाद का उदय हुआ, तथा एशिया और अफ़्रीका के देश इनके चंगुल में फँस गये, वे कुछ और ही थे। जिस कारण से इँगलैंड में पहले-पहल पार्लियामेंटी शासन का प्रारम्भ हुआ, वह भौगोलिक नहीं है, बल्कि वहाँ के उदीयमान पूँजीवादी वर्ग का यह प्रसाद था। फिर यदि द्वीपवासियों का लोक-तान्त्रिक शासन की ओर झुकाव है तो हज़ारों अन्य द्वीपों में पार्लियामेंटी शासन का उद्भव क्यों नहीं हुआ? ऐसे मतवाद तब अत्यन्त खतरनाक हो जाते हैं जब

१ H. P. H. p. 255

उनके बूते पर यह कहा जाता है कि ख़ास-ख़ास साम्राज्यवादी देश हमेशा शासक रहेंगे, और दूसरे देश हमेशा ग़ुलाम रहेंगे। इस प्रकार का विज्ञान विज्ञान नहीं, विज्ञान के नाम पर, बुद्धि पर, बलात्कार है। बुर्जुआ लेखकों ने अपने प्रभुओं के शासन को चिरस्थायी बनाने के लिए ऐसे सिद्धान्त बना डाले हैं। कहना न होगा कि सही मानी में समाजशास्त्र ऐसे पक्षपात, दूषित मतवादों को फूटी आँखों भी न तो देख सकता है और न उसे सहन कर सकता है।

जनसंख्या और नस्ल का इतिहास से सम्बन्ध

१—जनसंख्या निर्णयकारी शक्ति—यह मतवाद—समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाओं में जनसंख्या को भी बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। यदि किसी देश में जनसंख्या बहुत ही कम हो, जैसा कोलम्बस द्वारा अमेरिका के आविष्कार के समय अमेरिका की थी, तो वह उन्नति नहीं कर सकता यह तो निसन्देह है। एक हद तक जनसंख्या का होना उत्पादन तथा विनिमय अर्थात् श्रम-सम्बन्धों को ढंग पर चालू रखने के लिए अपरिहार्य हैं। साथ ही सधारणबुद्धि यह भी बतलाती है कि एक हद के बाद जनसंख्या में वृद्धि अच्छी नहीं हो सकती। उत्पादन की शक्तियाँ जिस अनुपात से बढ़ती हैं उससे अधिक अनुपात से यदि जनसंख्या बढ़े और सब बातें ज्यों की त्यों रहें तो रहन-सहन के मानदंड में कमी होना अनिवार्य है। इस साधारण दृष्टिकोण को ही अन्त तक ले जाकर एक सिद्धान्त का रूप देकर यह कहा गया है कि जनसंख्या ही समाज की उन्नति में निर्णयकारी शक्ति है।

२—माल्थसवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—जनसंख्या के ही ऊपर किसी देश का ऐश्वर्य या दरिद्रता निर्भर है, माल्थस (१७६६-१८३४) ने इस मतवाद को स्थापित करने का 'वैज्ञानिक' प्रयत्न किया। १७८९ में फ्रांस में जो राज्य-क्रान्ति हुई थी, उसमें विजय का सेहरा यद्यपि पूँजीवादी वर्ग के सिर पर बँधा, और यूरोप भर में पूँजीवादी वर्ग के पक्ष में क्रान्तियों का एक ताँता लग गया, फिर भी उस क्रान्ति में कुछ ऐसी बातें हुईं, पूँजीवादियों को ऐसी काली शक्तियाँ दिखाई पड़ीं कि उनके सिंहासन के नीचे कुछ किसकिसाने लगा। सारे यूरोप का सम्पत्तिशाली पूँजीवादीवर्ग अभी तक उसी प्रकार थरथर काँप रहा था। जिस प्रकार एक चूहा अलौकिक रूप से बिल्ली के पंजों से बच जाने के बाद काँपता है। वायुमण्डल भी अभी तक समानता, मैत्री, स्वाधीनता की गूँज तथा जैकोविनों की हुंकार हिलोरें ले रहा था। /स्वयं पूँजीवादीवर्ग का विवेक (यदि इसका कभी कोई विवेक रहा हो) आत्मदंशन का अनुभव कर रहा था, क्योंकि जिस सर्वहारावर्ग की मित्रता के कारण वह अपने शत्रु सामन्तवादियों

पर विजय प्राप्त कर सका, लड़ाई की तलवारें अभी म्यानों में बन्द भी नहीं हुई थीं कि उनको फिर से एक बार निर्दयता के साथ सर्वहारा वर्ग—जनता पर चलाया गया। ऐसे समय में माल्थस ने १७९८ में On the principles of the population of nations (जातियों के, जनसंख्या के सिद्धान्तों पर रोशनी) नामक एक पुस्तक प्रकाशित की।

३—**माल्थस पर मार्क्स**—मार्क्स ने इस रचना के सम्बन्ध में यह लिखा 'प्रथम रूप में यह पुस्तक स्कूली लड़कों की तरह छिछोरी रचना थी। उसमें डिफो, सर जेम्स स्टुअर्ट, टाउन्सऐंड, फ्रेंकलिन, वालेस तथा अन्य लेखकों से चुराये हुए उपादान पर एक पादरी के उद्‌गार थे, और इसमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं था जिसको माल्थस ने सोचा हो।'[१] इस पुस्तक में यह प्रतिपादन किया था कि जनसंख्या का यह एक अपरिवर्तनीय नियम है कि जनसंख्या तो रेखागणितिक श्रेणी (geometrical progression) से बढ़ती है, और जीवन धारण के साधन अंकगणितिक श्रेणी (arithmetical progression) से बढ़ते हैं। इस प्रकार माल्थस ने कहा कि उत्पादन के साधन में वृद्धि जिस रफ्तार से होती है, उससे कहीं अधिक रफ्तार से जनसंख्या की वृद्धि होती है। इसका नतीजा यह होता है कि लोग ग़रीब होते जाते हैं।[२] निःसन्देह यह मतवाद पूँजीवादियों को बहुत पसन्द आया, क्योंकि अब वे ग़रीब का सारा दोष एक प्राकृतिक नियम के सिर मढ़ सकते थे। नतीजा यह हुआ कि माल्थस हाथों हाथ ले लिए गये, और उनकी पुस्तक में कोई विशेषता न होते हुए भी उनके सिद्धान्तों की बड़ी धूम रही। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र-विद् अल्फ्रेड मार्शल ने यह जो लिखा है कि माल्थस की पुस्तक जनसंख्या पर आधुनिक अनुशीलन का आरम्भ बिन्दु है, यह सही नहीं है। जैसा मार्क्स ने लिखा है कि इसके पहले ही बहुत-सी पुस्तकों में यह चर्चा हो रही थी। माल्थस ने इन आलोचनाओं को चुरा मात्र लिया। मार्क्स ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में यह भी कहा है कि माल्थस की यह पुस्तक मनुष्य-प्रकृति पर एक लांछन है। उन्होंने माल्थस के इस नियम की व्यर्थता यह कहकर साबित कर दी है कि

---

१ M. E. C. p. 171

२ C. G. P. note to p. 40

उत्पादन की प्रत्येक विशेष ऐतिहासिक पद्धति का जनसंख्या-सम्बन्धी विशेष नियम है जो केवल उसी की सीमाओं के अन्दर ऐतिहासिक रूप से सही है।[१]

४—तथ्यों की गवाही माल्थसवाद के विरुद्ध—माल्थस के इस सिद्धान्त ने उस युग के उदीयमान पूँजीवादी वर्ग के विवेक पर ऐसा प्रलेप लगाया कि १८०३ में ही माल्थस को अपनी पुस्तक का एक परिवर्द्धित तथा परिशोधित संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। तब से तो यह सिद्धान्त पूँजीवादी शोषण का एक समर्थक सिद्धान्त हो गया। यही कारण है कि यह सिद्धान्त बहुत अंशों में अभी तक जीवित है, यद्यपि तथ्यों ने सम्पूर्णरूप से इसको ग़लत साबित कर दिया। ऐसा समझने के लिए कोई कारण नहीं मालूम देता कि जनसंख्या की वृद्धि से ग़रीबी अनिवार्य रूप से बढ़ेगी ही। ग़रीबी का बढ़ना अथवा न बढ़ना कई बातों पर निर्भर है। यदि उत्पादन की शक्तियों में जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से अधिक वृद्धि हो तो कोई कारण नहीं कि ग़रीबी बढ़ जाय। अमेरिका में बराबर जनसंख्या की वृद्धि हुई, किन्तु इससे वहाँ ग़रीबी बढ़ी तो नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर उसका ऐश्वर्य बढ़ता गया। इतना ही नहीं इस ऐश्वर्य-वृद्धि का एक बड़ा कारण जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि है। यदि किसी देश में प्राकृतिक साधन (जैसे ज़मीन) अधिक उपलब्ध हैं, किन्तु उनको काम में लाने के लिए यथेष्ट लोग नहीं हैं तो इससे उनकी उन्नति में बाधा ही होगी। एस अवेलिन टामस ने लिखा है 'माल्थस के बाद के इतिहास से उनके सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। इँगलैंड में जनसंख्या तेज़ी से बढ़ती गई है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कुल मिलाकर यहाँ के लोग पहले से ग़रीब है। निःसन्दिग्ध रूप से आमतौर पर यह देश और व्यक्तिगत रूप से इसका प्रत्येक अधिवासी एक शताब्दी पहले के मुक़ाबिले आज कहीं अधिक धनी है। १९वीं सदी के दौरान में यहाँ के लोगों की ज़रूरतें और विविधता बराबर बढ़ती गई, रहन-सहन का मानदंड बढ़ता गया, और एक पुश्त के लिए जो चीज़ विलासिता थी, वह अगली पुश्तवालों के लिए ज़रूरत हो गई.....। माल्थस के सिद्धान्त से (लेखक का मतलब शायद आत्मप्रवंचनाकारी पूँजीवादियों तथा उनके पिछलगुओं से है—ले०) यह विश्वास हो गया कि जनसंख्या की वृद्धि हमेशा हानिकर ही होती है, किन्तु इस सिद्धान्त में यह बात नहीं देखी गई थी

१ E. S. p. 276

कि बड़ी संख्याओं के बीच सहयोग से लाभ नहीं हो सकते तथा रेल जैसे आविष्कार बिना अधिक जनसंख्या के काम में नहीं आ सकते ।. . . . .जनसंख्या में धारा-वाहिक वृद्धि होते रहने पर भी पाश्चात्य देशों में रहन-सहन का मानदण्ड बराबर ऊँचा होता गया। इसका कारण अव्वल तो यह है कि अब तक उत्पादन बेहद बढ़ जाने के कारण जनसंख्या की वृद्धि से कोई हानि होती नहीं जान पड़ी। दूसरी बात यह है कि आम लोगों के रहन-सहन के मानदण्ड में वृद्धि के परिणामस्वरूप जनसंख्या में यद्यपि वृद्धि हुई है, फिर भी वह उससे कम है जो उत्पादन में अधिकतर वृद्धि के फलस्वरूप होता!'[१]

आँकड़ों की सहायता से पालमम्बर्ट ने निर्विवाद सिद्ध तरीक़े से प्रमाणित किया है कि १८८० और १९१० के बीच जर्मनी की जनसंख्या में जो वृद्धि हुई उससे माल्थस प्रतिपादित सिद्धान्त के बिल्कुल विरुद्ध नतीजे निकलते हैं, अर्थात् रहन-सहन के मानदण्ड में जनसंख्या से कहीं अधिक तेज़ी से वृद्धि हुई है। . . . १८४९ से १८९९ के संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के आँकड़ों की इसी प्रकार समीक्षा करने पर माल्थस के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत परिणाम निकलते हैं।[२] इस प्रकार माल्थस के सिद्धान्त के व्यावहारिक आधार बिल्कुल ग़ायब हैं। किसी सिद्धान्त की सत्यासत्यता व्यावहारिक रूप में वह कहाँ तक सत्य ठहरता है, किसी पर निर्भर है। जब हम इस दृष्टि से माल्थस के सिद्धान्त की जाँच करते हैं तो वह एक मिनट भी टिक नहीं पाता।

५—आयरलैंड तथा फ्रांस में माल्थस के नियम ग़लत प्रमाणित—मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'पूँजी में माल्थस के नियम के विरुद्ध कई ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं जो अकाट्य हैं। उनमें से एक यह है कि इँगलैंड में उस युग में black death (काली मौत) नाम से जो महामारी आई थी, उसके फलस्वरूप हज़ारों आदमी मर गये, देश की जनसंख्या घट गई, देहाती जनता बहुत कुछ भाग्ययुक्त तथा धनी हो गई। यहाँ तक तो माल्थस का सिद्धान्त बिल्कुल लागू हुआ, क्योंकि जनसंख्या घटी तो लोग खुशहाल हुए, किन्तु ब्रिटिश खाड़ी की दूसरी ओर इसी महामारी का फ्रांस में क्या नतीजा हुआ ? जब हम इस बात को देखते हैं तो हमें कुछ दूसरी ही बात

---

१ E. E. S. p. 276-7

२. J. S. W. p. 73

दिखलाई पड़ती है। फ्रांस में इस महामारी के फलस्वरूप जो जनहानि हुई, उसका नतीजा यह हुआ कि लोग ग़ुलामी और ग़रीबी में जकड़ गये। मार्क्स ने अपनी उल्लिखित पुस्तक में इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरा उदाहरण भी दिया है। 'आयरलैंड के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जनसंख्या के नियमों को प्रत्यक्ष करने के लिए वह एक आदर्श देश है, यानी वहाँ जनसंख्या के नियम बिल्कुल सही उतरते हैं। टामस सैडलर ने जनसंख्या-सम्बन्धी अपना ग्रन्थ प्रकाशित करने के पहले अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Ireland, its evils and their remedies (द्वितीय संस्करण, लन्दन १८२९) प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने आयरलैंड के विभिन्न प्रान्तों तथा फिर एक एक प्रान्त के विभिन्न ज़िलों के आँकड़ों की तुलना कर दिखलाया था कि आयरलैंड में दरिद्रता के साथ जनसंख्या के आँकड़ों का कोई तारतम्य नहीं बैठता, बल्कि तारतम्य उलटा ही बैठता है।'

जिस एक भूभाग में जन-संख्या घट गई थी, उसका वर्णन देते हुए मार्क्स ने कहा है 'हमें इस बात को जानकर आश्चर्य नहीं है कि एक स्वर से दी गई निरीक्षकों की राय के अनुसार इस वर्ग के आम लोगों में गम्भीर असन्तोष फैला हुआ है, वे भूतकाल पर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि डालते हैं, वर्तमान से घृणा करते हैं और भविष्य के विषय में निराश हैं।'

माल्थस के सिद्धान्त का सार तथा उसकी समालोचना ऊपर दी गई है, फिर भी उसके सिद्धान्त ने जो उत्तेजना उत्पन्न की, वह मार्क्स के समय भी इतनी ताज़ी थी कि उन्होंने एक मित्र श्वाइत्सेपर को २४ जनवरी १८६५ में पत्र लिखते हुए लिखा था—'यद्यपि यह सिद्धान्त मनुष्य जाति पर लांछन है, फिर भी उसने कितना जोश पैदा किया।' यह उत्तेजना क्यों पैदा हुई, इसका तो हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं, सचमुच पूँजीवादी वर्ग के चुभते हुए विवेक को जब इस प्रकार के किसी 'वैज्ञानिक' सिद्धान्त का सहारा मिल जाता है, तो वे उस लेखक को सिर पर उठाकर क्यों न नाचना शुरू करें। इसी सिद्धान्त के कारण माल्थस को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय की फेलोशिप प्राप्त हुई। उनके ग्रन्थ में जो बातें थीं उनका सार संकलित किया जा चुका। इस प्रकार के सिद्धान्तों से पूँजीवादियों को आत्मप्रसाद भले ही प्राप्त हो तथा वे अज्ञ शोषितवर्ग के सम्मुख सुर्ख़-रुह भले ही बन जायँ किन्तु न तो यह तथ्य है और न विज्ञान है।

६—**माल्थसवाद पर डेलीस्लवनीस**—सी० डेलीस्लवनीस तो साफ़ साफ़ लिखते हैं 'आधुनिक जगत् पहले के किसी भी ज़माने से अधिक ऐश्वर्यशाली है। ग़रीबी तो अब भी स्पष्ट है, किन्तु ऐसा उत्पादन शक्ति के अभाव के कारण नहीं बल्कि उपविभाजन के कारण है। सार्वजनिक धन (पार्कों, सड़कों तथा विद्यालयों के रूप में अधिक है, अवकाश भी अधिक है, और अवकाश के उपयोग के मौक़े भी अधिक हैं। पहले से कहीं अधिक लोग आधुनिक आविष्कारों तथा समाज के आधुनिक संगठनों से कुछ न कुछ फ़ायदा उठाते हैं।'[1] इसलिए ऐतिहासिक भौतिकवाद जनसंख्या को अपनी जगह पर एक शक्ति मानते हुए भी यह नहीं मानता कि वह इतिहास की निर्णायक शक्ति है।

७—**जनसंख्या पर स्टालिन**—स्टालिन ने इस विषय में लिखा है 'यदि जनसंख्या में वृद्धि सामाजिक विकास की निर्णयकारी शक्ति होती, तो जिस अनुपात से जनसंख्या अधिक घनी होती, उस अनुपात से उस स्थान की सामाजिक पद्धति की उन्नत होती, किन्तु वास्तविक क्षेत्र में हम यह बात नहीं पाते। चीन की जनसंख्या का घनत्व अमेरिका की जनसंख्या से चौगुना है, फिर भी अमेरिका का स्थान सामाजिक विकास के सोपान में चीन से कहीं उच्चतर है। चीन में अभी तक अर्द्ध सामन्तवादी पद्धति प्रचलित है, किन्तु अमेरिका बहुत पहले ही पूँजीवाद के विकास के उच्चतम सोपान पर पहुँच चुका। बेल्जियम में जनसंख्या का घनत्व संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का १९ गुना और सोवियट रूस का २६ गुना है, फिर भी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका सामाजिक विकास के सोपान में बेल्जियम से उच्चतर स्थान पर है, और जहाँ तक सोवियट रूस का सम्बन्ध है, बेल्जियम तो उससे एक ऐतिहासिक युग पीछे है, क्योंकि बेल्ज़ियम में पूँजीवादी पद्धति है, और सोवियट रूस ने पूँजीवादी सोपान को पार कर समाजवादी पद्धति की स्थापना की है। इससे स्पष्ट है कि जनसंख्या में वृद्धि समाज के विकास की निर्णयकारी शक्ति नहीं हो सकती।'[2]

८—**माल्थसवाद के ज़रिये रहस्यवाद**—माल्थस ने जनसंख्या को केवल ग़रीबी का कारण ही नहीं क़रार दिया था, बल्कि यह भी कहा था कि यदि विलम्बित विवाह आदि तरीक़ों से जनसंख्या की वृद्धि पर रोक-थाम न की जाय

---

१ O. M. K. p. 741 २ D. M.

तो लड़ाइयाँ, दुर्भिक्ष तथा बीमारी आकर जनसंख्या को घटा देती हैं। इस प्रकार माल्थस ने ग़रीबी, दुर्भिक्ष तथा लड़ाइयों की ज़िम्मेदारी से भी शासकवर्ग को तथा उनके शोषण की पद्धति को बरी कर दिया। यही नहीं, कमोवेश प्राकृतिक विपत्ति—जैसे महामारी आदि—का दोष भी जनसंख्या पर मढ़ दिया। ग़रीब लोग निःसन्तान कम होते हैं, इसलिए अन्त तक इस सिद्धान्त से कौन दोषी ठहरता है, यह स्पष्ट है। भला ऐसे सुन्दर सिद्धान्त का पूँजीवादियों के विश्वविद्यालयों में क्यों न स्वागत होता? समाज की सभी बुराइयों के लिए जनसंख्या की वृद्धि ज़िम्मेदार है और जनसंख्या के लिए ज़िम्मेदार है मनुष्य की इन्द्रियलोलुपता या नफ़्सपरस्ती, अतएव इन सबकी दवा है, इन्द्रियसंयम, नफ़्सकशी। बहुत ही सुन्दर निदान और बहुत ही सुन्दर दवा रही। इस प्रकार माल्थस का सिद्धान्त कथित अर्थशास्त्र के बाड़े से निकलकर रहस्यवाद में भी ले जाता है। यह भी अच्छा ही है, क्योंकि इस प्रकार इस सिद्धान्त में विश्वास करनेवाला ऐसी जगह पर पहुँच जाता है, जहाँ से पूँजीवाद को कोई ख़तरा नहीं है।

९—**दुर्भिक्ष और जनसंख्या**—आधुनिक युग के आर्थिक संकटों को लिया जाय। इन अवसरों पर लोगों की रहन-सहन के मानदंड घट जाते हैं, बेकारी बढ़ जाती है तथा कहीं-कहीं दुर्भिक्ष भी पड़ जाता है। पुराने ज़माने में जब रेल तथा उन्नत यातायात के साधन नहीं थे, तब अतिवृष्टि, अनावृष्टि पर अन्य प्राकृतिक कारण को दुर्भिक्ष के लिए दोषी क़रार दिया जा सकता है। पुराणों में अक्सर ऐसे दुर्भिक्षों का उल्लेख आया है जब बारह-बारह वर्ष तक पानी नहीं बरसा है। किन्तु अब तो यदि कहीं लोग भूखों मरते हैं तो इसलिए नहीं कि खाद्य वस्तुओं की कमी है, या यातायात के शीघ्रगामी साधन नहीं हैं, बल्कि अब तो आर्थिक संकटों का कारण अति उत्पादन होता है। १९२९ के संकट के ज़माने की तथा उसके इर्द-गिर्द सालों की ही बात ली जाय। सारी दुनिया में लाखों लोग अनशन या अर्द्धाशन में गुज़ारा कर रहे थे, किन्तु इसी ज़माने में दूध के पीपे नदियों में डाल दिये गये, इंजन में कोयले की जगह गेहूँ झोंका गया, चाय की पत्तियाँ ताप ली गईं। स्पष्ट है कि इन दुर्भिक्षों के साथ जनसंख्या का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि दुर्भिक्ष अधिक घनी जनसंख्यावाले देशों में अधिक होता है, ऐसा नहीं। ऐसा होता तो चीन

और भारत के अतिरिक्त बेल्जियम, हालैंड आदि देशों में दुर्भिक्ष होने चाहिए थे, किन्तु शेषोक्त देशों में दुर्भिक्ष नहीं होते। दुर्भिक्ष केवल पिछड़े हुए शोषित देशों में ही होते हैं, और समृद्धिशाली देशों में जब वे होते हैं, तो शोषित तबक़े तक ही सीमित रहते हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि दोष विभाजन में है। जिस शोषक पद्धति में दुर्भिक्ष होते हैं उस पर उसका दोष लगाना चाहिए न कि जनसंख्या पर। १९४३ में बंगाल में जो भयंकर दुर्भिक्ष हुआ उसका कारण बंगाल की बढ़ी हुई जनसंख्या नहीं, बल्कि जैसा कि सरकारी 'वुडहेड कमीशन' ने भी माना था, अनाज के वितरण में गड़बड़ी तथा अन्य धाँधलियों के कारण यह दुर्भिक्ष हुआ। सैद्धान्तिक रूप से फिर भी यह कहा जा सकता है कि ज़मीन तो सीमित है, अब किसी कोलम्बस के द्वारा किसी नये भूभाग के आविष्कृत होने की सम्भावना नहीं है, किन्तु जनसंख्या बराबर बढ़ती जा रही है, ऐसी हालत में चाहे कितना भी अच्छा विभाजन हो जनसंख्या की वृद्धि दुर्भिक्ष का कारण न होगी।

१०—ज़रूरी नहीं कि आबादी बढ़ने पर खाद्य कम हो—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अभी ज़मीन अपनी उत्पादकता की शेष सीमा पर नहीं पहुँची। उसमें पहुँचते-पहुँचते शायद सदियाँ लगें, केवल यही नहीं विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ कदाचित् ज़मीन से स्वतन्त्र रूप से भी खाद्य उत्पादन सम्भव हो। जिस प्रक्रिया से आज मिट्टी, पानी, खाद्य, हवा महीनों में गेहूँ में परिणत हो पाती हैं, सम्भव है कि वह प्रक्रिया प्रयोगशाला के अन्दर अपेक्षाकृत कम समय में अंजाम दी जा सके, और यह सम्भव है कि खाद्य उत्पादन में ज़मीन के ऊपर हमारी आज जो निर्भरता है, वह बिलकुल दूर हो जाय। फिर समुद्र में इतनी विपुल खाद्य-सामग्री है कि उसका कुछ अन्दाज़ा नहीं किया जा सकता।

११—१९१४-१८ के महायुद्ध का उदाहरण—१९१४-१८ के महायुद्ध में ४,१४,३५,००० लोग मरे, किन्तु यह कहने का साहस किसी ने नहीं किया कि इसके फलस्वरूप लोग कुछ पहले से धनी हो गये या उनकी रहन-सहन का मान-दण्ड कुछ बढ़ा। अवश्य इस विपुल जनहानि के साथ-साथ इस महायुद्ध में विपुल धनहानि भी हुई। सच तो यह है कि विश्वपूँजी का ⅓ भाग नष्ट हो गया। युद्ध के तुरन्त बाद सार्वदेशिक रूप से दुर्भिक्ष अर्थसंकट की जो लहर दौड़ गई, वह

इस बात का प्रमाण है कि चार करोड़ लोगों के मारे जाने से ग़रीबी में कोई कमी नहीं हुई। आम जनता की बात जाने दी जाय, इस महायुद्ध के फल-स्वरूप विश्व पूँजीवाद भी पहले से ग़रीब हो गया था। अवश्य जैसा कि हम बता चुके, जन-नाश के साथ धन-नाश भी हुआ था।

१२—लेबनसराऊम—जनसंख्या बढ़ने के कारण युद्ध होते हैं, इसके प्रमाण-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि १९३९-४५ के युद्ध में फ़ासिस्टवादी पक्ष ने विशेषकर हिटलर ने जो/Lebensraum पर/ जीवन-निर्वाह के लिए स्थान का नारा दिया था, (और जिसका आधारगत तथ्य यह था कि जर्मनी आदि की आबादी बहुत बढ़ गई थी) उसी के कारण विश्व युद्ध हुआ था। इस बात को देखना चाहिए कि कहाँ तक जीवन-निर्वाह के लिए स्थान के निमित्त युद्ध हुआ। मुसोलिनी और हिटलर बार-बार यह कहते रहे हैं कि इटली और जर्मनी की जनसंख्या अधिक हो गई है, इसलिए उनको उपनिवेश चाहिए। उनके ऐसे नाटकीय उद्‌गारों के पीछे हमेशा पृष्ठभूमि के संगीत के रूप में तोपों की गड़गड़ाहट रहती थी। एक तरफ़ तो जनसंख्या की वृद्धि की दुहाई देकर उपनिवेशों की माँग की जाती थी, और दूसरी तरफ़ ये तानाशाह इस बात के लिए भगीरथ प्रयत्न करते थे कि उनके देश की जनसंख्या बढ़े। २६ मई १९२७ को ही यानी इटली में फ़ासिवाद की स्थापना के तीन साल बाद और जर्मनी में नात्सीवाद के उद्‌भव के कई साल पहले ही मुसोलिनी ने इटली के लिए जन-संख्या के सम्बन्ध में एक नई नीति का प्रवर्तन करते हुए कहा था—'मैं यह ज़ोरों के साथ कहता हूँ कि बिलकुल जड़ की बात न होने पर भी जिस बात से जातियों की राजनैतिक और इस कारण आर्थिक तथा नैतिक शक्ति का निर्णय होता है, वह है जनसंख्या।'[१] मुसोलिनी की इस बात का अर्थ घुमा-फिराकर यह कहना था कि जनसंख्या ही इतिहास की निर्णायिक शक्ति है। यह बात बिलकुल ग़लत है। यदि इस बात में कुछ भी सत्यता होती तो चीन और भारत दुनिया के सबसे राजनैतिक, आर्थिक रूप से प्रबल देश होते; किन्तु ऐसा नहीं है। वे तो औप-निवेशिक तथा अर्द्ध औपनिवेशिक देशमात्र हैं। १९३९-४५ के महायुद्ध के फलस्वरूप बहुत-सी ज़ातियों का कायाकल्प हो गया, किन्तु इन दो देशों की

१ L. S. P. P.

परिस्थिति में कोई मौलिक परवर्तन नहीं हुआ। वे जिस अन्धकार में थे, क़रीब-क़रीब उसी अन्धकार में रहे। इन देशों की आर्थिक हालत बहुत गिरी हुई है। इन देशों में प्रति व्यक्ति की आमदनी इतनी कम है कि समृद्ध देशों के लोग कल्पना नहीं कर सकते कि कैसे इतनी कम आमदनी में लोग निर्वाह कर सकते हैं। मुसोलिनी का यह कथन इसलिए और भी असत्य हो जाता है कि इँगलैंड की जनसंख्या भारत का ⅙ मात्र है, किन्तु इँगलैंड भारत पर शासन कर रहा है।

१३—एक तरफ़ लेवनसराऊम तथा दूसरी तरफ़ आबादी बढ़ाने का नारा—यदि हम फ़ासिस्टवादियों के लेवनसराऊम नारे का विश्लेषण करें तो हमें और भी मजेदार बातें मालूम होंगी। जो लोग आबादी बढ़ने के कारण परेशान हैं, उनके लिए यह स्वाभाविक होता कि वे कृत्रिम उपायों से जन्म को, जहाँ तक हो सकता, रोकते; किन्तु कार्यक्षेत्र में इटली और जर्मनी के फासिस्टवादी नेताओं को हमने इसके विरुद्ध आचरण करते पाया। मुसोलिनी ने तो इटलीवासियों पर यह रोक लगा दी कि वे अमेरिका, ब्राज़ील आदि में जाकर नहीं बस सकते। इसके साथ जन्म-नियंत्रण पर रोक लगा दी गई, ब्रह्मचर्य या चिरकुमार जीवन को निरुत्साहित किया गया; अधिक संतानवाली माताओं को सार्वजनिक रूप से सम्मानित किया गया, विवाह-भरण की व्यवस्था की गई, सरकारी नौकरियों तथा अन्य सब प्रकार से विवाहितों को प्रोत्साहित किया गया। जर्मनी में भी ऐसी ही बातें की गईं। इन बातों से लेवनसराऊम नारे की निःसारता ही प्रमाणित होती है। असली बात तो यह थी कि ये फ़ासिस्टवादी नेता यह अनुभव करते थे कि उनके यहाँ पार्लियामेंटी शासन को चूर्ण-विचूर्ण कर जिस लड़खड़ाते हुए पूँजीवाद को स्थापित किया गया था, उसे यदि तगड़ा तथा आत्म-निर्भरशील बनाना है तो साम्राज्य की आवश्यकता है, और चूँकि इस समय तक दुनिया के सब हिस्सों को दूसरे साम्राज्यवादियों ने हड़प कर अपने अधीन कर रक्खा था, इसी लिए साम्राज्य प्राप्त करने के लिए लड़ाई करनी पड़ेगी, और इस लड़ाई में सफलता के लिए Cammon foddor या तोप की ख़ूराक की ज़रूरत है। इसी लिए वे जनसंख्या बढ़ाने पर इतना ज़ोर देते थे।

१४—लेवनसराऊम पर कुजिनस्की—डाक्टर कुजिनस्की ने निर्विवाद सिद्ध रूप से, आँकड़ों से १९३९ की दुनिया को सामने रखते हुए, प्रमाणित किया है कि जन-

संख्या के आधार पर साम्राज्य विस्तार का जो दावा किया था, वह ग़लत था। उन्होंने यह दिखलाया कि यदि इस हिसाब से देखा जाय कि किस देश में पृथ्वी की कितनी फ़ीसदी जनसंख्या है और उस देश में पृथ्वी के रक़बे की कितनी फ़ीसदी आ जाती है, तो ज्ञात होगा कि जर्मनी की जनसंख्या पृथ्वी की जनसंख्या की ४·० फ़ी सदी है, और उसके पास रक़बा केवल ०·५ फ़ी सदी है। इटली की जनसंख्या पृथ्वी की जनसंख्या की २·५ फ़ी सदी है और रक़बा २·८ फ़ी सदी है, यानी इटली को तो इस दृष्टि से कुछ माँगने का कोई हक़ नहीं है। चीन की जनसंख्या पृथ्वी की जनसंख्या की २०·४ है, किन्तु पृथ्वी के रक़बे का मात्र ७·७ उसके पास है, किन्तु किसी फ़ासिवादी ने यह नहीं कहा कि चीन को पृथ्वी का और १२·७ रक़बा प्राप्त होना चाहिए। डाक्टर क्रुजिनस्की ने जिस प्रकार आँकड़ों को लेकर दिखलाया है उसे हम वैज्ञानिक नहीं कह सकते, क्योंकि पृथ्वी के रक़बे मे उन्होंने जो मरुभूमियों, ऊसरों आदि को गिन लिया उससे ये आँकड़े किसी प्रकार सही नहीं माने जा सकते। जो हो, इतना तो सही है कि आस्ट्रेलिया, ब्राजील आदि देशों के पास ज़रूरत से ज़्यादा ज़मीन है, जब कि बहुत से देश ऐसे हैं जिनमें वास्तविक रूप से जीवन धारण के स्थान की तुलनात्मक रूप से कमी है। सम्भव है, ऐसे देशों की सूची में जर्मनी भी आ जाय, किन्तु अवश्य ही इस सूची में सबसे पहला नाम चीन का ही होगा। इसलिए जनसंख्या की वृद्धि को एक नैतिक बहाना बनाकर जो लोग दूसरे देशों को हड़पने की योजनाएँ बनाते रहें या बनाते हैं, तर्कशास्त्र का तकाजा यह है कि सब से पहले वे चीन आदि देशों की आबादी के लिए लेवनसराऊम की व्यवस्था करें; किन्तु जिन फ़ासिवादियों ने लेवनसराऊम का नारा दिया था, उनकी निगाह में तो कदिचित् चीन आदि देशों के लोग मनुष्य की श्रेणी में ही नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्होंने नार्डिक जातियों की स्वभावसिद्ध प्रधानता के रूप में यह बात कही है। हम यथास्थान उसकी भी आलोचना करेंगे।

१५—जनसंख्या केवल प्राणीविज्ञान-सम्बन्धी घटना नहीं—यह समझना भारी भूल है कि जनसंख्या केवल विशुद्ध रूप से प्राणिविज्ञान-सम्बन्धी (biological) या प्राकृतिक घटना है। जनसंख्या की वृद्धि तथा उसमें ह्रास कितने ही ऐसे पहलुओं पर निर्भर है जैसे कर्मविभाजन, वर्गों का पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि। समाज में प्रचलित सामाजिक आर्थिक, पद्धति पर जनसंख्या का घटना-बढ़ना निर्भर

है। हम जानते हैं कि अत्यन्त आदिम समाज में जब उत्पादन के साधन बहुत ही अनुन्नत तथा आदिम थे, जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित नहीं किया जाता था। उस समय की आर्थिक पद्धति में इसके लिए अधिक गुँजाइश नहीं थी। क़रीब क़रीब प्रत्येक आदिम जाति में शिशुहत्या का रिवाज था। अमेरिका की कुचिल जाति का बच्चा जब बीमार हो जाता था तो उसकी मा उसको जंगल में डालआती थी। जी० एफ० अंगस साहब तो आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड की किसी जंगली जाति के सम्बन्ध में बता गये हैं कि वे अपने जीवित लड़के तथा लड़कियों को वंशी की कटिया की नोक पर चारे की जगह लगा देते थे, और अपने बच्चों की चर्बी से मछली पकड़ते थे। प्राचीन भारतीयों में ही नहीं, बल्कि अत्यन्त अर्वाचीन काल तक भारतवर्ष में प्रयाग की त्रिवेणी तथा गंगासागर के संगम पर लोग आमतौर से बच्चों को चढ़ाया करते थे। अरब में मुहम्मद के समये तक तथा उनके बाद भी शिशुहत्या की प्रथा और तो और कुरेश कबीले में भी मौजूद थी। मक्के के पास अबूदीलामा नामक पहाड़ पर बच्चों का वध किया जाता था। ग्रीक इतिहास-लेखक स्ट्रेबो (ई० पू० ६०-२४) ने लिखा है कि प्राचीन लोगों में शिशुहत्या की प्रथा का इतना चलन था कि मिस्र के लोग जो अपने सब बच्चों तथा बच्चियों का पालन करते थे, यह बात आश्चर्य की दृष्टि से देखते थे। प्राचीन चीनियों में तो यह प्रथा थी ही, किन्तु अभी तक शायद चीन के कुछ हिस्सों में यह प्रथा मौजूद है। अन्दमन में मा अपने बच्चों को दाँत निकलने के बाद एकान्त स्थान में छोड़कर चल देती थी। इस प्रकार शिशुहत्या के साथ साथ अत्यन्त आदिम समाजों में बूढ़े अपाहिजों तथा बीमारों को मारकर आनुष्ठानिक तरीक़े से खा डालते थे। शिशुहत्या, वृद्धहत्या आदि की प्रथाएँ अनुन्नत आर्थिक पद्धति के कारण ही थीं, इसलिए यह समझने की आवश्यकता नहीं कि जनसंख्या एक प्राकृतिक अथवा खुदाई घटना है।

१६—जनसंख्या के ह्रास तथा वृद्धि के दोयम कारण—हम जानते हैं कि उत्पादन के साधनों में उन्नति के साथ साथ इस प्रकार की प्रथाएँ स्वयं लुप्त होती गईं। इस क्षेत्र में कहीं यह न समझा जाय कि उत्पादन के साधनों की उन्नति अथवा श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से हमेशा जनसंख्या बढ़ेगी, इसलिए यह बता देना आवश्यक है कि इस क्षेत्र में अन्य दोयम दर्जे के कारण भी क्रियाशील

हो सकते हैं, और वे उत्पादकता में वृद्धि रहने पर भी जनसंख्या की वृद्धि के मार्ग में रोड़े हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप एक बहुत ही सहजबुद्धि की बात ली जाय। जिस समाज में जायज़ और नाजायज़ सन्तान में भेद होता है तथा जहाँ स्त्री नाजायज़ सन्तान उत्पन्न करने पर निन्दनीय होती हैं, वहाँ स्वाभाविक रूप से नाजायज़ सन्तान कम उत्पन्न की जायगी, अर्थात् गर्भपात कराकर भ्रूण-हत्या कर या अन्य किसी उपाय से लोग इस विपत्ति से बचने की चेष्टा करेंगे। जिस समाज में नारी के लिए एकमात्र सम्मान का आधार रूप ही है तथा जिस समाज में पुरुष की आँखों में स्त्रियों का लोभनीय होना ही उनके लिए एकमात्र अच्छी अवस्था है, वहाँ सभी महिलाएँ चाहेंगी कि बच्चे जनने के कारण उनके रूप में अन्तर न पड़े। साम्पत्तिक दृष्टि का भी बच्चों की वृद्धि या ह्रास में एक बहुत बड़ा हिस्सा है। बुखारिन ने लिखा है कि फ्रेंच छोटा ज़मींदार यह नहीं चाहता कि उसके अधिक पुत्र हों क्योंकि वह अपनी सम्पत्ति को कई टुकड़ों में बाँटना पसन्द नहीं करता। पुरुष-प्रधान समाज में लड़कियों का उत्पन्न होना अच्छा नहीं समझा जाता—अवश्य इस समझ की तह में यह बात परोक्ष-रूप से है कि समाज में लड़कियों की आर्थिक हैसियत अर्थात् उत्पादन में उनकी हैसियत कम हो गई है। पहले जो हम शिशुहत्या की बात बता चुके हैं वह बाद को समाज में स्त्रियों की आर्थिक हैसियत घट जाने के कारण, एक बड़ी हद तक कन्या-शिशु की हत्या में रूपान्तरित हो गई। तथा ऐसे कृत्य के नैतिक समर्थन के रूप में इस प्रकार की धारणाएँ जैसे लड़की देने में हेठी है, इत्यादि की उत्पत्ति है। जिन जातियों में उत्पादन के साधन तेज़ी से बढ़ रहे थे, तथा जो जातियाँ निरन्तर युद्ध में लिप्त होने के कारण अपनी भलाई इसी में देखती थीं कि अपने मृत सैनिकों की पूर्ति होती रहे, उनमें पुत्रोत्पत्ति धर्म माना गया। भारतीय आर्यों में जो पुत्रोत्पत्ति को धर्म का एक अपरिहार्य अंग समझा गया, इसका एक प्रधान कारण यह था कि आर्य अपने में पुरुष बढ़ाना चाहते थे। फास्टिबादियों ने लेवनसराऊम का नारा देते हुए भी जनसंख्या वृद्धि करने की जिस कारण से चेष्टा की, आर्यों की इस धारणा की पृष्ठभूमि में इससे अच्छा कारण नहीं था।

१७—जनसंख्या परिस्थितियों पर निर्भर—इस प्रकार हम अन्य बहुत

से सामाजिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक कारण दे सकते हैं जिनके कारण जनसंख्या की वृद्धि को ईश्वरीय इच्छामात्र या प्राकृतिक घटना नहीं कह सकते। यह एक आकस्मिक घटना नहीं है कि जापान, इँगलैंड आदि देश मुश्किल से अपनी वर्तमान जनसंख्या के एक तिहाई लोगों को अपनी ज़मीन की उपज से जिला सकते हैं, फिर भी उनकी जनसंख्या इतनी बढ़ गई। यदि ये देश साम्राज्यवादी लूट-खसोट में लिप्त न होते, तो इनकी जनसंख्या हरगिज़ इतनी बढ़ नहीं सकती थी, अर्थात् बढ़ती तो उसके साथ ही साथ सनकी रहन-सहन का मानदण्ड निरन्तर घटता जाता। वह किसी हालत में बढ़ नहीं सकता है। मनुष्य की परिस्थितियाँ इस प्रकार उसकी जनसंख्या का निर्णय करतीं, न कि जनसंख्या परिस्थितियों का। अवश्य जनसंख्या एक हद तक परिस्थितियों का निर्णय कर सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मनुष्य अब सज्ञान रूप से अपनी जनसंख्या में वृद्धि या कमी करने में समर्थ है, बशर्ते कि वह अपने समाज को ढंग से संगठित करे। मनुष्य-जाति अपनी जनसंख्या की तो बात दूर रही, पौधे और इतर प्राणियों की संख्या को अपनी आवश्यकता के अनुसार घटाने-बढ़ाने में समर्थ है। कई प्राणी जातियों को मनुष्य ने क़रीब क़रीब मौत के घाट उतार दिया है, दूसरी ओर उसने अपने हित के लिए अत्यन्त चर्बीयुक्त सुअर ऐसे प्राणी को बढ़ाया है, जो इतना मोटा होता है कि चल नहीं सकता। वनस्पति-जगत् के सम्बन्ध में भी यह बात सही है। जिसे हम कृषि विद्या कहते हैं, वह मनुष्य द्वारा वनस्पति जगत् में हस्तक्षेप कर वांछित पौधों की वृद्धि और अवाञ्छित पौधों की विनाश प्रक्रियामात्र है।

१८—**जनसंख्या का सामाजिक नियंत्रण सम्भव**—समय समय पर आँकड़ा-शास्त्र विशेषज्ञगण जनसंख्या की प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्यवाणी किया करते हैं। इन भाविष्यबाणियों में यह बतलाया जाता है कि अमुक-अमुक देश में २००० ईस्वी में या सौ दो सौ वर्ष में कितनी जनसंख्या होगी। हमें इन आँकड़ों की सत्यता अथवा असत्यता पर कुछ नहीं कहना है,—ऐसा करना विषय से बाहर जाना होगा, फिर भी जिस आधार पर ऐसी भविष्यवाणियाँ की जाती हैं उसके सम्बन्ध में हमें दो एक शब्द कहना है। ये लोग यह समझ कर चलते ज्ञात होते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि ऐसी घटना है जिस पर मनष्य की सज्ञान इच्छाशक्ति का

कोई नियंत्रण नहीं है। पर यह बात ग़लत है। अत्यन्त आदिम अवस्था से मनुष्य ने अपनी जनसंख्या को नियंत्रित किया है, इसलिए कोई कारण नहीं कि आगे वह ऐसा न कर सके। जिस प्रकार सामग्री उत्पादन के सम्बन्ध में योजनागत रूप से चला जा सकता है उसी प्रकार जनसंख्या के सम्बन्ध में भी योजना बनाई जा सकती है। योजना के द्वारा यह सम्भव है कि जनसंख्या को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित किया जाय। एक तरफ़ जन्मनियंत्रण के विभिन्न तरीक़े तथा दूसरी तरफ़ कृत्रिम गर्भाधान (artificial insemination) के तरीक़ों के आविष्कार से अब यह कार्य बहुत ही सुकर हो गया है। इस प्रकार की योजना को समाजवादी समाज में ही विशेषकर उस समय जब कि सारे जगत् में समाजवादी समाज की स्थापना होगी कार्यान्वित करना सम्भव है।

१९—नस्ल इतिहास का निर्णायक सिद्धान्त—नस्ल से इतिहास की व्याख्या करने का जो तरीक़ा है, उसे हम इतिहास-सम्बन्धी जनसंख्या सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं तो उससे मिला-जुला मान सकते हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त का यह कथन है कि एक खास नस्ल के लोगों की ही दुनिया में बढ़ती होगी और बाक़ी आबादी उसकी ग़ुलामी करेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार जाति, नस्ल के ही कारण, बड़ी या छोटी होती है। नस्लवाचक रेस शब्द अँगरेज़ी तथा फ्रेंच में सोलहवीं सदी में और जर्मनी में अठारहवीं सदी में आया। पहले इस शब्द का अर्थ एक व्यक्ति का वंशज था जैसे Race of Abraham Race of Satan इत्यादि। यह शब्द स्लैव या सेम्टिक भाषाओं से आया, इस पर अभी झगड़ा है।

२०—नार्डिक श्रेष्ठता का नारा—वर्तमान समय में जर्मन नात्सियों ने इस सिद्धान्त को बल पहुँचाया था, और यह कहा था कि नार्डिक नस्ल के ही लोग दुनिया पर राज्य करने के लिए पैदा हुए हैं। मज़े की बात है कि इस सिद्धान्त के अनुसार नात्सी जर्मनी के मित्र जापानी भी शासित जातियों में आते थे, किन्तु इस प्रकार के झूठे प्रचारकार्य में तर्कशास्त्र के तक़ाज़ों को कौन देखता था? यद्यपि हिटलर तथा उनके पिछलगुओं ने ही इस सिद्धान्त को सिद्धान्त के रूप में पेश करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह स्मरण रहे कि १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही फ्रेंच काउन्ट जोजेफ़ गोबिनों ने इस मत का प्रतिपादन किया

था कि आर्यजाति श्रेष्ठतम है। लापुज (Lapouge) ने १८९९ में एक पुस्तक लिखकर यह कहा था कि नार्डिक जाति ही श्रेष्ठतम आर्य जाति है। जब हिटलर ने एक आवश्यक किंवदन्ती के रूप में नार्डिक जाति की श्रेष्ठता का नारा दिया तो बहुत से भाड़े के वैज्ञानिकों ने इस मत का समर्थन कर 'आमीन' कहा। १९३९-४५ की लड़ाई में नात्सी जर्मनी की हार से इस मूर्खतापूर्ण मत का सम्पूर्णरूप से निराकरण हो गया, किन्तु फिर भी न नार्डिक जाति की सही और किसी जाति की श्रेष्ठता के रूप में यह नारा न मालूम कहाँ से फिर पैदा हो सकता है, इसलिए इस विषय पर थोड़ा विचार कर लेना न अप्रासंगिक होगा और न समय का अपव्यय।

२१—नार्डिक प्रतिभा केवल कहानी है—नार्डिक प्रतिभा और वीरता के सम्बन्ध में जिस गप की सृष्टि कर जर्मन जनता को फासिवाद के रथ में जोता गया था, उसके सम्बन्ध में लिखते हुए जूलियन हक्सले ने लिखा था कि सभ्यता की जो सबसे बड़ी देनें हैं, अर्थात् लेखनकला, खेती, पहिया तथा प्रस्तर द्वारा निर्माणकला इनमें से एक की भी उत्पत्ति नार्डिक प्रतिभा से नहीं हुई। इन कलाओं की उत्पत्ति निकटपूर्व में ऐसे लोगों में हुई, जिनके सम्बन्ध में किसी भी तरह यह नहीं कहा जा सकता कि वे नार्डिक नस्ल से अथवा उस नस्ल से, जिससे नार्डिक उत्पन्न हुए, किसी प्रकार सम्बद्ध थे। अज्ञात देश तथा भूभाग की खोज और दूर देश के पर्यटन में अवश्य ही एक तरह की साहसपूर्ण प्रतिभा की आवश्यकता होती है, किन्तु हवलक ऐलिस ने अपनी पुस्तक Studies of British genius में यह दिखलाया है कि ब्रिटिश पर्यटकों में तथा अज्ञात देशों में खोज निकालनेवालों में शायद ही कोई उस प्रकार का केशयुक्त था जो नार्डिक जाति की विशेषता है। वाइडेन रीख ने यह दिखलाया है कि जर्मनों में जो महान् व्यक्ति हुए हैं जैसे बिटोफ़ेन, कान्ट, शिलर, लाइबनिट्स, गेटे इन लोगों में से कोई भी दीर्घ मस्तकयुक्त नहीं था, जो नार्डिक जाति की विशेषता है, बल्कि बिल्कुल गोल सिरवाले या अल्पगोल मस्तकयुक्त थे। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में भी कुछ लोगों ने नार्डिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त की बाँग दी, किन्तु रडलिका (Hrdlicka) ने दिखलाया है कि जिन लोगों ने जाकर अमेरिका बसाया था वे लोग अधिकांश रूप में गोल सिरवाले तथा रंग की दृष्टि से मध्यम रंग

के या गहरे रंग के थे। इन तथ्यों को उद्धृत कर हाक्सले ने बिल्कुल निश्चित रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि नार्डिक जाति की श्रेष्ठतावाली कहानी निरी गप थी।

२२—अन्यान्य जातियों में भी अपनी जाति की श्रेष्ठता का नारा—कहीं यह न समझा जाय कि इस प्रकार की मूर्खता या बेईमानी केवल हिटलर ने ही की, इसलिए यह बतला देना आवश्यक है कि समय समय पर प्रत्येक सफल जाति ने दूसरों पर रोक डालने के लिए और कभी कभी असफल जाति ने भी अपनी हीनता पर वर्म की तरह बाँधने के लिए इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अँगरेजों को ही लीजिए। जिस समय जूलियस-सीज़र ने ई० पू० ६२ में ब्रिटेन पर फ़ौज चढ़ा दी थी तो क्या उस समय ब्रिटेन लोग यह कह सकते थे कि उनकी नस्ल बहुत ऊँची है, किन्तु बाद को जब ब्रिटेन का साम्राज्य सुदूर विस्तृत हुआ, तब उसके लोग किस प्रकार अपने को अधीन जातियों के लोगों से मौलिक रूप से श्रेष्ठतर समझने लगे, इस बात को किसी भारतीय से बताने की आवश्यकता नहीं है। भारतीयों को अपने देश में ही अँगरेजों के साथ एक क्लब का सदस्य नहीं होने दिया जाता है, न होटल में ही खाने दिया जाता है। अमेरिकावाले लोकतंत्र और न्याय का नारा देते हुए थकते नहीं हैं। कहा गया है कि १९३९–४५ का युद्ध लोकतंत्र के लिए लड़ा गया, किन्तु स्वयं अमेरिका में निम्न लोगों के साथ जैसा व्यवहार होता है, वह किसी से छिपा नहीं है। इतिहास में इस प्रकार के व्यवहार का एक ही उदाहरण है, वह है भारतीय सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा अछूतों के प्रति व्यवहार। यदि हम इस व्यवहार की पृष्ठभूमि पर जायँ तो हमें ज्ञात होगा विजेता आर्यों ने विजित आदिम निवासियों के साथ जो व्यवहार किये थे, मुख्यतः उसी का अवशेष-मात्र यह छुआछूत है। अरस्तू ने ग्रीक सभ्यता से विमुग्ध होकर यह कहा था कि कोई और जाति ग्रीकों की सतह तक नहीं पहुँच सकती। उस समय ग्रीस ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र था, भला तब योरप में कौन इस कथन का विरोध करता। अरस्तू ने उत्तरी भूभागों के लोगों के सम्बन्ध में यह कहा था कि इन लोगों में जोश तो है किन्तु उनमें बुद्धि और हुनर नहीं है। एशियावासियों के संबंध में उन्होंने कहा था कि उनमें बुद्धि और हुनर तो है किन्तु जोश नहीं है।

आज ग्रीस की हालत को देखकर कौन अरस्तू की बातों को सोचकर बिना हँसे रह सकता है।

२३—जातियों तथा नस्लों का चरित्र परिवर्तनशील—नस्लवाले सिद्धान्त में एक बड़ी भारी त्रुटि यह है कि यह इस बात को भूल जाता है कि जातियों के चरित्र भी बदला करते हैं। गुरु नानक के समय के सिक्ख बहुत सीधे-सादे, भजन करनेवाले लोग थे, किन्तु परिस्थितियों ने उन्हें एक सामरिक जाति बना दिया। अब सिक्खों में ही बहुत से मूर्ख ऐसे मिलेंगे जो कहेंगे कि सिक्खों में सामरिकता एक प्राकृतिक देन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह दावा कहाँ तक सही समझा जा सकता है, यह हम बता ही चुके। गुरु नानक इस दावे को सुनते तो सबसे अधिक हँसते। इसी प्रकार जर्मन लोग कार्लाइल के समय शान्तिप्रिय, दार्शनिक, संगीत-प्रिय तथा व्यक्तिवादी समझे जाते थे; किन्तु फ्रेंको प्रुशियन युद्ध के बाद से उनका जातीय चरित्र बदल गया, ऐसा हक्सले भी मानते हैं। आधुनिक युग में भारतवर्ष का एक उदाहरण लिया जाय। जब अँगरेज़ भारतवर्ष में आये थे तब बंगाली एक बहादुर क़ौम समझी जाती थी। अँगरेज़ों ने बंगाली सेना से राज्य-विस्तार किया, किन्तु संन्यासी-विद्रोह के बाद से उनको फ़ौज से निकाल दिया गया था। केवल शासकवर्ग में ही नहीं, आम भारतीयों में बंगालियों के सम्बन्ध में यह धारणा हो गई कि वे कायर होते हैं। बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रसार के साथ-साथ फिर एक बार पासा पलटा। फिर तो कुछ लोगों में हर एक बंगाली को ही खुदीराम और कन्हाईलाल के संस्करण समझने की परिपाटी चल गई। इन बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि फिर नस्ल कहाँ रही। अच्छे निरीक्षक यह बतलाते हैं कि १९३९-४५ के युद्ध के फलस्वरूप आप रूसियों में भी इसी प्रकार चरित्र-परिवर्तन के लक्षण दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। जिस समय १९४१ में पहले-पहल नात्सी जर्मनी ने सोवियट रूस पर हमला किया, उस समय जब जर्मन क़ैदी रूसियों के हाथ लगे तो उन्होंने उनके साथ तवारिश या साथी का व्यवहार करना चाहा, किन्तु जल्दी ही उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे इस प्रकार के व्यवहार के उपयुक्त नहीं रह गये हैं। इससे उनकी जहनियत में परिवर्तन हुआ। अब एक रूसी नागरिक स्वाभाविक रूप से यह समझता है कि न मालूम कब, किस ओर से उसकी समाज-

वादी पितृ-भूमि पर हमला हो जाय, इसलिए उसकी पहले की वह शान्ति-वादी निरीह मनोवृत्ति नहीं रही। हम भारतवर्ष में भी ऐतिहासिक समय के अन्दर ही यह देखते चले जा रहे हैं कि घटनाओं के घात-प्रतिघात तथा संग्रामों के कारण भारतीयों की जहनियत में परवर्तन होता जा रहा है। वे अब उस प्रकार के निरीह शान्तिपूर्ण जीव नहीं रह गये हैं जैसा कि वे तीस या चालीस साल पहले थे। स्मरण रहे, इस क्षेत्र में भी इस बीच में कोई नस्ली परिवर्तन नहीं हुआ, फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस प्रकार उनके चरित्र में मात्रा-गत परिवर्तन होते जा रहे हैं जो शायद अदूर भविष्य में ऐसे गुणगत परिवर्तन का रूप हो तथा उनका चरित्र वैसा हो जाय जैसा एक स्वतन्त्र नागरिक का होना चाहिए।

२४—कोई विशुद्ध नस्ल नहीं—विशुद्ध प्राणि-विज्ञान के आधार पर जूलियन हक्सले इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि दुनिया में जैसे कोई विशुद्ध भाषा नहीं है, वैसे ही कोई विशुद्ध जाति या नस्ल भी नहीं है। इसलिए नस्ल और जाति के आधार पर श्रेष्ठता या निकृष्टता का प्रतिपादन बिलकुल मनमाना है। नस्लों में इतना यथेष्ट आदान-प्रदान हो चुका है कि यह भी कहना सम्भव नहीं है कि एक विशेष स्थान पर अमुक विशेष नस्ल की प्रधानता है। कथित एक ही नस्ल के लोगों में ऊँचे और नीचे तबके में क़द और आकृति में बहुत फ़र्क़ होता है। ऐसी हालत में नस्ल-सिद्धान्त के माननेवाले के लिए दो ही रास्ते रहे—एक तो यह कि वह कह दे कि नस्ल की विशुद्धता नहीं रही, या यह कहे कि प्राकृतिक निर्वाचन प्रक्रिया के द्वारा उच्च तबक़े में ऊँचे क़दवाले लोग आ गये। इस प्रकार एक नस्ल के होते हुए भी इसके सबसे अच्छे नमूने एक तरह हो गये, और दूसरे दूसरी तरफ़। दूसरी व्याख्या के अनुसार नस्ल की महत्ता घट गई और परिस्थितियों की महत्ता बढ़ गई। वीर्यकोष (gene) बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु ज्यों ज्यों विज्ञान का ज़ोर बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों जातियाँ वीर्यकोष से स्वतंत्र होती जायँगी, और नस्ल की उन्नति होती जायगी। जिन जातियों को अपनी नस्ल की शुद्धता पर बहुत नाज़ है, उन लोगों की शुद्धता की बात परीक्षा की कसौटी पर नहीं ठहरती। यहूदी जाति दुनिया में सबसे अलग रहनेवाली जाति समझी जाती है, किन्तु वे जिन जिन

जातियों में हैं, उन्हीं उन्हीं जातियों के शक्ल के हो चुके हैं। फिर भी उन्हें उसी जाति के दूसरे लोगों से अलग करके पहचाना जा सकता है, इसका कारण उनकी रहन-सहन, परिच्छद तथा संस्कृति है, न कि नस्ल। अफ़्रीका में ऐसे यहूदी मौजूद हैं जो बिल्कुल काले हैं। इसी प्रकार और नस्लों के सम्बन्ध में भी समझा जाय। अवश्य यह भी समझना ग़लत है कि नस्ल कुछ है ही नहीं। यह कौन कह रहा है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा रहा है कि विशुद्ध नस्ल कोई नहीं रही, और दूसरी यह बात कि नस्ल इतिहास का निर्णय नहीं करती, यानी यह नहीं बताती कि अमुक नस्ल के लोग शासक होंगे और अमुक नस्ल के लोग शासित होंगे। हक्सले ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि नस्ल के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक धारणा है, और जो आम लोगों की धारणा है, उनमें बहुत फ़र्क़ है। वैज्ञानिक अर्थ में मनुष्य जाति के ख़ास ख़ास गिरोहों के लिए नस्ल शब्द का प्रयोग अब बहुत कम अर्थ रखता है, और जितना भी रखता था वह दिन ब दिन घटता जा रहा है। हक्सले सब वैज्ञानिक तथ्यों को तौलने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'इन परिस्थितियों में यह वाञ्छनीय है कि मनुष्य के सम्बन्ध में नस्ल शब्द का प्रयोग हमारे वैज्ञानिक तथा रोज़मर्रे के कोष से निकाल देना चाहिए।'[१] वे यह भी कहते हैं कि नस्ल शब्द को निकालकर ethnic group शब्द का प्रयोग किया जाय तो अधिक अच्छा रहे।

२५—कौन श्रेष्ठ नस्ल—आर्य या अनार्य?—हमने ऊपर जितने उदाहरण संकलित किये हैं, उनमें यह नहीं दिखलाया गया कि भारतवर्ष में वर्णभेद के आधार के रूप में नस्ल की उच्चता की दुहाई दी जाती है। ऐसे लोगों का कहना यह है—चाहे वे ऐसा खुलकर कहें या न कहें कि ब्राह्मण आदि सवर्ण हिन्दू आर्य हैं और शूद्र अनार्य हैं, इसलिए सवर्ण हिन्दू श्रेष्ठ हैं और शूद्र निकृष्ट। इसमें सन्देह नहीं कि किसी युग में वर्णभेद से नस्लभेद का सम्बन्ध था, किन्तु स्वयं वैदिकयुग में ही रक्त सम्मिश्रण यथेष्ट हुआ और बाद के युगों में तो यह सम्मिश्रण और भी प्रगाढ़ हो गया। रहा आर्य और आनार्य में कौन उत्कृष्ट है और कौन निकृष्ट है—यह प्रश्न। इस सम्बन्ध में ज्यों ज्यों इतिहास पर से काल का आवरण हटता जा रहा है त्यों त्यों अनार्यों की श्रेष्ठता का पल्ला भारी

१ U. M. I. p. 124

होता जा रहा है। एक बात निर्विवाद सिद्ध है। वह यह है कि आर्य अधिकतर सुसंगठित थे तथा उनके पास सम्भव है, उत्कृष्टतर अस्त्र रहे हों, किन्तु जहाँ तक संस्कृति के अन्य अधिकतर पहलुओं की बात है, वे शायद किसी अर्थ में भी आर्यों से निकृष्ट नहीं थे। अनार्यों में शासन-पद्धति आर्यों से कम विकसित नहीं थी। खेती के विषय में वे अच्छी तरह जानते थे। इस बात का प्रमाण है कि आर्यों ने कई बहुत महत्त्वपूर्ण चीज़ों की खेती अनार्यों से सीखी। रहा संस्कृति का अन्यतम प्रधान पहलू धर्म, बल्कि उस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू धर्म; उसमें हम देखते हैं कि वर्तमान हिन्दू धर्म में अनार्यों के दिये हुए उपादान कहीं अधिक हैं। वैदिक युग के इन्द्र, वरुण, अर्यमा, अग्नि को अब कोई नहीं पूछता, किन्तु कृष्ण, शिव, काली की पूजा सर्वत्र होती है। इन शेषोक्त देवी-देवताओं के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ है कि इनमें अनार्य उपादान अधिक है। इस सम्बन्ध में खोपड़ी नापविद्या तथा अन्य वैज्ञानिक तरीक़ों से यह ज्ञात हुआ है कि किसी एक भूभाग के शूद्र और ब्राह्मण की खोपड़ी या नस्ल में कोई फ़र्क़ नहीं है। बंगाल की नमःशूद्र नामक अस्पृश्य जाति की खोपड़ियों के नाप में कोई फ़र्क़ नहीं है। यह भी देखा गया है कि सुविधा मिलने पर कथित नीच जाति के लोग उसी प्रकार प्रतिभा का परिचय दे सकते हैं जैसे अन्य जाति के लोग देते हैं।

इन सब बातों का निष्कर्ष यह है कि जनसंख्या को या नस्ल को किसी भी प्रकार इतिहास की निर्णयात्मिका शक्ति नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त वैज्ञानिक परिच्छद में रहने पर भी सम्पूर्णरूप से अवैज्ञानिक हैं। शोषक तथा शासकवर्ग ऐसे सिद्धान्तों की आड़ में अपने खूनी पंजों को छिपाकर रखना चाहते हैं। इन सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता उतनी ही है जितनी कि अर्नेस्ट मिलर के इस सिद्धान्त की वैज्ञानिकता है कि पार्थिव चुम्बकत्व पर ऐतिहासिक विकास निर्भर है। जब पृष्ठपोषक मिल जायँ और मोटी रक़में मिलें तो क्यों न ऐसे सिद्धान्तों का आविष्कार हो। एक साहब जीवन्स इसी प्रकार सूर्य के ऊपर के धब्बों से औद्योगिक संकटों की व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। हमने इन उदाहरणों को यह दिखाने के लिए पेश किया जिससे ज्ञात हो जाय कि शोषकवर्ग विज्ञान का किस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करता है। वे सभी कुछ कह जायँगे, केवल उसी को नहीं कहेंगे जो सत्य है।

सभ्यता की अग्रगति में यंत्र का स्थान—यंत्र-संन्यास के नारे की जाँच

१—**सभ्यता की परिभाषा**—जिसे हम सभ्यता कहते हैं, वह उत्पादन शक्तियों के विकास के बिना सम्भव न होती। यदि कहा जाय कि उत्पादन शक्तियों की अपेक्षाकृत विकसित अवस्था का नाम ही सभ्यता है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी, और न इस परिभाषा पर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का दोष ही लगाना सम्भव होगा। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ साथ समाज सभ्य होता गया है, और उसकी रीति-नीति, रहन-सहन, चाल-ढाल, खाने-पकाने, पहनने-ओढ़ने, शासनप्रणाली—एक शब्द में सभी बातों में परिवर्तन हुआ है। उत्पादन की शक्तियाँ वह आधार हैं जिस पर समाज की अट्टालिका खड़ी होती है। प्रभेद केवल इतना है कि समाज की इस नींव में द्रुत-परिवर्तन होता गया है, और उसके फलस्वरूप समाज के ऊपरी ढाँचे में, उसके श्रम-सम्बन्धों तथा विचारों में परिवर्तन होते गये हैं।

२—**यंत्र के आधार से उसकी उन्नति की असंगति से यंत्र की अग्रगति**—'हस्तपरिचालित मिल के परिणामस्वरूप ऐसा समाज पैदा होता है जिसमें सामन्तवादी प्रभु का बोलबाला होता है, किन्तु वाष्पपरिचालित मिल के परिणामस्वरूप औद्योगिक पूँजीवादी समाज का सूत्रपात होता है।' उत्पादन के साधनों में, यह स्पष्ट है, कि यंत्रों का बहुत भारी स्थान है। यंत्र-विद्या की उन्नति असंगतियों के कारण हुई है। इसका एक उदाहरण लिया जाय तो हम देखेंगे कि किस प्रकार विभिन्न देशों में यंत्र की उन्नति को हम द्वन्दात्मक न्याय की पद्धति से अच्छी तरह समझ सकते हैं। पहले लकड़ी के यंत्र बनते थे, किन्तु जब यंत्र की गति तथा तेजी में वृद्धि हुई, तो एक हद तक जाकर यह ज्ञात हुआ कि लकड़ी के ढाँचे के दायरे में अब यंत्र की उन्नति सम्भव नहीं है। इस प्रकार यंत्र की उन्नति तथा जिस चीज़ से यंत्र बनता है, इन दोनों में असंगति उत्पन्न हो गई। इसके निराकरण के लिए यह आवश्यक हो गया कि यंत्र बनाने में अधिकतर

दृढ़ तथा टिकाऊ वस्तु का इस्तेमाल किया जाय। इस प्रकार यंत्र के आधार को बदलकर लकड़ी से लोहा तथा अब हम इस्पात के युग में पहुँचते हैं।

३—माँग से यंत्र की उन्नति—यह तो एक ही यंत्र के अन्दर असंगति के कारण उसकी उन्नति की कहानी बताई गई, किन्तु माँग और पूर्ति के अन्दर आपसी असंगति पैदा हो जाने के कारण यंत्र-विद्या की अग्रगति हुई है। यह कोई कपोलकल्पना नहीं है। जी० टी० वार्नर ने ब्रिटिश उद्योग-धन्धे में आविष्कारों का इतिहास लिखते हुए बताया है कि '१७३३ में वरी नामक स्थान के के (Kay) नामक व्यक्ति ने flying shuttle यानी द्रुत ढरकी का पेटेंट कराया। अब तक बुनगार ताने-वाने के अन्दर से हाथोंहाथ ढरकी चलाता था। इससे एक तो गति कम रहती थी और दूसरो कपड़े की चौड़ाई अधिक न हो सकती थी। चौड़ा कपड़ा बुनते समय दो बुनगार एक ही साथ काम करते थे। एक इधर से ढरकी छोड़ता था, दूसरा उसे उधर से पकड़ता था, फिर उसे छोड़ता था, इसी प्रकार पहले बुनगारी होती थी। के के आविष्कार से ढरकी यांत्रिक तरीक़े से इधर से उधर चलने लगी। इससे न केवल कपड़े की चौड़ाई को बढ़ाना सम्भव हुआ, बल्कि अब दुगुना से अधिक काम करना संभव हुआ।'[१] इस प्रकार जो उन्नत करघा उत्पन्न हुआ उसके कारण समाज की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करना सम्भव हुआ।

४—एक धन्धे में उन्नति के कारण दूसरे धन्धे में उन्नति—१८वीं सदी के अन्त में इँगलैंड में करघे की बड़ी उन्नति हुई, किन्तु चरखे में इसके अनुरूप उन्नति नहीं हुई। एक तो यों ही चरख़ा करघे के साथ मुश्किल से चल पाता था, अब तो और भी आफ़त हुई। स्मरण रहे, अबकी बार जो असंगति हुई वह एक ही यंत्र या धन्धे के हिस्सों में अथवा उसकी तेज़ी और उसे निर्माण करने की वस्तु में नहीं, बल्कि दो अलग अलग यंत्रों या धन्धों में हुई। नतीजा यह हुआ कि करघे बेकार पड़े रहने लगे, क्योंकि उनको सूत ही नहीं मिलता था, फिर वे बुनते तो क्या बुनते। इस प्रकार बुनगारी और कताई इन दोनों कलाओं की अजीब हालत हो गई। यदि अब कताई में उन्नति न होती तो बुनगारी में उन्नति बेकार हो जाती, इसलिए उसकी उन्नति अपरिहार्य हो

१ L. E. I. H. p. 226

गई, हुआ भी ऐसा ही। इसी ज़माने में कताई के यंत्र का जब आविष्कार हुआ, और चरखे से मानवता का पिण्ड छूट गया तभी यह असंगति दूर हुई। १७६४ में जेम्स हारग्रीव्स नामक ब्लैक वर्न के एक जुलाहे का चरखा फ़र्श पर उलट गया, और उसी से उसको कुछ ऐसे विचार मिले जिससे Spinning jenny का आविष्कार सम्भव हुआ। पहले एक क़तार में आठ सूत पर काम होता था, फिर जल्दी ही ज्ञात हुआ कि एक साथ इससे अधिक संख्यक सूत कत सकते हैं। इस काम को लड़के भी कर सकते थे, इसलिए कातनेवालों की द्रुतता बढ़ गई। हारग्रीव्स के बाद रिचर्ड आर्कराइट ने इसमें और उन्नति की। अन्त में एक दूसरे व्यक्ति ने दोनों ही को मिलाकर और उन्नति की।[१] कताई में पहले-पहल जल-शक्ति का इस्तेमाल शुरू हुआ। इस प्रकार बुनगारी कताई के पीछे रह गई। अब फिर एक बार असंगति पैदा हो गई। एडमंड कार्टराइट नामक एक पादरी ने पहला शक्ति-चालित करघा तैयार किया। यह यंत्र बिल्कुल ऊलजलूल था; किन्तु धीरे धीरे उसमें उन्नति होती गई। इस प्रकार कताई और बुनाई की असंगति की कारण कपड़े के धंधे में बराबर उन्नति होती गई।

इससे भी आगे चलकर एक दूसरे तरीक़े से द्वन्द्ववाद से यांत्रिक उन्नति होती गई है। कताई और बुनाई फिर एक ही कपड़े के धंधे के भाग हैं, किन्तु बिलकुल ही विभिन्न दो धंधों में असंगति पैदा हो जाने से उन्नति होती है। जब कताई और बुनाई में इतनी उन्नति हुई कि स्थानीय खपत की ज़रूरत से कहीं अधिक कपड़ा उत्पन्न होने लगा, तब इस बात की ज़रूरत हुई कि विदेशों में इस कपड़े को भेजकर बेचा जाय। इसके लिए यह ज़रूरी हो गया कि यातायात के साधन में अनुरूप उन्नति हो। मान लीजिए उन्नत से उन्नत कारख़ाने होते, किन्तु यातायात के साधन उन्नत न होते और बैलगाड़ियों या ऊँटों पर माल भेजना पड़ता तो उस हालत में कारख़ाने की उन्नति बेकार हो जाती। इसी लिए कताई और बुनाई की उन्नति के साथ साथ यातायात के साधनों की उन्नति ज़रूरी हो गई, और धीरे धीरे रेल तथा वाष्प-परिचालित जहाज़ों की उत्पत्ति हुई।

---

१ Ibid p. 227

५—एक भाग के साथ दूसरे भाग की असंगति से उन्नति—इसी प्रकार बराबर यंत्रविद्या में उन्नति होती गई है। किसी भी धन्धे को लिया जाय और जरा बारीकी से उसका अध्ययन किया जाय तो प्रकट होगा कि एक न एक असंगति के कारण उस धन्धे में क्रमिक उन्नति हुई है। हम जो मामूली मिट्टी के तेल की लालटेन को देखते हैं, उसमें भी इसी प्रकार एक एक हिस्से की अलग अलग उन्नति हुई है, और जब एक हिस्से में उन्नति हुई, और वह उन्नति दूसरे हिस्से की उन्नति के साथ असंगतिग्रस्त हो गई तो दूसरे हिस्से में भी उन्नति की आवश्यकता हुई और उन्नति हुई।

६—पशुओं की शक्ति के उपयोग से सभ्यता की वृद्धि—आदिम मनुष्य के पास केवल एक ही शक्ति थी, और वह शक्ति थी उसके शरीर की। यदि उसको किसी चीज़ को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की आवश्यकता होती, तो वह उसे अपनी पीठ पर लादकर या ढकेल कर या घसीटकर ले जाता था। इस युग में उसकी शक्ति इस मामले में किसी मामूली पशु से अधिक नहीं थी। धीरे धीरे उसने अपनी इस शारीरिक शक्ति को कुछ आदिम यंत्रों, जैसे बेंगा आदि, से विस्तृत कर लिया, किन्तु मूल में अभी उसकी ताक़त उसके शरीर की ताक़त तक ही सीमित थी। धीरे धीरे जब वह पशुपालन करने लगा तब उसने बैल, घोड़ा, बरफ़ के हिरन आदि से अपनी शक्ति बढ़ा ली। अब उसे जब किसी चीज को यहाँ से वहाँ ले जाना होता, तो उसे अपनी शारीरिक ताक़त खर्च करनी नहीं पड़ती, बल्कि वह स्वयं भी इन पर बैठ लेता, और जिस चीज़ को ले जाना चाहता, उसे भी लादकर ले चलता। स्पष्ट है कि इस प्रकार बैल आदि की ताक़त से उसकी ताक़त पहले से कहीं अधिक बढ़ गई, और अग्रगति का दायरा बढ़ गया। इस प्रकार उत्पादन के कार्य में पशुओं के उपयोग से मनुष्य को कुछ अवसर मिलने लगा क्योंकि अब जीवन धारण के साधनों का उत्पादन कर लेने के बाद मनुष्य को उच्चतर वृत्तियों के लिए समय मिलने लगा। पशुपालन से खेती में भी उन्नति हुई।

७—कहीं कृषि और कहीं पशुपालन की पहले उत्पत्ति—इस सम्बन्ध में अभी तक मतभेद है कि पशुपालन का युग पहले था या कृषि का युग। अधिकांश विद्वानों का मत यह है कि कृषि सर्वत्र पशुपालन से प्राचीनतर है, किन्तु

जर्मन इतिहास-लेखकों का यह विचार है कि इन दोनों में इस प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करना ग़लत होगा क्योंकि जब एक जगह पशुपालन ही पशुपालन हो रहा था तो दूसरी जगह कृषि ही कृषि हो रही थी। वी० गार्डेन चाइल्ड ने लिखा है कि अब कोई विद्वान् इस विषय पर ज़िद नहीं करते कि सार्वदेशिक रूप से पशुपालन का युग कृषि के पहले था क्योंकि आज भी बहुत से ऐसे कृषक कबीले हैं जिनमें कोई पालतू जानवर नहीं हैं। मध्य योरप और पश्चिमी चीन में जहाँ सैकड़ों वर्षों से दोनों पद्धतियाँ मिश्रित रूप से चल रही हैं, वहाँ के विषय में भी जब पुरातात्त्विक के फावड़े से पूछा गया तो उसने बतलाया कि किसनई का धन्धा पुराना है, लोग पालतू जानवरों पर बिल्कुल किसी प्रकार का भरोसा नहीं करते थे, खेती की उपज से ही काम चलाते थे, और शायद थोड़ा बहुत शिकार भी करते थे।[१]

८—क्रमशः पशुओं के विविध उपयोगों का ज्ञान—पशुपालन का पहले-पहल किस प्रकार उपयोग हुआ होगा, इस सम्बन्ध में भी गवेषणा की गई है। कदाचित् पहले-पहल मनुष्य ने पशुपालन मांस के रिज़र्व के रूप में किया था। ताक़त के रूप में पशुओं का उपयोग बहुत बाद की बात है। पले हुए पशुओं से जब चाहे तब मांस मिल जायगा, यही पशुपालन का सबसे प्रथम उत्तेजक कारण था, किन्तु उनकी और सम्भावनाओं का भी पता लगा होगा। एक तो धीरे धीरे मनुष्य को यह ज्ञात हुआ होगा कि जिस खेत में चौपाये बैठते हैं, उसमें उपज अधिक होती है, इस प्रकार खाद डालने का प्रथम विचार चौपायों के सम्बन्ध में किये गये इस निरीक्षण से ही आया होगा। सबसे प्रथम खाद गोबर ही था। आश्चर्य तो यह है कि भारतवर्ष में यही प्रथम खाद अब भी उपयोग में लाई जाती है, और वह भी यथेष्ट मात्रा में प्राप्त नहीं होती। हमारी संस्कृति के इस पहलू पर दृष्टि डालने से सम्भव है, कुछ लोगों की आँखें खुलें।

९—दूध का आविष्कार और उससे विचारों में क्रान्ति—पशुओं से दूध भी मिल सकता है और इस दूध का भी उपयोग हो सकता है, इस बात का पता मनुष्य को धीरे धीरे लगा होगा। अवश्य इस बात का प्रथम सुझाव नारी

१ M. M. H. p. 75

दुग्ध से आया होगा। एकाएक मनुष्य ने पशु का दूध पीना स्वीकार नहीं किया। आर्यों के पहले के भारतीय दूध का इस्तेमाल नहीं जानते थे। ख्रिस्टाफफान फिरेर-हाइमनडार्फ के अनुसार १९४३ में भी उड़ीसा की बन्डो जाति अपने जानवरों का दूध नहीं दुहती थी।[१] आज भी जिन भूभागों में ऊँट का दूध बिल्कुल अपरिचित है वहाँ के लोगों को यदि ऊँट का दूध पीने के लिए दिया जाय तो वे सहसा उसे पीना स्वीकार न करेंगे। इसलिए इस सम्बन्ध में मनुष्य को शनैः शनैः ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। दूध दुहने के विषय में सबसे मज़ेदार बात यह थी कि पशु को जीवित रखकर भी उससे खाद्य प्राप्त किया था। निःसन्देह यह आविष्कार महत्त्व का था। यदि यह कहा जाय कि दूध के आविष्कार के कारण पशु-हिंसा की ओर से मनुष्यों की प्रवृत्ति हटी होगी तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विचार परिस्थितियों से बनते हैं। जब पशु को जीवित रखकर भी उससे स्थायीरूप में खाद्य प्राप्त करना सम्भव हुआ तो उस समय पशुहिंसा के विरुद्ध भावनाओं का उठना बहुत स्वाभाविक था। हम वेदों में ही हिंसा, यहाँ तक कि याज्ञिकी हिंसा के विरुद्ध जो आवाज़ उठती पाते हैं, उसमें और बातों के साथ इस बात का कहाँ तक हिस्सा था, इस पर अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। अथर्ववेद में चलकर गाय माता हो जाती है। इसके बाद के युग में ही बुद्ध आदि का यज्ञ के विरुद्ध प्रचार चलता है। इस अनुसन्धान में ये बातें अनुसन्धान योग्य हैं। निःसन्देह दूध दुहने के आविष्कार तथा कृषि में उन्नति के साथ साथ पशुहिंसा, विशेषकर खेती से सम्बद्ध पशुओं की हिंसा, के विरुद्ध विचारधारा उत्पन्न हुई। किसी युग में शिकार एक आवश्यक वस्तु थी, उस युग में समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिकारी होता था, किन्तु बाद के युग में परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण मृगया एक विलासमात्र रह गया। बहुत-सी प्राचीन बातें, जिनकी कभी ज़रूरत थी, बाद के युग में किसी अनुष्ठान, रिवाज़ या धार्मिक कृत्य के रूप में, प्रस्तरीभूत रूप में, रह जाती हैं। बहुत सी जातियों में शिकारवाद केवल एक उत्सव के रूप में प्रस्तरीभूत होकर रह गया। उड़ीसा की गड़वा जाति में शिकार एक वसन्त उत्सव के रूप में प्रस्तरीभूत होकर मौजूद है। राजपूतों का अहरिया उत्सव इसी प्रकार

[१] I. R. A. S. B. Vol IX, no. I p. 162

एक अवशेषमात्र है। इसी प्रकार कभी मांसभक्षण एक आवश्यक अंग था, देवताओं और पितरों को मांस का पिण्ड दिया जाता था, किन्तु पशु के उन्नततर उपयोगों के आविष्कार के साथ साथ याज्ञिकी हिंसा ही प्रशस्त मानी गई, और उसके बाद के युग में तो इसका भी सूक्ष्मीकरण हुआ, यज्ञ से भी मांस को बिल्कुल निकाल देने की चेष्टा हुई, और उसमें लोगों को बहुत कुछ सफलता मिली।

किस प्रकार क्या हुआ यह ठीक ठीक कहना मुश्किल है, अवश्य ही इतने भारी परिवर्तन के पक्ष में एकाधिक कारण हुए होंगे, किन्तु इतना तो बिलकुल स्पष्ट है कि एक पशुपालक तथा खेतिहर जाति में ही मांस-भक्षण के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो सकता था। ध्रुवों के निकट खेती के सम्भावनाहीन भूभागों में बसनेवाली जातियों में पशुहिंसा के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठ सकती थी, और यदि उठती भी तो उस प्रकार के मत का प्रचार करनेवाला नेता वहाँ नहीं हो सकता था, बल्कि सम्भावना तो यही थी कि पागल समझकर उसे लिन्च कर दिया जाता।

फिर भी यह न समझा जाय कि सभी जातियों में वहुत प्राचीनकाल में ही पशुपालन का प्रवर्तन हुआ होगा। यह अनुमान इसलिए है कि भारतवर्ष में भी बहुत सी जातियों में उदाहरण स्वरूप कोल्लीमलयालियों में पशुपालन का प्रवर्तन अभी हाल ही में हुआ होगा।

१०—ऊन का आविष्कार—पशुपालन करते करते कुछ पशुओं के ऊन से जाड़ा दूर हो सकता है, यह भी मनुष्य को किसी सोपान में ज्ञात हुआ होगा। चमड़े से ऊन को अलग कर काम में लाने के बजाय ऊनसमेत चमड़े को ओढ़ने का ही रिवाज़ पहले चला होगा। इस समय भी अधिक ठण्डे देशों में इस प्रकार चमड़ा ओढ़ने का रिवाज़ मौजूद है। मिस्रनिवासियों में ऊन का उपयोग ई० पू० ३,००० तक ज्ञात नहीं था, किन्तु इसके पहले ही इराक में ऊन का चलन हो चुका था। ऋग्वैदिक युग में चर्म के अलावा ऊनी वस्त्रों का भी इस्तेमाल किया जाता था। ऊर्ण या ऊन के बनाये हुए कपड़े आर्यों के मुख्य पहनावे थे। इस ऊन में गान्धार का ऊन ही मुख्य समझा जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र में (१।१२६।७) गान्धार के भेड़ियों की तारीफ़ की गई है। बकरों से भी ऊन प्राप्त किया जाता था (ऋक् १०।२६।६)। सच बात तो यह है कि सूती वस्त्र

का ऋग्वेद में कहीं पता नहीं मिलता। ऐसी हालत में ऊनी वस्त्र ही एकमात्र वस्त्र रहे होंगे, किन्तु इस सम्बन्ध में विवाद है। मोहनजोदड़ो सभ्यता में ऊनी वस्त्रों के व्यवहार का पता मिलता है। रोमन आक्रमण के पहले इँगलैंड में ऊन का व्यवहार प्रचलित हो चुका था।

११—चमड़े के उपयोग का ज्ञान—केवल शिकार के युग में चमड़े का उपयोग सीखते सीखते मनुष्य को न मालूम कितने दिन लगे होंगे। यह न समझा जाय कि हमेशा मनुष्य पशु-मांस खाते समय चमड़े को अलग ही कर देते रहे हों। मांस के साथ चमड़े को खा डालने का रिवाज़ नैपाल में अभी तक है। चमड़े का अलग उपयोग हो सकता है, इस बात का पता मनुष्य को बाद के युग में ही लगा होगा। प्राचीन युग में चमड़े का उपयोग परिधेय, मकान या तम्बू बनाने के उपकरण, बर्तन, पुर, नाव आदि के रूप में पाते हैं। चमड़े के उपयोग का आविष्कार भी एक प्रमुख आविष्कार है, और पशुपालन के युग में उसकी खूब उन्नति हुई होगी।

१२—धीरे धीरे पशु के सींग, खुर सभी अंगों का इस्तेमाल—आधुनिक युग में तो पशु के शरीर का शायद ही कोई हिस्सा बेकार जाता हो। पशुओं के सींगों तथा खुरों से बहुत सी चीज़ें, यहाँ तक कि जिलेटिन नामक एक खाद्य द्रव्य भी, बनता है। पशु की अँतड़ियों का भी उपयोग होता है। पशु की हड्डी कई कामों में आती है। डाक्टर वोरोनोफ आदि ने बन्दर की ग्रन्थियों से मनुष्य को नव-यौवन देने की जो चिकित्साप्रणाली चलाई है, उससे ज्ञात होता है कि एक समय आयेगा जब मनुष्य का विज्ञान प्रत्येक पशु का किसी न किसी रूप में उपयोग करेगा।

१३—पशु से धन की नाप—लड़ाई में पशु छीनना—पशुपालन के युग में बल्कि पशुपालन तथा खेती दोनों के सम्मिलित युग में पशु बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। कई जगह तो पशु ही विनिमय के माध्यम थे। भारतवर्ष में गाय बहुत दिनों तक विनिमय का माध्यम रही, तथा राजाओं तक के धन की पैमाइश उनके पशुओं की संख्या से की जाती थी। स्वाभाविक रूप से ऐसे युग में जब लड़ाइयाँ होती थीं, तब एक दूसरे के पशु छीन लेते थे। महाभारत में इस प्रकार पशु छीनने की कई कथायें आती हैं। जिस समय पाण्डव राजा विराट्

के यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे, उस समय विराट राजा के पशुओं को लूटने के लिए कौरवों ने उन पर हमला किया था। उस समय राजा के आश्रित पांडवों ने उनकी रक्षा की थी। प्राचीन आर्यों में युद्ध में पशुओं का छीना जाना इतनी बड़ी बात थी कि युद्ध का प्राचीन नाम ही संस्कृति में गविस्ति अर्थात् गाय की इच्छा कही गई है।[१]

१४—घोड़े का आविष्कार—पालतू पशुओं में घोड़े का स्थान बहुत प्रमुख है। फोर्ट नामक विद्वान् का कथन है कि घोड़ों को पहले-पहल दूध के लिए और चढ़ने के लिए पालतू बनाया गया होगा। सिन्ध सभ्यता में ज़ीन के कुछ मिट्टी के बने माडेल मिले हैं जो ई० पू० २५०० के होंगे। मिस्र में घोड़ों का पहले-पहल प्रचलन हिक्सस (Hyksos) अर्थात् १६५० ई० पू० के पहले हुआ होगा। 'किन्तु सभी उदाहरणों में वे रथ खींचनेवाले जानवरों के रूप में दिखलाये गये हैं। ३००० ई० पू० में कुछ अश्ववत पशु (Some sort of equid) सुमेर के मानुमेन्टों पर रथ खींचते दिखाये गये हैं। इस सम्बन्ध में अभी विवाद है कि ये घोड़े थे या खच्चर।'[२] पहियेवाली गाड़ियों का पता ३५०० ई० पू० में सुमेरीय कला में मिलता है। वैदिक आर्य रथ का उपयोग करते थे बल्कि रथकार वैदिक आर्यसमाज का बहुत महत्त्वपूर्ण सदस्य समझा गया था। रथ की श्रेष्ठता के कारण ही भारत में आये हुए आर्य यहाँ के आदिम-तर निवासियों पर विजय प्राप्त कर सके। सिन्धु सभ्यता में भी रथ का परिचय प्राप्त होता है। गदहे के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जाता है कि ३००० ई० पू० के पहले ही बोझा ढोने के लिए इसका इस्तेमाल होता था। इसी समय के क़रीब मिस्र में पालतू गदहों तथा इराक़ में हल चलानेवाले गदहों का पता मिलता है। ऊँट भी ई० पू० ३००० के पहले व्यवहृत होते थे।

१५—हल का विकास—हल का आविष्कार उत्पादन-पद्धति में एक विकास की सूचना देता है। चाइल्ड का विचार है कि बैल ही शायद पहले-पहल खींचने-वाले जानवर थे। हल का आविष्कार होते होते बहुत दिन लगे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। खेती के प्रारम्भिक युग में मनुष्य हो (Hoe) या बहुत भद्दी

१ H. I. L. Vol I p. 64

२ M. M. H. p. 142

फल से जमीन को थोड़ी बहुत खोदकर बीज डाल देते थे। इसी का विकास होते-होते हल का आविष्कार हुआ। अब तो ट्रेक्टर का युग है। मिस्र में हो का एक विकसित रूप लम्बे फलवाले हो का पता मिलता है। जापान में ऐसे फावड़ों का पता मिलता है जिनको जमीन पर रखकर खींचा जाता था। हेब्राइडिस द्वीप में एक तरह के Foot plough का पता मिला है। ये ही हल के पूर्वपुरुष होंगे। हल के आविष्कार के साथ साथ खेती पुरुषों के हाथ चली गई, इसमें कुछ अपवाद है। भारतवर्ष में ही अभी तक कोलिमलयाली तथा खासिया लोगों में खेती स्त्रियाँ ही करती हैं, किन्तु यह स्मरण रहे कि इन लोगों में खेती में जानवरों का व्यवहार अपेक्षाकृत कम है। हो और हल में जो प्रधान भेद है वह द्रष्टव्य है। हो में मनुष्य की ही ताकत है, किन्तु हल में बैल या घोड़े की ताक़त काम में आने लगी थी। यों वह गुणगत रूप से हो से विभिन्न क़िस्म की वस्तु है।

१६—गेहूँ और जौ का विकास—हल के कारण खेती में उन्नति हुई, यह तो स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में भी खोज की गई है कि किन किन अनाजों की खेती का सूत्रपात किस किस तरीक़े से हुआ। कहना न होगा कि हम यहाँ पर इसके ब्यौरे में जाने का साहस नहीं कर सकते, इसलिए कुछ बहुत मोटे तथ्य ही पेश किये जायँगे। भूमध्यसागर, पश्चिमी एशिया और भारतवर्ष की सभ्यताएँ विशेषकर दो अनाजों पर निर्मित हुई हैं, एक जौ और दूसरा गेहूँ। गेहूँ के पूर्वपुरुष के रूप में दो जंगली घासों का पता लगता है, एक डिंकल (Dinkel) और दूसरा जंगली ऐमर (Emmer)। डिंकल बल्कान, क्रीमिया, एशियाई कोचक और काकेशस में जंगली रूप में उत्पन्न होती है, और ऐमर दक्षिण में फिलस्तीन और कदाचित् ईरान में जंगली रूप से पैदा होती है। चाइल्ड ने इन दोनों घासों के इतिहास के सिलसिले में यह बताया है कि आजकल जो घास जहाँ उगती हैं, वे पहले भी वहीं उगती होंगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वेबीलाफ ने तमाम तर्कों का उपसंहार करके यह नतीजा निकाला है कि अफ़ग़ानिस्तान और उत्तर-पश्चिम चीन गेहूँ का आदिम निवासस्थान रहा होगा। ऐमर जाति की घास मिस्र, एशियाई कोचक और पश्चिमी योरप में बोई जाती थी। इस समय जो गेहूँ

प्रचलित है वह एक तीसरी ही Triticum Vulgare क़िस्म का है। ऐमर और किसी अज्ञात घास के बीच जोड़े से ही इस गेहूँ की उत्पत्ति हुई होगी। इराक, तुर्किस्तान, ईरान और भारतवर्ष में जो प्राचीनतम गेहूँ के नमूने मिले हैं वे इसी क़िस्म के हैं। इसी प्रकार जौ के भी पूर्वज कुछ पहाड़ी घासें हैं। वेवीलाफ के अनुसार अबीसिनिया और दक्षिण पूर्व एशिया में जौ की आदिम बुआई होती होगी।

१७—बर्तन का आविष्कार—जब आनाज उत्पन्न होने लगा, और अधिक तादाद में उत्पन्न होने लगा तो उसे रखने का भी प्रश्न सामने आया। कहा जाता है कि इसी आवश्यकता से इस बात की खोज होने लगी कि जिन्हें हम आज बर्तन कहते हैं वे बने। किन्तु इस विषय में मतभेद है कि कृषि के युग के बाद ही बर्तन बनाने की कला का उद्भव हुआ या उससे पहले। जिस समय मनुष्य अभी खेती नहीं करता था, बल्कि केवल प्रकृति में उपलब्ध फल-मूल-कन्द, शस्य का संग्रहमात्र करता था, सम्भव है कि उसी युग में संग्रह की ज़रूरत के लिए बर्तन बनाने की कला प्रकट हुई हो। नवप्रस्तरयुग में क़रीब क़रीब सभी जातियाँ वर्तन बनाती थीं, किन्तु फिलस्तीन के नाटूफियनों में बर्तन बनाने की कला की उत्पत्ति नहीं हुई थी। केनिया में प्राचीन प्रस्तरयुग के भूगर्भस्तर में कुछ बर्तन के टुकड़े प्राप्त होने से यह भी अनुमान किया जा रहा है कि कदाचित् बर्तन बनाने की कला के प्रारम्भ को नवप्रस्तरयुग से पीछे की ओर खिसकाना पड़ेगा। किसी मिट्टी से पुती हुई टोकरी के आकस्मिक रूप से जल जाने से बर्तन बनाने की कला प्रकट हुई होगी, ऐसा अनुमान किया गया है। नवप्रस्तरयुग की सभी सभ्यताओं में बर्तन बनाना रहा होगा, क्योंकि जहाँ भी खनन-कार्य से इन सभ्यताओं के सम्बन्ध में हमें तथ्य प्राप्त हुए, वहीं टूटे हुए बर्तन प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। वर्तन बनाने की कला के सम्वन्ध में यह कहा गया है कि कदाचित् किसी द्रव्य में रासायनिक परवर्तन करने का सबसे प्रथम तजरबा इस कला के ज़रिये से ही मनुष्य को हुआ होगा। जो हो, यह निःसन्देह बहुत बड़ा आविष्कार था, इस विषय में मनुष्य को मिट्टी के सम्बन्ध में प्रयोग करने पड़े, क्योंकि प्रत्येक मिट्टी बर्तन बनाने के लिए समानरूप से उपयोगी नहीं थी। पहले कच्चे बर्तन ही बनते होंगे, फिर अग्नि के उपयोग के साथ साथ

लोगों ने पक्के बर्तन बनाने की कला सीखी होगी। बर्तन बनाने में कुम्हार के चक्के का उपयोग बाद की चीज़ है। चाइल्ड के अनुसार बर्तन बनाने की कला ही प्रथम धन्धा है जिसमें पहिये या चक्के का उपयोग किया गया, और इसके फलस्वरूप इस धंधे में क्रान्ति हो गई। इस बात का प्रमाण मौजूद है कि आज तक कुछ पिछड़ी हुई जातियों में हाथ से बर्तन बनाये जाते हैं। ऐसी जातियों में स्त्रियाँ इस कला का उपयोग करती हैं, किन्तु चक्के पर बर्तन बनाना मुख्यतः पुरुषों का काम रहा है। इस प्रकार बर्तन बनाने के क्षेत्र में भी चक्के के उपयोग के साथ साथ इसमें स्त्रियों का भाग घट गया और पुरुषों का बोलबाला हुआ।

१८—इष्टक-निर्माणकला—बर्तन बनाने से ही संयुक्तकला ईंट बनाने की है। शाम और इराक में ई० पू० ३००० के बहुत पहले ही ईंट बनाने की कला का आविष्कार हो चुका था। इसके पहले कच्ची ईंट काम में आती थी। सुमेर में ईंटें लिखने के काम में आती थीं। कच्ची ईंटों पर लिखकर फिर उन्हें पकाया जाता था। आज इन पकी हुई ईंटों की बदौलत ही हमें सुमेर की सभ्यता के विषय में बहुत कुछ ज्ञात है।

१९—भौतिक कारणों से लेखनकला की उत्पत्ति—सुमेर में ही लेखनकला का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। जिस प्रकार सुमेर में लेखनकला का उद्भव हुआ, वह ऐतिहासिक भौतिकवाद की सभ्यता का एक ज़बरदस्त प्रमाण है। यहाँ पर लेखनकला का उद्भव रोज़मर्रा की भौतिक आवश्यकताओं के कारण हुआ। सुमेरीय मन्दिर बाक़ायदा बैंक का काम करते थे। इन मन्दिरों से अनाज लिया दिया जाता था। प्रारम्भिक दशा में कदाचित् लेन-देन केवल याददाश्त पर निर्भर कर चलता था; किन्तु इस प्रकार की प्रथा की सम्भावनाएँ सीमित थीं, क्योंकि याददाश्त एक व्यक्ति पर निर्भर है। यदि वह व्यक्ति मर गया तो कौन बतलाता कि मन्दिर को किससे क्या मिलना है। मरनेवाला व्यक्ति अपने साथ अपनी याददाश्त को भी ले जाता था। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति की स्मृति-शक्ति बहुत ज़बरदस्त हो और वह बहुत सी बातों को ठीक ठीक याद रखता हो। सम्भव है, इसके लिए वह कुछ इशारों या गाँठों से मदद लेता हो, किन्तु जब वह मर जाय तो उसके इन इशारों तथा गाँठों को दूसरा कोई कैसे समझ सकता है। चाइल्ड ने इस विषय को समझाते हुए एक सुन्दर उदाहरण यह दिया है कि

यदि कोई व्यक्ति अपने रूमाल में कोई गाँठ बाँधकर मर जाय तो जिस पुलिस-वाले को उसकी मृतदेह प्राप्त होगी, उससे यह उम्मीद कैसे की जाती है कि वह यह समझ ले कि रूमाल की ये गाँठें किस कारण और किस बात की याद दिलाने के लिए बाँधी गई थीं। इसलिए स्वाभाविक रूप से कुछ ऐसे चिह्नों का प्रयोग आरम्भ हुआ जो सबके लिए, कम से कम उस मन्दिर के पुरोहित के लिए, एक अर्थ रखता है। सुमेरीय पुरोहित को यह याद रखना पड़ता था कि किस व्यक्ति को किस क़िस्म के कितने घड़े अनाज और किस को कितनी भेड़ें दी गईं। इसी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखने की कला का आविष्कार हुआ। ऐरेच में एक हिसाब का फलक (tablet) मिला है। इसमें जो कुछ लिखित है, सम्भव है कि केवल अंक ही हो। इसके कुछ बाद ही किन्तु ई० पू० ३३०० के बाद मिट्टी के बने हुए फलक न केवल ऐरेच, जेमदेतनश्र बल्कि दूसरे खनन स्थानों पर भी मिले हैं। 'मिट्टी पर पुरोहित ने आँकड़ों के साथ साथ कुछ लिखा भी है। जो कुछ उन्होंने लिखा है वह अधिकांश रूप में शीघ्र लेखनकला की तसवीरें हैं—जैसे एक घड़ा, एक बैल का सिर, दो त्रिकोण इत्यादि। इसलिए इस लेखनकला को चित्रलिपि कहा गया है। इन चिह्नों की ओर देखकर ही समझ में आ सकता है कि उनके क्या मानी हैं। फिर भी अब वे बहुत कुछ हद तक परम्परानुयायी हो चुके हैं। समाज ने कई तरह से एक विचार को संक्षेप में व्यक्त करने की पद्धतियों में से एक पद्धति को चुन लिया है, ठप्पा लगा दिया है और कुछ चिह्नों का तो जो चित्र बने हैं, उनसे कहीं अधिक व्यापक अर्थ है। घड़े के चित्र का अर्थ इतना अर्थात् वह नाप की एक ईकाई है। इस प्रकार के चिह्न जो एक विचार के लिए आते हैं, उन्हें Ideogram या विचारचिह्न कहा जाता है। हमारे गणित के चिह्न +, −, ×, ÷ इत्यादि इसी प्रकार विचार-चिह्नों के उदाहरण हैं।'

अब हम आगे लेखनकला के इतिहास का अनुसरण न करेंगे। वह स्वयं बहुत बड़ा विषय है। संक्षेप में हम इतना ही बता देंगे कि इस प्रकार धीरे धीरे भौतिक ज़रूरतों की पूर्ति करते करते लेखनकला की उन्नति होती गई। सुरुप्पाक में कुछ लिखित फलक मिले हैं। इनका समय ३००० ई० पू० का है। इनसे ज्ञात होता है कि भाव लेखनकला बिल्कुल पद्धतिगत हो चुकी है। '३००० ई०

पू० के बाद हमें जो लिखित फलक मिलते हैं उनमें हिसाबों, शर्तनामों के अतिरिक्त मंत्र, क़ानून तथा इतिहास की बातें मिलती हैं। अब चित्र का चित्रत्व अस्पष्ट हो चला है, किन्तु लिखना सरल होता गया है।' हमने विशेषकर सुमेर का इतिहास इसलिए उद्धृत किया कि यहाँ पर लेखनकला का इतिहास हमें क्रमबद्ध तरीक़े से मिलता है, अन्यत्र यह हिसाब उतना स्पष्ट नहीं है। सुमेर के विविरण से यह अनुमान करना असम्भव न होगा कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही लेखनकला का उद्भव हुआ। चाइल्ड ने बहुत ही ज़ोरों के साथ यह लिखा है 'सुमेरीय पुरोहितों ने लेखनकला का आविष्कार, कुसंस्कार या धर्म के नेताओं के रूप में नहीं बल्कि एक ऐहिक जागीर के गुमाश्तों के रूप में किया।'[१] यह भी द्रष्टव्य है कि आदिमतक लिखित दस्तावेज जो हमारे हाथ लगे हैं वे हिसाब तथा शक कोष के रूप में हैं—शक कोष इसलिए कि औरों को बताया जाय कि किस चिह्न का क्या अर्थ है। यह भी लेखनकला की भौतिक उत्पत्ति को प्रमाणित करता है।

२०—**बुनकारी नवप्रस्तरयुग में ज्ञात**—बुनकारीकला मानवीय सभ्यता के इतिहास में विशेष स्थान रखती है। प्राचीनतम नवप्रस्तर ग्रामों के अवशेषों का विशेषकर मिस्र, निकटपूर्व, सिन्धु सभ्यता तथा वैदिक भारत के अवशेषों तथा अनुश्रुतियों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि इनमें बुनकारी कला प्रचलित थी। स्त्रियाँ भी बुनकारी करती थीं। मोहन जोदारो और हरप्पा की खुदाई में कपास की खेती का परिचय मिलता है। कपास की खेती तो कदाचित् उन्हीं लोगों से दुनिया ने सीखी। फायूम झील के पास नवप्रस्तरयुग के गाँववाले एक प्रकार के सन का इस्तेमाल करते थे। प्राचीन स्वीज़रलैंड में इसी प्रकार एक तरह के रेशों का इस्तेमाल नवप्रस्तरयुग में होता था। करघे का आविष्कार नवप्रस्तरयुग में हो चुका था। गत शताब्दी तक कनाडा के उत्तर पश्चिम उपकूल में कुछ लोग ऐसे मौजूद थे जो चटाई की तरह एक प्रकार का मोटा कपड़ा बुन लेते थे। इससे यह अनुमान किया जाता है कि करघे का आविष्कार होते होते बहुत दिन लगे होंगे, और इसके पीछे सैकड़ों अज्ञात व्यक्तियों की प्रतिभा रही होगी। चरखे और करघे का सम्बन्ध तो स्पष्ट है। इन कलाओं

१ M. M. H. p. 209

का विकास होते होते आज की विराट् कपड़े की मिलें बनी हैं, किन्तु इसका प्रारम्भ बहुत ही मामूली था। मनुष्य का प्रथम पहनावा वल्कल या चमड़ा रहा होगा।

२१—नौविद्या का विकास—नावों का विकास भी बहुत दिलचस्प है। जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे ज्ञात हुआ है कि शुरू शुरू में पेड़ों के तनों को खोखला कर नाव का काम लिया जाता था, साथ ही चमड़े की नावें भी इस्तेमाल की जाती थीं। प्रागैतिहासिक युग के मिस्र के चित्रों से पता लगता है कि पेपिरस के पत्ते के ढेरों को बाँधकर नावें बनाई जाती थीं, और इसमें चालीस से पचास तक खेनेवाले होते थे। बीच में एक कैबिन होता था। इस प्रकार एक हद तक नावों में जो उन्नति हुई वह केवल खेनेवालों की अर्थात् डाँड़ों की वृद्धि के रूप में हुई। एक बजड़े में सैकड़ों डाँड़ होने पर भी उसकी एकमात्र ताक़त मनुष्य की ही ताक़त थी, किन्तु बाद को पालवाली नावों के आविष्कार से परिस्थिति बदल गई। अब हवा की शक्ति को नाव चलाने में जोता जाने लगा। मिस्र में ई० पू० ३५०० के इर्द-गिर्द पालवाली नावों का व्यवहार शुरू होता है। ऐसा बताया गया है कि मिस्र के नीलनद में जो पालवाली नावें पहले-पहल चलीं वे विदेशी थीं, फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि ई० पू० ३००० तक पूर्वी भूमध्य सागर में ये नावें आम हो चुकी थीं। यही बात अरब सागर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती थी, यद्यपि अरब सागर के विषय में प्राप्त प्रमाण कम हैं। नावों के आविष्कार से मनुष्य के लिए जल बाधक न रहकर मार्ग बन जाता है। वैदिक साहित्य में नाव से व्यापार का परिचय मिलता है। मोहन जोदारो में भी नाव का व्यवहार था। सदियों तक पालवाली नावें ही चलती रहीं। भाप के इंजिन के आविष्कार के साथ साथ नाव में अगली उन्नति हुई। अब तो Ocean liner या महासमुद्रगामी विराट् जहाज़ों का युग है।

२२—मानवीय संस्कृति के लिए महत्त्वपूर्ण चार आविष्कार—हम इस प्रसंग में सब उपयोगी आविष्कारों का इतिहास नहीं देना चाहते और न यह सम्भव है। हमने केवल कुछ कोश शिलाओं का निर्देश कर दिया जिससे यह ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार उत्पादनपद्धति में पैदा होनेवाली नई नई असंगतियों

के निराकरण करते हुए सभ्यता में वृद्धि होती गई। चाइल्ड के अनुसार २६०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक चार ही आविष्कार ऐसे हुए जो मानवीय संस्कृति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थे। ये आविष्कार यों थे—

(१) दशमलवपद्धति (२००० ई० पू० के क़रीब)

(२) औद्योगिक पैमाने पर लोहा गलाने का सस्ता तरीक़ा (१४०० ई० पू०)। वैदिक आर्य लोहे से अपरिचित थे, ऐसा क़रीब क़रीब सभी विद्वानों का मत है।

(३) वर्णमालामूलक लिखन पद्धति (१३०० ई० पू०)

(४) शहरों को पानी पहुँचाने के लिए बृहदाकार कृत्रिम जलाशय (Aquduct) का निर्माण (७०० ई० पू०)।

बेबीलोनिया ने यद्यपि दशमलव का आविष्कार किया था, किन्तु फिर भी वह उनकी लिपि के साथ मर गई, इसलिए इसका पुनराविष्कार १५९० ई० में हुआ। लोहे के गलाने से तो एक नवयुग का ही प्रवर्तन होता है। कृत्रिम जलाशय की निर्माणपद्धति के आविष्कार से शहरी सभ्यता का उदय सम्भव हुआ। नहीं तो नदी के किनारों पर ही शहरों का उदय हो सकता था। अब यह मजबूरी नहीं रही।

२३—यंत्र का विकास और बिजली का प्रयोग—अपने कामों में पशुओं की शक्ति को जोतने में समर्थ होने पर भी मनुष्य की उत्पादनपद्धति अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई ही रही। बैल, घोड़े भी आखिर मनुष्य की तरह बहुत सीमित शक्तिवाले जानवर थे, इसलिए एक हद तक ही उनका उपयोग हो सकता था। इस सीमा को पार करने के लिए ही वाष्पशक्ति के उपयोग का विकास हुआ। जो काम अब तक मनुष्य अपनी ताक़त या घोड़ा-बैल की ताक़त से करता था, वह अब यंत्र के द्वारा कहीं अधिक सुगमतापूर्वक किया जाने लगा। एक पूर्णवयव यंत्र में तीन हिस्से होते हैं, एक तो मोटर अर्थात् परिचालक हिस्सा, दूसरा वह हिस्सा जिसके ज़रिये जिस हिस्से में काम होता है, उस हिस्से में ताक़त पहुँचाई जाती है, तीसरा वह हिस्सा जहाँ काम होता है। इस प्रकार यंत्र के अन्दर ही एक प्रकार से श्रम-विभाजन मौजूद है। अब तो आधुनिक यंत्र बहुत ही जटिल तथा सूक्ष्म हो गये हैं। यंत्र की उन्नति के कारण न केवल मनुष्य की

शारीरिक ताक़त को कोई ज़रूरत नहीं रही, बल्कि दृष्टिशक्ति की तीक्ष्णता तथा वैयक्तिक कौशल की आवश्यकता नहीं रही। अब तो यंत्र बारीक से बारीक काम को एक नपे-तुले नमूने के अनुसार कर लेता है। अब केवल यंत्र पर निगाह रखने के लिए मनुष्य की ज़रूरत है। उद्योग-धन्धों में वाष्प की जगह बिजली के उपयोग के आविष्कार के कारण और भी उन्नति सम्भव हुई है। अब यंत्र का परिचालक हिस्सा यानी जहाँ से यंत्र को ताक़त मिलती है, उसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह यंत्र के अन्दर स्थित हो। अब सैकड़ों मील की दूरी से यंत्र चलाने के लिए ताक़त के रूप में बिजली आ सकती है। बिजली इंजिनों से सस्ती भी पड़ती है। अब तक किसी उद्योग-धंधे को चलाने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि कोयले की खान कितनी दूर पर है, इत्यादि, किन्तु बिजली का उपयोग सम्भव होने के कारण अब इस बात पर ख़्याल रखने की ज़रूरत नहीं। धुआँ वग़ैरह न होने के कारण बिजली परिचालित कारख़ाने अधिक स्वास्थ्यकर होते हैं। बिजली का उपयोग घरों में तथा धन्धों में समान-रूप से हो सकता है।[१]

यातायात के साधनों में उन्नति के साथ साथ अब यह ज़रूरी नहीं है कि काम करनेवाले लोग कारख़ाने के पास ही रहें। सड़कों की उन्नति के कारण देहातों में माल भी अधिक आसानी से लाया और पहुँचाया जा सकता है। यदि यांत्रिक उन्नति का सही इस्तेमाल किया जाय तो जाति का प्रत्येक व्यक्ति सुख-समृद्धि में रह सकता है, क़िन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कोई परिश्रमोपजीवी न रहे। विभाजन में विषमता तथा शोषण के बावजूद यांत्रिक युग में शिक्षा, संस्कृति तथा उपभोग के अन्य साधनों का पहले के युगों के मुक़ाबिले में कहीं अधिक प्रसार हुआ है। हाँ, इनका पूरा फ़ायदा तभी उठाया जा सकता है जब समाजवाद हो, इसमें कोई सन्देह नहीं।

२४—चार मुख्य यांत्रिक युग—किस प्रकार औज़ारों का विकास हुआ है, इस सम्बन्ध में पुरातत्त्व ने हमें जो बतलाया है, वह यों है—

(१) प्राचीन प्रस्तरयुग, (२) नवप्रस्तरयुग, (३) ब्राञ्जयुग, (४) लौहयुग।

१ A. O. P. E.

इस प्रकार युग-विभाग से इस बात का भी पता लगता है कि उस विशेष-युग में उत्पादन की शक्तियों का कितना विकास हुआ था। प्राचीन प्रस्तरयुग में मनुष्य मुख्यतः शिकार, मछली मारना, फल-मूल, कन्द, घोंघा आदि के संग्रह से जीवन धारण करते थे। यह भी अनुमान किया गया है कि इस युग में मनुष्यों की संख्या बहुत कम होगी। नवप्रस्तरयुग में उत्पादनपद्धति प्राचीन प्रस्तरयुग के मुक़ाबिले में अधिक विकसित हुई और मनुष्य अब कृषि तथा पशुपालन भी करने लगा। नवप्रस्तरयुग के सम्बन्ध में पुरातत्त्व की गवाही से ज्ञात होता है कि जनसंख्या पहले के युग से अधिक बढ़ गई। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस युग में जनसंख्या बढ़ी। उत्पादनपद्धति में उन्नति से ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक था। पुरातत्त्व ने जिस गवाही पर यह बात बताई है कि नवप्रस्तरयुग की अधिक क़ब्रें प्राप्त हुई हैं, इसलिए इस युग में आबादी अधिक थी, इसे कहाँ तक विश्वास्य समझा जा सकता है यह विचार्य है, क्योंकि प्राचीन प्रस्तरयुग में उत्पादनपद्धति के पिछड़ेपन के कारण युद्ध-बंदियों का तथा अपने समाज के बूढ़ों तथा अपाहिजों को खा डालनेवाला सोपान भी तो रहा।

२५—ब्राञ्जयुग—भारत में नहीं—ब्राञ्जयुग में मनुष्य जाति की और भी उन्नति हुई, क्योंकि ब्राञ्ज के औज़ार पहले के पत्थर के औज़ारों से कहीं अधिक उत्पादक थे, किन्तु सभी जगह यह युद्ध अपने उच्चरूप में रहा हो, यह बात नहीं, क्योंकि सभी जगह ब्राञ्ज के उपकरण सुलभता के साथ उपलब्ध नहीं थे। ब्राञ्ज ताँबा और टीन से बनता है। यों उसमें जस्ता, लोहा और शीशा भी जोड़ा जा सकता है। भारतवर्ष में कोई ब्राञ्जयुग नहीं हुआ, ऐसा विन्सेंटस्मिथ आदि विद्वान् मानते हैं। ऐसा अनुमान है कि दक्षिण भारत में पत्थर से सीधे सीधे लोहे के औज़ार का युग आ गया। बीच में कोई सोपान नहीं हुआ। उत्तर भारत के सम्बन्ध में स्मिथ मत है कि विकास दूसरे तरीक़े से हुआ, यहाँ पत्थर और लौहयुग के बीच में एक ताम्रयुग भी हुआ। ऋग्वेद में जो गम्भीर शब्द आया है, उसका मतलब लोहार नहीं बल्कि ताम्रकार है। प्राचीन सुमेर के सम्बन्ध में यह निश्चितरूप से ज्ञात हुआ है कि वहाँ ब्राञ्ज का आविष्कार हुआ था, किन्तु गार्डेन चाइल्ड इसी सिलसिले में यह कहते हैं कि उसी समय भारतवर्ष में भी ब्राञ्ज का पता मिलता है। जो हो, लोहे का उल्लेख अथर्ववेद

में आकर मिलता है। ई० पू० ५०० तक भारतवर्ष में लोहे का व्यापार ज़ोरों से होने लगा था। स्मिथ का यह अनुमान है कि भारतवर्ष में ई० पू० १००० में लोहे का व्यापार शुरू हुआ होगा। अन्य विद्वानों के मतों में और स्मिथ के मत में थोड़ा बहुत प्रभेद है, किन्तु सभी इस विषय पर सहमत हैं कि भले ही यत्रतत्र खननकार्य में ब्राञ्ज के इक्के-दुक्के हथियार मिले हों, किन्तु भारतवर्ष में कभी ब्राञ्जयुग नहीं हुआ। दक्षिण भारत की क़ब्रों में ब्राञ्ज के जो द्रव्य मिले हैं, वे बाहर से आये होंगे। निकटपूर्व में ब्राञ्ज का बहुत व्यापार होता था, ऐसा पुरातत्त्व का कहना है। ब्राञ्ज ताँबे से अधिक कड़ा होने के कारण हथियार और औज़ार बनाने के लिए अधिक उपयोगी है।

२६—**लौहयुग**—लौहयुग के प्रवर्तन के साथ साथ औज़ार के उपकरण में सबसे बड़ी क्रान्ति होती है, क्योंकि ब्राञ्ज बहुत कम तादाद में प्राप्त हो सकता था, बल्कि बनाया जा सकता था। लोहे के औज़ारों के साथ साथ औज़ार सस्ते भी हो गये। खेती अब ज़ोरों से होने लगी। जनसंख्या की जल्दी वृद्धि हुई।

२७—**आधुनिक यंत्रयुग का विभाजन**—आधुनिक यंत्रयुग को लुइस मम-फ़ोर्ड का अनुसरण करते हुए यूजीन स्टेले ने यों युगों में विभाजित किया है—

(१) अति प्राचीन यंत्रयुग (Eotechnics) या आधुनिक यंत्रयुग का उषःकाल। १००० ईस्वी से १८वीं शताब्दी तक यह युग रहा। इसमें शक्ति के रूप में जल, वायु और लकड़ी का ज़ोर रहा। ज़मीन पर डाक ले जानेवाली घोड़ागाड़ियाँ और समुद्र में पालवाले जहाज़ ही यात्रा और यातायात के क्षेत्र में इस युग की उच्चतम सफलताएँ थीं।

(२) इसके बाद के युग को प्राचीन यंत्रयुग (palaeotechnics) कह सकते हैं। १९वीं सदी से २०वीं सदी के प्रारम्भ तक यह युग रहा। इस युग में कोयले और लोहे का बोलबाला रहा और वाष्प परिचालित रेल तथा जहाज़ इस युग की विशेषता है।

(३) इसके बाद नवीन यंत्रयुग (Neotechnics) आता है। १९वीं सदी के पिछले चरण से इसका आरम्भ हुआ। यह बिजली मिलावटी धातु (alloy complex) युग है। इस युग में रेडियो, आधुनिक मोटर, डिनेल, बिजली की स्ट्रीम लाइनवाली गाड़ी और हवाई जहाज़ का प्रचार हुआ।

२८—औज़ारों के कार्य का पृथक्करण—उन्नति का परिचायक—आदिम औज़ारों के सम्बन्ध में एक बात यह भी ज्ञात हुई है कि आदिमतम युग में एक ही औज़ार एक साथ कई काम देता था। यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि मनुष्य जिस पत्थर के टुकड़े या लकड़ी को उठाकर फल तोड़ता था उसी को मौक़ा पड़ने पर किसी जानवर या आदमी पर फेंककर मारता होगा। औज़ारों का पृथक्करण अर्थात् विभिन्न काम के लिए विभिन्न औज़ारों का व्यवहार संस्कृति की उच्चता परिचायक है। जो जाति जितनी ही सभ्य होगी, उसमें इस प्रकार का पृथक्करण हुआ होगा। मनुष्य ज्यों ज्यों औज़ार बनाने की कला में उन्नति करता गया त्यों त्यों उसने छेनी, हथौड़ा, आरी, रन्दा, क़ैंची, छुरी, कुदाल, फावड़ा, गैंती आदि भिन्न भिन्न कामों के लिए भिन्न भिन्न औज़ार बनाये।

२९—धनुष प्रथम इंजिन—यों ऐटमबम के युग में धनुष बहुत ही आदिम ढंग का सरल हथियार ज्ञात होता था, किन्तु इसे पहली इंजिन की मर्यादा प्रदान की गई है कि यद्यपि इसमें केवल हाथ की ही ताक़त काम में आती है, फिर भी धनुष को झुकाकर इस ताक़त को केन्द्रीभूत कर दिया जाता है और यह ताक़त तीर के फेंकने में एक साथ एक बिन्दु पर काम में आती है। गार्डन चाइल्ड का अनुमान है कि धनुष का पहले-पहल आविष्कार मेगलेनियनयुग में हुआ होगा। यह पता नहीं कि फ़्रेंच ओरिगनेशियनों में इसका व्यवहार होता था या नहीं, किन्तु उन्हीं के समसामयिक पूर्वी स्पेन के लोगों में इसका व्यवहार होता था।[१] इसी धनुष से चलकर आज हम इंजिनों की किस विपुल उन्नति में पहुँचे हैं, इसे बताने की आवश्यकता नहीं।

३०—अंगों के अनुकरण से अंगों की शक्ति-वृद्धि के लिए यंत्रों का विकास—यंत्र-विज्ञान में उन्नति शुरू शुरू में शरीर के अंगों का अनुकरण करके हुई होगी, ऐसा विद्वानों का मत है। मनुष्य के घूँसे से हथौड़ा, बसूला आदि भोंथरे यंत्रों की कल्पना हुई। इसी प्रकार धारवाले यंत्रों की कल्पना नाख़ून तथा सामने के काटनेवाले दाँतों से हुई। दंतपंक्ति के अनुकरण में आरी तथा रेती की कल्पना हुई। पकड़ की अवस्था में हाथ तथा बन्द होते हुए जबड़ों से चिमटा आदि की कल्पना हुई होगी। अर्नेस्ट कैप ने इन बातों को बतलाते हुए दिख-

१ M. M. H. p. 67

लाया है कि इस प्रकार के सब यंत्र आदिम युग के हैं। इसी प्रकार टेढ़ी उँगली से हुक (Hook) अंजलि से कोटरी, तथा हाथ तथा उँगलियों की विभिन्न मुद्राओं से तलवार, भाला, डाँड़, हल, शावेल आदि की उत्पत्ति हुई होगी।[1] मनुष्य ने पहले पहल आकस्मिक रूप से एक पेड़ की डाल तोड़कर उससे कोई फल भोर लिया होगा, इससे उसको यह जो ज्ञान हुआ था कि उसके हाथों की प्राकृतिक रूप से जितनी लम्बाई है उसे बाहरी चीजों की सहायता से बढ़ाया जा सकता है, उससे उसका ज्ञान बढ़ते बढ़ते इस हद तक पहुँचा कि वह प्रत्येक क्षेत्र में अपने अंगों की प्राकृतिक शक्ति को औज़ारों अर्थात् बाहरी चीजों की सहायता से बढ़ाने में समर्थ हुआ। औज़ार न केवल मनुष्य की सीमित शक्ति को बढ़ाने में समर्थ हुए हैं, बल्कि जैसा कि बताया गया, औज़ारों की परिकल्पना तथा उत्पत्ति में ही अंगों का अनुकरण निहित है।

३१—मनुष्य में और पशु में प्रभेद का मूर्तरूप यंत्र—मनुष्य और पशु में क्या प्रभेद है, इस सम्बन्ध में तरह तरह की धारणा विभिन्न युगों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा हुई है। मनुष्य में विकास अधिक हुआ है तथा उसका दिमाग़ और शरीर अन्य पशुओं से अधिक विकसित है, यह तो एक प्राथमिक तथ्य है जिसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य और पशु के बीच प्रभेद के सम्बन्ध में एक बहुत ही परिचित संस्कृत श्लोक है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्य और पशु दोनों में सामान्य हैं, किन्तु मनुष्य की विशेषता धर्म है, धर्महीन मनुष्य पुच्छ विषाणहीन पशु के बराबर है। कहना न होगा कि इस कथन में प्रचारकार्य की अधिकता है, फिर भी संस्कृति—यदि संस्कृति में हम प्रश्नों से इकट्ठी की हुई ज्ञान-राशि को लें—मनुष्य की एकमात्र विशेषता है। धर्म का इस संस्कृति में कौन सा स्थान है, यह स्वतंत्ररूप से आलोच्य विषय है। जूलियन हक्सले ने मनुष्य की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बताया है कि ये विशेषताएँ मुख्यतः तीन हैं, एक तो भाषा, दूसरी परम्परा और तीसरा औज़ार। वे भी इस बात को मानते हैं कि मनुष्य में जो युग-युगान्तर से ज्ञान एकत्र हुआ है, उसके मूर्तरूप औज़ार ही हैं। 'दूसरे कई प्राणी भी औज़ार का इस्तेमाल करते हैं किन्तु वे औज़ार बहुत ही प्राथमिक रूप से व्यवहृत प्राथमिक

१ H. M. p. 117

औज़ार हैं। जटिल औज़ार और कुशल कला का विकास भाषा और परम्परा की सहायता से ही विकसित हो सकता था।'[१]

मिस्टर हेनरी जार्ज ने Progrers and Poverty नामक पुस्तक में मनुष्य और पशु के भेद को दिखाते हुए जो कुछ कहा है, उसका भी सारांश बहुत कुछ यही है। उनका कहना है 'मनुष्य एकमात्र प्राणी है जिसकी इच्छा की ज्यों ज्यों पूर्ति की जाती है, त्यों त्यों वह बढ़ती है। मनुष्य ही एक प्राणी है जिसकी इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। आज का एक बैल आदिम युग के बैल से अधिक कोई कामना नहीं करता। इँगलिश चैनेल का सामुद्रिक 'गल' (Gull) पक्षी तेज़ चलनेवाले स्टीमरों पर बैठ जाता है। सीजर के समय की नावों पर जो गलें बैठा करती थीं उनसे वह न तो अधिक अच्छा खाद्य चाहती है और न उसको उनसे अच्छे वासस्थान की आवश्यकता है। अन्य प्राणी प्राप्त सुविधाओं का केवल इतना ही उपयोग कर सकते हैं कि वे अधिक तेज़ी से वंशवृद्धि करें, किन्तु मनुष्य के लिए यह बात सही नहीं है। मनुष्य की प्राथमिक आकांक्षाएँ तृप्त होने के बाद ही इसके मन में अन्य प्रकार के अभावों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य भी और किसी चीज़ से पहले खाद्य चाहता है, इसके बाद वह पशुओं की तरह आश्रय चाहता है। यदि ये पूर्ण हो गये तो वह प्रजनन की इच्छाओं को संतुष्ट करना चाहता है। यहाँ तक तो मनुष्य और पशु की इच्छाओं का क्रम एक है, किन्तु पशुओं की इच्छा यहीं ख़त्म हो जाती है, परन्तु मनुष्य के लिए तो इन प्राथमिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति मानो अनन्त श्रेणी (progrepsion) का प्रारम्भमात्र है। पशु इस निरन्तर वृद्धिशील इच्छा का स्वाद नहीं जानता ज्यों ही किसी वाञ्छित वस्तु के परिमाणों के सम्बन्ध में मनुष्य की इच्छा तृप्त हो गई, त्यों ही वह चाहता है कि बढ़िया क़िस्म की चीज़ मिले। पशुओं और मनुष्यों में जो इच्छाएँ सामान्य हैं, वे भी मनुष्य में आकर विस्तृत, परिष्कृत और उच्छ्रित होती हैं। मनुष्य न केवल भूख की तृप्ति के लिए खाता है, बल्कि वह उसमें स्वाद ढूँढ़ता है। वह कपड़े में न केवल शीत, ग्रीष्म की निवृत्ति ढूँढ़ता है, बल्कि वस्त्र उसका अलंकार भी है। पहले का भद्दा झोपड़ा या गुफा अब सुन्दर, दिव्य प्रासाद हो जाता है। जहाँ जहाँ जिसके तिसके साथ तृप्त होनेवाली

१ U. M. J. p. 4

मौन इच्छा मनुष्य में आकर एक सूक्ष्म गुण का रूप धारण करती है। उसमें ज्यों ज्यों इच्छाओं को तृप्त करने की शक्ति बढ़ती है, त्यों त्यों उसमें इच्छाएँ भी बढ़ती जाती हैं।'

हेनरी जार्ज ने जिन शब्दों में मनुष्य और पशु के प्रभेद के सम्बन्ध में लिखा है, उसे कुछ हद तक रहस्यवाद छू जाता है। ऐसा ज्ञात होता है मानो मनुष्य में कोई अन्तर्निहित, अलौकिक शक्ति हो, किन्तु ऐसी बात नहीं है, बल्कि उसकी सारी विशेषताओं को विकासवाद के द्वारा समझना सम्भव है। मनुष्य में ये विशेषताएँ चिरन्तन नहीं हैं, बल्कि इन विशेषताओं के कारण ही मनुष्य आज का मनुष्य हो सका है। निःसन्देह मनुष्य की श्रेष्ठता में सबसे बड़ी चीज़ औज़ार और यंत्र है।

३२—यंत्र संन्यास नारे की अव्यवहारिकता—इस पर भी जो लोग रहस्यवादी तरीक़े से यंत्र संन्यास का नारा देते हैं, उनकी बातें समझना कठिन है। आज पृथ्वी की जनसंख्या इतनी बढ़ चुकी है तथा लोगों की आवश्यकताएँ इतनी विविध हो गई हैं कि यंत्रों के बिना एक क़दम भी नहीं चला जा सकता। यंत्रों के विरुद्ध बढ़-बढ़कर बातें मारना तो आसान है, किन्तु किसी भी यंत्र-विरोधी ने इसका कोई व्यावहारिक रूप नहीं बतलाया कि बग़ैर यंत्रों के इतनी बड़ी जनसंख्या का प्रतिपालन कैसे होगा। स्मरण रहे कि यंत्रों में केवल तोप, टैंक और बड़ी बड़ी मिलें ही नहीं आतीं, बल्कि उसमें छापेखाने, ट्रेक्टर, रेल, सिनेमा, तार, जहाज़ इत्यादि आते हैं जो हमारे सांस्कृतिक जीवन के अनिवार्य और अपरिहार्य अंग हो गये हैं। आज ज्ञान-विज्ञान का जो अद्भुत प्रसार है वह यंत्रों के ही कारण है। बड़े विद्वान् समझे जानेवाले स्पिनोजा के पुस्तकालय में केवल ६०.पुस्तकें थीं, किन्तु आज ६० पुस्तकों से बच्चों का पुस्तकालय खोलना भी हास्यास्पद समझा जायगा। आज एक विद्यालय के छात्र का साधारण ज्ञान (General knowledge) पहले के युग के विद्वानों के साधारण ज्ञान के मुक़ाबिले में कहीं अधिक होता है। यंत्रों के संन्यास का अर्थ और बातों के साथ साथ ज्ञान-विज्ञान के इस प्रसार को कुठित कर देना है। यंत्र-संन्यासवाद भी एक तरह का पलायनवाद है क्योंकि यह जीवन की वास्तविकताओं से मुँह मोड़कर चलता है। आधुनिक यंत्र मनुष्य की आत्मिक मुक्ति का द्योतक है न

कि उसकी दासता का। जो लोग पूँजीवादी पद्धति की विषमताओं से घबड़ाकर यंत्र संन्यासवाद का नारा देते हैं, वे उसी श्रेणी के हैं जो धोबी से पेश न पाकर गदहे का कान उमेठते हैं।

यंत्र ही वह साधन है जिसने मानव-जाति को धीरे धीरे अन्धकार युग से हाथ पकड़कर ज्योति के युग में प्रविष्ट कराया है। इसी ने हमें मनुष्य की मर्यादा दी है, और आगे भी इसी की उन्नति से उस युग को ले आना सम्भव होगा जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करेगा और आवश्यकतानुसार सामाजिक द्रव्यों का उपयोग कर सकेगा। हम यंत्र का त्याग किसी हालत में नहीं कर सकते। ऐसा करना आत्महत्या करने के तुल्य होगा बल्कि उससे भी अधिक, क्योंकि इस हत्या में हम केवल अपने वर्तमान को ही झोंक न देंगे बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी आये हुए भूतकाल के सारे ज्ञान को, साथ ही भविष्य की आशाओं का बलिदान कर देंगे। मनुष्य की प्रगति मानो उसी अनुपात से हुई जिस अनुपात से उसने अपने से बाहरी शक्तियों तथा साधनों का उपयोग किया। मनुष्य की भौतिक ही नहीं, मानसिक उन्नति का द्वार यंत्र के कारण प्रशस्ततर होता गया है। उसके बिना प्रगति अकल्पनीय है।

३३—यंत्र संन्यासवाद पर मार्क्स—जो लोग यह चाहते हैं कि हम यंत्र संन्यास लेकर पूँजीवादी युग के पहले के गृह-शिल्प के युग में लौट चलें वे इस बात को भूल जाते हैं कि यही यंत्र मनुष्य-जाति की सबसे बड़ी धरोहर है। मार्क्स ने लिखा है कि गृह-शिल्प की पद्धति में 'उत्पादनों का केन्द्रीकरण नहीं होता। इसी प्रकार इसमें सहयोग तथा उत्पादन की पृथक् प्रक्रियाओं में श्रम का विभाजन, समाज द्वारा प्राकृतिक शक्तियों का उत्पादनात्मक प्रयोग तथा सामाजिक उत्पादन-शक्तियों का स्वतंत्र विकास नहीं होता। यह केवल ऐसी उत्पादनपद्धति तथा ऐसे समाज में खप सकता है जो संकीर्ण तथा कमोवेश आदिम सीमाओं के अन्दर घूमता हो। इसको चिरस्थायी करना जैसे पैकर ने सही तौर पर कहा है, उन्नति विरोध का नारा देना है।'[१]

३४—यंत्र संन्यास पर गांधीजी का बदला हुआ मत—वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने यंत्र के विरुद्ध सबसे अधिक विरोध किया है। अपनी पुस्तक

१ C. K. M. Vol I Chapter 32

'Indian Home rule' (१९०८) में उन्होंने पूर्ण यंत्र संन्यास का नारा दिया था। फिर वे बराबर बदलते गये, और बदलते बदलते श्रीमन्नारायण अग्रवाल की 'Gandhian Plan' (१९४४) पुस्तक में हम देखते हैं कि वे यंत्रों के साथ बहुत कुछ सन्धि कर चुके हैं। अवश्य ही अब भी गांधीजी की वह पुरानी धुन यदाकदा उनकी उक्तियों में ज़ोर लगाती है, किन्तु जिस व्यावहारिक रूप में अब वे जगत् को लेने के लिए तैयार हैं, वह गान्धीवादी योजना में आ चुका है। इसमें भी यंत्रों को विशेषकर वस्त्र-व्यवसाय में सीमा के अन्दर इस्तेमाल करने की सिफ़ारिश है, किन्तु अब गांन्धीजी दृश्यगत शक्तियों के सामने बहुत कुछ आत्मसमर्पण कर चुके हैं, यह स्पष्ट है। इस प्रकार आधुनकि युग के सबसे बड़े यंत्र-विरोधी को भी अन्त में यंत्र के साथ सन्धि करनी पड़ी। जिस समय गान्धीवादी योजना तैयार की गई थी, उस समय तक भारतवर्ष के उद्योग धन्धे पर गांधीजी तथा उनके अनुयायियों का कोई विशेष हाथ नहीं था; किन्तु ज्योंही यहाँ के व्यवसायों तथा उद्योग धन्धों पर नियंत्रण प्राप्त होगा, त्योंही इस सम्बन्ध में गांधीवाद को और भी बदलना पड़ेगा या उसे अव्यावहारिकता के कूड़ेख़ाने में चला जाना पड़ेगा।

३५—अधिकतर यांत्रिक उन्नति से ही समाजवाद सम्भव—इस सम्बन्ध में साम्यवादियों का तो दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट है—यांत्रिक उन्नति और अधिक यांत्रिक उन्नति। हाँ, इसका इस समय जो दुरुपयोग हो रहा है, उसके लिए समाजवाद की स्थापना करने की आवश्यकता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि समाजवाद का वह उच्चतर सोपान, जिसमें सब लोग अपनी शक्ति के अनुसार काम करेंगे और आवश्यकतानुसार फल भोगेंगे, यंत्र की अद्भुत उन्नति के बग़ैर संभव नहीं है। यही कारण है कि सोवियट रूस में देश के लोगों ने मक्खन बेच बेचकर भी देश को औद्योगिक किया गया है। पंचवार्षिक योजना इसी को द्रुतीकृत करने के लिए बनाई गई थी। पिछड़े हुए देशों के आगे बढ़ने का भी एकमात्र मार्ग अधिकाधिक यंत्र को अपनाना है। यंत्र के दुरुपयोग को दूर करने के लिए समाजवाद की स्थापना होना एक पृथक् विषय है।

विचारधारा और आर्थिक सामाजिक परिस्थितियाँ

१—उत्पादन की शक्तियों पर विचारधारा का ढाँचा खड़ा—उत्पादन के साधनों बल्कि यों कहना चाहिए कि उत्पादन के विकास से समाज का विकास होता जाता है। वितरण उत्पादन की प्रक्रिया के साथ सम्बद्ध है, इसलिए जैसी उत्पादन की प्रक्रिया होगी, वितरण की प्रक्रिया भी उसी के अनुरूप होगी। वितरण को उत्पादन से स्वतंत्र समझना ग़लत है। इसी प्रकार एक खास सोपान में आकर जिस विनिमय की उत्पत्ति होती है, उसे भी उत्पादन पद्धति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जब भी हम यह कहते हैं कि उत्पादन पद्धति के विकास के साथ साथ समाज का विकास होता है, तो हमारा मतलब यह होता है कि वितरण और विनिमय भी उसी के अन्तर्गत मानकर समझा जाय। उत्पादन के विकास से समाज का विकास होता है, इसका अक्सर यह मतलब लगाया जाता है कि मानो उत्पादन-पद्धति और उत्पादन-शक्तियों के अतिरिक्त कोई और निर्णयकारी शक्ति है ही नहीं, किन्तु यह मत ग़लत है।

२—किन्तु विचारधारा भी महत्त्वपूर्ण—वैज्ञानिक समाजवाद का यह कहना है कि आर्थिक अवस्थाओं तथा उत्पादन की शक्तियों से जिस ऊपरी ढाँचे की उत्पत्ति होती है, वह भी एक वास्तविकता है। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद आमतौर पर ऊपरी ढाँचे तथा ख़ासतौर से विचारधारा को अस्वीकार नहीं करता, बल्कि उनकी व्याख्या करता है।'[१] ऐतिहासिक भौतिकवाद विचारधारा को—जिसमें धर्म, दर्शन, सदाचार, राष्ट्र सम्बन्धी धारणा, विज्ञान, क़ानून, कला, साहित्य आदि आ जाते हैं—अस्वीकार कर उड़ा नहीं देता, बल्कि उनको कार्य-कारण रूप से आर्थिक नीव के साथ मिलाकर समझने की चेष्टा करता है। यह कहना कि इतिहास की आर्थिक धारणा साहित्य, कला, दर्शन आदि की शक्ति को अस्वीकार करती है या समाज-निर्माण में उनकी कोई हैसियत ही नहीं मानती, निर्मूल है। जिन लोगों ने भी इस सम्बन्ध में मार्क्स एंगेल्स के परिपक्व विचारों

---

१ H. M. p. 226

से परिचय प्राप्त किया है, वे ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकते कि इन विद्वानों के मतवाद में आर्थिक कारणों को ही प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा अन्तिम निर्णयकारी शक्ति माना गया है। मार्क्सवाद केवल विचारधाराओं तथा उनके तमाम प्रकारों को एक क्रमबद्ध कार्यकारण युक्त तरीक़े से समझने की चेष्टा करता है।

३--मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता, किन्तु रोटी का महत्त्व--यह बात सच है कि मनुष्य केवल रोटी से ही नहीं जीता, किन्तु ज़ितनी भी बुरी लगे, यह भी सत्य है कि मनुष्य की पहली ज़रूरत अपने लिए तथा अपने लोगों के लिए भूख प्यास-निवारण की वस्तुएँ, कपड़े तथा आश्रय की प्राप्ति है, न कि और कुछ। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्य होता जाता है, ज्यों ज्यों उसकी उत्पादन-पद्धति में उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों वह केवल रोटी पर ही नहीं जीता, बल्कि उसके लिए उत्तरोत्तर मक्खन, चम्मच, काँटा, कुर्सी, पुस्तक, चित्र और न मालूम किस किस चीज़ की ज़रूरत पड़ने लगती है। प्रागैतिहासिक निमाण्डरथाल या रोडस के मनुष्य को दाँत माँजनेवाले ब्रुशों की ज़रूरत नहीं थी; किन्तु अब वह सभ्य देशों के नागरिकों की एक ज़रूरत हो चुकी है। जिस समाज में सभ्यता के सब साधन उपलब्ध हैं, और बराबर उन साधनों में वृद्धि होती जा रही है, उस समाज के पक्षपुट में आश्रय लेकर plain living and high thinking अर्थात् सादा जीवन और उच्च विचार का नारा देना अजीब तरीक़े से एक रोमांस पैदा करना मात्र हैं; किन्तु यदि प्रागैतिहासिक मनुष्य से यह कहा जाता कि तुम इसी अवस्था में रहो, और इसमें रहते हुए आइनस्टाइन सिद्धान्त का आविष्कार करो, तो इसकी हास्यास्पदता स्पष्ट हो जाती। हम दिखलायेंगे कि अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म धार्मिक तथा वैज्ञानिक विचार भी आर्थिक सामाजिक अवस्थाओं से अच्छेद्य रूप से सम्बद्ध होते हैं।

४--पहले विचारधारा के साथ आर्थिक नींव का सीधा सम्बन्ध था--मनुष्य की उत्पत्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप में हुई। यदि मनुष्य सामाजिक न होता तो वह अपने पड़ोसियों के मुक़ाबिले में पनप नहीं सकता था। पहले जो समाज में रहना केवल एक भौतिक आवश्यकता की पूर्तिमात्र थी, वही बढ़ते-बढ़ते देशभक्ति और न मालूम किन-किन लच्छेदार विचारों में पुष्पित

और पल्लवित हो गया। 'विचारों, सिद्धान्तों, सदाचार, धर्म तथा दर्शनों के एक पर एक स्तर बनते गये। प्रत्येक व्यक्ति जो समाज में पैदा होता गया, उसने न केवल उत्तराधिकार सूत्र में आर्थिक ढाँचे को ही पाया, बल्कि विचार-धारागत ऊपरी ढाँचे को भी पाया।'[१] रोटी एक वास्तविकता है, किन्तु विचार भी वास्तविकता है। विचार को अस्वीकार करना किसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ध्येय नहीं हो सकता। समाजवादी केवल उनकी तह तक जाना चाहते हैं। जिस समय मनुष्य बिलकुल अविकसित अवस्था में थे, उस समय परिस्थितियों का सीधे-सीधे उनकी विचारधारा पर असर पड़ता रहा; किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य होता गया, त्यों त्यों यह सम्बन्ध जटिलतर और प्रच्छन्नतर होता गया। जिन देशों में अधिक प्राकृतिक उत्पात होते थे, बताया गया है कि उनके लोग अधिक कुसंस्कारग्रस्त होते थे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु जिस युग में मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों को अधिक समझ चुका है, उस युग में प्राकृतिक उत्पात इस प्रकार सीधे-सीधे मनुष्य के विचारों को प्रभावित नहीं कर सकते, यद्यपि यह भी सही है कि उनका कुछ न कुछ असर मनुष्य के मन पर होता होगा, यह असर इस रूप में भी हो सकता है कि प्राकृतिक उत्पातयुक्त भूभाग के मनुष्य, विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न-शील हो जायँ। कहाँ कुसंस्कारग्रस्तता और कहाँ इस प्रकार का वैज्ञानिक उद्योग? इस प्रकार ज्यों-ज्यों मनुष्य जटिल होता गया है, त्यों-त्यों आर्थिक नींव के साथ उसके विचारों का सम्बन्ध निकालना कठिन हो जाता है।

५—भौतिक अवस्थाओं में मनुष्य स्वयं भी—उत्पादन पद्धति भौतिक अवस्थाओं पर निर्भर है। अवश्य इन भौतिक अवस्थाओं में मनुष्य स्वयं एक बड़ा हिस्सा है। मनुष्य के अतिरिक्त जितनी भौतिक अवस्थाएँ हैं, उनको समाज की निर्णयकारी प्रथम शक्ति मानना सही अर्थ में जड़वाद है, और वैज्ञानिक भौतिकवाद के साथ इस प्रकार के जड़वाद का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि 'मनुष्य ही धारणाओं, विचारों इत्यादि के उत्पादक हैं; किन्तु यह मनुष्य, वास्तविक जगत् का मनुष्य (काल्पनिक उड़ानों का मनुष्य नहीं) है, जो उत्पादन-शक्तियों के विशेष विकास

---

१ G. I.

तथा उनके साथ चलनेवाले स्वरूपों के साथ क़दम-बक़दम चलते हैं। विचार-धारा ऐसे वास्तविक मनुष्यों की सृष्टि है। यदि तमाम विचारधाराओं के साथ मनुष्य का सम्बन्ध एक Camera Obscura की तरह उलटा मालूम हो, तो भी वह विचारधारा ऐतिहासिक जीवन प्रक्रिया से ही उत्पन्न होता है।'

६—केवल आर्थिक पहलू पर ज़ोर देने की एंगेल्स द्वारा निन्दा—जीवन के ऊपर जितने प्रभाव पड़ते हैं, वे सब प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक हैं, ऐसा कहना बिलकुल ग़लत होगा। मार्क्स-एंगेल्स ने पहले-पहल इतिहास की भौतिक-धारणा को वैज्ञानिक रूप से स्थापित किया था, इसलिए स्वाभाविक रूप से उन्होंने आर्थिक पहलू पर ज़ोर दिया था, किन्तु जब यह बात उनकी दृष्टि में आई कि उनके कुछ चेले जोश में आकर ऊपरी ढाँचे के महत्त्व को क़तई स्वीकार नहीं कर रहे हैं, तो उन्होंने अपने आशय को साफ़ कर दिया। खेद तो यह है कि मार्क्स इस सम्बन्ध में अपने विचारों को जिस पुस्तक में लिखनेवाले थे, वह लिखी ही नहीं गई। मार्क्स का भौतिकवाद पर एक प्रकाण्ड ग्रन्थ लिखने का इरादा था; किन्तु वे इसे पूरा नहीं कर पाये। उनके सुयोग्य साथी एंगेल्स ने इस बात को साफ़ कर दिया कि आर्थिक शक्तियाँ नींव के रूप में हैं सही, पर उन्हीं के आधार पर जो ऊपरी ढाँचा बनता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और एक बार बन चुकने पर वह स्वयं एक शक्ति हो जाता है, यहाँ तक कि वह नींव पर भी प्रभाव डालता है। एंगेल्स के इस सम्बन्ध में क्या विचार थे, उनको दिखाने के पहले हम प्लेखनाफ का उद्धरण देंगे कि संक्षेप में इस सम्बन्धी सारे विचार को उन्होंने किस सुन्दरता से पेश किया है।

७—प्लेखनाफ द्वारा ऊपरी ढाँचे का विवरण—प्लेखनाफ लिखते हैं 'यदि हम नींव और ऊपरी ढाँचे के सम्बन्ध में (अर्थात् आर्थिक शक्तियों और विचार-धारा के सम्बन्ध में—ले०) मार्क्स तथा एंगेल्स के विचारों को संक्षेप में रक्खें तो उनका सिलसिला बहुत कुछ इस प्रकार होगा—

(१) उत्पादन की शक्तियों की हालत,

(२) इन शक्तियों से बँधे हुए आर्थिक सम्बन्ध,

(३) इस आर्थिक नींव पर खड़ी सामाजिक राजनैतिक शासन प्रणाली,

(४) समाज में मनुष्य की मानसिक वृत्तियाँ जो आंशिक रूप से सीधे-सीधे आर्थिक अवस्थाओं से और आंशिक रूप से आर्थिक नींव पर खड़ी सारी सामाजिक राजनैतिक शासन-प्रणाली से उद्भूत होती हैं।

(५) इन मानसिक वृत्तियों को प्रतिफलित करती हुई विभिन्न विचार-धाराएँ।

८—विचारधारा के ज़रिये वर्गयुद्ध—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऊपरी ढाँचे में कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म, राष्ट्र, सदाचार सभी आ जाते हैं। ये सभी अपनी बारी-बारी से, और एक साथ मनुष्य पर असर डालते हैं, यहाँ तक कि वे इतने तगड़े होते हैं कि नींव की प्रगति को रोकने में या उसकी प्रगति को आगे बढ़ाने में कारण स्वरूप हो सकते हैं। जब कोई विचारधारा पहले-पहल एक ऐतिहासिक अवस्था में उद्भूत होती है, उस समय वह क्रान्तिकारी और नवीन होती है; किन्तु इस बीच में जब नींव आगे बढ़ जाती है, अर्थात् उत्पादन की शक्तियाँ समाज को आगे घसीट ले जाती हैं, उस समय के परिप्रेक्षित में यही विचार, जो कभी क्रान्तिकारी और नवीन थे, प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। उस समय के समाज को नवीन विचारधारा की आवश्यकता होती है, और वह आती है। यह नवीन विचारधारा न तो हवा से आती है, और न हवा में आती है। यह कुछ व्यक्तियों में आती है, जिसे हम वर्ग कहते हैं। यह वर्ग नवीन या आगामी समाज का पुरोधा होता है। पुराने विचार के साथ जो पुराना वर्ग था, उसके साथ इस नवीन विचारवाले नवीन वर्ग की टक्कर होती है। वर्गों में यह टक्कर और क्षेत्रों के साथ विचारधारा के क्षेत्र में भी प्रतिफलित होती है, और यदि समाज प्रगतिशील होता है, तो नवीन वर्ग की ही जीत होती है। विचार-धारा इस वर्गयुद्ध में एक हथियार के रूप में काम देती है। विचारधारा को वर्ग से अलग करके सोचना ग़लत है। इसलिए विचारधाराओं के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, और न वैज्ञानिक समाज-शास्त्र में ऐसा कहीं किया ही गया है। सच तो यह है कि मार्क्सवादी लेखकगण इसी क्षेत्र में अधिक गवेषणा करते रहते हैं।

९—एंगेल्स द्वारा विचारधारा और आर्थिक नींव के सम्बन्ध का स्पष्टी-

करण—१८९० की २१ सितम्बर को लन्दन से अपने एक मित्र जे० ब्लाख को पत्र लिखते हुए एंगेल्स ने लिखा था 'आर्थिक अवस्था आधार है, किन्तु ऊपरी ढाँचे के विभिन्न उपादान—वर्ग संघर्ष के राजनैतिक स्वरूप तथा इसके परिणाम, सफल संग्राम के बाद विजयी वर्ग के द्वारा स्थापित शासन-विधान इत्यादि, क़ानून के स्वरूप, यहाँ तक कि लड़नेवालों के दिमाग़ में इन वास्तविक युद्धों के कारण उठनेवाली प्रतिक्रियाएँ; राजनैतिक, क़ानूनी, दार्शनिक सिद्धान्त; धार्मिक विचार और प्रस्तरीभूत सिद्धान्तों के रूप में उनका और आगे विकास (!)—ये सभी बातें ऐतिहासिक संघर्षों के ऊपर अपनी छाप डाल देती हैं, और बहुत से क्षेत्रों में उनके रूप का निर्णय करती हैं। इन उपादानों में बराबर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है, फिर भी इन अन्तहीन आकस्मिक घटनाओं में (यानी ऐसी घटनाओं में जिनका आन्तरिक सम्बन्ध या तो इतना दूरावस्थित है, या उनको प्रमाणित करना इतना कठिन है कि हम उन आन्तरिक सम्बन्धों को अनुपस्थित मानते हैं, या उनकी अवहेलना कर चलते हैं) आर्थिक गति अन्त तक अपने को आवश्यक करके प्रमाणित करती है.....। हम अपने इतिहास का आप निर्माण करते हैं, किन्तु ऐसा हम बहुत ही ख़ास अवस्थाओं तथा पहले से उपस्थित दशाओं में करते हैं। इनमें आर्थिक अवस्थाएँ अन्तिम रूप से निर्णयात्मक हैं; किन्तु राजनैतिक अवस्थाएँ, बल्कि वे परम्पराएँ भी जो मनुष्य के मन में चली आई हैं, एक हिस्सा रखती हैं, यद्यपि यह हिस्सा निर्णयात्मक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि इतिहास अपने को हमेशा ऐसे परिचालित करता है कि अन्तिम परिणाम हमेशा बहुत-सी व्यक्तिगत इच्छाओं के बीच होनेवाले संघर्षों से उत्पन्न होता है। इनमें से प्रत्येक इच्छा जीवन की विशेष परिस्थितियों के समूह से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार परस्पर काटनेवाली असंख्य शक्तियाँ हैं, शक्तियों के समान्तराल भुजयुक्त चतुर्भुजों के अनन्त सिलसिले हैं, जिनसे एक ही परिणाम—ऐतिहासिक घटना उत्पन्न होती है......। मार्क्स और मैं इस बात के लिए आंशिक रूप से दोषी हूँ कि नवीन लेखकगण प्रायः आर्थिक पहलू पर इतना जोर देते हैं जितना नहीं देना चाहिए। रही हम दोनों की बात, सो हम लोगों को अपने विरोधियों का मुक़ाबिला करने के लिए इस पर अधिक ज़ोर देना पड़ा, क्योंकि वे इससे इनकार करते थे, और

हमारे पास हर वक्त न तो इतना समय, स्थान तथा मौक़ा रहता था कि प्रत्येक उपादान पर उसके मुताबिक़ ज़ोर देकर बात की जा सके।'

१०—और स्पष्टीकरण—इस पत्र के तीन वर्ष बाद १८९३ की १४ जुलाई को लन्दन से फ़्रांस मेहरिंग को एक पत्र लिखते हुए एंगेल्स ने फिर इस बात को साफ़ किया था। उन्होंने लिखा था '.....मार्क्स तथा मैं अपनी रचनाओं में बराबर इस बात पर ज़ोर देने से चूक गया, और हम सभी समान रूप से इसके लिए दोषी हैं। हम सभी इस बात को प्रमाणित करने में लगे हुए थे कि आधारभूत आर्थिक कारणों से राजनैतिक, क़ानूनी तथा अन्य विचारधारा सम्बन्धी धारणाओं को उद्भूत दिखलाया जाय, और उन्हीं पर ज़ोर दिया जाय; किन्तु ऐसा करने के कारण हम यह दिखाने से चूक गये कि ये धारणाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं। इस त्रुटि के कारण हमारे विरोधियों को, हमें ग़लत समझने का सुयोग मिल गया। पाल बार्थ उसी के उदाहरण हैं। विचारधारा सचमुच ही कथित विचारकारी के द्वारा चेतनायुक्त रूप से पूरी की हुई एक क्रिया है; किन्तु यह चेतना झूठी चेतना है। जिन वास्तविक उद्देश्यों से विचारकारी परिचालित हो रहा है, वे उसके लिए अज्ञात रहते हैं, नहीं तो यह प्रक्रिया विचारधारा की प्रक्रिया ही नहीं होती। इसलिए वह झूठे तथा दृश्यमान उद्देश्यों की कल्पना करता है, फिर चूँकि यह विचार भी प्रक्रिया है, इसलिए वह इसके स्वरूप तथा इसकी वस्तु को या तो अपने विशुद्ध विचारों या अपने पूर्ववर्तियों के विशुद्ध विचार से प्राप्त करता है। जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, वह केवल विचारों को लेकर चलता है, और ऐसा करते समय वह उन्हें बिना परीक्षा किये विचारों की ही उपज मान लेता है। इसके आगे कोई प्रक्रिया विचार से स्वतन्त्र भी है, वह इसकी खोज नहीं करता। सच तो यह है कि उसे इसका मूल्य बिलकुल स्पष्ट ज्ञात होता है; क्योंकि प्रत्येक क्रिया उसे विचार के माध्यम से मालूम होती है, इसलिए यह भी उसे **अन्तिम तौर पर** विचार पर आधारित मालूम होती है। इतिहास को लेकर आलोचना करनेवाले (Ideologists) लोग (यहाँ पर इतिहास में राजनैतिक, क़ानूनी, दार्शनिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्र जो समाज से न केवल स्वाभाविक रूप से ताल्लुक़ रखते हैं, आ जाते हैं) अपने-अपने विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे मसाले प्राप्त करते हैं, जो पूर्ववर्ती प्रश्नों

के विचारों से स्वतन्त्र रूप से बने हैं, और बाद की पुश्तों के दिमाग़ों में विकास के स्वतन्त्र सिलसिलों के ज़रिये गुज़रे हैं। यह सच है कि इसके क्षेत्र या दूसरे क्षेत्र के बाहरी तथ्यों का भी इस विकास पर कुछ सहनिर्णयकारी प्रभाव पड़ा होगा, किन्तु यह मान लिया जाता है कि स्वयं यह तथ्य विचार की प्रक्रिया का परिणाम है। इसलिए हम अब भी उस विशुद्ध विचार के दायरे में रह जाते हैं, जिसने कठिन से कठिन तथ्यों को सफलतापूर्वक हज़म किया है। यह जो राष्ट्रों के विधान, क़ानून की पद्धतियाँ तथा प्रत्येक पृथक् क्षेत्र में विभिन्न विचारधाराओं का स्वतन्त्र इतिहास दीख पड़ता है, उससे लोग चकाचौंध हो जाते हैं।'

इसके बाद एंगेल्स इसी विषय को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं—'यदि लूथर और कैल्विन प्रामाणिक कैथोलिक धर्म से आगे बढ़ते हुए दिखाये जाते हैं, या हेंगेल फिख्ते और कैंट से आगे बढ़ते हुए दिखाये जाते हैं, या रूसो अपने सामाजिक ठहराव के सिद्धान्त के द्वारा विधानवादी योतस्किये से आगे बढ़ते हुए दिखाये जाते हैं, तो इस प्रकार की प्रत्येक व्याख्या अध्यात्म विद्या, दर्शन या राजनीति के दायरे के अन्दर ही इन विशेष विचारों के इतिहास में एक सोपान के ही रूप में दृष्टिगोचर होती है, और इस प्रकार की व्याख्या कभी विचार के क्षेत्र से बाहर नहीं जाती। पूँजीवादियों की यह भी एक भ्रान्त धारणा है कि पूँजीवादी उत्पादन अन्तिम और चिरन्तन है। इस विचार को उपरोक्त प्रकार की व्याख्या के साथ जोड़ने पर यह दिखाई देता है कि सौदागरी युग के अर्थशास्त्रियों पर फ़िजियोक्रेट और एडम स्मिथ की विजय हुई है। इस प्रकार इसे केवल एक विचार की विजय के रूप में दिखलाया जाता है, न कि इस रूप में कि मौजूदा परिस्थितियों को सही रूप से समझकर कुछ कहा जाय। तथ्य तो यह है कि यदि सिंह हृदय रिचर्ड या फिलिप अगस्टस क्रूसेडों में (ईसाइयों के धार्मिक जहाद) में फँसने के बजाय मुक्त व्यापार का प्रवर्तन करते, तो हम लोग पाँच सौ वर्ष के दुःख तथा बेहूदगी से बच जाते। इस दिशा को, जिसका मैंने यहाँ इशारा कर दिया है, हम सभी ने उचित से कहीं कम महत्त्व दिया और उसकी अवहेला की। 'यह वही पुरानी कथा है कि पहले-पहल वस्तु के बजाय स्वरूप की अवहेला की जाती है।' जैसा कि मैं कह रहा हूँ, मैंने भी ऐसा ही किया है, और यह भूल हमें बाद को बराबर खटकी।'

११—शासकवर्ग की विचारधारा सामाजिक विचारधारा का रूप ग्रहण करती है—इस प्रकार आर्थिक नींव के साथ विचारधारा का क्या सम्बन्ध है, यह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। उत्पादन प्रत्येक युग में (आदिम साम्यवाद को छोड़कर) वर्ग-संघर्ष के आधार पर चलता रहा है। इस वर्ग-संघर्ष में जो दो मुख्य वर्ग एक दूसरे के आमने-सामने शोषक और शोषित के रूप में खड़े होते हैं, स्वाभाविक तौर पर उनकी विचारधारा अलग-अलग होती है; किन्तु प्रचार कार्य, शिक्षा, धर्म आदि विचारधारा के अंगों पर प्रभाव डालनेवाले सब साधनों पर शासक वर्ग का एकाधिकार होने के कारण एक हद तक शोषित वर्ग अपने अनजान में चिरन्तन सत्य समझकर शोषक वर्ग की विचारधारा को अपनी समझ बैठता है, और वह उसी के अनुसार चलता है। इस प्रकार प्रत्येक युग में शासक वर्ग की विचारधारा यानी साहित्य, कला, क़ानून, राजनीति, सदाचार सम्बन्धी धारणा सारे समाज की धारणा का रूप प्राप्त कर लेती है।

१२—विचारों का अस्तित्व हवा में नहीं, बल्कि सामाजिक शक्तियों में—हेगेल ऐसे उड़ान भरनेवाले, शुद्ध भाव पर चलनेवाले दार्शनिक, मैकाले ऐसे अहंमन्य, सर्वज्ञता का दावा करनेवाले साहित्यिक, लाक तथा हाब्स ने अपने ही युग की परिस्थितियों से उत्पन्न विचारों को अपनाया, और उसे ऐसे पेश किया मानो उनके विचार विशुद्ध तर्क से उत्पन्न हुए हों। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि जो अरस्तू अक्सर मामलों में बहुत से आधुनिक विज्ञानों के भी पुरोधा और जनक माने जाते हैं, वे समाज के कल्याण के लिए दासत्व प्रथा को अनिवार्य समझते थे। यों तो कोई भी व्यक्ति कुछ भी बक सकता है, और कोई भी ऊलजलूल सिद्धान्त पेश कर सकता है; किन्तु जब तक वह विचार या सिद्धान्त उस युग की भौतिक ज़रूरतों से उत्पन्न इच्छाओं के कारण अपने को ग्रथित नहीं कर पाता, तब तक वह पुस्तकों में बन्द पड़ा रहता है। एक विचार एक समय में अपनी ओर कुछ भी ध्यान आकर्षित क्यों नहीं कर पाता, और क्यों वही विचार दूसरे समय लोगों को पागल कर उनसे अधिक से अधिक क़ुरबानी यहाँ तक कि क्रान्तियाँ करवा लेता है, यह इसी से समझ में आवेगा कि विचारों के साथ जब सामाजिक शक्तियों का गठबन्धन हो जाता है, तभी वे तगड़े हो जाते हैं।

१३—देशभक्ति के नारे के पीछे वर्गहित भी—एक छोटे से उदाहरण को

लिया जाय। किसी युग में क्रूसेड, जहाद या धर्मयुद्ध जनप्रिय विचार थे, (अवश्य इनकी तह में आर्थिक सामाजिक शक्तियाँ थीं, इसके ब्यौरे में हमें जाने की आवश्यकता नहीं है), उस युग में इनका नारा देकर हज़ारों लोगों को कटवा-मरवा देना सम्भव था; किन्तु अब यदि कोई ऐसे नारे दे, तो वह हास्यास्पद समझा जावेगा। सामन्तवादी युग में सारे युद्ध मुख्यतः धर्म के नारे पर ही लड़े गये। पूँजीवादी युग के आगमन के साथ-साथ जब आधुनिक अर्थ में पृथक् जातियाँ बनीं, तब लड़ाइयाँ देशभक्ति के नारे पर लड़ी गई। हम इस पहलू पर आलोचना करते समय यह दिखलायेंगे कि किस प्रकार धर्म के झगड़े तथा सम्प्रदायों के झगड़ों के ज़रिये आर्थिक राजनैतिक लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। पूँजीवादी वर्ग ने देशभक्ति का नारा लगाकर अपनी सब लड़ाइयाँ लड़ी हैं। देशभक्ति के अन्तर्गत वस्तु का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होगा कि उसमें समाज के सब वर्गों को यह कहा जाता है कि तुम आपसी झगड़े छोड़कर जाति के लिए क़ुर्बानी करो तथा लड़ो। इस प्रकार देशभक्ति प्रकारान्तर से वर्गसंघर्ष को छिपाकर वर्ग-समन्वय का नारा लगाकर पूँजीवादी वर्ग का कल्याण करती रही है। अवश्य कहीं ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए यह बता दिया जाय कि औपनिवेशिक देशों में जिस देशभक्ति का नारा लगाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध संग्राम किया जाता है, उसका चरित्र मौलिक रूप से वर्ग समन्वयात्मक होने पर भी तथा उससे मुख्यतः औपनिवेशिक देशों के पूँजीवादी वर्ग को आर्थिक राजनैतिक फ़ायदा होने पर भी देशभक्ति का नारा इन देशों में तब तक प्रगतिशील है, जब तक उस नारे के नीचे साम्राज्यवाद से युद्ध किया जा रहा है। कई मामलों में, जैसे स्वदेशी के प्रचार में, जो देशभक्ति का एक अंग है, देशी कल-कारख़ाने को फ़ायदा होता है, यह तो प्रत्यक्ष है, क्योंकि स्वदेशी का वक्तव्य यह है कि देशी माल चाहे घटिया भी हो, उसे विदेशी माल के मुक़ाबिले में अधिक दाम देकर लेना चाहिए। इस प्रकार स्वदेशी का नारा देशी पूँजीवादी वर्ग को विदेशी पूँजीवादियों की प्रतियोगिता के विरुद्ध एक बहुत ज़बरदस्त अस्त्र देता है।

इस युग में देशभक्ति का नारा देकर लड़ाइयाँ हो रही हैं, और होती हैं। इस युग में यदि कोई धर्मवादी धर्म का नारा देकर अँगरेज़ों के विरुद्ध लड़ाई करना चाहे, तो उसे अधिक अनुयायी नहीं मिलेंगे। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि

प्राच्य देशों में पहले-पहल जब साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध छेड़ा गया, तो वह धर्म और धार्मिक नारों की आड़ में चला। क्रमशः संग्राम की यह प्रकृति बदल गई और खुलकर देशभक्ति के नारे दिये जाने लगे। अब तो सीधे-सीधे आर्थिक नारे देकर शोषित जनता को उद्‌बुद्ध किया जाता है। हम यहाँ इस विषय पर नहीं लिखने जा रहे हैं कि किस प्रकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध में नारे बदले, हमें केवल यही दिखाना था कि स्वयं विचारधारा में कुछ शक्ति नहीं होती। जब वह उस युग की समस्याओं के साथ आवयविक रूप से अपने को मुक्त कर पाती है, तभी वह शक्तिशाली हो जाती है।

१४—आतंकवाद तथा इक्के-दुक्के पूंजीपतियों पर हमले की विचारधारा— इसी से यह भी साफ़ हो जाता है कि हमेशा ऐसा क्यों हुआ कि आनेवाले युग के क्रान्तिकारी वर्ग की विचारधारा को हर युग में बाधाओं के पहाड़ों का सामना करना पड़ा, और हर युग के क्रान्तिकारी वर्ग की विचारधारा को क्यों बाधा प्राप्त हुई तथा संघर्षों के बीच से होकर आत्म-प्रसार करना पड़ा। ज्योंही शोषित वर्ग में कुछ भी असन्तोष की सृष्टि होती है; ज्योंही वह कुछ अस्पष्ट रूप से ही सही, यह समझने लगता है कि ईश्वर ने ऐसा उनके माथे पर नहीं लिख दिया है कि वे पददलित ही रहें, त्योंही उनमें एक अस्पष्ट विद्रोह भावना उत्पन्न होती है। पहले यह विद्रोह भावना उस पद्धति को नहीं देख पाती जो उसे सता रही है, इसलिए इक्के-दुक्के पूँजीपतियों पर या साम्राज्यवादियों पर हमले होते हैं। पूँजीपतियों की सम्पत्ति या सरकारी सम्पत्ति नष्ट की जाती हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसे इक्के-दुक्के हमलों से पद्धति को कुछ क्षति नहीं पहुँचती, अवश्य इन हमलों के कारण भी पद्धति को कुछ सँभलना पड़ता है और एक तरफ़ भयंकर जुल्म करते हुए भी दूसरी तरफ़ वह अपने में कुछ सुधार करने के लिए बाध्य होती है। राजनैतिक स्वाधीनता संग्राम की भाषा में इस विचारधारा को आतंकवाद कह सकते हैं, तथा समाजवादी संग्राम की दृष्टि से यह युग कल-कारखानों पर तथा पूँजीपतियों पर इक्के-दुक्के हमलों का युग है। इस युग में यही विचारधारा होती है, तथा इसके अनुसार काम करनेवाले राष्ट्रीय वीर तथा कर्मवीर समझे जाते हैं। जहाँ तक वीरता का सम्बन्ध है, इनमें इसकी कमी नहीं होती; किन्तु इनके कार्यों के दायरे में कुछ अधिक अग्र-

गति नहीं हो सकती, यह स्पष्ट है। ऐसे युग की विचारधारा में एक विचार यह भी होता है कि हमें सफलता से कोई मतलब नहीं, हमें तो क़ुर्बानी करनी है, आत्मबलिदान करना है, मिट जाना है। इस युग में यह विचार स्वाभाविक रूप से एक बहुत ज़रूरी विचार होता है, यदि इस प्रकार के विचार न हों तो अन्धाधुँध इक्के-दुक्के हमले भी न हो पावें।

धीरे धीरे यह अस्पष्टता का युग चला जाता है। ज़ुल्म करनेवाले पुलिस-वाले के पीछे, कल कारखाने के वैयक्तिक मालिक तथा मैनेजर के पीछे साम्राज्य-वादी राष्ट्र तथा पूँजीवादी पद्धति दिखलाई पड़ने लगती है, तदनुसार संग्राम की पद्धति में और विचारों में परिवर्तन होता है। इस प्रकार समाजवादी विचारों की उत्पत्ति होती है, जो हमें सर्वहारा के अधिनायकत्व के ज़रिये होते हुए वर्ग-हीन समाज तक सोचने में समर्थ करती है।

१५—विचारधारा का सर्वांग सुन्दर विश्लेषण क्या है ? इसी प्रकार विचार सामाजिक परिस्थितियों के साथ संयुक्त होकर बलशाली होते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं; किन्तु जैसा कि एंगेल्स के पत्र से ज्ञात होता है, इन विचारों को एक तरफ़ तो सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से संयुक्त करके दिखाना सम्भव है, दूसरी तरफ़ बिलकुल इन परिस्थितियों से बेख़बर होकर और उन्हें न छूकर पूर्वतन विचारों से ही इनको प्राप्त करना सम्भव है। बुर्जुआ लेखकों ने बरा-वर विचारों का जो इतिहास लिखा है, उसमें विचारों को विचारों से ही संयुक्त कर तथा उन्हीं से उद्भूत करके दिखलाया है। इसके विपरीत पूर्वतन विचारों की बिलकुल अवज्ञा कर विचारों को उस समय की आर्थिक, सामाजिक परिस्थि-तियों से ही उद्भूत करके दिखलाने का प्रयत्न किया जा सकता है; किन्तु सच तो यह है कि मामला इतना सीधा नहीं है। जो नया विचार आता है, वह चाहे क़ानून में हो, चाहे कला में, चाहे साहित्य में, और वह चाहे अपने लिए सर्व-वन्धन विमुक्ति का कितना ही दावा करे, और अपने को सोलहों आने बुत-शिकन बतलावे, फिर भी उसे अपने को पहले की विचारधाराओं के परिप्रेक्षित में दिखलाना पड़ता है, यदि वह ऐसा न करे तो वह उस युग में किसी की समझ में नहीं आ सकता। बताया गया है कि आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद बहुत ही क्रान्तिकारी सिद्धान्त है; किन्तु कल्पना की जाय कि यदि न्यूटन और आइन्स-

स्टाइन के बीच में जो कुछ भी आविष्कार हुए, उन्हें यदि भुला दिया जाय तो क्या आइनस्टाइन के सिद्धान्त को कोई समझ सकता था? सच तो यह है कि उस हालत में इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की नौबत ही न आती। इसलिए यदि कोई वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यिक समाजशास्त्री, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों को भूल जावे, किन्तु अपने विचार के पहले आये हुए विचारों के परिप्रेक्षित में अपने विचार को स्पष्ट करके खड़ा कर सके, तो उसे लोग समझ लेंगे। उस हालत में वह वैज्ञानिक कलाकार, साहित्यिक, समाजशास्त्री अपने अनजान में बहुत सम्भव है अपने युग की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों के प्रति भी सच्चा रहे, क्योंकि आख़िर पूर्वतन विचार क्या थे? वे पहले की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों के तथा उन परिस्थितियों से उठनेवाले विचारों के प्रतिफलन तो थे। इसलिए किसी विचार का सही और सर्वांग सुन्दर विश्लेषण वही होगा जिसमें उस विचार की समकालीन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के साथ उस विचार का मिलान किया जाय, साथ ही पहले के जो विचार थे, उनसे भी उसको संयुक्त किया जाय।

१६—विचारधारा के स्वरूप को समझने के लिए पहले के विचारों को समझना ज़रूरी—किन्तु असल में वास्तविकता और भी जटिल है। एक विचार के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह केवल अपनी लाइन के पूर्वतन विचारों से संयुक्त हो। विचारधारा वाला ऊपरी ढाँचा हमारे मन में भले ही प्रकोष्ठों में बटा हुआ हो, सजीव रूप में वह एक दूसरे में इतना अनुप्रविष्ट है कि उसे बिलकुल अलग करने की चेष्टा करना बहुत कुछ काल्पनिक है। क़ानून को लिया जाय, इसका सदाचार की धारणा से विशेषकर शासकवर्ग के सदाचार की धारणा से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वाभाविक रूप से सदाचार अर्थात् शासकवर्ग के सदाचार की धारणा में प्रत्येक तब्दीली के साथ साथ इसे अपने पैंतरे बदल देने पड़ते हैं, किन्तु यह प्रक्रिया हमेशा जल्दी जल्दी नहीं होती। किसी क्षेत्र में यह परिवर्तन जल्दी होता है और किसी क्षेत्र में रुक रुककर। जिस समय शासकवर्ग किसी बड़ी विपत्ति में, जैसे लड़ाई या क्रान्ति के भँवर में, फँस जाता है, उस समय बहुत जल्दी वह अपने क़ानून को सदाचार के सिर पर से होकर बदल लेता है। आम तौर से शान्ति के समय पूँजीवादी वर्ग सम्पत्ति तथा जीवन की पवित्रता

को स्वीकार करता है; किन्तु लड़ाइयों तथा क्रान्तियों में जो तरह तरह के रेगुलेशन आर्डिनेंस, सामरिक क़ानून आदि काम में आते हैं, उनमें सम्पत्ति और जीवन सम्बन्धी, शांतिकालीन सदाचार को नहीं माना जाता। उस समय राष्ट्र किसी भी व्यक्ति के मकान पर क़ब्ज़ा कर सकता है, किसी व्यक्ति की एकत्र की हुई रसद को ज़ब्त कर सकता है। इस प्रकार क़ानून के रूप में जो रेगुलेशन आदि आते हैं. वे शान्तिकालीन अपने मानदण्ड से भी कोई क़ानून नहीं होते। इन रेगुलेशनों के समर्थन में जो विचारधारा पेश की जाती है, उसमें शान्तिकालीन तत्सम्बन्धी विचारधाराओं का निराकरण होता है। किन्तु फिर भी इन रेगुलेशनों, आर्डिनेंस आदि को समझने के लिए हमें शासकवर्ग की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति के साथ साथ उसके सदाचार तथा अन्य बहुत सी बातों को समझना पड़ेगा। बात यह है, शासकवर्ग का सबसे मूलगत सदाचार या यों कहिये उसके सदाचार का मूलगत आधार यह है कि वह अपने को शासकवर्ग के रूप में क़ायम रख सके। यह सब होते हुए भी उसे जो आंर्डिनेन्स आदि के रूप में कानून का ढकोसला रचना पड़ता है, और विशेष अदालत आदि की स्थापना करनी पड़ती है, उसका कारण यह है कि ऐसे समयों में बहुत कुछ नग्न रूप में सामने आने पर भी शासकवर्ग को अपने ही द्वारा सृजित पहले के तौर तरीक़ों, रीति रिवाजों, क़ानूनी नुक्तों का कुछ न कुछ खयाल ज़रूर रखना पड़ता है। यदि हम इन आर्डिनेंसों को केवल शासकवर्ग के ऊपर आई हुई विपत्ति से समझने की चेष्टा करें, तो वह ठीक है; किन्तु ऐसी हालत में भी वह जो भरसक अपने क़ानूनी तरीक़ों या Formalities को निभाने की कोशिश करता है, इसे हमें उसके इस सम्बन्धी पहले के तौर तरीक़ों तथा Formalities के ज़रिये समझना पड़ेगा। विचारधारा अर्थात् सजीव विचारधारा से अवश्य ही उस काल की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति तथा किसी न किसी सजीव वर्ग का सम्बन्ध होता है; किन्तु विचारधारा को जो किसी विशेष स्वरूप प्राप्त होता है, उसके साथ पहले की विचारधाराओं के स्वरूपों का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को जानने पर ही स्वरूप पूरे तरीक़े से समझ में आयेगा।

१७—गूढ़ शब्दजाल की आड़ में उदीयमान विचारधारा आ सकती है— जैसे समाज में दो प्रधानवर्ग होते हैं, उसी तरह किसी देश और काल में दो

विचारधाराएँ भी होंगी। फिर भी प्रत्येक वर्ग में उपवर्ग हैं, इसलिए इन दो विचारधाराओं के अन्दर बहुत सी अन्य विचारधाराएँ भी होंगी। शासकवर्ग शासितों के पक्ष की विचारधाराओं को दबायेगा, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिए अक्सर क्रान्तिकारी विचारधारा को गूढ़ शब्दजाल के आवरण में छिपकर आना पड़ा। एंगेल्स ने इसका एक अच्छा उदाहरण दिया है। वे लिखते हैं 'हेगेल के शिष्यों ने एक ओर तो प्रत्येक धार्मिक विश्वास को तीव्र समालोचना की कसौटी पर कसकर, उसकी अग्नि परीक्षा ली, और इस प्रकार ईसाई धर्म की प्राचीन इमारत को जड़ तक हिला दिया, और दूसरी तरफ़ उन्होंने जर्मनवालों के सामने ऐसे साहसपूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त लाकर रखे, जिनको सुनने का अभी उन्हें मौक़ा नहीं मिला था, और प्रथम फ्रेन्च राज्यक्रान्ति के वीरों की स्मृति की गरिमा के पुनरुद्धार करने की चेष्टा की। जिस गूढ़ दार्शनिक भाषा में ये विचार व्यक्त किये जाते थे, वे एक तरफ लेखक तथा पाठक दोनों को कुछ भ्रम में डाल देते थे, फिर भी साथ ही उनमें समान रूप से सरकारी सेन्सरों की आँखों में धूल झोंकने की सामर्थ्य होती थी, और इस तरक़ीब से नवीन हेगेलीय लेखकों को लिखने की वह स्वाधीनता प्राप्त हुई, जो साहित्य की दूसरी सभी शाखाओं के लिए अज्ञात थी।'[१] कहना न होगा कि इस प्रकार जो क्रान्तिकारी विचारों को पहले पहल आड़ लेकर आना पड़ता है, इसका कारण शासकवर्ग का विरोध है।

१८—सरकारी धर्म पर हमले की आड़ में राजनैतिक युद्ध—इस प्रकार नवयुग की विचारधारा के प्रचारक का एक कर्तव्य यह भी हो जाता है कि वह क्रान्तिकारी वर्ग को शासक और शोषक वर्ग की विचारधारा तथा दृष्टिकोण से काटकर अलग कर दे, और उसे ऐसा समर्थ कर दे कि वह अपने दृष्टिकोण से सारी बातों को देखे, न कि शासकों के दृष्टिकोण से। चूँकि ऐसा करने में शासकवर्ग बाधक होता है, इसलिए प्रत्येक देश में प्रगतिशील विचार को न मालूम कौन कौन सी आड़ लेकर आना पड़ता है। जैसा कि बताया गया है, वह धर्म की आड़ लेता है, तो कभी पुनरुज्जीवनवाद (Revivalism) की, तो कभी गूढ़ वाग्जाल की। जो हो, इसीलिए प्रत्येक राजनैतिक आर्थिक लड़ाई अनिवार्य...

१ R. C. R p. 20

से विधारा के क्षेत्र में लड़ाई होने के लिए बाध्य है। जिस समय लोगों म धर्म विश्वास बहुत प्रबल होता है, उस समय धर्म के अन्दर से भी यह लड़ाई चलाई जाती है, क्योंकि इसी उपाय से लड़ाई जल्दी जोर पकड़ती है। एंगेल्स ने यह दिखलाया है कि 'इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि ऐसे देशों में जहाँ एक सरकारी धर्म था, साथ ही राजनैतिक आन्दोलन पर रोक-टोक थी, वहाँ सरकारी शक्ति के विरुद्ध अधार्मिक तथा खतरनाक विरोध ने आध्यात्मिक तानाशाही के विरुद्ध स्वार्थ-लेशहीन धार्मिक विचारों के संघर्ष का पवित्र बाना पहनकर लड़ाई छेड़ी। बात यह है कि ऐसी बहुत सी सरकारें जो अपनी कार्रवाइयों पर ज़रा भी समालोचना नहीं बर्दाश्त कर सकती, वे भी जनता के धार्मिक पागलपन को उभाड़ने और शहीद पैदा करने के पहले हिचकिचाती हैं। इस प्रकार १८४५ में प्रत्येक राष्ट्र में या तो रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय या दोनों उस देश के क़ानून के अपरिहार्य अंग समझे जाते थे। फिर प्रत्येक राष्ट्र में इन दोनों में से किसी सम्प्रदाय के पादरी या दोनों के पादरी सरकार की नौकरशाही तामजाम के अनिवार्य अंग थे। इसलिए प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक कट्टरता पर हमला या पुरोहितवाद पर हमला करना उस ज़माने में स्वयं सरकार के विरुद्ध एक छिपा हमला था।'

१९—समाज की उत्पादन शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण—विचारधाराओं का चाहे कितना भी महत्त्व हो, और जो कुछ हमने ऊपर लिखा उससे स्पष्ट है कि उनका महत्त्व बहुत अधिक है, किन्तु फिर भी आधारगत तथ्य यह है कि 'समाज का आन्तरिक गठन कैसा होगा, इसका निर्णय बाह्य प्रकृति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध यानी समाज की भौतिक उत्पादन-शक्तियों की अवस्था से निर्णीत होता है। उसमें जो स्वरूप परिवर्तन होता है, वह भी उत्पादन की शक्तियों की गति से होता है। हम इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं कि केवल पारस्परिक सम्बन्धों का ही अस्तित्व नहीं है बल्कि ये सारी असंख्य प्रक्रियाएँ तथा पारस्परिक प्रक्रियाएँ एक ढाँचे के दायरे में ही होती रहती हैं, और वह दायरा प्रकृति तथा समाज के बीच पारस्परिक सम्बन्ध से निर्मित है।'[१] दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि विचारधाराओं का असर आर्थिक भौतिक दायरे के ही अन्दर हो

१. H. M. p. 228

सकता है, किन्तु जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, एक विचारधारा जनता या वर्गविशेष द्वारा गृहीत हो जाने पर आर्थिक नींव को भी प्रभावित कर सकती है, और उसकी प्रगति में बाधक या साधक हो सकती है।

२०—राजतंत्रवादियों की गुटबन्दी की पृष्ठभूमि में वर्ग स्वार्थ—मार्क्स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक '१८वीं ब्रूमेर' में उस समय के राजतंत्रवादियों के अन्दर के दो गुटों अर्थात् क़ानूनवादी (Legitimist) जो लोग ब्रबॅन वंश का पुनरुद्धार चाहते थे, और ओरलियनवादियों का विश्लेषण करते हुए विचारधारा और आर्थिक हितों का क्या सम्बन्ध होता है, इसका सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने उसमें बहुत स्पष्ट तरीक़े से प्रमाणित कर दिया कि जिस कारण से राज्य के दो दावे-दारों के ये दो गुट अलग थे, वह उनकी विभिन्न शैली की राजभक्ति नहीं, बल्कि इनके पीछे विभिन्न वर्गहित था। 'ब्रबॅन वंश के ज़माने में विशाल भूसम्पत्तिशाली लोगों ने अपने पुरोहितों तथा अन्य पिछलगुओं के साथ शासन किया था। ओर-लियन्स वंश के अधीन उच्च बैंक पूँजीवादी, थोक व्यापारी, बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों के मालिकों ने यानी पूँजीपतियों ने अपने वकीलों तथा वक्ताओं के साथ राज्य किया था। इस प्रकार क़ानूनवादी राजतंत्रवादी ज़मीन के मालिकों अर्थात् ताल्लुक़ेदारों के पुस्त-दरपुस्त चले आनेवाले शासन के प्रतिनिधि थे। इसी प्रकार जूलाई राजतंत्र उन नये पूँजीवादियों के जो एकाएक धनी हो गये थे, अन-धिकारी शासन का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिए जो बात इन दोनों राजतंत्रवादी गुटों को आपस में मिलने नहीं देती थी, उसका आधार कोई कथित सिद्धान्त नहीं था, बल्कि इसके लिए उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थाएँ, दो विभिन्न तरह की सम्पत्तियाँ, शहर और देहात की पुरानी दुश्मनी तथा पूँजी और भूसम्पत्ति के बीच की होड़ ज़िम्मेदार थी। हाँ, इसी के साथ इस बात से कौन इन्कार करता है कि पुरानी स्मृतियाँ, वैयक्तिक दुश्मनियाँ, भय और आशाएँ, कुसंस्कार और भ्रान्तियाँ, सहानुभूति और विरोध की अनुभूतियाँ, विश्वास, धर्म और सिद्धान्त की बातें (जिनके द्वारा वे राजतंत्रवादी होते हुए भी विभिन्न राजवंश से बँधे हुए थे) भी अपनी जगह पर काम करती थीं। सम्पत्ति के विभिन्न स्वरूपों तथा अस्तित्व की सामाजिक अवस्थाओं पर भ्रान्तियों; विचारशैलियों तथा दृष्टिकोणों का एक विशेषरूप से बना हुआ, और स्पष्ट ढाँचा खड़ा होता है।

सारे के सारे वर्ग इन बातों को भौतिक बुनियादों से, और उन बुनियादों के साथ रहनेवाली सामाजिक परिस्थितियों से पैदा कर लेते हैं, और उसे रूप देते हैं। एक व्यक्ति जो इनको परम्परा और शिक्षा के ज़रिये प्राप्त कर सकता है, वह यह कल्पना कर सकता है कि परम्परा और शिक्षा ही क्रिया की असली प्रारम्भ बिन्दु है। ओरलियनवादी और क़ानूनवादी राजतंत्रवादी दल यह विश्वास करते थे कि वे अपने अपने राजघरानों के प्रति भक्ति के ही कारण सम्मिलित नहीं हो पाते थे, बाद को बल्कि यह प्रमाणित हुआ कि उनके विभिन्न हितों के ही कारण इन दो राजघरानों की एकता सम्भव नहीं हुई।...यदि ये दो गुट यह सोचते थे कि दूसरे के विरुद्ध अपने राजघराने का उद्धार हो, तो यह केवल इस बात का द्योतक था कि वे दो स्थिर स्वार्थ, जिनमें पूँजीवादी वर्ग बँटा हुआ है, अर्थात् भूसम्पत्ति और पूँजी इन नामों की आड़ में अपनी श्रेष्ठता का पुनरुद्धार करना चाहते थे।...इस प्रकार इँगलैंड में भी अनुदारदल वाले बराबर यह सोचते थे कि उनमें राजतंत्र के लिए, गिरजे के लिए तथा प्राचीन ब्रिटिश विधान के लिए जोश है। ऐसा वे तब तक कहते रहे और विश्वास करते रहे, जब तक खतरे के दिन आने पर वे यह स्वीकार करने पर बाध्य नहीं हो गये कि उनको केवल अपने लगान की रक़म के सम्बन्ध में ही जोश है।'

इस प्रकार मार्क्स ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि विभिन्न राजघरानों के प्रति भक्ति तथा विभिन्न नारों—एक शब्द में विभिन्न विचार-धाराओं—के पीछे आर्थिक हित काम करते हैं। भले ही ये हित बहुत सालों तक छिपे रहें, किन्तु कभी न कभी उनकी क़लई खुल जाती है, और वे एक साधारण दर्शक की दृष्टि में भी स्पष्ट होकर ही रहते हैं।

हमने अब तक आर्थिक नींव तथा समाज के ऊपरी ढाँचे के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह यह है कि उत्पादन क्रिया के दौरान में मनुष्य आपस में कुछ सम्बन्ध में आते हैं। ये सम्बन्ध उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं, इन सम्बन्धों के दौरान में कुछ विचारधाराएँ उठती हैं, इन विचारधाराओं का प्रभाव मनुष्य जीवन पर पड़ता है, किन्तु ऐसा केवल आर्थिक-भौतिक दायरे के अन्दर ही होता है।

२१—कला, साहित्य सभी के पीछे कोई न कोई वर्ग—इस दृष्टि से देखने

पर वर्ग संघर्ष केवल आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि विचारधारा के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। लेखकगण, सिद्धान्तवादीगण, कलाकारगण—सभी विचारधारा के क्षेत्र में चलनेवाले वर्ग युद्ध में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से, छिपे या खुले रूप में हिस्सा लेते हैं। 'ऐसा समझना ग़लत है कि कोई भी लेखक, कलाकार या साहित्यिक विचारधारा के क्षेत्र में चलनेवाला इस संघर्ष में निरपेक्ष रह सकता है। 'जीवित विज्ञान, जीवनप्रद कला, तथा वस्तुवादी दर्शन सभी अपने अपने ढंग से परिवर्तने के लिए चलनेवाले इस संघर्ष में हिस्सा लेते हैं। जो भिन्न भिन्न वाद-विवाद चलते रहते हैं, उनके स्पष्टीकरण की प्रक्रिया में विचारधाराएँ एक न एक रूप में हिस्सा लेती हैं।' इसलिए सामाजिक जीवन के एक सन्धिक्षण में (और बारीकी से द्वन्द्वात्मक न्याय के तरीके से देखा जाय तो प्रत्येक क्षण ही सन्धिक्षण है) कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन सभी के दो हिस्से हो जाते हैं। एक हिस्सा तो पुराना राग अलापता है, अपने स्वर्ग को पीछे देखता है, दूसरा नये युग का गीत गाता है।

२२—प्रतिक्रियावादी विचारों के रूप—पुराने की तरफ़ घसीटने के कई तरीक़े हैं। एक तो साफ़ साफ़ यह कहा जा सकता है कि नये युग का नारा ग़लत है, क्योंकि पुराने ज़मानों में जो कुछ भी भला हो सकता है, सब आ चुका है, आगे के युग का आवाहन करना उच्छृङ्खलता है। इसको हम विचारधारा के क्षेत्र में Laiseez fairez (चलने दो) का सिद्धान्त कह सकते हैं। दूसरा मत यह मानता है कि इस युग में कुछ त्रुटियाँ हैं, बल्कि वह इस असंतोष को स्वर भी देता है जो समाज के अन्तस्तल में उबल रहा है, किन्तु वह किसी न किसी प्रकार के पलायनवाद का अवलम्बन कर प्रचलित विषमता तथा असन्तोष की ओर से मुँह फेर लेने का नारा देता है। निम्नमध्यवित्तवर्ग में जो 'बँगला बनेगा न्यारा' या कहीं हम अलग जाकर अपनी झोपड़ी किसी नदी के किनारे बनायेंगे—जन कोलाहल से दूर शान्ति में रहेंगे, चिड़ियाँ हमें जगायेंगी और वे ही हमें थपकियाँ देकर सुला देंगी—इस प्रकार के जो विचार काव्य के रूप में प्रिय हैं वह इसी प्रकार के मतवाद का एक नमूना अथवा अभिव्यक्ति हैं।

इसी प्रकार के एक मतवाद में वास्तविक जगत् को ही अस्वीकार कर—

माया बताकर—संतोष के परमसुख का प्रचार किया जाता है। इसी तरह की एक दूसरी विचारधारा यह है कि दुनिया में जो कुछ विषमता है, वह रहेगी, किसी न किसी रूप में लोग एक दूसरे के अधीन रहेंगे, 'चेरी छोड़ि न होउब रानी,' अतएव चलो हम इस टंटा प्रधान दुनिया से उदासीन हो जायँ, हमें इसमें क्या करना है। ये विचार देखने में तो दार्शनिक दायरे के मालूम होते हैं, किन्तु इनकी अन्तर्गत वस्तु के रंगों के विश्लेषण से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ये विचार वर्गयुद्ध के हथियारों में हैं।

२३—प्रतिक्रियावादी विचारों के साथ लड़ाई जरूरी—इसलिए एक क्रान्तिकारी समाजशास्त्री इनकी ओर से न तो बेखबर ही रह सकता है, और न इसकी अवहेला ही कर सकता है। प्रगति के लिए लड़ाई एक तरफ़ जहाँ समाज के आर्थिक, राजनैतिक ढाँचों को बदलने के लिए है, दूसरी तरफ़ वह वर्तमान शासकवर्ग की विचारधारा को सिंहासनच्युत कर उसकी जगह पर नये युग की क्रान्तिकारी विचारधारा तथा दृष्टिकोण को अभिषिक्त करने के लिए है। अक्सर यह कहा जाता है कि जब कोई क्रान्ति होने को होती है, तो उसके अग्रदूत के रूप में नई विचारधारा आती है, वह विचारधारा नये युग पर अपना सिक्का धीरे धीरे जब बैठाकर जमीन तैयार कर लेती है, तभी सारी अव्यवस्था तथा अनियमितता को चीरकर क्रान्ति का पौ फटता है। इसके उदाहरणस्वरूप न मालूम क्या क्या कहा जाता है। उनमें से एक बात ली जाय। १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पहले वाल्टेयर, रूसो, दिदरो इत्यादि आये थे। जब इनके विचार जनता में प्रचारित हो गये, तभी फ्रेंच राज्यक्रान्ति हुई। ऊपर से तो ऐसा ही मालूम होता है, किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। १७८९ के बहुत पहले ही फ्रांस में उत्पादन-पद्धति सामन्तवादी से बदलकर पूँजीवादी हो चुकी थी यानी होती जा रही थी। वाल्टेयर, रूसो इत्यादि केवल उसी के फलस्वरूप तथा मानो उसी नई उत्पादन पद्धति या उत्पादकवर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए उत्पन्न हुए थे। उनको जो अश्रुतपूर्व जनप्रियता प्राप्त हुई, उसका कारण यही था कि उन्होंने उस समय के उदीयमान किन्तु अभी तक पददलित-वर्ग के विचारों को एक सुन्दर स्वरूप में रख दिया। आर्थिक क्षेत्र में जो बातें स्वीकृत तथ्य के रूप में हो चुकी थीं, किन्तु फिर भी जो अभी सामन्तवादी अंडे

के छिलके के अन्दर पड़ी पड़ी कराह रही थीं कि विस्फोट हो, वाल्टेयर आदि ने उन्हीं की दुन्दुभि साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में बजा दी। इस प्रकार उन्होंने पुरानी विचारधारा के साथ लोहा लेने का मोर्चा सँभाल लिया।

२४—आक्सफ़ोर्ड गोष्ठी की प्रतिक्रियावादी विचारधारा—सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवी ने सामाजिक विकास का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए वर्तमान योरप पर उपरोक्त विचारों को लागू किया। वे लिखते हैं कि आक्सफ़ोर्ड गोष्ठी ऐसे लोगों का समूह है जो वर्तमान सामाजिक शक्तियों को किसी सही तथा बुद्धिसंगत रूप में योजनात्मक तरीक़े से चलाने के विषय में हार मान चुके हैं, और अब वे रहस्यवादी नियंत्रण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। समाज में जो विषमता, ग़रीबी तथा दुःख है, उनसे मुँह मोड़कर वे निष्क्रिय रूप से 'एक ऐसी शक्ति से जो बुद्धिमान् तो है, किन्तु जिसने हमें लाकर इस आफ़त में पटक दिया है' पथ-प्रदर्शन चाहते हैं। ऐसे ही लोग 'नेता का अनुसरण करो' नारे को आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। ऊपर हमने प्रतिक्रियावाद की जिन विचारधाराओं को गिनाया है, उनमें लेवीवर्णित आक्सफ़ोर्ड गोष्ठी की विचारधारा भी आ जाती है, क्योंकि यह एक तरफ़ तो अकर्मण्यता और दूसरी तरफ़ असहायता का प्रचार करती है। स्पष्ट रूप से आक्सफ़ोर्ड गोष्ठी की विचारधारा ह्रासशील पूँजीवादी वर्ग की विचारधारा है। उच्च विचारों की आड़ में यह एक तरफ़ तो पूँजीवादी वर्ग की आत्मप्रवंचना का प्रतीक है, दूसरी तरफ़ यह शोषित वर्गों की विद्रोह भावना को वाक्यों के मेघजाल में आवृत कर देना चाहती है।

२५—क्रान्तिकारी विचार निष्पक्ष नहीं—इसलिए जिस समय समाज में परिवर्तन की आवश्यकता बहुत ज़ोर से अनभूत हो रही हो, उस समय विचारधारा के नेताओं अर्थात् लेखकों, कवियों, कलाकारों, सम्पादकों आदि के कर्त्तव्य स्पष्ट हैं। उन्हीं पर इस बात का भार है कि वे सही तौर पर भूतकाल को पढ़ें, भविष्य के सम्बन्ध में परिष्कृत दृष्टिकोण पोषण करें, और तदनुसार वर्तमान में अपनी वाणी सुनावें (अपनी से मतलब व्यक्तिविशेष की नहीं है—वह तो बहुत ही ग़लत होगी) बल्कि अपने विशेष मुकुर में प्रतिफलित प्रगतिशीलधारा की वाणी सुनावें। जैसे क्रान्तिकारी का यह कार्य नहीं है कि वह केवल दुनिया की व्याख्या करता फिरे, उसी प्रकार प्रगतिशील, कला, विज्ञान, साहित्य, संगीत सभी

का कर्त्तव्य इतना ही नहीं है कि वह समाज की व्याख्या करे, बल्कि उसको परिवर्तित करने में हाथ भी बटावे। ऐसी हालत में विचार विचार के लिए वाला विचारविलास हमारे लिए उपयोगी नहीं हो सकता। कला कला के लिए इत्यादि नारे भी इसी कसौटी पर कसने पर ग़लत साबित होंगे। जीवन के कुरूप तथ्यों से मुँह फेरकर कल्पना-राज्य में रंगीन बादलों के पृष्ठ पर विचरण करना क्रान्तिकारी कला अथवा साहित्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। जीवन में सौन्दर्य के साथ साथ कुरूपता की स्वीकृति क्रान्तिकारी कला में अनिवार्य है। केवल शेषोक्त स्वीकृति से ही काम नहीं चलेगा, क्रान्तिकारी कला और साहित्य में इस कुरूपता के विरुद्ध लड़ने की, उससे लोहा लेने की तथा उसको परिवर्तित करने की अनुप्रेरणा आवश्यक है। इन बातों के बग़ैर न तो कोई क्रान्तिकारी कला ही हो सकती है, और न क्रान्तिकारी विचारधारा ही। जीवन के अँधेरे पहलू से इन्कार करना, या ज़बर्दस्ती उसे अस्वीकार करना क्रान्तिकारी विचारधारा या कला का कार्य नहीं है।

२६—**शुद्ध गणित के सिद्धान्तों के पीछे भी सामाजिक परिस्थितियाँ**—कदाचित् हम अपने विषय से कुछ दूर चले गये, किन्तु यह बात स्पष्ट ही हो गई कि नींव के साथ ऊपरी ढाँचे का सम्बन्ध क्या है, तथा ऊपरी ढाँचा किस प्रकार तरह तरह का रूप ले सकता है। विचारधाराएँ, यहाँ तक कि अत्यंत वैज्ञानिक सूक्ष्म विचारधाराएँ, कैसे आर्थिक, सामाजिक कारणों से उत्पन्न होती हैं, इसका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उदाहरण विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र से लेवी ने दिया है। कहा जाता है कि गणित एक बहुत सूक्ष्म विज्ञान है, और उसमें चूँकि केवल प्रतीकों से सम्बन्ध रहता है, इसलिए गणितज्ञ पर किसी प्रकार का बाहरी प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो एक निस्पृह तपस्वी है, जिसे देशकाल से कोई सम्बन्ध नहीं। यह बात कहाँ तक सही है, यह देखा जाय। इसी गणित विज्ञान का एक सिद्धान्त है, जिसे सम्भावना का सिद्धान्त कहते हैं। संक्षेप में यह सिद्धान्त इस सम्बन्ध का एक औसत सिद्धान्त है कि क्या होने जा रहा है, और क्या होगा। इसलिए यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त तर्कशास्त्र का एक अंग है, और कैसे क्या होगा, इसका एक दृष्टिगत सिद्धान्त है। लेवी ने दिखलाया है कि नुक़सान के लिए बीमा एक स्वीकृत तरीक़ा था। 'ईसा के पूर्व पाँचवीं सदी में एथेन्स में बैंक थे, और ख़ास

खास व्यवहार में सूद की दर बँधी हुई थी। बीमा का जो पहला उदाहरण इतिहास में पाया जाता है, वह ३२४ ई० पू० का है। एक ग्रीक एन्टीमिनिस ने ग़ुलाम के मालिकों से ग़ुलामों के भाग जाने से होनेवाले नुक़सान का बीमा कराया इसके लिए उसने हरसाल उन ग़ुलामों के बाज़ार-दर की आठ फ़ी सदी का 'प्रिमियम' रक्खा। ग्रीकों में इसी प्रकार समुद्र यात्रा-सम्बन्धी बीमा का उद्भव हुआ। इसके अनुसार जब कोई जहाज माल लेकर रवाना होता, तो उसका मालिक बैंकवाले को एक रक़म दे देता था। यदि वह जहाज़ सही सलामत अपने यात्रा-स्थल को पहुँच जाता था, तो माल के मालिक को वह रक़म सूद के साथ लौटानी पड़ती थी, और यदि वह जहाज़ डूब जाता था, तो वह रक़म माल के मालिक की हो जाती थी। रोमनयुग में कलेजियम या गिल्ड में जीवन बीमा की नियमित पद्धति थी, जिसमें यदि गिल्ड का कोई सदस्य मर जाता था, तो उसके परिवारवाले को गिल्ड की ओर से एक निश्चित रक़म दी जाती थी। औसत शब्द के अर्थ में जो अँगरेज़ी में Average शब्द है, उसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द Averagium से हुई है। इस शब्द का अर्थ भी बड़ा अजीब है। यदि किसी जहाज़ की यात्रा के समय तूफ़ान आता था, तो जहाज़ को हल्का कर देने के लिए जिस अनुपात से उस पर लदे हुए प्रत्येक सौदागर के माल को समुद्र में डाल दिया जाता था, उसको Averagium कहा जाता था।' यह पता नहीं कि किस प्रकार इन अनुपातों का पता उस युग में लगाया जाता था, किन्तु इससे स्पष्ट है कि जिसको हम सम्भावना का इतिहास कहते हैं, और जिसने पदार्थ-विज्ञान में बहुत गूढ़रूप धारण किया है, उसकी उत्पत्ति बिलकुल मामूली भौतिक ज़रूरत से हुई थी। लेवी ने इस पर एक लम्बा-चौड़ा इतिहास दिया है। हमें इतिहास के ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं है। सारी बात का सार यह है कि जब सम्भावना के सिद्धान्त की तरह एक बिलकुल सूक्ष्म सिद्धान्त की जड़ भौतिक कारण में है, तब दूसरी विचारधाराओं की बात क्या है। लेवी ने इसको भी स्पष्ट कर दिया है कि जिन भौतिक आवश्यकताओं से होकर युगों के दौरान में सम्भावना के सिद्धान्त का विकास हुआ है, उनको यदि कोई व्यक्ति स्वीकार करने से इन्कार करे और इस सिद्धान्त को केवल गणित के तर्कों के एक सिलसिलेवार विकास के रूप में देखे, तो भी इसे यह सिलसिला

बिलकुल सही और कार्य-कारण-रूप से सम्बद्ध ज्ञात होगा। उस हालत में भौतिक, आर्थिक, सामाजिक कारणों की ज़रूरत न होगी।

२७—केवल पूर्ववर्ती विचारों से विकास स्पष्ट नहीं होता—इसी प्रकार हम प्रत्येक विचारधारा को उसकी पूर्ववर्ती विचारधाराओं से संयुक्त सिलसिलेवार रूप में देख सकते हैं, और उसमें हमें किसी कड़ी की कमी नहीं ज्ञात होगी। उदाहरणार्थ मार्क्स के ही विचारों को लिया जाय। यदि हम कैन्ट से गिनें (कोई चाहे तो इस गिनती को अफ़लातून के पहले से शुरू कर सकता है), तो उसका रूप यों होगा—कांट—शेलिंग, फ़िख़्ते—हेगेल—फ़ायरबाख—मार्क्स। इसी रूप में यदि विचार किया जाय तो मार्क्स के आर्थिक विचारों को भी इसी प्रकार देख सकते हैं। इस प्रकार हम चाहें तो मार्क्स की विचारधारा को उदीयमान सर्वहारावर्ग से अलग करके केवल विचार जगत् में ही सिलसिले के रूप में समझ सकते हैं। ऐसा करने में हमें कहीं किसी कड़ी की कमी ज्ञात न होगी, किन्तु प्रश्न तो यह है कि एक विचार के विकास के बाद उसका आगे विकास कई तरह से हो सकता है, किन्तु ऐसा न होकर एक ख़ास तरीक़े का विकास क्यों हुआ, इसको हम देखना चाहें तो हमें आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव को मानना पड़ेगा। कम से कम वे विचार जो अपने युग में सर्वमान्य हुए, उनकी तह में तो हमें स्पष्ट रूप से आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ ज्ञात होंगी। प्रत्येक क्षेत्र में अभी यह सम्भव नहीं है कि हम यह बता सकें कि अमुक विचार का सम्बन्ध अमुक वर्ग अथवा उपवर्ग के स्वार्थ से है। इसका कारण ज्ञान की कमी है, न कि और कुछ। ज्यों ज्यों हम एक विषय में अधिक जावेंगे त्यों त्यों हमारे लिए अधिकाधिक सम्भव होगा कि हम उस युग के विचारों को अच्छी तरह समझ सकें, और उनका मिलान समाज से कर सकें।

दर्शन की पृष्ठभूमि और भौतिकवाद

१—दर्शन से समाज का संबंध—दर्शनशास्त्र भी एक प्रकार की विचार-धारामात्र है, इसलिए जो बातें आमतौर से विचारधारा के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं, उन्हीं को दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। विचारधारा सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होती है, यही बात दर्शन पर भी लागू है। फिर कोई भी दर्शनशास्त्र तब तक जीवित दर्शनशास्त्र नहीं हो सकता जब तक उसके पीछे जीवित सामाजिक, आर्थिक शक्तियाँ अर्थात् समाज का कोई न कोई वर्ग प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से हो। यह समझना महज भूल है कि दर्शनशास्त्र उड़ानों के समूहमात्र से बन सकता है। बनने को एक मानी में बन सकता है, किन्तु वह तब तक कोई जीवित दर्शनशास्त्र नहीं हो सकता जब तक उसका सम्बन्ध किसी न किसी गिरोह, गुट या वर्ग से न हो। विभिन्न वर्गों का दर्शनशास्त्र विभिन्न होता है। दिदरो ने हाब्स पर, विश्व-कोष में लिखते हुए, यह जो कहा था कि 'विभिन्न युगों में विभिन्न सम्बन्ध और विभिन्न दार्शनिक होते हैं,' यह प्रत्येक दर्शन और दार्शनिक पर लागू है। १८९० की २७ अक्टूबर को एक मित्र सी० स्मिट को लिखते हुए एंगेल्स ने ठीक ही लिखा था कि 'दर्शनशास्त्र अविच्छेद रूप से राजनीति से सम्बद्ध है।'

२—हाब्स से कांट तक सरसरी दृष्टि—इसी पत्र में एंगेल्स ने हाब्स के विषय में यह दिखलाया था कि उनका दर्शनशास्त्र उनकी राजनीति से बँधा हुआ था। उस युग में सारे योरप में निरंकुश राजतंत्र का बहुत ज़ोर था, इसलिए हाब्स ने अपने दर्शनशास्त्र में निरंकुश सत्ता की प्रधानता का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार लाक के दार्शनिक विचार अपने युग से बँधे हुए थे। वे १६८८ के वर्ग-समझौते के युग के व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने निरंकुश राज्यसत्ता के समर्थन के बजाय वैधानिक राज्यतंत्र का समर्थन का समर्थन किया। इसी तरह फ्रेंच भौतिक-वादीगण उदीयमान पूँजीवादीवर्ग के दार्शनिक थे। यह बहुत मजेदार ऐतिहासिक तथ्य है कि जिस समय पूँजीवाद रंगमंच पर आया तो वह भौतिकवादी बाना

पहनकर आया। बात यह है कि उस समय तक धर्म सम्पूर्णरूप से सामन्तवादियों के हाथों का कठपुतला था। सच तो यह है कि गिर्जों के पास बहुत बड़ी बड़ी भूसम्पत्तियाँ हो गई थीं, और उनका हित इसी में था कि सामन्तवादी सम्बन्ध क़ायम रहे। पूँजीवादीवर्ग का हित इस सामन्तवादी साम्पत्तिक बल्कि श्रम-सम्बन्धों को तोड़कर नये पूँजीवादी श्रम सम्बन्ध को क़ायम करने में था। भला उस समय का धर्म इसे कैसे स्वीकार करता, इसलिए पूँजीवादीवर्ग ने धर्म-विरोधी भौतिकवाद को अपनाया। वाल्टेयर के हाथों में धर्म बिल्कुल खतम नहीं हुआ। उन्होंने कहा था कि यदि सचमुच ईश्वर न भी हो तो भी हम उसकी कल्पना कर लें, किन्तु फिर भी उन्होंने जिस मानी में ईश्वर को स्वीकार किया, उसमें सामन्तवादी गिर्जों तथा पुरोहितों के लिए कोई जगह नहीं रह जाती थी। जब राजनैतिक क्षेत्र में पूँजीवादीवर्ग की विजय हुई, और पुराने धर्म ने किसी न किसी रूप में अपने इस नये प्रभु को स्वीकार कर लिया, उस समय के सबसे बड़े दार्शनिक कांट हुए। जिस समय पूँजीवादीवर्ग सामन्तवादीवर्ग के अधीन एक निर्यातित तथा शोषितवर्ग था, उस समय उसकी बातचीत दूसरी थी, उस समय वह तो समाज का मुक्तिदाता बना हुआ था, और वाक़ई था; किन्तु ज्यों ही राजनैतिक क्षेत्र में उसने सामन्तवादी शासन को उन्मूलित कर अपना वर्ग-शासन स्थापित किया ज्यों ही उसे भौतिकवाद की आवश्यकता नहीं रही। अब उसे अपने अधीन वर्गों के शोषण पर ईश्वर और धर्म के ठप्पे की आवश्यकता हुई, साथ ही वह व्यावहारिक जगत् में भौतिकवाद को या विज्ञान को छोड़ नहीं सकता था। कांट ने अपने दर्शन में इन दो आवश्यकताओं की पूर्ति की, इसलिए कांट अपने युग के सबसे बड़े प्रतिभाशाली दार्शनिक माने गये, क्योंकि उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा एक साथ इन दो आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी।

३—गुन्थर भी धर्म और दर्शन के वर्गचरित्र में विश्वासी—जान गुन्थर ऐसे उच्छवृत्तिवादी लेखक भी कुछ नहीं तो अपनी वस्तु अनुयायी वर्णनशैली के कारण यह मानने के लिए बाध्य हैं कि दर्शन और धर्म का सम्बन्ध सीधे सीधे जेब से होता है। वे लिखते हैं 'अँगरेज छः दिन तो बैंक आफ़ इँगलैंड में पूजा करता है, और सातवें दिन चर्च आफ़ इँगलैंड में पूजा करता है। शासक वर्गों के पक्ष में धर्म एक ज़बरदस्त शक्ति है। आधुनिक जातियों से बिलकुल भिन्न रूप

से इँगलैंड का एक अलग ही जातीय गिर्जा या धर्म है। इँगलैंड का धर्म एक टापू धर्म है, जो उसी के काम आता है। इस गिर्जे के साथ संयुक्त होकर तथा इसकी शीतल छाया में देश का विशेष सदाचार चालू है।' धर्म और दर्शन की निष्पक्षता के सम्बन्ध में जो आमधारणा है, वह गुन्थर की स्वीकारोक्ति से सम्पूर्ण से खटाई में पड़ जाती है।

दर्शनशास्त्र की बात करते हुए अनिवार्यरूप से धार्मिक विचारों की समालोचना आ ही गई। क्योंकि दर्शन ने व्यावहारिक रूप से जीवन पर धर्म के नाम ही से प्रभाव जमाया है। फिर भी हम यह चेष्टा करेंगे कि इस लेख में केवल उन दर्शनों पर विचार करें जिनको धर्म की मर्यादा प्राप्त नहीं हुई, या जो केवल उसके पिछलगुए या विरोधी का श्रेणी में आते हैं।

४—मामूली अवसरों पर भी दर्शन का महत्त्व—दर्शन का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कर्त्तव्यशास्त्र की दृष्टि से इस बात को बहुत स्पष्ट तरीके से समझ लेना चाहिए कि दर्शन की अवहेला नहीं की जा सकती। यदि अवहेला की जायगी तो उसका नतीजा यही होगा कि जिस प्रकार का दर्शनशास्त्र अवाञ्छनीय है, उसी का बोलबाला रहेगा। इस प्रकार भौतिक क्षेत्र में नहीं, विचारों के क्षेत्र में शासकवर्ग की विचारधारा का ही बोलबाला रहेगा। उस हालत में शासकवर्ग की बेड़ी के रूप में अवाञ्छनीय दर्शन का प्रचार रहेगा। यह प्रायः कहा जाता है कि साधारण व्यक्ति को दर्शन की कोई जरूरत नहीं, किन्तु जब यह बता दिया जाय कि दर्शन मानी घटत्वावच्छिन्न पटत्वावच्छिन्न का घोखना नहीं है, बल्कि Weltanschaining यानी जो जिस प्रकार से जीवन तथा विश्व को देखता है, वह उसका दर्शन है, तो समझ में आयेगा कि दर्शन कितना महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक ही कहा गया है कि जिस समय कोई सम्भव किरायेदार मकान-मालिक के पास मकान या कमरा भाड़े पर लेने के लिए जाता है, उस समय मकानमालिक सबसे पहले यह जानने की कोशिश करता है कि इस व्यक्ति का दर्शनशास्त्र क्या है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह उसके साथ न्याय, दर्शन के तर्कों में पड़ जाता है, बल्कि वह इतना ही जान लेना चाहता है कि यह शख्स ढंग से मकान का इस्तेमाल करेगा या नहीं, किराया ठीक समय पर देगा या नहीं, कहीं रात को उठकर भाग तो न जायगा। किरायेदार के इसी

दर्शन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए मकान-मालिक उससे ऐसे प्रश्न पूछता है कि तुम बीबीवाले हो या नहीं, इत्यादि। यदि मकान-मालिक को किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह मालूम हो कि अमुक व्यक्ति ईमानदार है, किसी हालत में भी धोखा नहीं देगा, तो वह यह देखकर भी कि यह व्यक्ति दो-चार महीने तक किराया न दे पावेगा, उसे बेखटके मकान किराये पर देगा; किन्तु किसी हालत में वह ऐसे धनी को भी अपना किरायेदार बनाना स्वीकार न करेगा जिसके जीवन के दर्शन के सम्बन्ध में वह यह जानता है कि इससे किराया वसूल करने के लिए मुक़दमेबाज़ी की ज़रूरत पड़ेगी।

हम जब किसी अजनबी से मिलते हैं, और उससे कोई व्यवहार करने की बात होती है, तो सबसे पहले उसे घूर कर देखते हैं, और इस प्रकार मानो उसके चेहरे से पढ़ डालने की चेष्टा करते हैं कि उसके जीवन का दर्शन क्या है। हम नित्य इस प्रक्रिया को सौ बार करते हैं, यहाँ तक कि अत्यन्त आजमाये हुए प्रियजनों पर भी इस प्रक्रिया को चालू कर यह जानने की चेष्टा करते हैं कि यह व्यक्ति जहाँ का तहाँ है न, कहीं कुछ बदल तो नहीं गया। इस प्रकार दिन-रात हमें जिस चीज़ की ज़रूरत पड़ती है, उसे हम केवल नैयायिकों के तर्क का विषय समझें तो इससे बढ़कर अज्ञता कुछ नहीं हो सकती। मन शून्य नहीं रह सकता। यदि उसमें सही दृष्टिकोण को आने का मौक़ा नहीं मिलेगा, तो स्वाभाविक रूप से उसमें ग़लत दृष्टिकोण का सिक्का बैठ जायगा। इस दृष्टि से देखने पर प्रत्येक आमूल परिवर्तन चाहनेवाले का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह और बातों के अतिरिक्त एक दार्शनिक योद्धा भी हो। यदि कोई व्यक्ति या दल आमूल परिवर्तन का नारा दे, साथ ही केवल अपने संग्राम को राजनैतिक क्षेत्र तक सीमित रखे, तो यह निश्चित है कि उसकी चेष्टा विडम्बना में पर्यवसित होगी। एक क्रान्तिकारी को दर्शन के क्षेत्र में प्रतिगामियों के दर्शनों से लोहा लेना पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रीय या अन्य राजनैतिक संग्राम में बहादुरी के साथ लड़ता है, किन्तु उसका दर्शनशास्त्र ठीक नहीं है, तो इसमें सन्देह नहीं कि कुछ दूर जाकर वह कहीं न कहीं गड़बड़ी कर बैठेगा। यह गड़बड़ी इस हद तक हो सकती है कि उसके सारे किये पर ही पानी फिर जाय।

५—प्रत्येक आन्दोलन के साथ एक दर्शन—इसी कारण इतिहास में जितने

भी आन्दोलन हुए, वे चाहे क्रान्तिकारी आन्दोलन रहे हों या प्रतिगामी, उन्हें एक न एक दर्शनशास्त्र के साथ अपना गठबन्धन करना पड़ा। उन्हें दर्शनशास्त्र का साथ लेना पड़ा, यानी जीवन को देखने के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टि-कोण का प्रचार नये आन्दोलन के द्वारा हुआ। जैसा समाज और वर्ग होगा वैसा ही दर्शन होगा। यह नहीं हो सकता कि व्यवहार तो पूरब को जाय, और दर्शन पश्चिम को। अवश्य ऐसी धाँधली कुछ देर तक चल सकती है, किन्तु अधिक देर नहीं। समाजवादी राष्ट्र में सबका दृष्टिकोण कम से कम शासनारूढ़ सर्वहारा का दृष्टिकोण कुछ और ही होगा, और पूँजीवादी राष्ट्रों में पूँजीवादियों का दृष्टिकोण और ही होगा। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि इँगलैंड की मज़दूर पार्टी भी साम्राज्यवाद विरोधी विचारों को समझ नहीं पाती। किन्तु एक भारतीय या अन्य पराधीन देश निवासी के लिए साम्राज्यवाद का खूँखार-पन अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। एक ब्राह्मण कितने स्वाभाविक रूप से यह समझता है कि वह बड़ा है, और अछूत जाति के लोग उससे छोटे हैं। ट्रेजडी इस बात में नहीं है कि ब्राह्मण अपने को भूसुर समझे, ट्रेजडी तो इस बात में है कि अछूत भी अपने को अछूत समझे। इसके लिए प्रत्येक प्रगतिवादी का यह स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शोषितों और शासितों को शोषकों और शासकों के दर्शन से बचावे।

६—अलौकिक दर्शनशास्त्र का स्वरूप—आमतौर मे जिसे लोग दर्शनशास्त्र कहते हैं, वह Metaphysics या अलौकिक दर्शनशास्त्र है। इस दर्शन में स्वीकृत किसी भी बात की प्रयोगात्मक रूप से तस्दीक होनी असम्भव है, फिर भी इसके प्रतिपादकगण इसे विज्ञान बल्कि अतिविज्ञान की पदवी देना चाहते हैं। इनकी कही हुई बातों को दर्शन न कहकर यदि दावा कहा जाय तो अधिक उचित होगा। फायरवाख ने इन्हीं सब बातों को समझकर इस प्रकार के दर्शनशास्त्र की तुलना एक ऐसे भूखे जानवर से की है, जो चारोंतरफ़ हरियाली से घिरे होने पर भी भूताविष्ट सा ऊसर में चक्कर काट रहा है। सच तो यह है कि इस प्रकार के दर्शन दर्शन ही नहीं हैं, इनको अधिक से अधिक उड़ान ही कहा जा सकता है। अवश्य यह कहना ग़लत होगा कि इन उड़ानों का भौतिक परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत भौतिक परिस्थितियों से इन दर्शनों

का बहुत बड़ा सम्बन्ध है; यही कारण है कि वे सामयिक तौर पर ही सही एक गुट, गिरोह या वर्ग को अपने साथ कर ले सकते हैं, और इस प्रकार शक्तिशाली हो जाते हैं। हाब्स, लाक आदि के जीवन-सम्बन्धी दर्शन की जो संक्षिप्त आलोचना हमने की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शनशास्त्र जीवनसंग्राम बल्कि वर्गसंग्राम में एक संग्राम का काम देता है।

७—शासकवर्ग द्वारा सही दर्शन का विरोध—ग्रीस का उदारहण—मेहनत करनेवाले वर्ग को अपने संग्राम के लिए जिस दर्शनशास्त्र की आवश्यकता है, उसमें अवास्तविक उड़ान की कोई गुँजाइश नहीं है। हम जीवन के सही दृष्टिकोण से देखना चाहते हैं। ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब वास्तविकता को लेकर चलें, किन्तु अलौकिक दर्शनशास्त्रों की दृष्टि वास्तविक जगत् में निबद्ध न रहकर न मालूम कहाँ कहाँ किस किस रहस्यमय लोक की खाक छानती फिरती है। जब भी दार्शनिकों ने उड़ान छोड़कर वास्तविक जगत् में उतरने की चेष्टा की, तब तब शासकवर्ग की तरफ़ से नियुक्त या स्वयं नियुक्त उनके पिठ्ठुओं ने इसकी हँसी उड़ाई। दर्शन दुरूहता का एक दूसरा नाम बराबर रहा है, और जहाँ किसी दार्शनिक ने इस 'आदर्श' से अपने को च्युत किया, बस उस पर अपने सहकर्मियों का वज्र टूट पड़ा। ज्यों ही दर्शन ने यह चेष्टा की कि जीवन की कुरूप वास्तविकताओं पर मुलम्मा न चढ़ाकर उनको स्वीकार किया जाय तथा उनका प्रतिकार किया जाय, त्यों ही समाज के शासकों का लौह हस्त उसके विरुद्ध उठा, उसका गला घोंट दिया गया, ऐसे दर्शनशास्त्र की पोथियाँ जला दी गईं। सुकरात को ज़हर का प्याला पिलाया गया था, बेचारे अरस्तू को एथेन्स से भागकर अपेक्षाकृत कम सभ्य मेसीडोनियनों की शरण लेनी पड़ी थी, प्रोटागोरस (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी) को भागना पड़ा था, और उनकी सब पुस्तकें जला दी गई थीं। एनेक्सागोरस गिरफ़्तार कर लिये गये थे, किन्तु मित्रों ने भगा कर उनकी जान बचा दी। एपोलोनिया के डायोजिनिस पर मुक़दमा चलाया गया। थेल्स, डिमोक्रीटस आदि पर न मालूम क्या क्या लांछन लागये गये। यह तो प्राचीन ग्रीस की बातें हुईं। मध्ययुग के यूरोप में सैकड़ों व्यक्ति अपने मत के लिए ज़िन्दा जला दिये गये, इसके अतिरिक्त बहुत से लोगों का अन्य तरीक़ों से निर्यातन हुआ। ऐसे निर्यातित लोगों में गैलिलियो (१५६४—१६४२) जिन्होंने

कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है न कि सूर्य पृथ्वी का परिभ्रमण करता है, तथा जियोरडानो ब्रूनो का नाम विशेष उल्लेख योग्य है।

७—भारतवर्ष में विरोधी दर्शनों का दमन—ऐसा समझना ग़लत होगा कि भारतवर्ष में इस प्रकार का निर्यातन नहीं हुआ। हम यहाँ पर शशांक और खारवेल का उल्लेख नहीं करेंगे, ये तो बहुत मामूली बातें हैं, किन्तु द्रष्टव्य यह है कि भारतवर्ष में शासकवर्ग के विरोधियों की पुस्तकें तक दबा दी गईं। तथा उनका कुछ पता नहीं लगता। चारवाक, बृहस्पति आदि विद्वानों के अनीश्वरवादी विचार, जो अनिवार्यरूप से उच्च वर्ण के विशेष कर ब्राह्मणों के विरुद्ध जाते थे, आज हमें केवल उनके विरोधियों की पुस्तकों से ज्ञात हो सकते हैं, और सो भी जहाँ तक मालूम हुआ है बहुत ही विकृत रूप में। कर्मकांड प्रधान प्राचीन वैदिक दर्शनशास्त्र के विरुद्ध विद्रोह के रूप में एक के बाद एक सांख्य, वैशेषिक तथा वैदिक दर्शन का उद्भव हुआ। ये सभी भौतिकवाद की ओर झुके हुए थे। जैसे पूँजीवादीवर्ग ने भौतिकवाद का नारा देकर विश्व रंगमंच में प्रवेश किया था, उसी प्रकार ये सब विद्रोही दर्शन कमोवेश भौतिकवाद की ओर झुके हुए थे। ये विद्रोह विशेषकर ऐसा ज्ञात है कि सांख्य और वैशेषिक के विद्रोह, केवल शासकवर्ग के अन्दर के कुछ व्यक्तियों के असन्तोष का परिणाम था, इसलिए ये विद्रोह कुछ अधिक ज़ोर न पकड़ पाये, और मज़े की बात यह है कि सांख्य ऐसा मौलिक रूप से निरीश्वरवादी मतवाद, जिसके शुद्धरूप का कुछ परिचय हमें ईश्वर कृष्ण की रचना से मिलता है, ईश्वरवादी दर्शन के रूप में हो गया। हम इसके ब्यौरे में नहीं जायँगे, केवल सांख्य और वैशेषिक ही नहीं, हिन्दुओं में मान्य कथित षड्दर्शन में से प्रत्येक दर्शन पहले भौतिकवादी था, किन्तु कट्टर ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया की विजय के कारण ये सभी मतवाद ईश्वरवाद के अंग के रूप में हो गये। इस प्रकार नाम को तो सांख्य आदि दर्शन क़ायम रहे, किन्तु असल बात यह है कि एक सूक्ष्मतर तरीक़े से इन दर्शनों का गला घोंट दिया गया। रहा बौद्धदर्शन, उसकी कथा कुछ दूसरी तरह की है। इतिहास के सभी घनिष्ठ विद्यार्थियों को ज्ञात है कि बौद्धों को तथा बुद्धि को उदीयमान सौदागरवर्ग से सहायता मिली। यही कारण है कि सांख्य आदि की तरह बौद्ध धर्म एक बबूले की तरह प्रकट होकर ही विलीन नहीं हो गया, बल्कि उसने

बहुत ज़ोर पकड़ा। यदि यह सौदागरवर्ग विजयी हो पाता तो बौद्धधर्म की विजय होती, अवश्य सौदागरवर्ग विजयी होने के बाद बौद्धधर्म को बदल न देता यानी उसे उसके विद्रोही रूप से वंचित न कर देता, ऐसा हम नहीं कह सकते जैसा कि पूँजीवाद ने सामन्तवाद पर विजय प्राप्त करने के बाद किया। जो भी हो, तथ्य यह है कि यही बौद्ध धर्म, जो एक विद्रोही के रूप में आया था, धीरे धीरे सम्पूर्णरूप से ब्राह्मण धर्म की तरह हो गया। उसमें वे सब बात आ गईं जो ब्राह्मण धर्म में मौजूद थीं। सच तो यह है कि जिस समय भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का लोप हुआ, उस समय बौद्ध और अबौद्ध आर्य धर्म के अन्तर्गत वस्तु और साथ ही आचार आदि की दृष्टि से अभिन्न हो चुके थे। इस प्रकार बौद्ध धर्म भी एक विद्रोही धर्म से बल्कि एक विद्रोही मतवाद से बिलकुल प्रतिक्रियावादी मतवाद में परिणत हो गया। अवश्य इस बीच में पहले का जो ब्राह्मण धर्म था वह भी बहुत कुछ बदल चुका था। यह तो स्वाभाविक है, किन्तु इस क्षेत्र में हम केवल इस ओर ध्यान आर्कषित करना चाहते हैं कि यहाँ के शासकवर्गों ने एक-आध व्यक्ति को मारने की बात तो दूर रही पूरे मतवाद को ही लुप्त कर दिया, या उसे इस प्रकार ग्रस लिया कि उसकी हालत और भी खराब हो गई, क्योंकि वह शासकवर्ग के हाथों का ही एक हथियार हो गया। इससे बढ़कर शासकवर्ग द्वारा शासितों की विचारधारा के निर्यातन का और क्या उदाहरण हो सकता है?

८—ग्रीक दर्शनों के पीछे कोई न कोई वर्ग—यह बहुत ही दिलचस्प है कि प्राचीन ग्रीस में जो नये और साहसपूर्ण विचार उठे थे, उनके पीछे भी वहाँ का सौदागरवर्ग था। प्राचीन ग्रीस में एशियाईकोचक और योरप के बीच जो आयोनिक शहर पड़ते थे, उन्हीं में विशेषकर दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ। ई० पू० षष्ठ तथा पंचम शताब्दी में ये शहर व्यापार, शिल्प तथा ग़ुलाम व्यवसाय के केन्द्र थे। योरोपीय विज्ञान, ज्योतिष, रेखागणित, चिकित्साशास्त्र तथा अंकगणित का यहीं से प्रारम्भ होता है। ये दार्शनिक योरोपीय विज्ञान, दर्शन के भी जनक हैं, और साथ ही भौतिकवाद के भी। इसके सम्बन्ध में कुछ ब्यौरा यों है। थेल्स (जन्म ६३६ ई० पू० एशियाई कोचक के ग्रीक उपनिवेश मिलटस में) ने विश्व की उत्पत्ति जल से, एनाक्सीमीनिस (छठी शताब्दी ई० पू०, जन्म

मिलटस) ने वायु से, एनेक्सीमेन्डर (क़रीब ६१० ई० पू०) ने अनन्त सूर्य से, हेराक्लिटस (क़रीब ५०३ ई० पू०) ने अग्नि से, एमपेडोक्लिस (पंचम शताब्दी ई०) ने मृत्तिका, जल, वायु, अग्नि से मानी है। इन व्यापारी शहरों में विदेशों से पण्य और गुलामों के साथ साथ ज्ञान और विज्ञान भी आता था। ये दार्शनिक अपने समय से किस प्रकार बँधे हुए थे, इसका भी यहाँ कुछ विवरण दे दिया जाय।

९—भूसम्पत्तिवाले वर्ग का दार्शनिक हेराक्लिटस—एफिसस के हेराक्लिटस को लिया जाय। यहाँ पर यह पता देना आवश्यक है कि एफिसस उस युग में होनेवाले युद्धों, गृह-युद्धों आदि के ज़रिये गुज़र चुका था, तथा इस प्रकार के अन्य शहरों की तरह राज्यशक्ति मुख्यतः व्यापारियों के हाथ में आ चुकी थी, कृषि अर्थात् ज़मींदारी पर निर्भर बड़े लोग दोयम दर्जे के हो चुके थे। हेराक्लिटस स्वयं पुराने बड़े लोगों के ख़ानदान के थे, इसलिए जगत् की उत्पत्ति अग्नि से मानने पर भी वे प्रजातंत्र को अच्छी जनता का राज्य बताकर उसकी निन्दा करते थे। उन्होंने इसी के समर्थन में यह भी मत पेश किया कि हमारी आँखों में एक आँख अन्य दस हज़ार आँखों के बनिस्बत सही हो सकती है, यदि वह सही हो और बाक़ी ग़लत। हेराक्लिटस की सारी दार्शनिकता का रुख़ जनता के विरुद्ध इसलिए था कि जनता व्यापारीवर्ग के साथ थी, और व्यापारीवर्ग तथा पुराने घरानों के बीच में होनेवाली लड़ाई में जनता व्यापारीवर्ग का साथ इसलिए देती थी कि इसमें उसका फ़ायदा था। यह फ़ायदा आर्थिक तो था ही किन्तु इसके अतिरिक्त यह नया वर्ग जनता की मुक्ति का नारा देकर आगे आया था, और कुछ हद तक उसने जनता को मुक्ति दी भी थी। हेराक्लिटस ने समुद्र की भी निन्दा की थी, और कहा था कि मछलियों के लिए समुद्र भले ही अच्छा हो, किन्तु मनुष्य के लिए इसका प्रभाव विनाशकारी है। यह अनुसन्धानयोग्य है कि भारतीय हिन्दुओं में जो एक मतवाद बराबर समुद्र-यात्रा को बुरा समझता था, उसके पीछे वर्गयुद्ध का कोई प्रस्तरीभूत रूप नहीं है। जो भी हो, हेराक्लिटस के मतवाद में हम बहुत स्पष्टरूप से सामाजिक विचारों की छाप देख सकते हैं। वे सौदागरों के राज्य से इतने नाराज़ थे कि उन्होंने कहा था कि ऐसा दिन आयेगा, जब वर्तमान अन्यायपूर्ण पद्धति टिक न सकेगी, और अग्नि

सब पर अपना फ़ैसला दे देगी। अग्नि को किसी प्रकार से इस मतवाद में स्वर्ण के साथ भी जोड़ा गया है। हेराक्लिटस ने यह भी प्रचार किया कि जगत् परिवर्तनशील है। ऐसा कहने में उनका मतलब यह था कि सौदागरवर्ग की यह चाँदी हमेशा न रहेगी।

१०—अन्य ग्रीक रोमन दार्शनिक भी वर्ग दार्शनिक—इस मत के विपरीत व्यापारीवर्ग के दार्शनिक एनक्सागोरस ने यह प्रचार किया कि उन्नति समाज को एकदम बदलकर नहीं बल्कि क्रमिक रूप से बदलकर होती है। इस मतवाद का असली वक्तव्य क्या था, इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। ग्रीक बड़े दार्शनिकों में से अफ़लातून ग़ुलाम प्रथा के समर्थक थे, यह मत भी उस समाज का प्रतिफल है जिसमें वे रहते थे। दार्शनिक शिरोमणि अरस्तू ने भी ग़ुलामी प्रथा को समाज-व्यवस्था के लिए अनिवार्य बताया था। ग्रीक दार्शनिकों को छोड़कर हम जब रोमन दार्शनिकों की ओर आते हैं, तो देखते हैं कि सेनेका ने क्षीयमाण अभिजातवर्ग की विचारधारा का प्रचार करते हुए, यह कहा था कि मृत्यु से मनुष्य जो बचना चाहता है, इसके लिए कोई कारण नहीं है, क्योंकि हमने सब तरह के सुखों का उपभोग कर लिया, सब रंग देख लिये, सब मज़े उड़ा लिये, सब ऐश्वर्य भोग लिये। बुखारिन ने इस पर उचित रूप से टीका करते हुए, यह लिखा है कि 'यह निरवच्छिन्न व्यक्तिवाद का दर्शन है, ऐसे व्यक्तियों का दर्शन है जो किसी सामाजिक बन्धन को नहीं मानते, यह निराशावाद का, मृत्य की पैरवी का, सभी सामाजिक संस्थाओं की व्यर्थ समालोचना का तथा ऐसी सूक्ष्म बुद्धि का जो सब तरह के कामों से भागती है, दर्शन है। क्या यह एक ऐसे परोपजीवी क्षीयमाण, अति सन्तुष्ट वर्ग की चित्तवृत्ति को प्रतिफलित नहीं करता जिसको अब जीवन में कोई दिलचस्पी रह ही नहीं गई? यह मनोवृत्ति उस युग की सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओं का परिणाम है।'

११—टामस एक्वीनस का दर्शन और सामन्तवादी भक्तिवाद—मध्ययुग के दार्शनिकों में टामस एक्वीनस (१२२५–७४) की समालोचना करते हुए भी बुखारिन इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उनके दर्शनशास्त्र में सामन्तवादी समाज का प्रतिफलन है। 'विश्व दो भागों में विभक्त है, एक रोज़मर्रा का दृश्यमान जगत्, और दूसरा इसमें रहनेवाले स्वरूप। सबसे उच्च तथा विशुद्ध स्वरूप

ईश्वर है। ईश्वर के अतिरिक्त कुछ ख़ास और विशिष्ट स्वरूप भी हैं। ये स्वरूप मर्यादा और पद के अनुसार सज्जित हैं, जैसे फ़रिश्ते, मनुष्यों की आत्माएँ इत्यादि।'[१] सामन्तवादी युग के दर्शन की विशेषता यह है कि ईश्वर की कल्पना ग़ुलाम अथवा अर्द्धग़ुलाम के रूप में की जाती है, भक्त ईश्वर का दासानुदास है, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है। वह जैसा नियुक्त होता है, वैसा करता है। इस युग के दर्शन में ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा का निमज्जन सबसे उच्च अवस्था है। भक्ति मार्ग ही इस युग का प्रधान मार्ग है। मुस्लिम तथा हिन्दू दर्शन का एक बहुत बड़ा हिस्सा इसी प्रकार के भक्तिमार्ग में आ जाता है। सामन्तवादी भक्तिवाद की एक विशेषता यह भी है कि इसमें परलोक, वैकुण्ठ या बहिश्त में उसी प्रकार की सीढ़ी-दर-सीढ़ी, दर्जा-ब-दर्जा से स्थित (hierarchical) देवमण्डली की कल्पना की जाती है। परलोक की कल्पना इहलोक से सम्बन्धित होती है, तभी ऐसी कल्पनाएँ थीं। अत्यन्त आधुनिक युग में अध्यात्मवादीगण ईश्वर के सम्बन्ध में जो कल्पना रखते हैं, उसमें भी दासता का पुट है, किन्तु इसकी दासता उस प्रकार की है जिस प्रकार से एक आदर्श मज़दूर से यह उम्मीद की जाती है कि वह उदाहरणार्थ अमेरिका के राष्ट्रपति के हुक्मों को मानेगा। अस्तु।

१२—धर्म से मुक्तदर्शन का सूत्रपात—जर्मनी में दर्शन की उन्नति क्यों?— टामस एक्वीनस का दर्शन सम्पूर्णरूप से धर्म पर अवलम्बित है, किन्तु डेकार्ट और स्पीनोजा दर्शन में ईसाई धर्म के विचारों को छोड़कर स्वतंत्र रूप धारण करता है। फिर तो इसी प्रवृत्ति की धूम हो जाती है। १७८९ की महान् फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पहले विश्वकोष गोष्ठी के लेखकों ने जीवन के सम्बन्ध में जिस प्रकार के दर्शनशास्त्र का प्रचार किया, वह ईसाई कट्टरता से मुक्त था। सच तो यह है कि इस मसय से पश्चिमी योरप में प्रथम बार दर्शन की सृष्टि हुई। जर्मनी में दार्शनिकों की एक बाढ़ सी आ गई। किन्तु यह जो बाढ़ आई वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। ट्राटस्की ने बहुत सुन्दर रूप से यह दिखलाया है कि ख़ासकर जर्मनी में इस प्रकार के दर्शनों का उद्भव किस कारण हुआ, अँगरेज़ और फ्रेंच पूँजीवादीवर्ग जर्मन पूँजीवादी-

---

१. H. M. p. 182—86

वर्ग के बनिस्बत दौड़ में आगे रहे। जर्मन पूँजीवादीगण बाद को क्षेत्र में आये, इसलिए एकाएक फ़्रेंच और अँगरेज़ पूँजीवादियों का मुक़ाबिला करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ, इसलिए उन्हें बहुत दिनों तक दर्शनशास्त्र का माँड़ पीकर जीवन धारण करना पड़ा। जर्मनों ने अटकलों की दुनिया का आविष्कार किया। यह दुनिया अँगरेज़ों और फ़्रेंचों के लिए नहीं थी। अँगरेज़ और फ़्रेंच जिस समय एक नवीन जगत् का निर्माण कर रहे थे, उस समय जर्मनगण कल्पना राज्य में एक नवीन जगत् की सृष्टि कर रहे थे। जर्मन पूँजीवादीवर्ग राजनैतिक क्रियाशीलता की दृष्टि से कहीं का नहीं था, किन्तु इसने क्लासिकल दर्शनशास्त्र की सृष्टि की और यह कोई तुच्छ सफलता नहीं थी।[१]

१३—कान्ट पर और विचार—कान्ट के सम्बन्ध में हम बता चुके हैं कि उन्होंने जिस दर्शनशास्त्र का प्रतिपादन किया, उसमें साथ ही साथ भाववाद और वस्तुवाद या भौतिकवाद को अलग अलग क्षेत्र के लिए सत्य बताकर उन दोनों में एक समझौता सा करा दिया, और इसी में उनका महत्त्व है। कान्ट ने भौतिकवाद और भाववाद में समझौता कराने की जो चेष्टा की, वह बहुत ही अजीब तरीक़े मे कार्यान्वित हुई। वह तरीक़ा यों था कि व्यावहारिक क्षेत्र में बिलकुल प्रयोगात्मक विज्ञान की सत्यता को मानकर भौतिकवाद माना गया, और धर्म तथा अन्य क्षेत्रों में भाववाद को अपनाया गया। यह द्रष्टव्य है कि पूँजीवादी सभ्यता की यह विशेषता है कि वह व्यावहारिक क्षेत्र में अपनी बारूद ठीक रखता है, किन्तु काल्पनिक या मानसिक क्षेत्र में ईश्वर पर भरोसा रखता है। वह रोज़मर्रा के काम में ईश्वर पर चीज़ों को न छोड़कर रेल, तार, रेडियो, तरह तरह के अस्त्र-शस्त्र से काम लेता है—स्मरण रहे कि गिनाई हुई चीज़ों में कोई भी वस्तु विशुद्ध भाव की श्रेणी में नहीं आती,—किन्तु विचार के क्षेत्र में जाते ही पूँजीवाद, कहीं भाववाद, कहीं रहस्यवाद को और बहुत हुआ तो अज्ञेयवाद को अपनाकर बैठा रहता है। ऐसी हालत में कान्ट का द्विधाविभक्त दर्शनशास्त्र पूँजीवादीवर्ग के लिए बहुत ही रुचिकर साबित हुआ। कान्ट के एक युग प्रवर्तक दार्शनिक रूप में स्वीकृत होने के पीछे यही रहस्य है।

१४—हेगेलीय दर्शन की पृष्ठभूमि—इसके बाद हेगेल के दर्शन में हम

१. R. R. p. 204—5

देखते हैं कि विकास को एक सदा चलनेवाली प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया। अभी पूँजीवाद की समृद्धि का युग था, इसलिए उसे सब हरा ही हरा दिखलाई पड़ा। हम यहाँ पर दर्शनशास्त्र का इतिहास नहीं दे रहे हैं, किन्तु जो कुछ थोड़े बहुत तथ्य हम दे रहे हैं, वह केवल इसलिए कि दर्शनों को जीवन से ऊपर स्थित विचारधारा के रूप में देखने की परिपाटी का पोलापन दिखाई पड़ जाय।

१५—मार्क्सीय दर्शन में सर्वहारा के विचार मूर्त—हेगेल के बाद फायरबाख से होते हुए हम मार्क्स में पहुँचते हैं। मार्क्स की विचारधारा शासकवर्ग की नहीं, बल्कि ऐसे शासितवर्ग की विचारधारा के रूप में आई जो बाद को उत्पादन की शक्तियों की अग्रगति के कारण शासकवर्ग होनेवाला है। यह स्वाभाविक था कि इस युग में सर्वहारावर्ग का कोई दार्शनिक पैदा होता, और वह दुनिया के सबसे बड़े उत्पादकवर्ग के दृष्टिकोण से समस्त जगत् व्यापार को देखता। यदि मार्क्स पैदा न होते तो भी, इस विचारधारा का आना अनिवार्य था। उस समय तक सर्वहारावर्ग बहुत तगड़ा हो चुका था। स्वाभाविक रूप से उसे पूँजीपतियों के साथ विचारधारा के क्षेत्र में लोहा लेने के लिए एक जंगजू वैज्ञानिक विचारधारा की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति करते हुए मार्क्सवाद का उदय आ। मार्क्स के अनन्यहृदय मित्र और सहकर्मी यह मानते हैं कि जोसफ़ डिटेस्गन नामक एक जर्मन चर्मकार के रूप में एक ऐसे व्यक्ति का उदय हो चुका था जो मार्क्स एंगेल्स से स्वतंत्ररूप से मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्तों पर पहुँच चुका था। फिर इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि मार्क्स से स्वतंत्ररूप से एंगेल्स ही, जिसे हम आज मार्क्सवाद कहते हैं, उसके सिद्धान्तों का आविष्कार कर चुके थे। अतएव सर्वहारा की विचारधारा के आविष्कारक के रूप में केवल मार्क्स के व्यक्तित्व को ही सारा क्षेत्र देना ग़लत होगा। यहाँ पर जो आविष्कारक शब्द व्यवहृत है, उससे ग़लतफ़हमी हो सकती है, इसलिए स्पष्ट कर दिया जाय कि मार्क्स उसी अर्थ में मार्क्सवाद के नाम से परिचित, सामाजिक नियमों के आविष्कारक थे जिस अर्थ में न्यूटन माध्याकर्षण के, प्लांक क्वान्टम के या आइनस्टाइन सापेक्षवाद के आविष्कारक हैं। जैसे न्यूटन आदि के पहले ये नियम प्रकृति में कार्यशील थे, इन्होंने इसका आविष्कार मात्र किया,

उसी प्रकार मार्क्स ने सामाजिक तथा विचारधारा-सम्बन्धी विकास के जिन नियमों का आविष्कार किया, वे मार्क्स के जन्म के हज़ारों वर्ष पहले भी क्रियाशील थे।

१६—वर्गसों का दर्शन और उसकी पृष्ठभूमि—कान्ट और हेगेल आदि बुर्जुआ दार्शनिकों के बाद मार्क्स का आना हमने दिखाया है, इससे यह न समझा जाय कि हमारा यह मतलब है कि हेगेल के बाद से पूँजीवादी दर्शन का ताँता समाप्त हो गया। नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं। तथ्य तो यह है कि आज तक पूँजीवादी दर्शन एक पर एक निकलते चले जा रहे हैं। यह सम्भव नहीं है, न हमसे यह आशा की जाती है कि हम इन सब दर्शनों को गिना जायें। हम तो कुछ मोटे मोटे तथ्य देंगे। वर्गसों ने यह कहा कि हमारे जीवन का उत्सस्थल elan vital है। आत्मा न कहकर इस दूसरे शब्द का प्रयोग किया गया। इससे कुछ आया गया नहीं, क्योंकि उसकी अन्तर्गत वस्तु वही रही। वर्गसों का कहना है कि हम वास्तविकता की सच्ची प्रकृति को अन्तर्दृष्टि से जान सकते हैं। वर्गसों के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे बुद्धि के मुक़ाबिले में हमारी प्रकृति की सहजातवाली दिशा को अधिक महत्त्व देते हुए यह कहते हैं कि यह वह वस्तु है जिसके द्वारा हम विश्व को बुद्धि से अधिक सही तौर पर समझ सकते हैं। इस प्रकार बुद्धि के बजाय अन्तर्दृष्टि तथा सहजातवाली दिशा पर जो अधिक महत्त्व दिया गया है, तथा उसे अधिक विश्वास्य बताया गया है, उसका आशय स्पष्ट है। अब पूँजीवाद क्षीणता की ओर जा रहा है। इसलिए स्वाभाविक है कि उसे अब बुद्धि पर भरोसा नहीं है। उसके पैर के नीचे से ज़मीन खिसकती जा रही है, अर्थ-संकट के बाद अर्थ-संकट हो रहे हैं, और परवर्ती प्रत्येक अर्थ-संकट पूर्ववर्ती से घोरतर होता जा रहा है। वह बहुत हाथ-पैर मार रहा है कि इसे रोके, किन्तु प्रकृति के अलंघनीय नियम की तरह वह ह्रास के पहियों के खिंचाव में आता चला जा रहा है, फिर उसे अपनी बुद्धि पर कैसे भरोसा हो। वर्गसों का दर्शन भाववाद का ही एक रूप है। यह दर्शन सर्वहारा विरोधी है, इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि कोई भी दर्शन जो बुद्धि तथा प्रयोग पर विश्वास नहीं करता, जो यह नहीं समझता कि इनके द्वारा मनुष्य बराबर अपनी परिस्थितियों तथा अन्य कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता जा रहा है, वह दर्शन सर्वहारा के काम का नहीं हो सकता।

१७—एकाधिकारमूलक पूँजीवाद का दर्शन प्रेगमेटिकवाद—बर्ट्रेन्ड रसेल, अध्यापक जी मोर, अध्यापक सी० डी० ब्राड, अध्यापक एक्लेज़ेंडर यद्यपि नाम के लिए तो वस्तुवादी हैं, किन्तु एक तो वे विश्व को जिस प्रकार देखते हैं, उसमें एक दूसरे में प्रभेद है, और दूसरा साधारण व्यक्ति जिस तरह से विश्व को देखता है उनकी तसवीरें हू-बहू उससे नहीं मिलतीं। इसलिए इन दर्शनों के सम्बन्ध में यह मानते हुए भी कि ये दर्शन बहुत कुछ भौतिकवाद की ओर झुके हुए हैं—और इससे यह सूचित होता है कि शासकवर्ग के बुद्धिवादियों में भी दो हिस्से हो चुके हैं, जैसा होना शासकवर्ग की ह्रासशीलता का एक प्रमाण है, फिर भी इन्हें भौतिकवादी दर्शन नहीं माना जा सकता। वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट करते हैं, वह भौतिकवाद से भिन्न है।[१]

एकाधिकारमूलक (monopolystie) पूँजीवाद के युग का सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन प्रेगमेटिकवाद है। यह एक ऐसी विचारधारा है जिसमें जाकर एकाधिकारमूलक पूँजीवाद की क़लई बिलकुल खुल जाती है। इसमें सत्य की चिरन्तन धारण को ताक पर रखकर यह कहा गया है कि सत्य वही है जिससे काम निकलता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य वही है जिससे पूँजीवाद का काम बनता हो। प्रेगमेटिकवाद के प्रवर्तक विलियम जेम्स कहते हैं 'मेरे लिए तो सत्य वही है जो व्यावहारिक रूप से उपयोगी है। सत्य वास्तविकता में या चिन्तन में प्रतिफलित नहीं होता, बल्कि सत्य वही है जो व्यक्ति-विशेष की ज़रूरतों तथा भावनाओं के हक़ में हो।' कहना न होगा कि ज्ञान तथा सत्य के सम्बन्ध में इस धारणा में पूँजीवाद अपने नग्नरूप में सामने आ जाता है। 'ब्रिटिश प्रेगमेटिकवादी शिलर सत्य की कई परिभाषाएँ करते हैं। सत्य आवश्यकता के रूप में, किसी वस्तु के साथ एकाकार होने के रूप में, स्वयं सिद्ध के रूप में और प्रामाणिक रूप में हो सकता है। शिलर के दृष्टिकोण से सत्य के ये दृष्टिकोण केवल द्रष्टा की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। सत्य की सृष्टि मनुष्य स्वयं करता है, इत्यादि इत्यादि।'[२] स्पष्टरूप से यह दर्शनशास्त्र ह्रासशील साम्राज्यवाद का दर्शनशास्त्र है, अब इसको किन्हीं आदर्शों

---

१ G. R. W. २. D. M. S. H. 85

में विश्वास नहीं रह गया। अब इसके सामने केवल एक प्रश्न है—वह यह है कि जैसे तैसे अपने अस्तित्व को क़ायम रक्खो।

१८—प्रेगमेटिकवाद पर लेनिन—लेनिन ने इस दर्शन के विषय में लिखा है 'इस दर्शनशास्त्र के विषय में दार्शनिक पत्रिकाएँ न मालूम क्या क्या कहती हैं। प्रेगमेटिकवाद अलौकिक दर्शनशास्त्र, भौतिकवाद तथा भाववाद सभी का मज़ाक उड़ाता है, अभिज्ञता और केवल अभिज्ञता को सराहता है, व्यवहार को एकमात्र कसौटी के रूप में मानता है, धनात्मक परिवर्तन को आमरूप से मानता है, कहता है कि विज्ञान वास्तविकता की निरवच्छिन्न नक़ल नहीं है, और इन सब बातों के कहने के बाद भी बड़े मज़े में है; एक ईश्वर को निकाल लेता है, जो मनुष्य के व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए काम में आता है। यह दर्शन केवल व्यवहार के लिए है। इसमें न तो कोई दार्शनिकता है, न कोई वास्तविकता है और साथ ही अभिज्ञता की हद के बाहर है।' इस दर्शनशास्त्र में जिस अभिज्ञता को सराहा गया है, तथा जिस व्यवहार को एकमात्र कसौटी बताया गया है, वह अभिज्ञता तथा व्यवहार एक ह्रासशील शोषकवर्ग की अभिज्ञता और व्यवहार है।

१९—इन्स्ट्रूमेन्टलिज्म—इसी प्रकार (Instrumentalism) नाम से एक दर्शनशास्त्र प्रचलित है। यदि कहा जाय तो यह जान डेवे के मार्के का प्रेगमेटिकवाद मात्र है। इसमें कहा जाता है कि सत्य एक औज़ार है, न कि भौतिक प्रक्रिया का प्रतिफलन। इस प्रकार सत्य का सिद्धान्त एक औज़ार का सिद्धान्त हो जाता है। यह औज़ार किस वर्ग का औज़ार है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं।

२०—पालएर्नेस्ट और केसरलिंग का दर्शन-पूँजीवादी ह्रास का द्योतक—१९१४-१८ की लड़ाई से पूँजीवाद का बिलकुल पर्दाफ़ाश हो गया, और इसके सम्बन्ध में जो भ्रम उत्पन्न किये गये थे, वे बुर्जुआ दार्शनिकों के सबसे अनुभूतिशील दार्शनिकों के सामने इस रूप में आये कि वे उसे अस्वीकार न कर सके। स्वाभाविक रूप से जर्मनी के दार्शनिकों में यह भ्रान्तिभंग विशेष स्पष्ट हो गया। कारण यह था कि लड़ाई में जर्मनी की हार हुई थी, और उसके लिए तो

सभ्यता (पूँजीवादीगण सभ्यता से अपनी सभ्यता का ही अर्थ लेते हैं) का सब्ज़ बाग़ उजड़ चुका था। युद्ध समाप्ति के बाद पालएर्नेस्ट, हरवान कैसरलिंग तथा आस्वाल्ड स्पेनालेर की पुस्तकों में यह धारा बिलकुल स्पष्ट हो गई। पालएर्नेस्ट ने यह कहा कि पूँजीवादी संगठन के कारण लड़ाई इसलिए हुई कि इस संगठन ने मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्यातन किया। उन्होंने कहा कि वस्तुस्थिति में तभी परिवर्तन हो सकता है जब मनुष्य जाति को सोच-समझकर ईश्वर ने उस पर जो महान् कार्य सौंपा है, उसे अन्जाम दे यानी अपने लिए तथा अपने कार्यों के लिए एक लक्ष्य स्थापित करे। एर्नेस्ट की यह कितनी बड़ी स्वीकृति है, और इससे पूँजीवादी सभ्यता का कितना विराट दिवालियापन ज़ाहिर होता है कि सैकड़ों वर्षों से यह पद्धति जारी है, और अब यह मालूम पड़ रहा है कि उसके सामने कोई लक्ष्य नहीं है। जहाँ तक समस्या को समझने की बात है, एर्नेस्ट ठीक ठीक समझते हैं कि यह पद्धति लक्ष्यहीन है, किन्तु जब इस समस्या का सामना करने का प्रश्न उठता है तब वे गड़बड़ा जाते हैं, किन्तु असली ग़लती जहाँ है यानी मुनाफ़ा से परिचालित होकर चलना (पूँजीवादीवर्ग का यही लक्ष्य है), उस पर एर्नेस्ट दृष्टि दौड़ाने का साहस नहीं करते। तदनुसार वे रहस्यवाद में भटककर यह कहते हैं कि चीनी किसानों से शिक्षा लेनी चाहिए क्योंकि ये लोग थोड़े में संतुष्ट रहते हैं। वे भारतीय फ़क़ीरों पर लोलुप दृष्टि दौड़ाकर यह कहते हैं कि इन्हीं के अनुकरण से सभ्यता का संकट दूर होगा। स्पष्ट ही सभ्यता के संकट से यहाँ पूँजीवाद का विशेषकर जर्मन पूँजीवाद का संकट लिया गया है, और चीनी किसान तथा भारतीय फ़क़ीरों का दृष्टान्त देकर जर्मन जनता से कहा गया है कि वे इनका अनुकरण करें; पूँजीवादियों को अधिक से अधिक मुनाफ़ा प्राप्त करने दें, तभी सभ्यता बच सकेगी। सभ्यता की क्या सुन्दर धारणा है! हरवान कैसरलिंग के अनुसार भी इसी प्रकार हिन्दू फ़क़ीर को ही जीवन का आदर्श बनाना चाहिए। इसका मतलब बताने की आवश्यकता नहीं।

२१—स्पेनालेर और पाश्चात्य का पतन—आस्वल्ड स्पेनालेर तो इतने निराश हैं कि वे किसी प्रकार की आशा की रूप-रेखा देखने में असमर्थ हैं। वे समझते हैं कि रोमन साम्राज्य की तरह पाश्चात्य का नाश होनेवाला है। स्पेना-लेर ने १९११ में पाश्चात्य का ह्रास नामक अपनी पुस्तक लिखनी शुरू की

थी। इस पर ट्यूमिनियेफ ने ठीक ही लिखा है कि आगाडीर दुर्घटना के कारण पश्चिम में जो भीषण युद्ध छिड़ते छिड़ते रह गया था, वह उनके दिमाग़ में ताज़ा रहा होगा, तभी उन्होंने इस ग्रन्थ को लिखना शुरू किया होगा, फिर ज्यों ज्यों आगे लिखते गये होंगे त्यों त्यों वे जिस पद्धति में थे, उस पद्धति की दारुण असंगतियाँ उनके सामने आती गई होंगी। स्पेनालेर के मत की आलोचना करते हुए बुखारिन कहते हैं कि प्राचीन युग में निम्नतर श्रेणियाँ केवल ईसाई धर्म का दर्शनशास्त्र 'उत्पन्न कर सकी थीं, किन्तु अब मार्क्सीय दर्शनशास्त्र 'पाश्चात्य' के खण्डहर से कुछ ताक़त ही प्राप्त करेगा।' स्मरण रहे कि यहाँ पाश्चात्य से मतलब पाश्चात्य की पूँजीवादी सभ्यता है। यह ज़रूर ह्रासशील तथा अस्तापमान थी। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य सभ्यता क़रीब क़रीब सोलह आने कुछ मुट्ठी भर लोगों की तथा उन्हीं के लिए है। इस सभ्यता के कारण जनता को सामन्तवाद के युग की तुलना में बहुत फ़ायदा रहा है, उसमें पूर्वतन युगों की तुलना में शिक्षा और संस्कृति का अद्भुत प्रसार हुआ है, किन्तु यह केवल पाश्चात्य अर्थात् गौण परिणाम के रूप में है, न कि प्रधान उपज के रूप में। जो लोग पाश्चात्य सभ्यता को गालियाँ देते हैं उनकी गालियाँ पाश्चात्य की पूँजीवादी सभ्यता पर ही पड़ती है, न कि अखिल पाश्चात्य की। सच तो यह है कि पाश्चात्य के एक बृहत् अंश में समाजवाद की स्थापना के पहले जनगण के लिए ही कोई सभ्यता नहीं थी। पूँजीवादी युग में जनगण को पहले के युगों के बनिस्बत जो अधिक स्वतंत्रता तथा संस्कृति आदि के साधन मिले थे, वे अपने मालिक की थाली से गिरे हुए टुकड़ेमात्र थे।

स्पेनालेर ने पाश्चात्य के ह्रास पर जो आँसू बहाये थे वे असल में पाश्चात्य के विशेषकर जर्मन पूँजीवाद की सम्भावनाओं के ख़तम हो जाने पर ही। समग्र पाश्चात्य की दृष्टि से अर्थात् मूक निर्यातित, शोषित, शासित, मेहनतकश-वर्ग की दृष्टि से स्पेनालेर का यह विलाप अर्थहीन था, क्योंकि जिसने कभी शिखर पर आरोहण नहीं किया, और जो खाई में पड़ा पड़ा कराह रहा है, उसे गिरने का क्या भय था। फिर स्पेनालेर ने यह नहीं देखा कि कथित पाश्चात्य सभ्यता के खण्डहर पर धीरे धीरे एक नई इमारत खड़ी हो रही थी, और सोवियट् रूस इसके मूर्त प्रतीक के रूप में सामने आता जा रहा था। इस प्रकार

सोवियट् रूस में पहली बार वास्तविक पाश्चात्य सभ्यता इसलिए विश्व सभ्यता का उदय हो रहा था। कम से कम इस सभ्यता में पाश्चात्य के जनगण का अश्रुतपूर्व बल्कि अकल्पितपूर्ण सहयोग था।

२२—पाश्चात्य में विवेकानन्द, रवीन्द्र आदि की क़दर का कारण—योरप की पूँजीवादी सभ्यता—स्पेनालेर के शब्दों में पाश्चात्य सभ्यता अपने अन्तिम चरण पर खड़ी रहकर क़रीब इस शताब्दी के प्रारम्भ से लड़खड़ा रही है। विस्फोट तो १९१४ में हुआ, किन्तु इसके बहुत पहले ही इसके आसार ज्ञात हो चुके थे। पूँजीवादी सभ्यता की इस ह्रासशीलता के दृष्टिकोण से देखने पर यह बात समझ में आती है कि इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत के विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्रनाथ, अरविन्द और उनके टीकाकार तथा भाष्यकार के रूप में आल्काट, ऐनीबेसेंट, राधाकृष्णन्, भगवानदास आदि का पाश्चात्य जगत् में क्यों सम्मान हुआ। जिन कारणों से एर्नेस्ट तथा कैसरलिंग ने चीनी किसानों और भारतीय फ़क़ीरों के अनुकरण का नारा दिया था, उन्हीं कारणों से इन भारतीय प्रतिपादकों का पाश्चात्य बुद्धिजीवियों में सम्मान हुआ। तभी तो पालब्रांटन आदि की लिखी हुई मूर्खतापूर्ण पुस्तकों की (जिसमें शायद झूठ का एक बहुत बड़ा अंश है) माँग हुई, और है। तभी योग के सम्बन्ध में योरोपीय बुद्धिजीवियों में बहुत दिलचस्पी है। भारतीयगण जो कैसरलिंग या अन्य किसी पूँजीवादी दार्शनिक के मुँह से हिन्दू फ़क़ीरों की प्रशंसा सुनकर ख़ुश होते हैं, और फूले नहीं समाते कि आख़िर उनके प्रभुओं के देशों में इन लोगों की क़दर हो रही है, उसमें ख़ुश होने की कोई बात नहीं है। इन प्रशंसाओं का अर्थ इतना ही है कि योरप ह्रासशील है, इसलिए उसकी दृष्टि काशी, गया, निनबे और गाजा पर पड़ रही है, जहाँ से उसकी सब समस्याओं का समाधान होगा, वह काशी नहीं बल्कि ऐसा देश है जिसमें जनगण को सचमुच राज्यशक्ति मिली हुई है।

२३—विविध ह्रासशीलता सूचक मतवाद—हम देख चुके कि किस प्रकार पूँजीवाद के अभ्युदय के युग में बुर्जुआ लेखकों तथा दार्शनिकों को सब हरा ही हरा सूझता था, तथा उसके ह्रास के युग में किस प्रकार उन्हें क़यामत ही क़यामत सूझ रही है। केवल जर्मनी में ही नहीं यह ह्रासवाद तथा निराशावाद आज सभी पूँजीवादी लेखकों की विशेषता हो चुका है। अब तो अध्यापक बरी ऐसे विद्वान्

का यह कहना है कि प्रगति का जो विचार है, यह एक अभिनव विचार है, प्राचीन या मध्ययुग में इतिहास के जो लेखक हो गये हैं, वे इस विचार से सर्वथा अपरिचित थे। गार्डेन चाइल्ड ने दिखलाया है कि इस समय लोग प्राचीन ग्रीकों और रोमनों की तरह पीछे मुड़कर आदिम सरलता के स्वर्ण युग की ओर हसरतभरी निगाह दौड़ा रहे हैं। 'रोमन कैथोलिक पादरियों का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य का पतन निषिद्ध फल चखने के कारण हुआ था, उसे बदलकर यों कर दिया गया है, और इसमें जर्मन इतिहासवेत्ता सम्प्रदाय तथा उनके पुरातात्त्विक और नृतात्त्विक शिक्षकों का सहयोग प्राप्त है कि मनुष्य का पतन ज्ञानवृक्ष के फल चखने के कारण हुआ है। इसी प्रकार का एक दृष्टिकोण अँगरेज़ (diffusionists) में दृष्टिगोचर हो रहा है।'[1] फ़ासिस्टवादी दार्शनिक जेनटाइल आदि तो इस बात को खुल्लमखुल्ला कहते थे कि प्रगति एक ग़लत दृष्टिकोण है। ठीक ही है। प्रगति एक ग़लत दृष्टिकोण है, किन्तु वह मनुष्य जाति की प्रगति नहीं, बल्कि पूँजीवादीवर्ग की प्रगति है।

हम कदाचित् कुछ अधिक कह गये, किन्तु हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि सभी दर्शनों का सम्बन्ध सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों से होता है। स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रकार का एक दर्शन है। वह आगामी युग की सूचना देता है, तथा आगामी युग के साथ जिस वर्ग का सम्बन्ध है, उसी से उसका सम्बन्ध है। यह दर्शन केवल सर्वहारा वर्ग के हाथों में एक तगड़ा हथियार ही नहीं देता, बल्कि वह सब शोषितों के हाथों में एक तगड़ा हथियार है क्योंकि सर्वहारावर्ग की ऐसी अजीब परिस्थिति है कि वह सब वर्गों की मुक्ति किये बग़ैर अपनी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। हम इस पर आगे और विचार करेंगे।

२४—न्यूट्रल मानिज़्म—ऊपर हमने जिन बुर्जुआ दर्शनों को गिनाया है उनके अतिरिक्त हम केवल एक और बुर्जुआ दार्शनिक बर्ट्रेन्डरसेल के neutral monism का ज़िक्र करेंगे, क्योंकि यह भी अपने युग के बुर्जुआ समाज का अच्छा प्रतिफलन है। इस मतवाद के अनुसार चित् और वस्तु (mind and

१. M. M. H. p. 1-2

matter) एक ऐसे आदिमतर द्रव्य से उद्भूत हैं जो न तो वास्तविक है न मानसिक है। यह निरा रहस्यवाद है, और ज्ञान की आड़ में अज्ञान को छिपाने की चेष्टामात्र है। जैसा कि रसेल ने स्वयं लिखा है, माख के 'इन्द्रियानुभूति के विश्लेषण में इसका बीज निहित है। विलियम जेम्स के Essays in radical empiricism में इसको विकसित किया गया है, तथा जान डेवे, बी० मेरी तथा अन्य अमेरिकन लेखकों ने इसका प्रतिपादन किया है। ह्रासशील बुर्जुआ जगत् की सारी प्रतिभा का खिचाव रहस्यवाद की ओर है। हमने यह देख लिया कि यह रहस्यवाद बुर्जुआ पद्धति की ह्रासशीलता से उद्भूत है। हम यहाँ पर ब्यौरे में नहीं जायँगे, किन्तु छायावाद इसी रहस्यवाद का एक रूप है, फिर भी जो लोग छायावाद को साहित्य, कला या कविता में प्रगतिशीलता का द्योतक समझते हैं, उनकी बुद्धि पर तरस आता है। रहस्यवाद और छायावाद ह्रासशीलता का ही द्योतक है।

२५—फासिवाद और रहस्यवाद——ह्रासशील पूँजीवाद ने हमेशा रहस्यवाद की सहायता लेकर काम चलाना चाहा है, यह बात नहीं। कम से कम फासिवादी दार्शनिकगण तो चीज़ों के साफ़ साफ़ रख देने के पक्षपाती हैं, अर्थात् वे प्रगति के अभाव को न छिपाकर यह दावा करते हैं कि फिर भी पूँजीवाद रह सकता है। इस प्रकार रहस्यवाद की तरह किसी बात को ज़बर्दस्ती कहकर कदाचित् ज़बर्दस्ती विश्वास कराने का भी एक तरीक़ा है। ऐसे मतवाद में और रहस्यवाद में वही फ़र्क़ है जो पूँजीवादी लोकतंत्र और फ़ासिवादी अधिनायकत्व में है। एक में शासन की बात को छिपाने की चेष्टा है, दूसरे में नग्नरूप में कहा जाता है कि हम शासन कर रहे हैं, हम इसी के योग्य हैं, तुम उसी के योग्य हो।

२६—पूँजीवाद के ह्रास के विभिन्न विचारों से फासिवादी दर्शन निर्मित—पूँजीवाद में उत्पादन की अग्रगति इस कारण रुक गई है कि इसमें उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के सम्बन्धों में अमिट असंगति उत्पन्न हो चुकी है। इस उलझन से बचने के लिए फासिवादी लेखकों ने यह नहीं कहा कि, नहीं, बात ऐसी नहीं है, पूँजीवाद अब भी प्रगतिशील है, बल्कि उन्होंने एक नये दर्शनशास्त्र को जन्म दिया जिसमें यह कहा गया कि गतिशीलता की कोई आवश्यकता

नहीं। स्थितिशील (Static) होकर भी पूँजीवाद जी सकता है। वाल्टर आयंकन का कहना है कि पूँजीवाद बिलकुल स्थितिशील हो जाय, उसे लकवा भी मार दे, उद्योग-धन्धों पर एक नौकरशाही का नियंत्रण हो, सब आविष्कार तथा उन्नति क़रीब-क़रीब रुक जाय, फिर भी पूँजीवाद जी सकता है। वे लिखते हैं 'मार्क्स के समय से एक धारणा की उत्पत्ति हुई कि विस्तारोन्मुख गतिशीलता (ever-widening dynamic) ही पूँजीवाद का प्राण (vital law) है। इस गतिशीलता या विकास का अन्त हुआ कि पूँजीवाद का अन्त हुआ। बात यह है कि मार्क्स १९वीं सदी के मध्यभाग में थे जिस समय पूँजीवाद की दिन दूनी रात चौगुनी तरक़्क़ी हो रही थी, इसीलिए उक्त प्रवाद की उत्पत्ति हुई। इसके बाद में रहनेवालों के लिए मार्क्स की सिद्धान्त की भूल को समझना कठिन न होगा।' आइकन के इस दार्शनिक सिद्धान्त को जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया गया है, और सभी क्षेत्रों में विकास को अनावश्यक क़रार दिया गया है। फासिवादीगण नित्से और स्पेनालेर को अपने दार्शनिक नेता मानते हैं। स्पेनालेर का मत तो हम पहले ही बता चुके, किन्तु उनके विचारों को फासिवादियों ने अब दूसरा ही रूप दिया है। उनके दर्शन से यह जो ध्वनि निकलती है कि अब हम (ऊपर से कहने का पाश्चात्य और भीतर से असल में पूँजीवादीवर्ग) आगे नहीं जा सकते, उसका यह अर्थ लगाया गया कि आगे जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं। नित्से ने 'अतिमानव सिद्धान्त (Superman theory) का प्रचार किया था। फासिवादियों ने उसको किस प्रकार अपनाया यह अभी बहुत ताज़े इतिहास की बात है। नवकान्टवाद (मैक्स, एडलर इत्यादि) फासिवाद का दर्शनशास्त्र इसलिए बन सका है कि कान्ट के दर्शनशास्त्र में ही पूँजीवाद के लिए अनुकूल ऐसे उपादान मौजूद थे जिनको आसानी से फासिवाद का रूप देना सम्भव था, क्योंकि यदि हमारे दृश्यमान जगत् को अतिमानव की अतिबुद्धि के अधीन क़रार दिया गया तो फिर क्या कसर रही, यह तो फासिवाद हो ही गया।

२७—विद्रोह के विरुद्ध विभिन्न दर्शन और भौतिकवाद—इस प्रकार ज़रा भी गहराई से देखने पर प्रत्येक दर्शन का जीवन के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार शासक तथा शोषक वर्ग के दर्शनशास्त्र शासितों और

शोषितों के लिए विषरूप है, उसी प्रकार हर युग में शासितों और शोषितों के भी—विशेषकर इस युग में जब वे शासकों के शब्दजाल से मुक्त होने लगे—अपने निजी दर्शनशास्त्र होते हैं। एक तरफ़ जनता की विद्रोह-भावना को दबानेवाले दर्शनशास्त्र हैं, दूसरी तरफ़ उनको उठानेवाले तथा उनके संग्राम में हथियार के रूप में साबित होनेवाले दर्शनशास्त्र भी हैं। एकमात्र द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही जगत् के मज़दूर वर्ग का दर्शनशास्त्र हो सकता है, बाक़ी सभी दर्शनशास्त्र किसी न किसी तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीवादीवर्ग को बल पहुँचाते हैं। शोषक वर्ग को बल पहुँचाने का यह कार्य कई तरह से हो सकता है। उदाहरणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादीवर्ग सर्वहारा का तथा ज़मींदारवर्ग किसानों का ट्रस्टी है। यह कहा जा सकता है कि कुछ लोगों का धनी होना और कुछ लोगों का ग़रीब होना स्वाभाविक है, जैसा स्पेन्सर ने योग्यतम के बच रहनेवाले (survival of the fittest) जीव विज्ञान के सिद्धान्त को समाज पर लागू करते हुए कहा था कि जैसे जंगल में दो तरह के जानवर होते हैं, एक शेर और एक बकरी, उसी प्रकार मनुष्यों में दो तरह के लोग स्वाभाविक होंगे, यह भी कहा जा सकता है। सचमुच नित्से ने ऐसा ही कहा था, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर यह कहा था कि मनुष्यों में शेर क़िस्म के लोगों की बढ़ती से मनुष्य जाति का कल्याण होगा। यह कहा जा सकता है कि सुख बुरा है, क्योंकि सुखी होने पर भी दुःख का भय बना रहता है, इसलिए सुख-दुःख के परे हो जाना ही अच्छा है। यह कहा जा सकता है कि इहलोक में सुख भोगने में कुछ रक्खा नहीं है, परलोक अगर बन रहा तो सब कुछ है, जीत उसी की है जिसका परलोक बना हुआ है। भौतिकवादी दर्शन ऐसी सब धारणाओं के विरुद्ध यह कहता है कि इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है, कि हम ख़्वामख़्वाह निराशा के गर्त में पड़े रहें, वर्तमान समाजपद्धति चिरस्थायी नहीं है, आगे मानवता के लिए और मज़दूर के लिए स्वर्णयुग है। अवश्य इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि यह स्वर्णयुग एक शुभ घड़ी में टपक नहीं पड़ेगा, बल्कि मज़दूर को अपने संग्रामों से इसका निर्माण करना पड़ेगा।

२८—**स्टालिन द्वारा भौतिकवाद का सरल प्रतिपादन**—'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का नाम इसलिए पड़ा है कि प्रकृति की घटनाओं को निरीक्षण करने का

इसका तरीक़ा, उनको अध्ययन करने तथा उनका पता लगाने का तरीक़ा द्वन्द्वात्मक है, साथ ही प्रकृति की घटनाओं की व्याख्या और इन घटनाओं की धारणा तथा इसका सिद्धान्त भौतिकवादी है।' स्टालिन ने बहुत संक्षेप में भौतिकवादी दर्शन तथा जिस प्रकार उसे इतिहास पर लागू किया जाता है, इसका वर्णन किया है। इस विषय में इतने संक्षेप में सब बातों को कहना सम्भव नहीं है, इसलिए हम स्टालिन की ही रचना से यह उद्धृत करेंगे—

'द्वन्द्वात्मक पद्धति अलौकिक दर्शनशास्त्र के बिलकुल विपरीत है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक तरीक़े की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

(क) अलौकिक दर्शनशास्त्र के मतवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति को वस्तुओं तथा घटनाओं का एक आकस्मिक ऐसा समूह-मात्र नहीं समझता, जो एक दूसरे से असम्बद्ध, पृथक् तथा स्वतन्त्र हैं, बल्कि वह इनको एक ऐसे सम्बद्ध तथा अविच्छेद्य रूप से सम्पूर्ण रूप में देखता है जिसमें वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध, एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे से निर्णीत होती हैं।

(ख) अलौकिक दर्शनशास्त्र के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह कहना है कि प्रकृति विराम, स्थिरता, आबद्धता तथा अपरिवर्तनीयता की एक अवस्था नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें निरन्तर गति, परिवर्तन, नवीकरण तथा विकास जारी है, जिसमें हर समय कुछ न कुछ उठ रहा है, विकसित हो रहा है, और कुछ न कुछ हमेशा बिखर रहा है, मर रहा है।

(ग) अलौकिक दर्शन के मतवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विकास की प्रक्रिया को वृद्धि की एक ऐसी सरल प्रक्रिया नहीं मानता जिसमें परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन नहीं होते, बल्कि एक ऐसे विकास के रूप में मानता है जिसमें तुच्छ तथा अदृश्य परिमाणगत परिवर्तन से होते हुए खुले मौलिक परिवर्तन, गुणगत परिवर्तन होते हैं। यह एक ऐसा विकास है जिसमें गुणगत परिवर्तन धीरे धीरे नहीं होते, बल्कि तेज़ी से और एकाएक एक अवस्था से दूसरी अवस्था में छलाँग लेने के रूप में होते हैं। ये परिवर्तन

आकस्मिक रूप से नहीं होते, बल्कि अदृश्य तथा क्रमिक परिमाण-गत परिवर्तनों के संग्रह के स्वाभाविक परिणाम के रूप में होते हैं।

(घ) अलौकिक दर्शनशास्त्र के मतवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समझता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु तथा घटना में आन्तरिक असंगतियाँ अन्तर्निहित हैं, क्योंकि उनमें से सभी का एक धनात्मक तथा एक ऋणात्मक पहलू, एक भूतकाल और एक भविष्यकाल, कुछ म्रियमाण तथा कुछ विकसमान होता है। साथ ही विपरीतों के बीच संघर्ष, प्राचीन और नवीन के बीच संग्राम, जो मर रहा है और जो पैदा हो रहा है उनमें टक्कर; जो अन्तर्हित हो रहा है, और जो विकसित हो रहा है उसमें होनेवाला संघर्ष ही विकास की प्रक्रिया तथा परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन में तब्दीली का आन्तरिक स्वरूप है।

इन्हीं चार नियमों को जब समाजशास्त्र या सामाजिक जीवन के अध्ययन पर तथा समाज के इतिहास पर लागू किया जाता है, तो उनका जो रूप होता है, उसके विषय में पहले ही बताया जा चुका है, फिर भी संक्षेप में उनका वर्णन यहाँ किया जायगा—

(क) यदि विश्व में कोई पृथक् घटना नहीं है, यदि सभी घटनाएँ पारस्परिक सम्बन्धयुक्त हैं तथा एक दूसरी पर निर्भर हैं, तो यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सामाजिक पद्धति तथा इतिहास में होनेवाले प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन का मूल्य चिरस्थायी न्याय या दूसरे किसी पहले से सोचे हुए विचार के दृष्टिकोण से (जैसा अकसर इतिहास-लेखक करते हैं) नहीं कूतना चाहिए, बल्कि उन अवस्थाओं के दृष्टिकोण से उनको देखना चाहिए जिनसे उस पद्धति या उस सामाजिक आन्दोलन का उद्‌भव हुआ था जिनसे वे संयुक्त हैं। वर्तमान अवस्था में दासता की प्रथा अर्थहीन होगी, किन्तु बिखरती हुई आदिम साम्यवादी पद्धति की अवस्था में इस प्रथा की उत्पत्ति समझ में आ सकती है। उस समय वह स्वाभाविक ज्ञात होती है; केवल यही नहीं, उस समय दासता की पद्धति आदिम साम्यवादी

पद्धति की उन्नति समझी जाती है। १९०५ के रूस में पूँजीवादी लोकतन्त्र की माँग समझ में आ सकती थी। उस समय यह माँग सही और क्रान्तिकारी थी, किन्तु सोवियट रूस में ऐसी माँग रखना पीछे की ओर हटना होगा। प्रत्येक बात अवस्थाओं, देश तथा काल पर निर्भर रहती है।

(ख) यदि विश्व धारावाहिक अवस्था की गति में है, तो न तो कोई अपरिवर्तनीय समाज पद्धति हो सकती है, न वैयक्तिक सम्पत्ति और न शोषण के चिरस्थायी सिद्धान्त हो सकते हैं, न ज़मींदारों के अधीन किसान तथा पूँजीपतियों के अधीन सर्वहारा के रहने का कोई चिरस्थायी विचार ही मान्य हो सकता है।

(ग) यदि विकास का यह एक नियम है कि मन्थर परिमाणगत परिवर्तन से द्रुत और आकस्मिक गुणगत परिवर्तन होते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उत्पीड़ित वर्गों द्वारा की गई क्रान्तियाँ बिलकुल स्वाभाविक तथा अनिवार्य घटनाएँ हैं। इसलिए गुमराही से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को क्रान्तिकारी होना चाहिए न कि सुधारवादी।

(घ) यदि विपरीतों के संघर्ष की प्रक्रिया के रूप में विकास चलता है, तो वर्गसंघर्ष को तीव्र करना चाहिए।

इन्हीं चार नियमों को जब दर्शन के क्षेत्र में लागू किया जाता है, तो उनका रूप यों होता है—

(क) भाववाद समझता है कि यह विश्व Absolute Idea या Universal Idea अर्थात् निरवच्छिन्न भाव अथवा सार्वदेशिक भाव का मूर्तरूप है। इसके विपरीत मार्क्स प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह कहना है कि यह विश्व अपनी प्रकृति से ही भौतिक है, विश्व की विभिन्न घटनाएँ केवल गतिशील भूत के विभिन्न रूप हैं। द्वन्द्वात्मक न्याय से प्रमाणित घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध तथा पारस्परिक निर्भरता गतिशील भूत के विकास का एक नियम है, और गतिशील भूत तथा विश्व भूत की

गति के नियमानुसार विकसित होता है, और उसे Universal soul या सार्वदेशिक आत्मा की कोई आवश्यकता नहीं है।

(ख) भाववाद यह समझता है कि हमारा मन ही वास्तविक रूप से वर्तमान है, तथा यह भौतिक विश्व, अस्तित्व, प्रकृति के बल हमारे ही मन, इन्द्रियानुभवों, विचारों तथा धारणाओं में मौजूद है। इसके विपरीत मार्क्सवादी भौतिकवादी दर्शन का यह कहना है कि भूत-प्रकृति तथा अस्तित्व एक ऐसी दृश्यगत वास्तविकता है जो हमारे मन के बाहर उससे स्वतन्त्र रूप से वर्तमान हैं। भूत ही प्राथमिक है, क्योंकि यही तमाम इन्द्रियानुभवों, भावों तथा मन का उत्स है, और मन गौण तथा उससे उत्पन्न है क्योंकि यह भूत तथा अस्तित्व का प्रतिफलन है। विचार या भाव भूत का ऐसा रूप है जो विकास के दौरान में अनुभूति की एक उच्च कोटि यानी मस्तिष्क के रूप में पहुँच चुका है। मस्तिष्क ही विचार का साधन है। इसलिए यह निःसंशय कहा जा सकता है कि विचार को भूत से अलग नहीं किया जा सकता।

(ग) भाववाद विश्व तथा उसके नियमों के सम्बन्ध में ज्ञान की सम्भावना को अस्वीकार करता है। वह हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं करता। वह दृश्यगत सत्य को नहीं मानता। वह कहता है कि यह विश्व ऐसी अन्तिम सत्ता—Things in themselves—से पूर्ण है जिसे विज्ञान कभी नहीं जान सकता। इसके विपरीत मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद यह कहता है कि यह विश्व तथा इसके नियम सम्पूर्ण रूप से ज्ञातव्य हैं। 'प्रकृति के नियमों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान, जिसकी परीक्षा व्यवहार तथा प्रयोगों से हो चुकी है, प्रामाणिक ज्ञान है। इस ज्ञान को दृश्यगत सत्य के रूप में सही कहा जा सकता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो जानी न जा सके। हाँ, ऐसी वस्तुएँ हैं जो अभी तक जानी नहीं गई हैं, तथा विज्ञान और प्रयोगों से जानी जायँगी और उनके रहस्य उद्घाटित होंगे।'

२९—**मार्क्सीय दर्शन में व्यवहार पर ज़ोर**—मार्क्सवादी दर्शन में बार-बार व्यवहार पर क्यों ज़ोर दिया गया है, यह स्टालिन के उद्धृत प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया होगा। मार्क्स के दर्शन में हवा में उड़ने के लिए कोई स्थान नहीं है। फ़ायरवाख पर द्वितीय सूत्र में मार्क्स कहते हैं कि व्यवहार के दायरे के बाहर यह पूछना कि दृश्यगत सत्य मानवीय बुद्धि के साथ संगत है या नहीं, स्कालस्टिकवाद (मध्ययुग में ईसाई पादरियों द्वारा विज्ञान और धर्म में समन्वय करने की धार्मिक चेष्टा के फलस्वरूप जिस मतवाद का उदय हुआ था—ले०) है। एंगेल्स ने मानो इसी की पुनरावृत्ति करते हुए कहा है कि काण्ट के दर्शन, ह्यूम अज्ञेयवाद तथा अन्य दार्शनिक उड़ानों का सबसे अच्छा निराकरण व्यवहार है।[१] इसका अर्थ यह है कि जो लोग दर्शन में भाववादी अथवा अज्ञेयवादी होने का दावा करते हैं, वे भी व्यावहारिक जगत् में रोटी को रोटी और पत्थर को पत्थर समझते हैं और वैसा व्यवहार करते हैं। उनके मतवाद से उनके व्यवहार में कोई फ़र्क़ नहीं आता। भाववादी भाव से पेट नहीं भरता, न अज्ञेयवादी, ऐसा शक ही करता है कि रोटी रोटी ही है या नहीं।

स्वयं लेनिन ने यह कहा है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त कोई कठमुल्ला सिद्धान्त नहीं है तथा जब यह सिद्धान्त जनता और वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ संस्पर्श प्राप्त कर व्यावहारिक जगत् में अपनी सत्यता प्रतिपन्न करता है तभी यह कहा जा सकता है कि अमुक सिद्धान्त सही है।[२] लेनिन ने और भी कहा है कि सिद्धान्त को उन सब प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए जो व्यवहार से पैदा होते हैं। स्टालिन का इस पर यह कहना है कि सिद्धान्त का समर्थन व्यावहारिकता से होना चाहिए।

३०—**दर्शन और व्यवहार की एकरूपता**—एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त या दर्शन का होना केवल ज़रूरी ही नहीं, अपरिहार्य है। लेनिन ने तो स्पष्ट ही कर दिया है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बग़ैर कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन हो ही नहीं सकता। हम इस विषय पर मार्क्सवाद के सर्वमान्य प्रतिपादकों का मत

---

1 M. E. L.; 2L. C.

दे चुके हैं। अब हम केवल स्टालिन के एक और कथन को उद्धृत कर इस विषय को समाप्त करेंगे। वे कहते हैं कि जो सिद्धान्त (या हमारे क्षेत्र में दर्शन) क्रान्तिकारी व्यवहार से सम्पर्कहीन हैं वे एक ऐसी पनचक्की की तरह हैं जो बिना अनाज के चल रही है। 'व्यवहार क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बग़ैर अँधेरे में टटोलता रहता है, क्योंकि यही उसके मार्ग को आलोकित करता है। सिद्धान्त तभी महत्तम शक्ति बन जाता है जब वह क्रान्तिकारी व्यवहार से संयुक्त हो जाता है।'[१] स्पष्ट है कि इस प्रकार हमारा दर्शन क्रान्तिकारी व्यवहार से प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध होगा। व्यवहार के बग़ैर हम किसी दर्शनशास्त्र की कल्पना नहीं कर सकते। हमारे लिए दर्शन घटत्वावच्छिन्न, पटत्वावच्छिन्न, तैलाधार पात्र या पात्राधार तैल अथवा केवल बाल की खाल निकालने के लिए नहीं है, बल्कि एक व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए है। 'सही सिद्धान्त व्यवहार की आँख है, और व्यवहार इसके बग़ैर अन्धा है। जैसे एक डाक्टर के लिए शरीर विज्ञान के सर्वांगपूर्ण ज्ञान के साथ साथ व्यावहारिक तजर्बे का होना आवश्यक है, वैसे ही एक राजनीतिज्ञ या क्रान्तिकारी को सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक गठन के सम्बन्ध में पूरी पूरी जानकारी होनी चाहिए, तभी वह अपने काम को ठीक ठीक कर सकेगा। सच तो यह है कि व्यवहार और दर्शन दो चीज़ें नहीं हैं। वे परस्पर सम्बन्धयुक्त ही नहीं हैं, उनमें केवल एक बन्धन है, ऐसी बात नहीं, बल्कि वे एक और अभिन्न हैं।'[२]

३१—ज्ञान क्यों? मार्क्सवाद अदृष्टवाद के विरुद्ध—मार्क्सवादी दर्शन के साथ व्यवहार की इस प्रकार एकरूपता दर्शाने के बाद यह प्रश्न स्वतः पैदा हो जाता है कि आखिर इस सिद्धान्त को, यानी प्रकृति तथा समाज की गति, नियम इत्यादि, जानने से क्या फ़ायदा है, क्योंकि 'होइ है वही जो राम रचि राखा'—जो कुछ होना है वह होगा ही, फिर उसके जानने या न जानने से क्या आता-जाता है? इसके साथ ही समाज की गति के निर्दिष्ट नियम हैं तथा एक के बाद एक समाज पद्धति कैसे आयेगी, और किस क्रम से आयेगी, यह भी मालूम है। इससे कुछ लोगों को यह भी प्रश्न करने का मौक़ा मिलता है

---

१. L. S. p. 91   २. D. M. S. p. 28

कि क्या इतिहास-सम्बन्धी यह मार्क्सवादी धारणा अदृष्टवादी नहीं है। प्रथम प्रश्न के उत्तर में हमारा वक्तव्य यह है कि प्रकृति तथा समाज की गति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान केवल एक रोगग्रस्त कौतूहल की परितृप्ति के लिए नहीं, बल्कि गति को जानकर उसको इच्छानुरूप नियंत्रित करना ही हमारा उद्देश्य है। द्वितीय प्रश्न के उत्तर में हमारा यह कहना है कि आदिम समाजवादी पद्धति में कोई ऐसी बात अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित नहीं थी, जिससे यह कहा जा सके कि अमुक समाज कई मंज़िलों से गुज़रता हुआ समाजवाद में पहुँचकर ही रहेगा। इतिहास की गवाही तो यह है कि बहुत से समाज अपनी अन्तर्निहित असंगतियों को सुलझाने में असमर्थ होकर बीच ही में लुप्त हो गये हैं। मार्क्सवाद अदृष्ट-वाद का पोषण नहीं करता। कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टों में ही मार्क्स-एंगेल्स ने यह स्पष्ट कर दिया था कि समाज या तो इस ओर जायगा या उसका विनाश होगा। किसी समाज-विशेष के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अन्त तक समाजवाद में पहुँच ही जायगा, केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि वह प्रगति करेगा तो समाजवाद की ओर उसे जाना पड़ेगा, किन्तु यह भी तो हो सकता है कि कोई समाज प्रगति की ओर जाने में असमर्थ रहकर बीच ही में अपनी असंगतियों के कारण विनष्ट हो जाय। कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टों में मार्क्स-एंगेल्स ने यह जो 'या' लगाकर कहा कि या तो ऐसा होगा या वह समाज विनष्ट होगा, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पहले से कोई मार्ग निश्चित नहीं है। यदि उत्पादन शक्तियों के मार्ग में मौजूदा उत्पादन पद्धति बाधक सिद्ध हुई, किन्तु साथ ही परिस्थितियाँ ऐसी न हुईं कि उत्पादन शक्तियों के पैरों को ये बेड़ियाँ टूट जायँ तो उस समाज का ह्रास ही होगा।

बुखारिन ने 'साम्राज्यवाद और विश्व आर्थिक पद्धति' में इस प्रश्न पर रोशनी डालते हुए लिखा है 'मार्क्सवाद हमें यह सिखलाता है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया और इसके फलस्वरूप ऐतिहासिक घटनाओं की शृंखला में प्रत्येक कड़ी आवश्यक है। इस आधार पर इससे अदृष्टवाद का उपसंहार निकालना ऊलजलूल है, क्योंकि साफ़ बात यह है कि ऐतिहासिक घटनाएँ मनुष्यों की इच्छा, तथा यदि हम वर्ग-समाज के विषय में कह रहे हैं तो वर्गयुद्ध के ज़रिये ही घटित हो रही हैं न कि उनके बाहर। वर्गों की इच्छा प्रत्येक क्षेत्र में उस ख़ास परिस्थिति

से निर्णीत होती है। इस मानी में तो वह बिलकुल ही कोई शक्ति नहीं है। जो भी हो, यह इच्छा ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक कारणीभूत तथ्य होती है। यदि हम मनुष्यों की क्रिया तथा वर्गसंघर्ष इत्यादि को निकाल दें तो सारी ऐतिहासिक प्रक्रिया ही ग़ायब हो जाती है।'[१]

जो लोग मार्क्सवादी दर्शन पर अदृष्टवादी होने का आरोप लगाते हैं, उन्हीं की ओर से यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि अच्छा, मान लिया कि समाज की गति और नियम ज्ञेय हैं। किन्तु इससे क्या व्यावहारिक फ़ायदा है? हम इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं, किन्तु चूँकि इस प्रश्न के सदुत्तर पर मार्क्सवाद का भाग्य बहुत कुछ निर्भर है, इसलिए कुछ ब्यौरे के साथ इस पर आलोचना करना उचित होगा। ऐसे लोगों का कहना है कि मार्क्स के पहले जब ये नियम किसी को ज्ञात नहीं थे, जिन युगों में किसी ने सज्ञान रूप से इन नियमों का प्रयोग कर प्रगति के वेग को द्रुतीकृत नहीं किया, इन युगों में भी प्रगति होती रही, फिर इतनी दन्त-कटाकटी की क्या आवश्यकता है। ऐसे लोगों का यह कहना है कि मार्क्स के पहले समाज एक के बाद एक आदिम समाजवाद से गुलामी के युग में, गुलामी से सामन्तवाद में, तथा सामन्तवाद से पूँजीवाद में पहुँचा। फिर इस बात की क्या जरूरत है कि मार्क्सीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया जाय। यह प्रश्न बहुत टेढ़ा अवश्य है, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने में हमें विज्ञान से सहायता मिलती है। किसी वैज्ञानिक आविष्कार के पहले वे वैज्ञानिक नियम, जिनका आविष्कार हुआ, क्रियाशील थे। उदाहरणस्वरूप प्लेक द्वारा क्वान्टम सिद्धान्त के आविष्कार के पहले वह सिद्धान्त प्रकृति में क्रियाशील था। तो क्या इन सिद्धांतों के आविष्कार से कुछ फ़ायदा नहीं हुआ, अर्थात् जो कुछ फ़ायदा हुआ क्या वह केवल इतना ही था कि हमने प्रकृति के एक सुरक्षित रहस्य को जान लिया? इस विषय में हमें, तर्क में जाने की आवश्यकता नहीं। हम जानते हैं कि प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार के साथ व्यावहारिक फ़ायदे हुए, क्योंकि अब आगे से उन नियमों का पालन कर प्रकृति को उतने क्षेत्र में नाक पकड़कर चलाना सम्भव हुआ। यही बात सामाजिक विकास के नियमों के सम्बन्ध में भी लागू

१ I. W. E. p. 131

है। हम ज्यों ज्यों समाज के नियमों को अच्छी तरह समझते जा रहे हैं त्यों त्यों हमारे लिए यह सम्भव होता जा रहा है कि हम एक आदर्श (काल्पनिक नहीं) समाज का गठन करें, और ऐसा सज्ञान तरीके से जल्दी से जल्दी करें। यों तो मनुष्य-समाज में तथा प्रकृति में बराबर विकास हुए हैं, अवश्य कहीं कहीं जैसा कि हम बता चुके कि समाज की गाड़ी विकास की पटरी से उतर गई, और समाज वहीं पर खतम हो गया; किन्तु जिस घड़ी से मनुष्य को अपनी परिस्थितियों तथा वह जिस समाज में रहता है उसके सम्बन्ध में एक पद्धतिगत ज्ञान हुआ है, उसी दिन से उसके लिए यह सम्भव हुआ है कि वह समाज के विकास में सहायक हो। यदि मार्क्सवादी दर्शन के वैज्ञानिक अंश को अर्थात् उस अंश को कोई जान ले जिसमें समाज के विकास के नियम उद्घाटित किये गये हैं, और उस अंश से अपरिचित रहा जाय जो इन नियमों को इस्तेमाल कर समाज के विकास को द्रुतीकृत करने के लिए उद्बुद्ध करता है, तो वह ज्ञान अधूरा होगा। केवल यही नहीं, वह ज्ञान एक अध्यापक का ज्ञान होगा जो केवल वाग्विलास के लिए है, वह कोई क्रान्तिकारी ज्ञान न होगा, और न वह क्रान्ति के उपयोग में आयेगा। जब मार्क्सवाद के इन दोनों पहलुओं से कोई परिचित हो जाय अर्थात् जिसका ज्ञान व्यवहार में रूपान्तरित हो, वही सही अर्थ में मार्क्सवादी दर्शन को समझता है, ऐसा कहा जा सकता है। लेवी ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है 'मनुष्य इस प्रकार से अपने भविष्य के सम्बन्ध में सचेतन योजना का निर्माता बन जायगा, वह इस अर्थ में कि वह अपनी भौतिक तथा ऐतिहासिक आवश्यकताओं को हिसाब में रखकर चलेगा। क्या ज़रूरत है यानी क्या तक़ाज़ा है, इसे बिना जाने मनुष्य स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता, और सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य की ज़रूरत यह है कि समाज का परिवर्तन हो। इस परिवर्तन के तक़ाज़े को पूरा करते हुए ही मनुष्य स्वतंत्र हो सकता है। यदि वह इसका विरोध करता है, तो वह अपने पैरों में बेड़ियाँ डाल लेता है।'[१] इसका अर्थ यह हुआ कि नियम का जानना ही तथा उनको जानकर क्रियाशील होना ही यथेष्ट नहीं है। यदि एक पूँजीपति समाज-शास्त्र को पढ़कर

---

१. P. M. M. p. 224

विकास की विरोधी शक्तियों को संगठित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दे, तो उसे न तो मार्क्सवादी कहा जा सकेगा और न यह कहा जा सकेगा कि वह व्यावहारिक है, क्योंकि वह अव्यापार में व्यापार करता है, और इसका जो नतीजा होना है, वह मालूम ही है। सच्चा मार्क्सवादी वह है जो प्रगति की शक्तियों को जानकर उनको द्रुतीकृत करने में कुछ उठा नहीं रखता।

३२—नियम-ज्ञान से लाभ—१८६८ में २५ जुलाई को 'पूँजी' के प्रथम संस्करण की भूमिका लिखते हुए मार्क्स ने नियम जानकर क्या फ़ायदा हो सकता है, इस सम्बन्ध में रोशनी डाली है। वे लिखते हैं 'जब कोई समाज उन प्राकृतिक नियमों का आविष्कार कर लेता है जिनसे उनकी गति परिचालित होती है, तो वह न तो विकास की स्वाभाविक मञ्ज़िलों को छलाँग मारकर कूद सकता है, और न हुक्मनामे निकालकर उनको हटा ही सकता है, किन्तु इतना तो वह कर ही सकता है कि वह प्रसव-वेदना को घटा सके और उसके समय को कम कर सके।'

३३—फ़ासिवाद ने दर्शन का महत्त्व समझा था—दर्शन तथा जनता का दृष्टिकोण कितने महत्त्व का है, इस बात को—प्रचारकार्य को अति तक पहुँचा देनेवाले, बल्कि एकमात्र उसी पर भरोसा कर समाज की घड़ी की सुई को पीछे की ओर ले जाने की चेष्टा करनेवाले—फ़ासिवादियों ने इस सम्बन्ध में जो कुछ किया है, वह द्रष्टव्य है। हिटलरी जर्मनी में दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियंत्रण रखने के लिए एक विभाग ही था। हिटलर का राजनैतिक गुरु (यदि उसका कोई गुरु हो सकता है) रोजनवर्ग था। यह नात्सीदल के राजनैतिक दफ़्तर के वैदेशिक विभाग का प्रधान तथा सुप्रसिद्ध नात्सीपत्र (Volkische Beobachter) का सम्पादक था। किन्तु इन सबसे कहीं महत्त्वपूर्ण उसका वह ओहदा था जिसके अनुसार वह जर्मन राष्ट्र के दार्शनिक विचारों का नियंत्रक था।

अर्थात् वह राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन की दार्शनिक शिक्षा पर देख-रेख करने के लिए फुरेर (नेता) का परामर्शदाता था। इस प्रकार नात्सियों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि दर्शन या दुनिया को देखने का दृष्टिकोण

बहुत महत्त्वपूर्ण बात है, इसी लिए उसने उसे पूँजीवादी वर्ग के पक्ष में नियंत्रित करने की चेष्टा की थी।

इस प्रकार नात्सियों ने परोक्षरूप से मार्क्सवाद के इस सिद्धांत को कि दर्शन और जीवन अन्योन्याश्रित हैं, बहुत मर्यादा दी थी। कोई चेतना सम्पन्न क्रान्तिकारी व्यक्ति या दल इसलिए दर्शन के प्रति न तो उदासीन ही रह सकता है, और न यह कह सकता है कि दर्शन तो वैयक्तिक विषय है, जिसका जो जी चाहे वह उस दर्शन को माने। दर्शन और धर्म बहुत कुछ मिले हुये हैं, इसलिए केवल दर्शन पर कहते हुए हमारी आलोचना बहुत कुछ असम्पूर्ण रह जाती है। किन्तु धर्म पर विस्तृत आलोचना से यह असम्पूर्णता दूर हो जायगी।

धर्म और भौतिकवाद

१—दर्शन और विश्वास से धर्म उत्पन्न—विचारधारा में धर्म का स्थान बहुत ऊँचा रहा है। समाज के ऊपरी ढाँचे का धर्म एक प्रधान अंग है। दर्शन के मुक़ाबिले में धर्म कहीं अधिक प्रभावशाली इसलिए रहा है कि किसी एक दर्शन को अर्थात् जीवन तथा जगत् के देखने के तरीक़े को हम धर्म तभी कहते हैं जब दर्शन या वह किसी जाति के विश्वास का रूपधारण कर लेता है। जिस समय कोई भी सिद्धान्त विश्वास का रूपधारण कर अकाट्यता प्राप्त कर लेता है, उसी समय वह धर्मपद वाच्य होता है। चाहे यह विश्वास ग़लत हो या सही मनुष्य जाति का यह दुर्भाग्य रहा है, या यों कहिए कि उसके विकास का यह एक अंग रहा है कि अक्सर ग़लत दर्शन ही यानी जीवन तथा विश्व के बारे में ग़लत दृष्टिकोण मनुष्य के विश्वास का रूप धारण करता रहा है।

२—धर्म में भौतिक परिस्थितियाँ प्रतिफलित—धर्म का भौतिक परिस्थितियों से बहुत ही अविच्छेद्य सम्बंन्ध है। बात यह है कि धर्म भी विचारधारा का एक अंग है, इसलिए जब विचारधारा ही परिस्थितियों से उत्पन्न होती है तब धर्म उसका एक अंग होकर इस नियम से बाहर कैसे हो सकता है। मनुष्य के द्वारा की गई ईश्वर की कल्पना मनुष्य ही की तरह होगी, इसमें आश्चर्य क्या है। सगुण ईश्वर पूजा में तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है। अवतार तो हमारे ही अपने आदमी हैं। यह दिखलाया जा सकता है कि जितने भी देवता हैं, वे चाहे वैदिक इन्द्र, यम, वरुण, अर्यमा, अश्विनी-कुमार, भग कोई भी क्यों न हों, वे सभी देहधारी मनुष्य थे, और पराक्रम या और किसी कारण से देवत्व को प्राप्त हो गये। केवल यही नहीं, उपनिषद् के सूक्ष्म ब्रह्म तथा यहूदियों के जिहोवा, जो ईसाइयों के ईश्वर तथा मुसलमानों के अल्लाहताला के पूर्ववर्ती थे, पहले से सूक्ष्म नहीं थे। स्थूल देहधारी ईश्वरों का सूक्ष्मीकरण होते-होते इस प्रकार निरुपाधिक, निरवयव, निर्गुण साथ ही सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी ब्रह्म आदि की उत्पत्ति हुई। इस पहलू के स्पष्टीकरण के लिए हमने एक बड़ी पुस्तक लिखी

है। हम इस प्रसंग के लिए इतना ही यथेष्ट समझते हैं कि कुछ बिलकुल मोटी बातों को दिखला दें जिससे पाठकों को इस सम्बन्ध में दिलचस्पी पैदा हो और वे इस सम्बन्ध में और आगे खोज करें।

३—हिमालय की डोम जाति के चन्द्र-सूर्य सम्बन्धी विश्वास में पुरुष प्रधानता प्रतिफलित—हिमालय की तराई के डोम लोग, सभी आदिम और पिछड़ी हुई जातियों की तरह, खुल्लमखुल्ला पितृ-पूजा या पूर्वपुरुष-पूजा करते हैं। खुल्लम-खुल्ला हमने इसलिए कहा कि सभ्य जातियाँ इसी काम को इतना खुलकर नहीं करतीं, नहीं तो श्राद्ध, तर्पण, चहल्लुम आदि का स्वरूप यही है। तराई की ये जातियाँ पूर्वपुरुष-पूजा के साथ-साथ चाँद, सूर्य आदि की भी पूजा करती हैं। इन लोगों में कोढ़ बहुत होता है। यह बात इनके देवताओं की कल्पनाओं में किस प्रकार प्रतिफलित है, यह द्रष्टव्य है। इन लोगों में यूरोपीय लोगों की तरह सूर्य पुरुष और चन्द्र स्त्री माना जाता है। यह कहा जाता है चन्द्रदेवी बहुत सुन्दरी है, इसलिए वह अपने सौन्दर्य पर बहुत इतराती रहती है और सूर्य के साथ उसका व्यवहार अच्छा नहीं रहता, इसलिए उसको कोढ़ हो गया है। चाँद के ऊपर जो धब्बे हैं वे इन लोगों में कोढ़ के धब्बे माने जाते हैं। वहाँ के धर्मशास्त्र के अनुसार चाँद के धब्बे सुन्दरी स्त्रियों को सबक़ देने के लिए हैं।

४—मुंडा जाति के ग्रहण सम्बंधी विश्वास की पृष्ठभूमि में साहूकारी—भारतीय आदिम जातियों में से एक दूसरी जाति—मुंडा को लिया जाय। ये लोग डोमों के बहुत ज़्यादा क़र्ज़दार होते हैं। यह बात इनके धर्म विश्वास में किस प्रकार प्रतिफलित हुई है, यह द्रष्टव्य है। कहा जाता है कि चाँद और सूर्य ने डोमों से रुपये उधार लिए थे, वे चुका नहीं पाये, इसलिए ये डोम महाजन आकर उनको परेशान करते हैं, उन्हें घेरते हैं, तथा उनके चेहरे पर चमड़ा डाल देते हैं, इसी से ग्रहण लगता है। डाक्टर मजूमदार ने लिखा है कि सभी भारतीय आस्ट्रिक कबीलों में इस प्रकार की धारणा प्रचलित है।[१] हमें इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि बहुत आदिम काल से ही इन जातियों को दूसरी सभ्य जातियाँ महाजन के रूप में लूटती रही हैं।

५—ब्रशमैन और ब्लैकफेलो जाति के विश्वास की पृष्ठभूमि में उनकी

१ F. P. T. p. 150

परिस्थितियाँ—नृतत्त्वविदों ने यह भी बतलाया है कि कई शिकार पर निर्भर जातियों में जो पुराण प्रचलित हैं, वे पशुओं के इतिवृत्त से भरे हुए हैं। एण्ड्रू लैंग ने लिखा है कि व्रशमैनों में जो पुराण प्रचलित हैं, उनमें पशुओं का ही बोल-बाला है। हाँ, उनके पुराण में एक वृद्धा स्त्री का उल्लेख भी आता है। इस वृद्धा के अतिरिक्त क़रीब-क़रीब उनके सारे पुराण पशुओं की कहानी से भरे हुए हैं। इस वृद्धा स्त्री का इस प्रकार अस्तित्व समझना कठिन नहीं है, क्योंकि यह सब जातियाँ मातृकुल-मूलक थीं अर्थात् मा से ही कुल चलते थे। यह अनुमान करना ग़लत न होगा कि यह वृद्धा स्त्री उस जाति की आदिम माता थी जिसे देवीत्व प्राप्त हो गया होगा। स्मिथ ने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के ब्लैक फ़ेलोगण, जो निरीक्षण के समय तक शिकारी अवस्था में थे, मुख्यतः पशु पक्षियों के उपासक थे। प्रत्येक जाति में यहाँ तक कि सभ्य जातियों में भी कमोवेश पशु-प्रतीक-पूजा या टोटम- वाद क्यों प्रचलित है, इसका सुराग हमें बहुत कुछ इस बात से मिल सकता है कि प्रत्येक जाति आदिम अवस्था में शिकारी हालत में थी।

६—**सभ्य जातियों के धर्मों की पृष्ठभूमि को जानना कठिन**—तराई की पूर्वोक्त डोम तथा मुंडा जातियों और व्रशमैनों तथा ब्लैकफेलोगणों में हमने जितनी आसानी से उनके धर्म विश्वासों को उनकी भौतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध देख लिया, सभ्य जातियों के धर्म विश्वासों में उतनी आसानी से उनकी भौतिक परिस्थितियों को प्रतिफलित देखना सम्भव नहीं है। सभ्य जातियों के धर्म विश्वासों में सैकड़ों कारणों से चीजें जटिल हो गई हैं, और सभी क्षेत्रों में भौतिक कारण को ढूँढ़ने पर भी पाना सम्भव नहीं होता, क्योंकि बहुत-सी परिस्थितियाँ ऐसी थीं और हैं जो बिना चिह्न के लुप्त हो गई हैं।

७—**धर्म विश्वासों का शोषणमूलक चरित्र**—इस सम्बन्ध में आगे विचार करने के पहले हम यह देख लें कि तराई की उल्लिखित जातियों में जो वर्णित कुसंस्कार प्रचलित हैं, उनका चरित्र क्या है। चन्द्र के कलंक के विषय में उनका जो विश्वास है, उसके द्वारा पुरुष स्त्रियों को शोषण करने में तथा उन पर अपना अखण्ड शासन क़ायम रखने में समर्थ होता है। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य के क़र्ज़दार होने की जो बात है, उसका यह असर है कि इन जातियों में कोई भी व्यक्ति क़र्ज़ा चुकाने से इन्कार नहीं करता, चाहे इस मनोवृत्ति के कारण

उसे साहूकार का ग़ुलाम ही हो जाना पड़े। डाक्टर डि० एन० मजूमदार ने लिखा है कि तराई की कोल्टा जाति में कोई स्वप्न में भी क़र्ज़ से इन्कार नहीं करता, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसा करने से देवता नाराज़ होते हैं। कहना न होगा कि इस क्षेत्र में धर्म विश्वास साहूकारी प्रथा के सहायक रूप में है। /

८—धर्म परिवर्तनशील—धर्म को किसी एक व्यक्ति से या किसी एक पुस्तक से उत्पन्न हुआ मानना ग़लत है। यों तो देखने में बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद क्रमशः बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं, किन्तु यदि हम गहराई के साथ देखें तो वैदिक धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म या जैन-धर्म अपने-अपने समय की उपजें थीं। केवल यही नहीं, इन धर्मों के पीछे इतिहास का एक पूरा सिलसिला छिपा हुआ है। ईसाई धर्म की बात ही ली जाय। जिस रूप में वह हमारे सामने मौजूद है, उस रूप में उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। बदलते-बदलते इसका चेहरा काफ़ी बदल चुका है। यरूशलम, ऐंट्रियोक, एलेक्ज़ेंड्रिया, रोम, एथेन्स सभी का ईसाई धर्म को उत्पन्न करने में भाग रहा है। ३०० वर्ष तक पारिपार्श्विक परिस्थितियों के दबाव के कारण विकसित होने के बाद इसने पवित्र कैथोलिक गिर्जे का रूप धारण किया, किन्तु इसके बाद भी इसमें बराबर परिवर्तन, संशोधन, नवीकरण इत्यादि जारी रहे। अमेरिका में आज भी रोज़-रोज़ नये सम्प्रदाय पैदा होते चले जा रहे हैं। यों तो ईसामसीह के नाम पर ही यह धर्म प्रचलित है, किन्तु ईसा के बाद भी बराबर इसमें पैगम्बर होते गये हैं। ईसा के बाद प्रथम बड़े पैगम्बर साल या पाल नामक कोई व्यक्ति थे जो स्वयं रोमन साम्राज्य के नागरिक थे। इसके प्रथम बड़े गिर्जे का उदय लिवेन्ट के बाज़ारों तथा बन्दरगाहों में हुआ। यहाँ तक कि इसको जो क्रिश्चियन नाम प्राप्त हुआ, यह भी एंटियाक नामक नगर में।[१] ग्रेन्टएलेन के मतानुसार तो ईसाइयों का धार्मिक चिह्न कानस्टैनटाइन के पहले प्रचलित नहीं था, और यह चिह्न गाल के सूर्यदेवता के पूजकों के सौरचक्र से लिया गया था, क्योंकि इस सफल सम्राट् की सेनाओं में इन सूर्य पूजकों की ही प्रधानता थी।[२] इसलिए यह समझना बिलकुल

१. E. I. G. 250-5 ; २ Ibid p. 58

ग़लत है कि एक व्यक्ति आया या एक वही उतरा और धर्म एकाएक प्रवर्तित हो गया। वस्तुस्थिति यह है कि धर्मों के पीछे विकास की एक पूरी लड़ी है, कथित वही या पैग़म्बर केवल उसका तात्कालिक उत्तेजना कारण मात्र है, या थे। इसलिए किसी धर्म का अध्ययन करने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके पीछे जो पूरी लड़ी मौजूद है उसका अध्ययन किया जाय।

यह समझना भूल है कि धर्म अर्थात् जीवित धर्म अपरिवर्तित रहते हैं। सच तो यह है कि कट्टर से कट्टर अपरिवर्तनवादी धर्म को भी अपने में बराबर इतिहास की शक्तियों के दबाव के कारण सूक्ष्म परिवर्तन करने पड़े हैं। हक्सले ने लिखा है कि 'तमाम सामाजिक क्रियाशीलताओं की तरह धर्म भी विकसित होते गये हैं। इसका यह विकास दो तरह की बातों से निर्णीत होता है। एक इसकी अपनी भावुकतापूर्ण तथा बौद्धिक वेगशक्ति, उसका आन्तरिक तर्क; दूसरा उस युग की भौतिक तथा सामाजिक अवस्था है।'[१] हक्सले के बताये हुए दूसरे कारण में पहला कारण आ जाता है। भावुकता और बौद्धिक वेगशक्ति अन्तिम रूप से भौतिक कारणों से ही उद्भूत होती है, यह हम पहले ही बता चुके हैं।

९—**कट्टर से कट्टर धर्म में परिवर्तन**—यद्यपि धर्म, विशेषकर वे धर्म जो किसी विशेष पुस्तक या महापुरुष की वाणी से (अक्सर यह वाणी अपौरुषेय रूप में सामने आती है, जैसे वेद, क़ुरान इत्यादि) अपनी उत्पत्ति बतलाते हैं, और यह वाणी लिपिबद्ध हो जाती है तो उस हालत में विकास टेढ़ी खीर हो जाता है। धर्म स्वयं एक बहुत अपरिवर्तनवादी शक्ति है, क्योंकि प्रत्येक धर्म चिरन्तन सत्य, अपौरुषेयता या आख़िरुलम्बिया का दावा लेकर सामने आता है, फिर भी यह मज़ेदार बात है कि कट्टर से कट्टर धर्म में भी कुछ न कुछ संशोधन तथा परिवर्तन होते रहे हैं। यदि धर्मों के मूल सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं भी हुए हैं तो भी व्यवहार में किस अंश पर, ज़ोर दिया जाय, और किस पर न दिया जाय, इस सम्बन्ध में विचारों में बराबर परिवर्तन हुए हैं। डाक्टर इन्ज ने लिखा है कि 'विभिन्न युगों में ईसाइयत के विभिन्न आदर्श सामने आये हैं। किसी शताब्दी में ईसाई भिक्षु आदर्श धार्मिक समझा गया, किसी युग में

१ U. M. I. p. 227

धर्मयुद्धकारी क्रूसेडर आदर्श ईसाई समझा गया। फिर परोपकारी व्यक्ति ईसाइयत का आदर्श समझा गया। इसी प्रकार तमाम धार्मिक संस्थाएँ शायद अदृश्य मंजिलों से होकर अपने विश्वास तथा विचारों को बदलती रहती हैं। वे निर्वाचन करती हैं अर्थात् किसी चीज़ को रख लेती हैं और किसी को धीरे से निकाल लेती हैं।'[१] इसी प्रकार सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मैगडूगल ने Authropology and History में लिखा है 'आम तौर से एक तरफ़ तो यह समझा जाता है कि धर्म बिलकुल व्यक्तिगत मामला है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा अपनी विशेष प्रकृति के अनुसार त्राण का मार्ग ढूँढ़ लेती है, किन्तु इसके विपरीत हम सभी जानते हैं कि अधिकांश मनुष्यों के धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों के स्वरूप वे जिस समाज में पैदा होते हैं, उसके द्वारा निर्णीत होते हैं।' इस प्रकार कोई धर्म कहाँ तक सफल होगा या चलेगा, इसका निर्णय सामाजिक अवस्था से होता है। मैगडूगल ऐसे भौतिकवाद के विरोधी वैज्ञानिक को इस बात को मानने के लिए विवश हुए हैं। यों तो किसी युग में कोई भी कुछ प्रचार कर सकता है, और सच तो यह है कि एक ही समय में दस तरह के धार्मिक मतवाद के प्रचारक मिलेंगे, किन्तु मुहम्मद, ईसा, बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य के विचार अपने समय में प्रचारित अन्य सैकड़ों विचारों के मुक़ाबिले में क्यों सफल हुए, इसका रहस्य वहाँ की सामाजिक, आर्थिक विशेष परिस्थिति में ही निहित है। इस प्रकार मनुष्य धर्म को बनाता है, न कि धर्म मनुष्य को। अवश्य शेषोक्त बात सत्य का केवल एक अंश है। दूसरा अंश यह है कि धर्म एक बार बन जाने के बाद मनुष्य को भी बनाता है।

१०—एक धर्म का विभिन्न देशों में विभिन्नरूप—धर्म की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में यह बात भी द्रष्टव्य है कि एक धर्म का एक देश में जो रूप होता है, उसका ठीक ठीक वही रूप दूसरे देश में नहीं होता। देश बदल देने पर धर्म को नवीन देश के साथ अपने को खपाना पड़ता है। जगत् के बहुत से देशों में ईसाई धर्म प्रचलित होने पर भी प्रत्येक देश के ईसाई धर्म के साथ बहुत से स्थानीय सेन्ट तथा शहीद भी संयुक्त दृष्टिगोचर होंगे। यही बात इस्लाम

---

१ B. A. . p. 75

के सम्बंध में भी कही जा सकती है। सभी इस्लामी देशों में ताजियादारी प्रचलित नहीं है। भारतवर्ष में नाम के लिए सर्वत्र हिन्दू धर्म का प्रसार होने पर भी प्रत्येक स्थान के धर्म में बहुत फ़र्क़ है। ये पार्थक्य स्थानीय लोगों के इतिहास तथा उनके विश्वासों,रीत रिवाज़ों से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध हैं।

११—**धर्म ग्रन्थों की नई व्याख्या के द्वारा धर्म में सुधार**—जीवित धर्मों में ये सूक्ष्म परिवर्तन कई तरह से होते रहते हैं। एक तो पुरानी वाणी की नई व्याख्या करके उसको युगानुयायी बनाया जाता है। यह बहुत ही आम तरीक़ा है, और धर्म-पुस्तक अक्सर गूढ़ दुर्बोध्य तथा मृत भाषा में लिखी होने के करण इस प्रक्रिया में आसानी होती है।[१] लूथर ने जब ईसाई धर्म में सुधार करने का आन्दोलन चलाया तो उसका सूत्रपात बाइबिल के नये अनुवाद से किया। इँगलैंड में जब इसी प्रकार सुधारात्मक इवेंजलिस्ट आन्दोलन चला तो उसमें भी Return to the gospels अर्थात् असली धर्म पुस्तक में लौट जाओ का नारा दिया गया, यानी धर्म-पुस्तकों का जो प्रचलित अर्थ लोगों में मान्य था, उसे ग़लत बताकर 'सही' अर्थ पर चलने के लिए लोगों से कहा गया। जिसें हाईचर्च आन्दोलन कहते हैं, वह भी प्रारम्भिक युग के गिर्जों के ढंगों में लौट चलो (return to the early church) यानी उस आदिम युग के गिर्जे के पिताओं तथा उनके आचार्यों व वाणियों में लौट जाने के आन्दोलन के रूप में आया। ऐसे ही भारतवर्ष में जब कोई नया धार्मिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ तो उसने अपने मतानुसार कुछ मुख्य धर्म ग्रन्थों की नई व्याख्या से काम शुरू किया। यह प्रक्रिया आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द तक जारी रही। उन्होंने वेदों की एक बिलकुल नई व्याख्या की जो न तो यास्क-सम्मत है और न शंकरानुयायी। स्वामी जी ने वेदों में लौट चलो का नारा देकर आर्य समाज के आन्दोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने अपने सत्यार्थप्रकाश में वैदिक ऋषियों के प्रतिपादिक मतों के पुनरुद्धार करने का दावा किया। हमें यहाँ इस पचड़े में नहीं पड़ना है कि उनके ये दावे कहाँ तक सही थे, और कहाँ तक ग़लत, हमें तो इस अवसर पर इतना ही दिखलाना है कि आर्यसमाज के आन्दोलन का सूत्रपात मान्य धर्मग्रन्थों की एक नई व्याख्या से हुआ।

---

१ F. S. G. p. 58

१२—अवतारों और पैग़म्बरों के द्वारा धर्म का नवीकरण—फिर धर्म में नई बात प्रचलित कर उसे युगानुगायी बनाने का एक तरीक़ा यह भी रहा कि कोई नया अवतार या महापुरुष आये। उन्होंने देखने में तो पुराने धर्म को ही किन्तु असल में उसे बहुत कुछ बदलकर प्रवर्तित किया। यह अवतार या महापुरुष पुरानी शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कुछ परिवर्तन कर देता है। वह महापुरुष यह नारा देता है कि प्राचीन धर्म तो शुद्ध था, किन्तु बीच में लोगों ने उसे बिगाड़ दिया, इसलिए चलो हम लोग उस प्राचीन युग में लौट चलें। इस प्रकार वह प्राचीन युग की ऐसे रूप में कल्पना करता है जैसा कि वह कभी नहीं था। इस प्रकार नये युग के तक़ाज़े को पूरा करता है।

दूर न जाकर यदि हिन्दू धर्म को ही देखें तो इसमें हमें इन दोनों तरीक़ों के सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे। विशेष ज्ञान के उत्सुक पाठक इस विषय में और भी अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु इस अवसर के लिए इतना ही बताना यथेष्ट होगा कि कट्टर से कट्टर धर्म भी यदि वे जीवित जाति के धर्म हैं—और प्रत्येक मौजूद जाति जीवित जाति होती है—तो उन्हें परिवर्तित होना ही पड़ता है, चाहे वे परिवर्तन कितने ही सूक्ष्म और जल्दी में दृष्टिगोचर न होने वाले हों। अवतारों ने किस प्रकार धर्म को युगानुयायी बना दिया, इसे हम सिक्खों के इतिहास में बहुत अच्छी तरह देख सकते हैं। गुरु नानक ने एक सरल सदाचारमूलक धर्म का प्रवर्तन किया था, किन्तु बाद को चलकर अन्तिम गुरुओं के हाथों में यही धर्म एक जंगजू धर्म हो गया।

१३—आदिमवैदिक धर्म सरल तथा ऐहिक था—हिन्दू धर्म का इतिहास तो बहुत बड़े परिवर्तनों से भरा पड़ा है। वेद में धर्म का जो रूप हमें मिलता है (स्मरण रहे कि वेद पौरुषेय नहीं है, केवल यही नहीं बहुपौरुषेय है, और विभिन्न युगों में जो क़रीब क़रीब एक सहस्त्राब्दी तक फैला हुआ है, रचित हैं), उसे प्राकृतिक धर्म कहेंगे। उस युग में आर्यों को परलोक की चिन्ता नहीं थी। वे इहलोक की सुख समृद्धि, युद्ध में विजय, रोग से मुक्ति, शत्रुओं का विनाश आदि के लिए विभिन्न देवताओं से प्रार्थना करते थे। इन देवताओं के साथ आर्यों का सम्बन्ध बहुत कुछ लेनदेन मूलक है यानी ऐसा कि मैं तुम्हें सोमरस पिलाता हूँ, तुम्हारे लिए यज्ञ में आहुति देता हूँ, तुम हमारे लिए यह करो, वह करो इत्यादि। इस

समय तक जीवन में पारलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता नहीं हुई थी। वेदों का युग एक तरह से आत्मतृप्ति का युग था। बात यह है कि अभी तक आर्यों को बराबर नई नई ज़मीनें मिलती जा रही थीं, वृद्धिशील साम्राज्य के कारण आपसी वर्ग-संघर्ष बहुत कुछ छिपा हुआ था, इसलिए उस युग में लोगों को मुक्ति या निर्वाण की कोई ज़रूरत नहीं जान पड़ती थी। इन्द्र, वरुण, अर्यमा, भग, यम आदि जो थोड़े से देवता थे, वे कोई बाहरी व्यक्ति नहीं थे, वे आर्यों के ही पूर्वपुरुष तथा उन्हीं के वीर थे। आदिम वैदिक धर्म में आत्मत्याग का कोई विशेष स्थान न था। यह कुछ तो पितृ-पूजा और कुछ प्राकृति शक्तियों के विषय में अत्यन्त अल्प ज्ञान या अज्ञान होने के कारण तिलस्म में विश्वास का युग था। ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक युग में भी कई स्तर हुए। समय बीतने के साथ साथ धर्म में जो कड़ाई आती गई, और वह जटिल अनुष्ठान मूलक होता गया; किन्तु वैदिकधर्म के प्रथम स्तर में धर्म बिलकुल सरल था, देवताओं को जो सोमपान कराया जाता था, या उनकी जो प्रार्थना की जाती थी, वह भी प्रथम युग में कट्टर अनुष्ठान के रूप में नहीं था, बल्कि जैसे हम वृद्ध अपाहिज पिता को खाना पहुँचाते हैं, कमोवेश उसी रूप में था। सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म की यह जो व्याख्या की है कि 'धर्म से मैं मनुष्य के द्वारा ऐसी श्रेष्ठ शक्तियों की तुष्टि तथा अनुकूलता प्राप्त करना समझता हूँ, जिनके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वे मनुष्य जीवन तथा प्राकृति की गति को नियंत्रित तथा परिचालित करती हैं'—यह कहाँ तक आदिम वैदिक धर्म पर लागू होती है इसमें सन्देह है, क्योंकि वरुण, इन्द्र, यम, अर्यमा और भग निस्सन्देह श्रेष्ठ शक्तियाँ समझी जाती थीं, किन्तु उनकी यह श्रेष्ठता अभी तक उसी प्रकार की थी जैसी पुत्र के सामने पिता या माता की होती है, या उससे अधिक, इसका निर्णय करने में हम असमर्थ हैं। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि आदिमतम वैदिक धर्म बहुत सरल था। कालक्रम से यही वैदिक धर्म बहुत ही जटिल अनुष्ठान-युक्त हो गया, और उसकी वह आदिम सरलता जाती रही।

१४—वैदिक धर्म से असन्तोष—न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्धमत—यों तो वेदों में ही कुछ-कुछ विद्रोह की आवाज़ उठ चुकी है, किन्तु जब वैदिक-धर्म जटिल हो गया, और उसका रूप सोलहों आने शासक वर्ग का स्वार्थसाधक

हो गया, तथा इसके ज़रिये अन्य लोगों का शोषण होने लगा, तब इसके विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठी। ईसा पूर्व नवम तथा अष्टम शताब्दी में यह विद्रोहमूर्त हो गया। बाद को हमें इन विद्रोहों का परिचय यत्र-तत्र उपनिषदों में मिलता है। इन्हीं विद्रोहों के फलस्वरूप वैशेषिक, सांख्य, न्याय आदि दर्शन बने। असल में ये सभी दर्शन वैदिक युग के जटिल धर्म के विरोधी थे, और चाहते थे कि विश्वास और अनुष्ठान के बूते पर नहीं बल्कि भौतिक रूप से चीज़ों की गहराई तक पहुँचा जाय। ये विद्रोह इस कारण अधिक सफल नहीं हो सके कि इनके पीछे कोई उत्पादक वर्ग स्थायी तौर पर नहीं था। फिर भी ये ही दर्शन बौद्ध, जैन विद्रोह को अनुप्रेरित करने के कारण हुए। बौद्ध और जैन विद्रोह इसलिए अधिक सफल रहे कि उनको उठती हुई सौदागर श्रेणी ने अपनाया। बुद्ध और महावीर—ऐसे संसार-त्यागी महापुरुषों के मतवाद पर वर्ग सिद्धान्त को लागू करना शायद कुछ लोगों को खटके किन्तु इन मतों के वर्ग चरित्र के सम्बन्ध में कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण हैं जिनको कोई भी सही दिमाग़ व्यक्ति टाल नहीं सकता। बुद्ध के युग में दास प्रथा प्रचलित थी। बुद्ध को जब उपहार में दास दिये जाते थे तो वे उन्हें स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु वे दास पर मालिक के अधिकार को इतना स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे कि संघ में ऐसे दास का, जो अपने मालिक के द्वारा मुक्त नहीं किया गया है, लेना निषिद्ध था। यों तो बौद्ध और जैन-धर्म का सामाजिक आधार बहुत कुछ एक ही था, और उनके सिद्धान्त भी बहुत कुछ मिलते-जुलते थे फिर भी बौद्ध-धर्म का जो अधिक प्रचार हुआ, उसकी तह में युद्ध के जीवन का अधिकतर भावुकतामूलक आवेदन मालूम होता है। आगे चलकर बौद्ध धर्म का पतन हुआ, और प्रतिक्रिया की ताक़तों ने यानी पुरोहित-प्रधान प्राचीन धर्म ने उसका गला दबा दिया। प्रतिक्रिया की इस विजय का यह कारण था कि आत्मयथेष्ठ आर्थिक पद्धति के अन्दर व्यापार की एक हद तक ही उन्नति हो सकती थी। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म में ऐसी बातें सम्मिलित होती गईं, जिनके कारण उसमें और ब्राह्मण-धर्म में कोई फ़र्क़ नहीं रह गया। इधर ब्राह्मण-धर्म ने हाथ बढ़ाकर बुद्ध को अवतार मान लिया। ब्राह्मणों का सारा पुराण बुद्ध के नाम से मढ़कर आ गया। वे ही अलौकिक चमत्कार आ गये। अवतारवाद के रूप में बुद्ध के पूर्वजन्मों का

वर्णन करते हुए जातक कथाओं का निर्माण हुआ। बौद्ध-धर्म का महायान मत ब्राह्मण-धर्म से किसी प्रकार भिन्न न रहा। ऐसी हालत में प्राचीनतर मर्यादा-प्राप्त ब्राह्मण-धर्म की विजय कोई आश्चर्य की बात नहीं रही।

१५—आदिम वैदिक धर्म के अलावा सभी भारतीय धर्मों में आत्मविलोप की इच्छा—इसके बाद तो प्रतिक्रिया की चक्की चली। इस प्रतिक्रिया का क्या रूप हुआ, इसे हम सबसे अच्छी तरह मनुस्मृति में देख सकते हैं। दर्शन में जो कुछ कसर रही, उसे शंकराचार्य ने पूरा कर दिया। यहाँ पर इसके आगे हिन्दू-धर्म के इतिहास के अनुसरण की आवश्यकता नहीं है। हमें यहाँ पर इतना ही प्रतिपाद्य है कि धर्म अपरिवर्तनवादी शक्ति होते हुए भी उसकी जड़ें आर्थिक सामाजिक जड़ों में होती हैं। केवल यहीं नहीं, बराबर बदलती हुई आर्थिक सामाजिक नींव का उस पर असर—चाहे वह युग की ज़रूरत को देखते हुए कितना भी कम हो—पड़ता ही रहता है।

भारतीय धर्मों के विषय को छोड़ने के पहले एक खास बात यह बता देना ज़रूरी है कि यहाँ आदिम वैदिक-धर्म के बाद चाहे कोई भी धर्म पनपा हो—यहाँ तक कि वे धर्म जो भौतिकवाद की ओर कुछ झुके हुए भी थे, उनमें भी हमें इस जगत् तथा जीवन से छुटकारा पाने की लालसा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। यदि इसके कारण का अनुसन्धान किया जाय तो ज्ञात होगा कि यहाँ की उत्पादन शक्तियाँ उन्नत नहीं हो पाती थीं, और घूम-फिरकर उसी आत्म यथेष्टता के दायरे में रह जाती थीं, इससे तरक्क़ी के लिए कोई उत्तेजना नहीं थी, और समाज पिछड़ा हुआ रह जाता था। यहाँ वह स्फूर्ति कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई जो नई उन्नततर उत्पादन-पद्धति को अपनाने से होती है। प्रकृति के रहस्यों को जानकर उनके ज़रिये अपनी अवस्था को उन्नत करने की बात लोगों को जैसे रुचती ही नहीं थी। इसके बजाय वे प्रकृति को बन्धन का ज़रिया समझते थे। इसलिए पलायनवाद, वानप्रस्थ, संन्यास, मुक्ति, निर्वाण और न मालूम साम्राज्य, सामीप्य और किस-किस प्रकार की बात ही लोगों को सूझती थी। इस कारण जैसे बताया गया, उत्पादन की शक्तियों में उन्नति की कमी थी, फलस्वरूप यहाँ उस क़िस्म की भारी क्रान्तियाँ, जो

उत्पादन पद्धति में परिवर्तन होने के कारण वर्गों के सम्बन्ध में गहरी तब्दीली से ही हो सकती हैं, कभी नहीं हुई।

१६—मनुस्मृति और गृह्यसूत्रों का धर्म प्रतिक्रियावादी—इस प्रकार के आत्म विलोप के इच्छा मूलक धर्म की सामाजिक अन्तर्गत वस्तु बिलकुल स्पष्ट है। इस प्रकार संसार की असारता तथा इस जीवन की नश्वरता के प्रचार के द्वारा लोगों में उठती हुई विद्रोहाग्नि पर पानी छिड़क दिया जाता था। स्पष्ट रूप से ऐसे धर्म शोषण के वाहन थे। यह केवल कपोल कल्पना नहीं है। इसे हम मनुस्मृति तथा गृह्यसूत्रों के अध्ययन से जान सकते हैं। डाक्टर भगवानदास ऐसे कृतविध हिन्दू तत्ववेत्ताओं ने मनु के धर्मशास्त्र को मानव धर्मशास्त्र करके दिखाने की चेष्टा की है, किन्तु मनु ने एक ही अपराध करने पर शूद्र के लिए तो बहुत अधिक सज़ा तथा ब्राह्मण के लिए लघु दण्ड अथवा क्षमा का विधान किया है। यदि शूद्र ब्राह्मणी पर बलात्कार करे तो उसके लिए प्राणदण्ड है, किन्तु ब्राह्मण शूद्रा पर बलात्कार करे तो उसके लिए बहुत ही लघुदण्ड का विधान है। ऐसा ही हरएक मामले में पक्षपात है। स्त्रियों के लिए इस कथित आदर्श धर्मशास्त्र में वे ही सब विधान हैं जो पुरुष-प्रधान समाज की विशेषताएँ हैं। नारी की प्रशंसा में जो एकाध श्लोक इधर-उधर हैं, वे या तो धोखे की टट्टी हैं, प्रक्षिप्त हैं अथवा अति आदिम युग में नारी का जो सम्मान था, उसकी स्मृति के छिटपुट अवशिष्ट द्योतक मात्र हैं। कुछ भी हो, वे प्रयोग में नहीं लाये जाते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। विस्तारभय से हम इस पर अधिक विचार नहीं करेंगे, किन्तु इतना निःसन्देह है, और इसमें कोई विशेष लज्जा की बात भी नहीं। सभी सामन्तवादी समाजों की यही विशेषता थी कि धर्म सोलहों आने सामन्तवादी वर्ग की सेवा में उपस्थित था। दर्शन में जो बढ़-बढ़कर अखिल विश्वात्मा की एकता तथा 'ब्राह्मणे गविहस्तिनि' समदर्शिता की बात कही जाती थी, वह केवल धोखे की टट्टी थी, जिसकी आड़ में रहकर शासक वर्ग अपना शिकार खेला करते थे। हम यह साफ़ कर दें कि धर्म ने इस प्रकार का हिस्सा सचेतन रूप से अदा किया, यह सब क्षेत्रों में कहना कठिन और शायद एक हद्द तक अनुचित होगा, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रयोग के तरीक़े Trial and error से जो धर्म-शासक वर्ग के लिए अधिक लाभजनक सिद्ध

हुआ वही उस वर्ग की पृष्ठ पोषकता प्राप्त कर सका। इस प्रकार वही सरकारी या स्वीकृत धर्म हो गया, बाक़ी धर्मों को पीछे हट जाना पड़ा।

१७—शोषितों की विचारधारा के रूप में ईसाईमत का उदय—धर्म प्रत्येक युग में एक प्रतिक्रियावादी शक्ति रहा हो, ऐसी बात नहीं है। १७०० वर्ष पहले जिस समय ईसाई-धर्म पहले-पहल रोम के रंगमंच पर आया था, उस समय वह एक क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में प्रकट हुआ था। ईसाई-धर्म में यह जो कहा गया था कि सभी मनुष्य ख़ुदा के बेटे हैं, इसलिए परस्पर भाई हैं, यह रोमन जुआ के नीचे पिसते हुए गुलामों के लिए बहुत आगे बढ़ी हुई आशा की वाणी थी। अब तक उन्होंने जो कुछ सुना था उसके मुक़ाबिले में यह वाणी बहुत क्रान्तिकारी थी। इस वाणी ने गुलामों की बढ़ती हुई विद्रोहाग्नि में घृत की आहुति दी। स्वाभाविक रूप से ऐसा धर्म, जिसमें ऐसी आपत्तिजनक बात कही गई थी, शासकों को नापसन्द था। इसलिए ईसाई-धर्म एक प्रकार से गुलामों की गुप्त समितियों के ज़रिये फैला। ईसाईयों में जो क्रूस चिह्न प्रचलित है, उसके सम्बन्ध में एक सिद्धान्त यह भी है कि रोमन गुलाम लोग रात के अँधेरे में अपने कामों से छुट्टी पाकर लुक-छिपकर क़ब्रिस्तानों में एकत्र होते थे। चूँकि ये क़ब्रिस्तान ऐसे थे कि उनसे क्रूस चिह्न की सूचना होती थी, इसलिए ईसाइयों के लिए क्रूस चिह्न पवित्र हो गया। इसी प्रकार गिर्जों की मेहराबदार बनावट के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है कि चूँकि आदिम ईसाई लोग मेहराबदार क़ब्रिस्तानों के भीतर जमा होकर ईश उपासना करते थे, इसलिए बाद को ईश प्रार्थना-स्थान के साथ मेहराबों का सम्बन्ध हो गया, और गिर्जे उसी नमूने पर बने।

आदिम ईसाई धर्म ने रोमन गुलामों में किस प्रकार प्रवेश किया, इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन एंगेल्स ने किया है। वे लिखते हैं 'प्रचलित रोमनों के धर्म या धार्मिक विश्वासों के लिए, साथ ही उनके राष्ट्र की जड़ों के लिए ईसाई-धर्म बहुत ही खतरनाक था, क्योंकि यह सम्राट् की इच्छा को उच्चतम नियम मानने के लिए तैयार न था। इस धर्म की कोई पितृ-भूमि नहीं थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय था, और फ़्रांस से लेकर एशिया तक सारे रोमन साम्राज्य में, यहाँ तक कि साम्राज्य के बाहर, फैल गया था। बहुत दिनों तक यह धर्म

ज़मीन के नीचे चुपचाप अपना काम करता रहा, किन्तु कुछ दिनों से यह अपने को इतना दृढ़ अनुभव करता था कि अब यह दिन की रोशनी में मुँह दिखाने की हिम्मत करने लगा था। यह एक क्रान्तिकारी दल था जो ईसाइयों के नाम से चल रहा था। सेना में भी बहुत से लोग इसके माननेवाले हो चुके थे। कहीं-कहीं तो सेना की समूची टुकड़ियाँ ही इसके प्रभाव में आ चुकी थीं। जब इन सैनिकों से यह कहा जाता था कि पैगन (ईसा के पहले यूरोप में प्रचलित धर्मों का साधारण नाम) धर्म की क़ुर्बानी-सम्बन्धी अनुष्ठानों में उपस्थित होकर गार्ड आफ़ आनर या सलामी दें तो ये क्रान्तिकारी सिपाही अब इतने गुस्ताख़ होने लगे थे कि अपनी फ़ौजी टोपियों पर अपना विशेष प्रतीक अर्थात् क्रूस लगाकर उपस्थित होते थे। बैरकों के अन्दर अनुशासन क़ायम रखने के लिए इनके अफ़सर आमतौर पर जो तरीक़े काम में लाते थे, वे अब इस मामले में बिलकुल व्यर्थ साबित हो चुके थे। सम्राट् डाओक्लिटियन इस अव्यवस्था, हुक्मउदूली तथा अनुशासनहीनता को देखते-देखते इतने नाराज़ हो गये थे कि उन्होंने एक समाजवादी बिरोधी—बल्कि कहना चाहिए ईसाई-विरोधी क़ानून चलाया। क्रान्तिकारियों की सभाएँ बन्द कर दी गईं। उनके सभास्थल या तो बन्द कर दिये गये या ढहा दिये गये। ईसाई प्रतीकों को—जैसे क्रूसों को—उसी प्रकार मना कर दिया गया जैसे सैक्सनी में लाल रूमाल निषिद्ध क़रार दिये गये हैं।' (स्मरण रहे कि एंगेल्स ने यह वर्णन १८९५ में लिखा था, और उन्होंने जो उल्लेख किये हैं, वे उस समय के जर्मनी में प्रवर्तित समाजवाद विरोधी क़ानूनों की तरफ़ इशारा करते हैं) 'ईसाइयों को राष्ट्र के सभी पदों के अयोग्य घोषित किया गया, यहाँ तक कि वे सेना में कारपोरल या नायक भी नहीं हो सकते थे।......ईसाइयों को यह भी अधिकार न रहा कि वे अदालतों में जाकर अपने हक़ों के लिए मुक़दमा लड़ें। किन्तु यह कड़ा क़ानून बेकार रहा। इसके विरोध में ईसाइयों ने दीवार पर चिपके हुए सरकारी फ़र्मानों को फाड़ डाला। कहा तो यहाँ तक जाता है कि निकोमेडिया में उन्होंने सम्राट् के राजप्रासाद में आग लगा दी थी। इसके फलस्वरूप सम्राट् ने ३०३ ईस्वी में बहुत ही भीषण क़त्लेआम किया, किन्तु यह अपने ढंग का अन्तिम अत्याचार साबित हुआ। ईसाई धर्म का प्रभाव फिर भी इतना बढ़ता गया कि

१७ साल में सेना मुख्यतः-ईसाइयों द्वारा बन गई, और सारे रोमन साम्राज्य के अगले तानाशाह कानस्टनटाइन ने जिसको पादरियों ने महान् की उपाधि दे रक्खी है, ईसाइयत को राष्ट्रीय धर्म करके घोषित किया।'[१]

१८—राष्ट्रीय धर्मरूप में ईसाई धर्म का क्रान्तिकारित्व समाप्त—कानस्टनटाइन इस अर्थ में महान् ज़रूर साबित हुए कि उन्होंने ईसाई धर्म को राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार कर एक ही बार में उसके क्रान्तिकारित्व को समाप्त कर दिया। अब वह गुलामों की गुप्त समितियों का धर्म न रहकर राजराजेश्वर रोमन सम्राट् का धर्म हो गया। इसके बाद तो ईसाई धर्म की कायापलट हो गई। अब तो वह शासक वर्ग के हाथों में एक अस्त्र हो गया। अवश्य गुलामी का वह रूप अब नहीं रहा, उसमें कुछ उन्नति हुई, फिर भी इसके बाद से जिस सामन्तवादी युग का सूत्रपात हुआ, उसमें ईसाई-धर्म न केवल सामन्तवाद का मित्र, पथ-प्रदर्शक तथा दार्शनिक ही रहा, बल्कि वह स्वयं सोलहो आने सामन्तवादी हो गया। सामन्तवादी शासक वर्ग के समर्थन से सन्तुष्ट न रहकर ईसाई धर्म के गुरु लोग स्वयं सामन्तवादी सम्पत्ति के अधिकारी हो गये, और इस प्रकार की सम्पत्तियों के अधिकारी होने के बाद उनका यह प्रत्यक्ष स्वार्थ हो गया कि सामन्तवादी साम्पत्तिक सम्बन्ध चिरस्थायी रहे, नहीं तो उनकी सारी ज़मीन-जायदाद की ज़ब्ती की आशंका थी। मध्ययुग में यूरोप में ईसाई चर्च तथा राजशक्ति का संघर्ष होता रहा। वह कोई क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं था, बल्कि मोटे तौर पर वह सामन्तवाद का आपसी युद्धमात्र था। कहीं-कहीं तो ऐसा भी देखने में आया कि राजशक्ति ईसाई चर्च से कहीं अधिक प्रगतिशील थी।

१९—धर्म द्वारा विज्ञान का विरोध—गैलिलियो का निर्यातन—मध्ययुग में जिस समय विज्ञान धीरे-धीरे घुटनों के बल चलने लगा था, उस समय हम ईसाई-धर्म को पूतना की तरह बार-बार उसका गला घोटने के लिए उत्सुक पाते हैं। ईसाई धर्म पृथ्वी को विश्व का केन्द्र समझता था, क्योंकि उसे तो यही दिखलाना था कि मनुष्य के लिए ही ईश्वर ने सारी सृष्टि की रचना की

---

१ C. S. F. भूमिका

है। सूर्य उसी के लिए नित्य प्रातःकाल उदित होता है। चन्द्र उसकी यामिनियों को मधुरतर बनाने के लिए शीतल किरणों की वर्षा करता है। इस मतानुसार यह माना जाता था कि पृथ्वी विश्व के मध्य में स्थित है, और सारे ग्रह, उपग्रह घूम-घूमकर उसी की प्रदक्षिणा करते हैं। ज्योंही विज्ञान ने अटकलपच्चू तथा उड़ानों के क्षेत्र से निकलकर अभिज्ञता तथा भूयोदर्शन के क्षेत्र में पदार्पण किया, त्योंही विश्व-सम्बन्धी पहले की धारणा के नीचे से ज़मीन खिसकने लगी। कोपरनिकस (१४७३–१५४३) के सौ साल पहले ही डिमुसा ने इस सिद्धान्त पर सन्देह प्रकट किया था, और इससे भी पहले ग्रीकों में पाइथागोरस तथा अरिस्टारकस (३१०-२३० ई०पू०) ने पृथ्वी को विश्व का केन्द्र मानने से इन्कार किया था, किन्तु गैलिलियो (१५६४–१६४२) ने ही पहले-पहल अपने दूरवीक्षण यंत्र से यह साबित कर दिया कि न तो पृथ्वी स्थिर है, और न वह विश्व का केन्द्र ही है। अब तक धर्मों ने लोगों को यह शिक्षा दी थी कि जब भी वे आकाश की ओर आँख उठावें, तो वे ईश्वर की अपरम्पार लीला को सराहने के लिए ही ऐसा करें, किन्तु गैलिलियो ने केवल स्वयं दूरबीन से आकाश के रहस्यों को जानने की चेष्टा की, बल्कि उन्होंने जोश में आकर साधारण लोगों को भी बुलाकर दूरबीन के ज़रिये यह दिखला दिया कि अब तक धर्मध्वजी लोग जो कुछ कहते आये हैं, वह ग़लत है, और हम जो कुछ कह रहे हैं वही सही है। इस पर ईसाई चर्च के रोष की सीमा न रही, और उसके प्रहार से बचने के लिए गैलिलियो जान लेकर इधर से उधर भागते फिरे। अन्त में वे पोप के पंजे में फँस ही गये, और इन ईश्वर विरोधी बातों का प्रचार करने के लिए उनसे कहा गया कि या तो आप तोबा करें और जिन बातों का प्रचार करते रहे हैं, उनको बाक़ायदा वापस लें, या आजन्म कारावास की यंत्रणा भोगें। इस पर गैलिलियो ने अपनी बातों को वापस लेने में ही भलाई समझी, और वे पोप के चंगुल से छूट गये। ऐसा उन्होंने केवल मसलेहत के कारण किया था, इसलिए वे ज्योंही बाहर निकले त्योंही बोल उठे कि 'फिर भी यह घूमती है।' इस प्रकार इस बार तो वे किसी प्रकार बच गये किन्तु फिर वे अपनी खोजों में लग गये और १६३२ ई० में कई वर्ष शान्तिपूर्वक खोज करने के बाद इन खोजों के परिणामों को एकत्र कर उन्होंने 'विश्वपद्धति' नामक एक

पुस्तक लिखी। इसमें वापस ली हुई बातें केवल दुहराई ही नहीं गई थीं, बल्कि बहुत-सी ऐसी नई बातें कही गई थीं जो ईसाई धर्मशास्त्र के विरुद्ध पड़ती थीं। इस पर फिर वे पकड़े गये। फिर एक बार उन्होंने अपनी बातों को वापस लिया किन्तु अबकी बार पोप ने उनका पिण्ड न छोड़ा। वे आजन्म कारावास में डाल दिये गये। कई साल जेल में रहने के बाद मित्रों के हस्तक्षेप से उनको अपने घर में क़ैद रक्खा गया। बेचारे मरते समय तक बिलकुल बहरे हो गये थे, किन्तु बराबर वैज्ञानिक खोज करते रहे।

२०—धर्म ने ब्रूनो को ज़िन्दा जला दिया—गैलिलियो तो बहुत सस्ते बचे, जिन्नोरडानो ब्रूनो तो अपने विचारों के कारण ईसाइयमत की बलिवेदी पर चढ़ा दिये गये। ब्रूनो के विरुद्ध केवल एक ही आरोप नहीं था, बल्कि उनके विरुद्ध बहुत से आरोप थे। बिलकुल कट्टर अर्थ में वैज्ञानिक न होने पर भी उनमें विज्ञान का आधारभूत जो स्वतन्त्र विचार हैं, वह मूर्त सा हो गया था। उनकी सारी चेष्टा तथा सारा जीवन इसी में व्यतीत हुआ कि मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचना सीखे, न कि 'बाबावाक्यम् प्रमाणम्' मानकर चले। ब्रूनो का सबसे बड़ा अपराध यह था कि उन्होंने अरस्तू को सभी बातों में निभ्रान्त मानने से इन्कार किया। अरस्तू ईसाई मत के दर्शन के उत्सस्थल थे, इसलिए उन पर आक्रमण करना ईसाइयत पर आक्रमण करना था। यह मज़े की बात है कि अरस्तू ईसा के कई सौ वर्ष पहले पैदा हुए थे, और वे एक पैगन दार्शनिक थे; किन्तु फिर भी इस समय तक ईसाई मत के साथ उनका सम्बन्ध इतना अविच्छेद रूप से जोड़ दिया गया था कि ईसाई धर्म अरस्तू पर हुए किसी आक्रमण को सहन करने के लिए तैयार नहीं था। ब्रूनो को इसी अरस्तू के विचारों का विरोध करने के लिए प्राणदण्ड दिया गया।

ब्रूनो की शहादत के बाद भी १६२४ में पेरिस में जो ईसाई धर्म की धार्मिक पार्लियामेंट बैठी थी, उसमें ऐसे लोगों को देशनिकाले की सज़ा दी गई जिनकी राय खुल्लमखुल्ला अरस्तू के वक्तव्यों के विरुद्ध थी। १६२९ में सरबान के ज़रूरी तक़ाज़े पर फिर एक बार यह साफ़-साफ़ घोषित किया गया कि अरस्तू का विरोध करना ईसाई धर्म के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा बुलन्द करना है। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू के विरुद्ध विद्रोह करना जिओर-

डानों के लिए कितना गर्हित अपराध समझा गया। अरस्तू के चेले कहते थे कि जगत् शान्त है। ब्रूनो ने कहा था कि जगत् अनन्त है, और उसमें बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। अरस्तूवादियों ने पृथ्वी को अचल कहा था पर ब्रूनो ने इसे भ्राम्यमान बतलाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में ईसाइयत के मूल तत्त्वों को चुनौती दी थी। वे बहुत दिनों तक धार्मिक लोगों के हाथों से बचकर देश-विदेशों में भटकते रहे, किन्तु अन्त में पकड़ लिए गये और पोप की आज्ञा से ज़िन्दा जला दिये गये। यों तो शायद लोग यह जान भी न पाते कि ज़िओरडानो कौन महाशय हैं, और उनका क्या कहना है, किन्तु जिस अग्निकुण्ड में वे जलाये गये उससे उठी हुई लपटों ने मानो उनके यश को दसों दिशाओं में फैला दिया। वे जानते थे कि ऐसा ही होगा इसी लिए उन्होंने निर्भीक रूप से मृत्यु का सामना किया।

२१—धर्म द्वारा बेकन, केपलर का निर्यातन—रोजर वेकन ने आकाश में समय-समय पर घटित होनेवाले ग्रहण आदि के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने लिए एक ज्योतिष की सारणी (astronomical table) बनाई। इस तथा इसी प्रकार के अपराधों के कारण उनको दस साल की सज़ा उस समय मिली जिस समय उनकी उम्र ७० के लगभग थी। केपलर ने आकाश का मानचित्र बनाया, और यह आविष्कार किया कि ग्रहगण सूर्य के चारों ओर वृत्ताकार में नहीं, बल्कि अण्डे की लम्बाई के आकार में घूमते हैं। इस प्रकार के अपराधों के कारण उनको धर्म ने सजा देनी चाही, किन्तु वे हाथ नहीं आये। तब उनकी वृद्धा माता पर जादूगरनी होने का अभियोग लगाकर शारीरिक निर्यातन किया गया, और उनको मृत्युदण्ड भी दिया जानेवाला था, किन्तु मित्रों के कोशिश करने के कारण आजन्म कारावास का दण्ड मिला।

२२—धर्म के कारण डेकार्ट पूर्ण विकसित नहीं हो सके—इसी प्रकार बहुत से और वैज्ञानिकों का निर्यातन हुआ, और उनको धर्मविरोध के अपराध में ज़िन्दा जला दिया गया। मध्ययुग का इतिहास धर्म द्वारा विज्ञान के निर्यातन के इतिहास से भरा पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि धर्म इस प्रकार विज्ञान का विरोध न करता तो विज्ञान की उन्नति और भी आसान होती, और बहुत

से लोग, जो डर के मारे विज्ञान के पथ से च्युत हो गये, च्युत न होते। डेकार्ट ऐसे वैज्ञानिक के सम्बन्ध में यह कहा गया कि वे धर्म-द्वारा निर्यातित होने के भय के कारण अपने विचार को समग्र रूप से न रख सके, तथा उन्होंने विश्व-पद्धति की जो यांत्रिक कल्पना की थी, उस पर डर के मारे खामख्वाह एक ईश्वर को लाद दिया। हम समझते हैं कि केवल डर ही इसका कारण नहीं था, बल्कि जिस यांत्रिक रूप में उन्होंने विश्व की कल्पना की थी, उसमें अन्त तक पहले-पहल जिसने उस यंत्र को चलाया उसकी कल्पना को भी उस विश्व कल्पना में सम्मिलित करना ज़रूरी था। डेकार्ट इस प्रकार विभिन्न असरों के कारण विज्ञान के साथ विश्व स्रष्टा ईश्वर के समन्वय करने की व्यर्थ चेष्टा में रह गये। यही बात कान्ट के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जो भी हो, जब से ईसाई-धर्म ने गुलामों का पल्ला छोड़कर शासकों का पल्ला पकड़ा, और जब से वह सामन्तवादी हो गया, तभी से उसने इतिहास में बराबर एक प्रतिक्रियावादी हिस्सा ही अदा किया है। ईसाइयत ने वैज्ञानिकों को केवल ज़िन्दा जलकर ही अपना काम नहीं चलाया, उसने साम, दाम, दण्ड, भेद सभी उपायों से काम लिया। कहीं वैज्ञानिकों को नौकर रख लिया, तो कहीं बड़ा ओहदा दिया। इस प्रकार उसने बारबार विज्ञान के रास्ते में रोड़े अटकाने की कोशिश की। हमारे देश में भी मतवादों का निर्यातन कुछ कम नहीं हुआ। वैदिक युग में चार्वाक, बृहस्पति आदि भौतिकवादी विद्वान् हो गये हैं। यह पता लगता है कि अपेक्षाकृत आधुनिक काल तक—कौटिल्य आदि के समय तक—इनके मतों का अच्छा प्रचार था, किन्तु इन विद्वानों के ग्रन्थ भी इस प्रकार जला दिये गये कि उनके विरोधियों के ग्रन्थों में उनके मतों की जो समालोचना है, उसके अतिरिक्त उनका कोई पता नहीं मिलता।

२३—नये वर्ग के कारण नये सम्प्रदाय—अलवीजेन्सस और प्रोटेस्टेन्टवाद— मध्ययुग में, सामन्तवाद के युग में, एक नये वर्ग की उत्पत्ति के साथ-साथ यूरोप में ईसाइयत के अन्दर एक विद्रोही धारा चल निकली। इसको प्रोटेस्टेन्ट-वाद कहते हैं, और मार्टिन लूथर इस वाद के मुख्य प्रवर्तक माने गये हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि लूथर के बहुत पहले ही अलवीजेन्सस

नामक एक विद्रोही सम्प्रदाय का उदय हुआ था। यह सम्प्रदाय १२वीं तथा १३ वीं शताब्दी में मौजूद था। फ्रांस के दक्षिण में अलबी नामक एक शहर से इस सम्प्रदाय का नामकरण हुआ। इस सम्प्रदाय का वर्ग चरित्र इससे स्पष्ट हो जाता है कि इसमें सौदागर वर्ग, कारीगर, शहर के ग़रीब तथा किसान शामिल थे। यह आन्दोलन धार्मिक था, किन्तु इससे इसका वर्ग चरित्र छिपता नहीं, बल्कि जो लोग इसमें शामिल थे, उससे वह चरित्र और भी स्पष्ट हो जाता है। यह आन्दोलन धार्मिक रूप में आने पर भी सामन्तवादी वर्ग के विरुद्ध भ्रूण रूप में स्थित पूँजीवादी वर्ग और उसके मित्र किसान वर्ग (इस वर्ग का स्वार्थ इसमें था कि सामन्तवादी जूआँ हट जाय, और अर्द्ध ग़ुलामी दूर हो) के उत्थान का आन्दोलन था, किन्तु ये वर्ग अभी बहुत कमज़ोर थे। फिर भी इसको दबाने के लिए पोप को बीस साल तक युद्ध करना पड़ा। अन्त में यह आन्दोलन दबा दिया गया। आगे चलकर जब विभिन्न कारणों से सौदागर वर्ग की वृद्धि हुई, तब प्रोटेस्टेन्टवाद की लहर चल निकली। प्राचीन रोमन कैथोलिक धर्म ने प्रोटेस्टेन्टों के साथ जो अत्याचार किये हैं, उनकी कहानी इतिहास का एक अत्यन्त हत्यारा अध्याय है। फिर भी इस नवीन मतवाद ने बढ़ते हुए सर्वतोमुखी विद्रोह को मूर्त किया, इसलिए इसकी जययात्रा को रोकने में ये अत्याचार असमर्थ रहे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यूरोप के जिन देशों में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय का बोलबाला हुआ, वे ये ही देश हैं जिनमें दूसरे देशों के मुक़ाबिले प्रगति अधिक हुई अर्थात् उन्हीं देशों में पूँजीवाद सबसे पहले उद्भूत हुआ। ऐसे देश रोमन कैथोलिक देशों के आगे निकल गये।

२४—इँगलैंड का राष्ट्र गिर्जा—इँगलैंड का राष्ट्रीय गिर्जा यूरोप के सब गिर्जों से बिलकुल ही अलग हो गया। इस प्रकार इँगलैंड का धर्म एक 'द्वीप धर्म' हो गया। कदाचित् यह भी एक कारण है कि इँगलैंड की उन्नति में बाहरी शक्तियाँ हस्तक्षेप न कर सकीं। इँगलैंड का गिर्जा जिन आर्थिक, सामाजिक कारणों से रोम के गिर्जे से अलग होकर फूट गया, वे कोई मतवाद-सम्बन्धी झगड़े नहीं, बल्कि इनके पीछे बिलकुल ऐहिक लाभालाभ थे। कैथोलिक गिर्जों के अधिकार में इँगलैंड की ज़मीन का बहुत बड़ा हिस्सा आ चुका था। अब ऊन पैदा करने के लिए उदीयमान पूँजीवादी वर्ग को इन ज़मीनों की ज़रूरत

थी। स्वाभाविक रूप से गिर्जे इन ज़मीनों को अपने अधिकार से जाने देना नहीं चाहते थे। केवल यही नहीं, वे अपने इस अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए प्राचीन सामन्तवादी सम्बन्धों की अच्छेद्यता का गीत गाया करते थे। नये गिर्जे अर्थात् नये मत के अनुसार मनुष्य केवल विश्वास के ही द्वारा अपना त्राण कर सकता था। इस प्रकार नये मत में प्राचीन पादरी वर्ग को बिलकुल कन्नी काटकर उसकी आमदनी का ज़रिया ख़तम कर दिया गया था। जनता ग़रीब थी, जब इस प्रकार पादरियों की व्यय-सापेक्ष मध्यस्थता को नये मतवाद में हटा दिया गया, तो जनता ने भी इसको ग्रहण कर लिया। यह भी एक कारण था कि कैथोलिक चर्च का ह्रास हुआ, और नये मतवाद का अभ्युदय हुआ। टामस क्रामवेल ने जिस क्रान्ति का नेतृत्व किया, उसके द्वारा गिर्जों की तमाम ज़मीनें गृहस्थ ज़मींदारों को दे दी गई। इस प्रकार जिन लोगों के हाथों में ज़मीनें आई, वे ज़मीन का उपयोग गतानुगतिक तरीक़े से न कर अधिक मुनाफ़े के लिए तैयार थे। परिणाम यह हुआ कि नई आर्थिक शक्तियों को उत्तेजना मिली। १५५९ में ही ब्रिटिश पार्लियामेंट ने पोप की शक्ति को ख़तम कर दिया था, और ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में महारानी एलिज़ाबेथ को मुख्य अधिकारिणी क़रार दिया था। इस प्रकार अपनी प्रार्थना-पुस्तक के अनुसार प्रार्थना करने के लिए जो संघर्ष हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में वर्ग संघर्ष और सम्पूर्ण रूप से ऐहिक हित काम कर रहे थे। ट्राटस्की ने ठीक ही लिखा है कि 'ये नये वर्ग जिन हितों के लिए लड़ रहे थे, वे उनके मन में अपरिहार्य रूप से बाइबिल के वाक्यों तथा गिर्जे सम्बन्धी अनुष्ठानों से खिल्तमिल्त हो गये, तभी तो ईसाई धर्म की व्याख्या ने एँग्लो सेक्सनों में इतना ज़बर्दस्त पौरुष दिखलाया।'[१]

२५—अन्य देशों में कैथोलिक सम्प्रदाय—राइनलैंड में कैथोलिक गिर्जा न तो उदीयमान आर्थिक-सामाजिक शक्तियों के सामने झुका और न टूटा ही। ऐसा इसलिए हुआ कि वहाँ कैथोलिक गिरजे ने अपने को क़रीब-क़रीब आत्म-शासित क़रार दे दिया। स्थानीय विशप अपनी-अपनी जगह पर पूर्ण प्रभु हो

---

[१] R. R. p. 36

गये। उन्होंने धीरे-धीरे गिर्जे की ज़मीनें वैयक्तिक ज़मीदारों को सौंप दीं। इसके फलस्वरूप राइनलैंड में रोम की शक्ति का अन्त हुआ, किन्तु कैथोलिक गिर्जे की शक्ति ज्यों की त्यों रह गई। पहले कैथोलिक गिर्जे के अनुसार सूदखोरी बहुत बड़ा अपराध था। इसी कारण महाजनी और साथ-साथ व्यापार यहूदियों के हाथ में चला गया, किन्तु धीरे-धीरे कैथोलिक गिर्जे ने इस पर भी राय बदल दी। स्पेन में कैथोलिक गिर्जे का दबदबा कभी घटा ही नहीं, और न वहाँ रोम का आधिपत्य ही घटा। बात यह है कि वहाँ पूँजीवाद का सही अर्थ में उत्थान हुआ ही नहीं। १९३१ में स्पेन में जो लोकतांत्रिक क्रान्ति हुई, जिससे पूँजीवाद के अभ्युदय के लिए मार्ग खुल गया था, वह भी कैथोलिक गिर्जे के दबाव के कारण टिक न सकी। स्पेन में कैथोलिक गिर्जे का यह दबाव इस कारण था कि वहाँ उत्पादन पद्धति में उन्नति हुई ही नहीं।

२६—**फ़्रांस की राज्यक्रान्ति और धर्म-विरोध**—फ़्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) के अवसर पर कैथोलिक धर्म ने सामन्तवाद का साथ दिया था। इस कारण उठते हुए पूँजीवादी वर्ग ने इसकी बहुत खिल्लियाँ उड़ाईं। इसी कारण राज्यक्रान्ति को एक धर्म-विरोधी चरित्र प्राप्त हुआ। बात यह है कि पादरियों ने ईश्वर को सामन्तवादी वर्ग के पक्ष में दिखलाया, इसलिए पूँजीवादीवर्ग ने ईश्वर के स्थान पर युक्ति या बुद्धि को रक्खा। पेरिस के सबसे बड़े गिर्जे को युक्ति का मन्दिर क़रार दिया गया। धर्म के समान्तराल उत्सवों का सूत्रपात किया गया। १७९० की १४ वीं जुलाई को क्रान्ति का सबसे प्रथम उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर शाँ-द-मार नामक मैदान के ठीक मध्यस्थल में बीस फ़ुट ऊँची मातृभूमि की वेदी बनाई गई। यह कहा गया कि इसमें लोग अपनी अर्जियाँ रक्खेंगे, और लोग यहीं पर शपथ लिया करेंगे। इस अवसर पर १६०००० व्यक्तियों को बैठने के लिए जगह दी गई, और डेढ़ लाख व्यक्ति खड़े रहे। इस अवसर पर जनता में अपूर्व उत्साह रहा। असल में यह वेदी गिर्जे की प्रतिद्वन्द्वी के रूप में बनाई गई थी। बाद को सारे देश में इस प्रकार की वेदियाँ बनाई गईं। इस पर संसार में सबसे निर्दोष वस्तु बच्चे, यहाँ तक कि सद्योजात शिशु रक्खे जाते थे। तरह-तरह के अन्य प्रतीकों से इस वेदी को लोगों की आँखों में महत्त्व देने की चेष्टा की जाती थी। इस प्रकार धर्म के

विरुद्ध निरन्तर प्रचार जारी रक्खा गया। पहले धर्म के विरुद्ध प्रचार में उदीयमान पूँजीवादी वर्ग तथा शहरी मज़दूर जनता दोनों बराबर जोश दिखाती थीं; किन्तु यह गठबन्धन अधिक दिन न चल सका, क्योंकि एक तो धर्म ने नये शासक वर्ग के साथ समझौता करने का रुख दिखलाया, दूसरे अब पूँजीवादी वर्ग मज़दूर वर्ग के साथ क्योंकर चलता ? जहाँ तक सामन्तवाद को उखाड़ फेंकने का प्रश्न था, वहाँ तक तो दोनों साथ-साथ चले, किन्तु अब आगे उनका क्या साथ हो सकता था। 'कम्युन खुल्लमखुल्ला ईसाई धर्म को दबाने का अपना उद्देश्य घोषित कर रहा था, और युक्ति तथा स्वतन्त्रता की पूजा कराने पर तुला हुआ था। इस आन्दोलन के मुख्य नेता शौमेत थे।'[१] शौमेत के अतिरिक्त एवेर (Hebert) आदि अन्य नेता भी थे। अब निरी बातों से ये लोग व्यावहारिक कार्यों में उतरने लगे। ईसाई महीनों का तो पहले ही बहिष्कार हो चुका था। उनकी जगह पर ऋतु नाममूलक महीनों का प्रवर्तन हो चुका था। पेरिस में अब यह क़दम उठाया गया कि ईश्वर के नाम से गिर्जों में जो बड़े-बड़े घंटे लगे हैं, उन्हें तोड़ लिया जाय, और उन्हें गलाकर तोप तथा सिक्के बनाये जायँ। रंगमंच ने इस प्रवृत्ति का साथ दिया, और 'ढोंगियों की क़ब्रें' तथा 'सत्य के मन्दिर का प्रवर्तन' नामक नाटकों में ईसाइयों की सबसे बड़ी प्रार्थना (High mass) का उपहास किया गया। कन्वेन्शन ने इस बात पर कोई ख्याल नहीं किया, किन्तु जब ऐसी बातें होने लगीं, साथ ही साथ इसमें यह भी कारण आ मिला कि रावसपियर कट्टर ईश्वरवादी थे, लोगों का ध्यान इस ओर गया। फूसे नामक एक नेता ने नेवर (Nevers) के एक केथड्रल से बोलते हुए कहा कि लोकतांत्रिक कार्यक्रम से अध्यात्मवाद को बिलकुल निकाल दिया जाय। इसके साथ उन्होंने यह फतवा भी निकाल दिया कि अब ईश्वर की चिरनिद्रा होती है, इसलिए न तो अब स्वर्ग ही रहा और न नरक। कई जगह गिर्जों को सत्य के मन्दिर में तब्दील कर दिया गया। बहुत से स्थानों की माता मरियम की मूर्ति के सम्बंध में यह समझा जाता था कि इसमें अलौकिक शक्ति है। ऐसी मूर्तियों को क्रान्तिकारी जनता

---

१ F. R. L. M. p. 387

ने सार्वजनिक रूप से जला दिया। लोग गिर्जों की क़ीमत तश्तरियाँ लेकर चलता हो गये। एलियेर के विशप ने फूस के सामने धर्म त्याग कर दिया। कई व्यक्तियों ने बहुत से लोगों के सामने स्नान किया, और कहा कि अब हम ईसाइयत से अलग हो गये। अब तो रासपियर की सहन शक्ति खतम हो गई। बात यह है कि अब सारे देश में, जहाँ देखो तहाँ, स्वतंत्रता और युक्ति की देवियों के रूप में सुन्दरी स्त्रियों की पूजा हो रही थी। ये उत्सव वैसे ही थे जैसे हमारे यहाँ रामलीला में किसी भी साधारण बालक को, राम बनाकर, पूजा की जाती है। जो भी हो, लोगों में बहुत जोश था और सब समझ रहे थे कि ईश्वर को निकाल बाहर किया गया।

२७—पूँजीवादीवर्ग ने धर्म को अपनाया—रावसपियर ने स्वयं इन अनुष्ठानों के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई, किन्तु पाइयाँ (Payan) ने जब यह कहा कि ये देवियाँ दन्तकथा की कहानियों की देवियों से कहीं अधिक पतिता हैं, तब रावसपियर ने उसकी प्रशंसा की। कोलो नामक एक व्यक्ति ने भी इसी प्रकार युक्ति देवी के विरुद्ध आक्षेप किये।

रावसपियर के साथी कूथो ने विजय के त्योहार के अवसर पर ईश्वरवादी के रूप में भाषण दिया। दाँतों भी इस आन्दोलन से असन्तुष्ट थे। यदि हम स्मरण रक्खें कि ये अनीश्वरवादी लोग ईश्वर के साथ साथ सम्पत्ति तथा शासक वर्ग के सदाचार के विरूद्ध थे, तो हमें यह समझने में देर न होगी कि क्यों यह अनीश्वरवादी आन्दोलन मध्यवित्त श्रेणी तथा उच्चश्रेणी की आँखों की किरकिरी हो गया। तथा क्यों जूलियन से लेकर उनके छोटेभाई अगुस्ताँ रावसपियर 'पतित' तथा अनीश्वरवादी डियूटियों के विरूद्ध लड़ाई लड़ने लगे। थोड़े ही दिन में परिस्थितियों का इतना स्पष्टीकरण हुआ कि इस आन्दोलन के नेतागण गिरफ़्तार किये जाने लगे, और इनमें से कइयों पर पिट तथा कोबुर्ग के एजेंट होने का आरोप लगाया गया। इस क्षेत्र में रावसपियर कूथो से अनुप्रेरणा लेते थे। इसके बाद वे साथ साथ आ गये, और कहना शुरू किया कि यदि ईश्वर न भी होते तो हमें मजबूरन ईश्वर का आविष्कार करना पड़ता। उन्होंने कहा कि ऐसे एक ईश्वर की कल्पना ज़रूरी है जो सताये हुए निर्दोष लोगों पर अपनी देखरेख रखते हैं, तथा जो अपराध विजयी हो जाता

है, उसको सज़ा देते हैं। १७ जरमिनाल को कन्वेन्शन के 'पापी' सदस्य मौत के घाट उतार दिये गये। इसके बाद ईश्वर के त्योहार की तैयारी होने लगी। रावसपियर ने कहा 'पवित्र आत्माओं को इस बात की अवश्यकता का अनुभव हो रहा है कि वे ईश्वर को मानें तथा उनकी पूजा करें।' साथ ही यह भी कहा गया कि जो कोई ऐसा महसूस नहीं करता, वह बड़ा अभागा है। १८ फ़्लोरियाल को रावसपियर ने एक वक्तृता दी जिसमें उन्होंने कहा कि धार्मिक तथा नैतिक विचार और लोकतांत्रिक सिद्धांन्तों में अटूट सम्बन्ध है। इस अवसर पर एक क़ानून भी बनाया गया जिसमें यही बात कही गई। लेस्को नामक सदस्य ने इस क़ानून पर एक रहस्यवादी पुट लगाते हुए कहा कि इस प्रकार के क़ानून को पास करने के कारण कि ईश्वर फ़्रांस पर बहुत खुश होंगे, और अबकी बार बहुत जबर्दस्त फ़सल होगी। इस प्रकार ईश्वर का त्योहार मनाया गया। रावसपियर ने इस अवसर पर प्रधान ऋत्विक् का काम किया। कहा जाता है कि इस अवसर पर उन्होंने जो लम्बा भाषण दिया था, उसे उन्होंने एक कृतविद्य पादरी आवेपोरके से लिखवाया था। ईश्वर का गुणगान लाखों ने किया। इस अवसर पर धूपबत्ती जलाई गई, और जिस प्रतीक स्वरूप पहाड़ पर मैक्समिलियन रावसपयिर खड़े थे, वह धूप लोहबान आदि के धुएँ के बादल से ढँक गया। लुई माडला ने लिखा है कि कदाचित् ऐसे ईश्वर को रावसपियर मुहूत के लिए भूल गये कि वे केवल ईश्वर के पुरोहित का काम कर रहे हैं, स्वयं ईश्वर नहीं है। यह द्रष्टव्य है कि बाद को रावसपियर मारे गये, किन्तु उसके कारण और हैं। सारांश यह कि जब फ्रेन्च राज्य क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवादी वर्ग अन्य वर्गों के साथ मिलकर सामन्तवादी वर्ग को निकाल बाहर करने में समर्थ हुआ, और उसकी शक्ति अच्छी तगड़ी हो गई, तो उन्होंने शरणागत-धर्म को अभयदान दिया, और अपने वर्ग स्वार्थ के लिए उसका इस्तेमाल करना शुरू किया। धीरे धीरे ईसाई धर्म की फिर से स्थापना हुई, तथा भागे हुए पुरोहित लोग लौट आये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे धर्म एक विशेष ऐतिहासिक परिप्रेक्षित में, एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए, उदित हुआ उसी प्रकार धर्म का विरोध भी एक ऐतिहासिक उद्देश्य को लेकर फ्रांस की राज्य क्रान्ति के समय तथा उसके कुछ दिन बाद तक चला। जिन वर्गों ने धर्म

विरोध को सामन्तवाद विरोध के एक हथियार के रूप में अपनाया था, उनमें से जो वर्ग अब शासक वर्ग हो गया आर्थात् पूँजीवाद वर्ग जब धर्म के विरुद्ध इस संयुक्त मोर्चे से निकल गया, केवल यही नहीं जब धर्म के साथ उसका समझौता हो जाने के कारण उसने धर्मविरोधियों को मारना शुरू किया, तो धर्मविरोधी आन्दोलन दब गया। मैक्समिलियन रावसपियर अपने वैयक्तिक विश्वासों के कारण केवल इसमें पूँजीवादी वर्ग के हाथों में एक हथियार के रूप में सिद्ध हुये। अन्य तरीक़े से शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति शील होने पर भी पूरी हद तक शोषितवर्ग का साथ न दे सकने के कारण ही अजीब परिस्थितियों में उनका पतन हुआ।

२८—वर्तमान युग में धर्म राष्ट्र का पिछलगुआ—इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि पूँजीवादी वर्ग ने दबकर धर्म से समझौता नहीं किया, बल्कि धर्म ने ही दबकर पूँजीवादी वर्ग की शरण ली। जहाँ वह पहले सामन्तवादी समाज तथा उसके साम्पत्तिक सम्बन्धों का समर्थक था, वहाँ अब वह पूँजीवादी समाज और उसके साम्पत्तिक सम्बन्धों बल्कि श्रम सम्बन्धों को आशीर्वाद देने लगा। वर्तमान यूरोप में धर्म को राष्ट्र के मुक़ाबिले में बिलकुल पीछे हट जाना पड़ा है। मध्य-युग में यह कहा जा सकता था कि धर्म और राष्ट्र कुछ-कुछ बराबर पड़ते थे, किन्तु अब तो जितने गिर्जे हैं वे स्पष्ट रूप से राष्ट्र के पिछलगुये मात्र हैं। मध्य युग में उनका कुछ सांस्कृतिक महत्त्व था, किन्तु अब तो उनका इस सम्बन्ध में कोई भी महत्त्व नहीं है।

२९—आधुनिककाल में धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति में कोई स्थान नहीं—ग्लास्गो विश्वविद्यालय के डाक्टर वर्नेस यह मानने पर विवश हुए हैं कि वर्तमान युग में धर्म का कोई सांस्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय हिस्सा नहीं है। स्मरण रहे कि वे धर्म को भूतकाल की इतनी बड़ी प्रगतिशील शक्ति मानते हैं, जितना कि वह कभी नहीं था। उन्होंने लिखा है 'रोमन गिर्जे ने अन्धकार युग की यूरोपीय जातियों को सभ्य बनाने में मदद दी। बाद के युग में लूथर और कैल्विन ने कुछ दूसरी जातियों पर प्रभाव डाला। इसी प्रकार यूरोपीय परम्परा के बाहर बौद्ध धर्म चीन और जापान में फैल गया, और इस्लाम ने अरबों, तुर्कों, ईरानियों तथा मूरों को सम्बद्ध कर दिया, किन्तु वर्तमान युग में जो

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध हैं, उनके बनाने में धर्म का कोई स्थान नहीं है। अब तो विज्ञान और कला ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को क़ायम करती हैं। वर्तमान युग का गणित अन्तर्राष्ट्रीय है, यहाँ तक कि उसकी भाषा भी सब राष्ट्रों के लिए एक है....' इत्यादि। डाक्टर बर्नस ने यह जो लिखा है कि रोमन गिर्जे ने अन्धकार युग की यूरोपीय जातियों को सभ्य बनाया, इस बात पर हम ज्यों का त्यों विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं। आख़िर गिर्जों के पहले के ज़माने में अरस्तू, अफ़लातून आदि कितने ही विद्वान् पैदा ए। जैसा हम लिख चुके हैं, ईसाई धर्म ने अरस्तू की ही सारी बातों को अपना लिया, इसलिए यह दावा स्वाभाविक रूप से फीका पड़ जाता है कि ईसाई धर्म ने या रोमन गिर्जे ने जातियों को सभ्य बनाया। यदि उन्होंने इसमें कुछ बँटाया तो इसके कारण अन्यत्र ढूँढ़ने पड़ेंगे। चीन में बौद्ध धर्म के जाने से वहाँ कुछ विशेष अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ी हो, ऐसा नहीं ज्ञात होता। इस्लाम ने अरबों, तुर्कों, ईरानियों इत्यादि को उसी प्रकार संयुक्त किया, जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत, मिस्र, मलाया, आदि को संयुक्त किया। यों तो इस्लाम ने कुछ सांस्कृतिक सेवाएँ कीं इसमें कोई सन्देह नहीं।

३०—प्रत्येक देश का ईश्वर अपने देश के शासक वर्ग के हाथों का कठ-पुतला—नगुची-रवीन्द्र में पत्र-व्यवहार—जिस समय कोई महायुद्ध छिड़ता है, उस समय प्रत्येक राष्ट्र का गिर्जा किस प्रकार अपने देश की विजय के लिए लोगों को धर्म के नाम पर भड़काता है, यह सभी को ज्ञात है। इस प्रकार जर्मनी का ईश्वर इँगलैंड के ईश्वर के विरुद्ध आशीर्वाद देता हुआ, दृष्टिगोचर होता है। इस तथ्य से धर्म का पिछलगुआ चरित्र स्पष्ट हो जाता है। १९३८ में चीन पर जापान द्वारा आक्रमण के सम्बन्ध में जापान के प्रसिद्ध कवि योने नगुची और रवीन्द्रनाथ में जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उसमें योने नगुची ने किस प्रकार धर्म को घसीट कर चीन पर जापानी आक्रमण का समर्थन किया था, यह द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा 'मैंने कलकत्ते के कालीघाट में काली की उन्मत्त और रक्त-चर्चित त्रिनयना मूर्ति के सम्मुख सर झुकाया, क्योंकि इसने हमें आनेवाली शान्ति की सूचना दी। इसी प्रकार बम्बई के निकट एलिफ़ेन्टा द्वीप में मैंने त्रिमुण्ड युक्त

शिव से यह बात सीखी कि विनाश जीवन का एक अनिवार्य सत्य है। उस समय मैंने लिखा था—

'तुम्हारी हत्यारी तलवार हमें उतनी निष्ठुर
प्रतीत नहीं होती, जितनी वह दिखाई पड़ती है,
सृष्टि महान् है, किन्तु विनाश इससे भी महत्तर है
क्योंकि राखों के ढेर से
नवीन आशाओं का उद्भव होता है।'

इस प्रकार योने नगुची ने जापानी आक्रमण के लिए भारतीय धर्म में ही समर्थन प्राप्त किया था। इसके उत्तर में रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—'मैं आपको इस बात के लिए धन्यवाद देता हूँ कि आपने भारतीय दर्शन का अर्थ मुझे समझाया, और यह कहा कि काली और शिव की सही व्याख्या करने पर चीन के वक्षःस्थल पर जापान इस समय जो ताण्डव नृत्य कर रहा है, उसका समर्थन हमें करना ही पड़ेगा। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि आप यदि एक ऐसे धर्म से जो आपके और क़रीब है शिक्षा लेते, और बुद्ध से अपना समर्थन प्राप्त करते तो अधिक शोभन रहता। हाँ, मैं तो भूल ही गया कि आपके देश के पुरोहित तथा कलाकारों ने इस युद्ध में बुद्ध का समर्थन प्राप्त कर लिया है, क्योंकि मैंने 'ओसवकामाईनीची' और 'टोकियो नीचीनीची' (१६ सितम्बर १९३८) में बुद्ध की एक विराट् मूर्ति का चित्र देखा जो आपको अपने पड़ोसियों के क़त्ले-आम के लिए आशीर्वाद देते हैं।'

३१—धर्म हमेशा से संकुचित स्थिर स्वार्थ का पैरोकार—इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। धर्म के दो जगत्-प्रसिद्ध व्याख्याता किस प्रकार धर्म को अपने-अपने मत की ओर खींचते हैं, यह द्रष्टव्य है। इनमें से कौन सही है, यह हमारे वर्तमान विषय की दृष्टि से अनावश्यक है। हमें इसमें इतना ही जोड़ना है कि कवीन्द्र के पत्र से यह जो झलक आती है, मानो जापानियों ने ही अपनी साम्राज्यवादी उच्चकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धर्म का इस प्रकार इस्तेमाल किया है, तो यह ग़लत होगा। यदि जापानियों ने साम्राज्यवादी युद्ध में बुद्ध का समर्थन प्राप्त किया, तो दूसरी जातियों ने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए उस ईसा का समर्थन प्राप्त किया जिन्होंने यह कहा था कि यदि तुम्हारे गाल पर

कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल भी आगे बढ़ा दो। रवीन्द्रनाथ जिनका अधिक गौरव करते थे, वे वैदिक आर्य भी इस प्रकार की चेष्टा से बरी नहीं थे, बल्कि सच तो यह है कि उनके वरुण, इन्द्र, अश्विनीकुमार आदि देवता यहूदियों की जेहवा की तरह बिलकुल एक कबीले के देवता थे, और दूसरे कबीलों के दाम पर अपने कबीले या कबीलों की भलाई चाहते थे।

३२—धर्म प्रगति विरोधी—धर्म आज किसी भी महत्त्वपूर्ण मामले में राष्ट्र-शक्ति का अर्थात् देश के शासक वर्ग का विरोध नहीं कर सकता। केवल यही नहीं, धर्म जब कभी किसी मामले में किसी क़ानून के विरुद्ध जैसे जन्मनिरोध, तलाक (विशेषकर कैथोलिक देशों में, हिन्दू इस सम्बन्ध में इतने पिछड़े हैं कि उनकी तो यहाँ गिनती ही नहीं हो सकती) आदि के विरुद्ध आवाज़ उठाता है, तो हम उसे एक प्रतिक्रियावादी हिस्सा अदा करते पाते हैं। धर्म आज किसी भी अर्थ में प्रगतिशील शक्ति नहीं है। आधुनिक युग में धर्म का प्रगति विरोधी चरित्र इतना स्पष्ट तथा निर्विवाद सिद्ध है कि विलियम मैकडूगल ऐसे व्यक्ति को, जो धर्म को मनुष्य जाति के लिए आवश्यक समझते हैं; विवश होकर मानना पड़ा है कि 'गत तेइस शताब्दियों से लगातार मनुष्य की प्रकृति, उसकी शक्तियों तथा सम्भावनाओं के सम्बन्ध में तर्क होते रहे हैं, किन्तु हम इनको बहुत कम जानते रहे हैं। विज्ञान ने इन समस्याओं को सुलझाने की ओर रुख किया है, और उसे सफलता मिलने की कुछ थोड़ी आशा भी है; किन्तु इस सम्बन्ध में धर्म बराबर सही समाधान प्राप्त करने के मार्ग में रोड़े अटकाता रहा है।'[१]

३३—हिटलरवाद और धर्म—धर्म की प्रतिक्रियावादिता का यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है कि फ़ासिवाद ने धर्म का पूर्ण समर्थन किया था। फ़ासिवाद ने ऐसा केवल आवेश में या परम्परा की दासता में आकर नहीं किया है, बल्कि फ़ासिवाद और धर्म के हितों में समता है, इसी लिए यह गठबन्धन सम्भव हुआ था। हिटलर यों तो नार्डिक जाति की श्रेष्ठता के प्रतिपादक थे, किन्तु ईसामसीह नार्डिक जाति के नहीं थे, बल्कि उस जाति के थे जो हिटलरवाद की दृष्टि में सबसे घृणित जाति थी। नात्सीवाद के लिए यह एक बहुत बड़ी पहेली थी,

१ R. S. L. p. VI

और इसको किस प्रकार सुलझाया जाय, यह उनकी समझ में नहीं आता था। मजे की बात यह है कि जनता को ईसाइयत से हटाना बहुत कठिन था, साथ ही ईसा के यहूदी होने से नार्डिक जाति की श्रेष्ठतावाले नारे पर बहुत ज़बर्दस्त आँच आती थी। अतः इस असंगति को दूर करने के लिए सरकारी तौर पर यह कह दिया गया कि ईसामसीह यहूदी नहीं थे। शुरू-शुरू में जर्मनी के चर्च ने कुछ स्वतन्त्रता दिखाने की चेष्टा की थी। उस समय हिटलर के कुछ भक्तों ने यह भी कोशिश की थी कि हिटलर को पैग़म्बर बनाकर एक धर्म चलाया जाय। यह योजना जल्पना की मात्रा से कहीं आगे बढ़ चुकी थी, किन्तु व्यावहारिक रूप से आशु फलप्रद ज्ञात न होने के कारण इस योजना को एक तरह से छोड़ देना पड़ा। उधर गिर्जों के नेतागण रुख़ को समझ गये, तदनुसार जर्मन गिर्जे ने सम्पूर्ण रूप से हिटलरवाद का वाहन, प्रचारक, पिछलगुआ होना स्वीकार किया। इस प्रकार धर्म और नात्सी राष्ट्र में जो कथित समझौता हुआ, उसमें धर्म ने हिटलरवाद के सामने सम्पूर्ण रूप से घुटना टेक दिया।

३४—धर्म और मुसोलिनी—यही बात इटली के फ़ासिवादी नेता मुसोलिनी के सम्बन्ध में भी लागू है। पहले मुसोलिनी का भी वहाँ के धर्म के साथ बहुत ज़बर्दस्त संघर्ष हुआ, किन्तु धर्म ने शीघ्र ही मुसोलिनी की अधीनता स्वीकार कर ली। रोम पहले पोप के राज्य में समझा जाता था, किन्तु १८७१ में रोम नवनिर्मित इटलीय राष्ट्र की राजधानी हो गया। पोप रोम में किसी राष्ट्र का शासन मानने के लिए तैयार न थे, अतएव तब से जितने पोप हुए, वे 'बेटिकन' के दायरे से निकलते नहीं थे। मुसोलिनी के शासनारूढ़ हो जाने के बाद भी यह नियम ज्यों का त्यों जारी रहा, किन्तु जब मुसोलिनी ने देखा कि धर्म ने सम्पूर्ण रूप से आत्म समर्पण कर दिया है, तब उसने कैथोलिकों पर प्रभाव डालने के लिए पोप से सन्धि कर ली। तब से पोप 'बेटिकन' से बाहर भी जाते हैं। इस प्रकार जब धर्म के साथ अर्थात् धर्मगुरु पोप के साथ मुसोलिनी का 'समझौता' हो गया, तब उन्होंने धर्म की तारीफ़ शुरू की। यों तो वे पहले यह नारा दे रहे थे कि पोप फ़जूल के पचड़ों में पड़े रहते हैं इत्यादि, किन्तु उन्होंने बाद को जो बयान दिये, उनमें से एक यों है—'धर्म केवल साधारण जनता के लिए नहीं बल्कि ने हुए लोगों के लिए भी ज़रूरी है, क्योंकि धर्म के बग़ैर ज्ञान पूर्ण

नहीं होता। बच्चों को गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में जो धार्मिक शिक्षा दी जाती है, वह जारी रहेगी। मैं पादरियों को इजाज़त देता हूँ कि वे धर्म के लिए बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा दें। धर्म के लिए जो कुछ है, वह राजनीति है, और मैं राजनीति हूँ। मैं इस बात को कभी सहन नहीं करूँगा कि कोई भी व्यक्ति—वह चाहे कितना भी दावा रखता हो, राष्ट्र से जिस बात का सम्बन्ध है, उसमें हस्तक्षेप करे।' मुसोलिनी के इस बयान में धर्म का पृष्ठ-पोषण है, किन्तु साथ ही धर्मगुरु पोप को यह धमकी भी है कि वे याद रक्खें कि उनकी हैसियत क्या है। मुसोलिनी ने जो इस प्रकार धर्म को मान लिया, उसमें धर्म के प्रति उसका कोई प्रेम सूचित नहीं होता, बल्कि इससे यह ज्ञात होता है कि वह धर्म को जनता की अफ़ीम के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था, और उसने ऐसा किया।

३५—स्पेन की प्रतिक्रान्ति में धर्म का प्रतिक्रान्तिकारी हिस्सा—आधुनिक इतिहास में हम एक जगह यानी स्पेन की प्रतिक्रान्ति में धर्म को स्पष्ट रूप से प्रतिक्रान्ति के पक्ष में एक शक्ति के रूप में देखते हैं। स्पेन के पिछड़े हुए लोगों के जीवन में धर्म एक प्रमुख शक्ति थी। यह केवल धार्मिक भावना की बात नहीं है, इसमें और भी ऐहिक तथा स्थूल बातें थीं। 'वहाँ कोई ४० हज़ार पादरी तथा धर्मयाजक थे। ये सबके सब राष्ट्र की तनख्वाह में और राष्ट्र के अंग के रूप में थे। ये सब भावुकता की दृष्टि से ही नहीं, राजनीति में सामन्तवादी ज़मींदारों तथा सेना के साथ थे।' गिर्जों के पास स्पेन में न केवल बड़ी-बड़ी ताल्लुक़ेदारियाँ थीं, बल्कि खानों, उद्योगधन्धों, जहाज़ों, बैंकों आदि पर उनका कब्ज़ा था। १९३६ तक तो स्पेन की सारी ट्रेनों का मालिक वहाँ का चर्च था। प्रतिक्रान्ति में गिर्जों ने फ़्रैंकों का क्यों साथ दिया, यह समझना कठिन नहीं है। आइबीरीय प्रायद्वीप के सबसे बड़े पाँच बैंकों में Banco Espiritu Santo (परमात्मा का बैंक) था।[१] यह बैंक सीधा-सीधा गिर्जों के अधीन था। फ़्रैंकों के विद्रोह के लिए इस बैंक ने मदद में बहुत रुपये दिये। स्पेन में लोकतन्त्र के लिए लड़ाई इसी कारण आवश्यक रूप से गिर्जों के विरुद्ध लड़ाई

---

१ S. T. A. p. 44

के रूप में परिणत हो जाती थी। इसी लिए जब फ्रेंकों ने प्रजातन्त्र के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की तो फ़ौरन गिर्जों ने इन विद्रोहियों को अपनी शरण में ले लिया। गिर्जों ने न केवल इन्हें नैतिक सहायता दी, बल्कि हर प्रकार से उनकी आर्थिक सहायता भी की। इस प्रकार धर्म जब राजनीति में भाग लेते हैं, तो वे हमेशा प्रतिक्रिया का ही साथ देते पाये जाते हैं। यह तो हुई उस समय की बात जिस समय धर्म प्रत्यक्ष रूप से रोज़मर्रा की घटनाओं में हस्तक्षेप करता है, किन्तु जिन क्षेत्रों में वह ऐसा नहीं भी करता, वहाँ भी वह कम से कम इतना तो करता ही है कि लोगों में एक स्वास्थ्यकर प्रवृत्ति को बढ़ने नहीं देता, उनको या तो जगत् की ओर से उदासीन कर देता है, या उनका ध्यान बिलकुल ऐसी बातों में बँटा देता है जिससे उसका उपयोग सृजनशील तरीक़े से न हो सके।

३६—नये सम्प्रदायों के ज़रिये वर्ग युद्ध—एक नये धर्म या सम्प्रदाय की उत्पत्ति के द्वारा प्रचलित धर्म का विरोध नई सामाजिक शक्तियों के अभ्युदय की सूचना करता है। कैथोलिक धर्म के विरुद्ध प्रोटेस्टेन्ट धर्म का उदय इसी प्रकार की शक्तियों की क्रिया का एक उदाहरण है। स्मरण रहे कि हम नये धर्म या सम्प्रदाय से ऐसे धर्मों तथा सम्प्रदायों को ले रहे हैं जो केवल प्रवर्तक के दिमाग़ में या उसके वैयक्तिक पुस्तकालय में सीमित न रहकर कम से कम जनता के एक अंश के द्वारा गृहीत हुए हैं। ज़ारशाही रूस के प्रचलित धर्म ग्रीक गिर्जे के विरुद्ध स्टुन्डवादी, फ़्लेगेलेन्ट, मोलेकन आदि सम्प्रदायों का उदय हुआ। इन सम्प्रदायों का उदित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि रूस का प्रचलित धर्म सही मानो में वाइजेन्टाइन साम्राज्य तथा ज़ारशाही का धार्मिक प्रतिफलन था। इस धर्म का ईश्वर रूसी ज़ार की ही तरह निरंकुश था। भाषा-विज्ञान भी इस प्रकार की भाषा के पक्ष में गवाही देता है। रूसी में ईश्वर के लिए जो गास्पाड शब्द आता है, वह गास्पाडीन या मालिक से अभिन्न है। रूसी में वाग शब्द ईश्वरवाची है; और वगारी का अर्थ धनी है। मैक्सवेवर ने भारतीय धर्मों का विवरण देते हुए एक स्थान पर लिखा है कि दक्षिण में ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। वह वलनगाई या इडेनगाई अर्थात् दाहिनी ओर की जाति और बाईं ओर की जाति आन्दोलन में परिणत हुआ। उसके पीछे भी वर्ग-शक्तियाँ थीं,

तथा यह आन्दोलन उच्चवर्ग के विरुद्ध निम्नवर्ग का विद्रोह था।[१] मैक्सवेबर को भारतवर्ष के सम्बन्ध में एक यही उदाहरण ज्ञात था, किन्तु यदि खोजा जाय तो बुद्ध और चार्वाक से लेकर राममोहन तथा दयानन्द सभी के सम्प्रदायों के पीछे इस प्रकार की नई वर्ग-शक्तियाँ दृष्टिगोचर होंगी जो धर्म की आड़ में अपने को प्रकट करती हैं।

३७—इस्लाम का प्रगतिशील शक्ति के रूप में अरब में उत्थान—इस्लाम के अभ्युत्थान तथा उसके बाद के इतिहास को देखने से हम उन्हीं नतीजों पर पहुँचते हैं जिन पर हम मुख्यतः ईसाइयत के इतिहास की आलोचना के बाद पहुँच चुके हैं। इस्लाम का सितारा एक बार बड़े ज़ोरों के साथ ऐतिहासिक गगन पर चमका, और शताब्दियों तक वह मध्य गगन में स्थिर रहा इसके कारण को जब हम ढूँढ़ते हैं तो ज्ञात होता है कि वह अरब के कबीलों में एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में आया था। हज़रत मुहम्मद के जन्म के पहले के युग को मुसलिम धर्म- याजकों ने बहुत कुछ सही तौर पर जहालत का युग कहा है। उस समय अरब में लोग एक अजीब हालत में रहते थे। प्रत्येक कबीले का अलग अलग बुत था। उस बुत की पूजा अपने कबीले के अन्दर ही हुआ करती थी। साल में एक बार सार्वजनिक युद्ध विराम होता था उस समय लोग काबे की जियारत को जाते थे। काबे में उन दिनों ३६० बुत थे। साथ ही संग असवद की भी पूजा होती थी। क़बीलों की शासन प्रणाली यों थी कि प्रत्येक कबीले का सरदार ही उस कबीले का प्रधान व्यक्ति होता था। उन दिनों भाषा की दृष्टि से अरब का अस्तित्व अवश्य था, यानी लोग मिलती-जुलती बोलियाँ बोलते थे, किन्तु और किसी दृष्टि से कबीलों में कोई भी एका नहीं था। सच तो यह है कि सब लोग दूसरे कबीलों की लूट-पाट में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में किसी प्रकार के धन्धे या व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती थी। यों तो हज़रत मुहम्मद के बहुत पहले से ही अरब लोग दूर देशों में भी अच्छे व्यापारी तथा कवि के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे,

---

१ H. M.

किन्तु उनका व्यापार सैकड़ों असुविधाओं के अन्दर से होता हुआ चलता था। सौदागर अक्सर रास्ते में लूट लिए जाते थे, और उनको अपनी रक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने के लिए बड़े-से बड़ा काफ़िला लेकर चलना पड़ता था। फिर जिन लोगों के इलाकों में से ये सौदागर गुज़रते थे, वे इनके साथ मनमाना व्यवहार करते थे। व्यापार के लिए ऐसी परिस्थिति बहुत ही प्रतिकूल थी स्वयं हज़रत ने नबौवत पाने के पहले सौदागरों के साथ ऐसी बहुत सी यात्राएँ की थीं, और वे अच्छी तरह समझते थे कि सौदागरों को क्या क्या असुविधाएँ हैं। कहा जाता है, इन्हीं यात्राओं के दौरान में उन्होंने बाहरी दुनिया से संस्पर्श प्राप्त किया, सौदागरों की असुविधाओं से वे भली भाँति परिचित तो थे ही। स्मरण रहे, कबीलों के सरदारों के मुकाबिले में ये सौदागर एक उदीयमान वर्ग के थे।

३८—इस्लाम की उत्पत्ति पर एंगेल्स—एंगेल्स ने १८५३ की ६ जून को मैनचेस्टर से मार्क्स को एक पत्र लिखते हुए मुसलिम धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, वह इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य है—'मैं समझता हूँ, मुहम्मद के पहले दक्षिण अरब के व्यापार का जो विनाश हो चुका था, उसकी बात यहाँ पर आती है। इसे आप बहुत सही तरह से मुसलिम क्रान्ति के अन्यतम प्रधान कारणों में समझते हैं। ईसा के बाद की छ शताब्दियों में व्यापार का क्या इतिहास रहा, इसे मैं इतनी अच्छी तरह नहीं जानता कि यह बता सकूँ कि किस हद तक आम भौतिक विश्व परिस्थिति के कारण ईरान से कृष्णसागर और ईरान की खाड़ी से शाम और एशियाई कोचक के ज़रिये जो मार्ग था, उसे लालसागर से होते हुए मार्ग पर तरजीह दी गई। किन्तु किसी भी हालत में सासानियों के व्यवस्थित ईरानी साम्राज्य में काफ़िलों को जो अधिक संरक्षण प्राप्त था, इसका ज़रूर बहुत भारी असर पड़ा होगा। इतना तो मालूम है कि २०० से लेकर ६०० ई० तक यमन बारबार अबीसीनियों के द्वारा पराजित हुआ, लूटा गया, और उस पर हमले हुए। रोमनों के समय दक्षिण अरब के जो हिस्से समृद्धशाली थे, वे सप्तम शताब्दी में उजड़े हुए खँडहर से हो रहे थे। गत पाँच सौ वर्षों में पड़ोसी बद्दुओं ने अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत ही ऊलजलूल पौराणिक तरीक़े की बातें मान ली थीं [देखिए

क़ुरान् और अरब इतिहास लेखक नोवाइरी (Novairi)] और इस भूभाग में जिस वर्णमाला में अभिलेख लिखित हैं, वे बिलकुल अज्ञात थीं, यद्यपि उस समय और कोई वर्णमाला नहीं थी। इस प्रकार लिखना भी विस्मृत हो चुका था। इन बातों से यह सूचित होता है कि आम व्यापारिक परिस्थितियों में अवनति के कारण जो गड़बड़ियाँ हुई होंगी, वे तो हुई ही होंगी, किन्तु इनके अतिरिक्त अवश्य कोई न कोई भयंकर विनाश भी प्रत्यक्ष रूप से हुआ होगा, जिसको हम केवल एथियोपीय आक्रमण से ही समझ सकते हैं। अबोसीनियों को मुहम्मद से कोई चालीस वर्ष पहले निकाल बाहर किया गया। यह जागरणशील अरब जातीय चेतना का प्रथम स्फुरण था। इस जागृति को उत्तर से ईरानी हमलों से उत्तेजना मिली। ये हमले क़रीब-क़रीब मक्के के द्वार तक पहुँच रहे थे। कुछ दिनों के अन्दर मैं मुहम्मद के इतिहास को पढ़नेवाला हूँ, किन्तु अब तक मैंने जो कुछ समझा है, उससे यह ज्ञात होता है कि यह शहरों के पतनशील, किन्तु बस्ती में रहनेवाले फल्लाहीन के विरुद्ध बद्दूप्रतिक्रिया के रूप में था। फल्लाहीन अपने धर्म में भी बहुत ह्रासशील हो चुके थे। इनका धर्म एक प्रकृति पूजा के साथ पतित यहूदिय और ईसाइयत का सम्मिश्रण था।'[१]

३९–इस्लाम के लिए परिस्थितियाँ परिपक्व थीं—यह कहना ग़लत होगा कि हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम को अपनी ही बुद्धि से स्थापित किया। सच तो यह है कि उनकी प्रतिभा केवल इस बात में थी कि उन्होंने उस युग की जो सब से बड़ी आवश्यकता थी, उसको इस्लाम के ज़रिये मूर्त किया। अरबों के सामने जीवन मरण का प्रश्न था। यदि वे आगे उसी प्रकार कबीले की ज़िन्दगी व्यतीत करते तो उनका विनाश अनिवार्य था। अब यह अत्यावश्यक था कि वे अपने पड़ोसियों की तरह एक जाति के रूप में संगठित हो जायँ। गिवन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक रोमन साम्राज्य का 'ह्रास और पतन' में शाहमुहम्मद युग के अरबों के सम्बन्ध में लिखा है 'प्रत्येक अरब अपनी बरछी को अपने ही देश वासी के विरुद्ध बेधड़क चला सकता था। इसमें उसकी नामवरी ही थी। अनुश्रुति के अनुसार जहालत के युग की १७००लड़ाइयों का विवरण है।....किसी भी झगड़े का गड़ा मुर्दा किसी भी समय उखड़ सकता था; और फिर पारस्परिक युद्ध का सूत्रपात हो सकता

---

१ M. E. C. p. 67—8

था। वैयक्तिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति, कम से कम प्रत्येक परिवार अपने झगड़ों का निपटारा करता था।' डाक्टर हेल ने इसी युग का वर्णन करते हुए लिखा है कि "बहुत प्राचीन काल से अरब में पानी और चरागाह पर कबीलों में लड़ाइयाँ होती चली आई थीं। इन झगड़ों के कारण राष्ट्रीय एकता का ज्ञान बिलकुल नष्ट हो चुका था। प्रत्येक कबीला अपने को आत्म-यथेष्ट समझता, और यह समझता था कि मुझे दूसरे कबीलों के सदस्यों की हत्या करने तथा उन्हें लूटने का अधिकार है। अरबों में राष्ट्रीय एकता के ज्ञान की कमी थी। एक अरब के लिए केवल कबीला और परिवार था। अरब जाति का उसके निकट कोई अस्तित्व नहीं था....।'

४०—मुहम्मद से पहले हनीफ़ों ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया— मुस्लिम धर्म में जो विचार प्रतिपादित हैं, उनमें वहदत या एकेश्वरवाद को सबसे मुख्य बताया गया है, बल्कि कई बार मुसलिम लेखकगण अपने धर्म का उल्लेख एकेश्वरवादी धर्म के रूप में करते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि हज़रत से सैकड़ों वर्ष पहले यहूदियों में एकेश्वरवाद का विकास हो चुका था, तथा ईसाइयत में यह विचार गृहीत था। इनके अतिरिक्त अरब में और कुछ व्यक्ति ऐसे हो गये थे जिन्होंने हज़रत के पहले ही एकेश्वरवाद का नारा दिया था। ऐसे लोग हनीफ़ कहलाये। इब्न खाल्दुन ने चार हनीफ़ों के नाम गिनाये हैं। अध्यापक इलियास अहमद ने दिखलाया है कि "खुदाबख्श Essays Indian and Islamic में इससे बड़ी सूची देते हैं। इब्न खाल्दुन ने जो चार हनीफ़ों के नाम गिनाये हैं, उनमें से तीन ईसाई हो गये थे, केवल जैद ऐसे थे जिन्होंने किसी धर्म को नहीं अपनाया। जैद ने अपनी कविताओं में इस प्रकार भाव व्यक्त किये थे—

'मैंने लात और ऊज्जा नामक बुतों को त्याग दिया है। बुद्धिमान् और धैर्यशाली व्यक्ति को ऐसा ही करना चाहिए। मैंने गनाम की पूजा छोड़ दी है, यद्यपि जिन दिनों मेरा ज्ञान कम था, उन दिनों मैं उन्हें अपना रब्ब या विधाता समझता था। हे ईश्वर, मैं तुझसे सन्तुष्ट हूँ, और मैं नहीं समझता कि तेरे अतिरिक्त किसी के धर्म को मैं क्यों मानूँ।'[१]

---

१. S. C. I. S. p. 29

किसी भी दृष्टि से देखा जाय, हम यह नहीं कह सकते कि हज़रत मुहम्मद ने केवल शून्य से इस्लाम को चला दिया। सब परिस्थितियाँ परिपक्व थीं, उन्होंने उसको एक गति भर दे दी।

४१—धार्मिक विचार और राष्ट्र व्यवस्था का समान्तरालवाद—ऊपर जो कुछ बताया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि इस्लाम धार्मिक से कहीं बढ़कर एक सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन था। इस्लाम की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने अरबी लोगों को एक सूत्र में बाँधकर एक जाति में परिणत कर दिया। इस्लाम का कट्टर एकेश्वरवाद राष्ट्र शक्ति के केन्द्रीकरण के लिए सहायक सिद्ध हुआ। जिस समय अरब लोग कबीलों में विभक्त थे, उस समय प्रत्येक कबीला अपने देवता को ही मानता था, किन्तु राष्ट्र शक्ति के केन्द्रीकरण की पूर्व सूचना के रूप में एक अल्लाह की धारणा स्वीकृत हुई। बहुदेव देवीवाद अनिवार्य रूप से छोटे-छोटे राज्यों की सूचना करता है। जहाँ एक प्रधान ईश्वर के साथ-साथ बहुदेव देवीवाद रहा है, वहाँ के समाज में सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्यों के साथ, एक नाम के वास्ते ही सही, चक्रवर्ती राजा भी रहा है। इस प्रकार से राष्ट्र-व्यवस्था और धार्मिक विचार के समान्तरालवाद को समझना बहुत ही दिलचस्प है। जो भी हो, इस दृष्टि से देखने पर इस्लाम में अपनाया हुआ एकेश्वरवाद अपने से पहले के युग के अरब के मुक़ाबिले में एक प्रगतिशील धारणा थी।

४२—इस्लाम तलवार से फैला?—यह बात ग़लत है कि इस्लाम तेग़ के ज़ोर से फैला। केवल तलवार से ही वह न तो अरब में फैला, और न उसके बाहर। इसमें सन्देह नहीं कि जब छोटे-छोटे कबीलों से अरब के लोग इस्लाम के कारण एक धार्मिक जाति के रूप में संगठित हो गये, तो उनकी सामरिक ताक़त बहुत बढ़ गई, और जो जातियाँ अभी इस प्रकार एक सूत्रता में बँध नहीं सकी थीं, उनके मुक़ाबिले में अरब जाति ज़बर्दस्त साबित हुई। धर्म-प्रचार करना एक ऊपरी आवरण था, किन्तु उसके नीचे आर्थिक शक्तियाँ काम कर रही थीं। किसी नये देश के एक हिस्से को मुसलमान बना लेने का अर्थ उस देश में अपनी शासन-प्रणाली के उतने मित्र पैदा कर लेना था। राजशक्तियों ने जब भी धर्मप्रचार करने में भाग लिया तो इसी रूप में लिया, अवश्य के

प्रत्येक अवसर पर सचेतन रूप से प्रचारित धर्म के साथ अपनी शासन-प्रणाली के सम्बन्ध को समझते ही थे, ऐसी बात नहीं ह। जब किसी विजित देश की अल्प-संख्या इस्लाम ग्रहण करती थी, तो स्वाभाविक रूप से इस प्रकार से मुसलमान होनेवाले लोग एक बड़ी हद तक शासक वर्ग के अन्तर्गत हो जाते थे। इस प्रकार शासक वर्ग के अन्तर्गत हो जाने का प्रलोभन कोई मामूली प्रलोभन नहीं था, विशेषकर वे लोग जो पहले की शासन-प्रणाली में शोषित तथा निर्यातित थे उनके लिए इस प्रकार धर्म-परिवर्तन के द्वारा सामाजिक उन्नति करने का प्रलोभन बहुत भारी होता था। अवश्य जब किसी विजित देश में लोग इतनी संख्या में मुसलमान हो जाते थे कि अब यह सम्भव नहीं होता था कि वे सबके सब शासक-वर्ग के अन्दर खप सकें, तब ऊपर बताये हुए नियम की कार्यकारिता समाप्त हो जाती थी। उस हालत में मुसलमानों में भी शासित और शोषित तबकों का होना अनिवार्य हो जाता था। अवश्य इस शासित तथा शोषित तबक़े के मुसलमानों को अन्य धर्मावलम्बियों के मुक़ाबिले में फिर भी कुछ फ़ायदे रहते थे, जैसे उन पर जजिया नहीं लगता था, तथा उनको धार्मिक स्वतन्त्रता रहती थी।

४३—भारत में मुस्लिम राज्य किस अर्थ में था और किस अर्थ में नहीं था— भारतवर्ष के ही उदाहरण को लिया जाय। जिस समय यहाँ थोड़े से मुसलमान आये थे, उस समय विजेता के रूप में उन मुसलमानों में जो लोग अपने देश में रहते समय शोषित तबक़े के थे, और कदाचित् केवल रोटी के लिए ही इतने दूर देश में आने के लिए मज़बूर हुए थे, वे भारतवर्ष में विजेता के रूप में आते ही एकदम शासक वर्ग में हो गये। यह बात तभी तक चली जब तक भारतवर्ष में मुसलमानों की संख्या कम थी। ज्योंही उनकी संख्या अधिक हो गई, त्योंही उनमें स्वाभाविक रूप से शोषक और शोषित दो तबक़े हो गये। आगे से शोषित मुसलमानों की हालत उसी देश में रहनेवाले अन्य धर्मावलम्बियों से किसी तरह अच्छी नहीं रही। हाँ, जैसा हम बता चुके हैं, जजिया आदि से छुटकारा तथा धार्मिक स्वतन्त्रता उन्हें अधिक प्राप्त रही। इसी अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि भारतवर्ष के इतिहास में मुस्लिम काल नाम का कोई काल नहीं रहा या रहा तो वह तभी तक जब तक यहाँ पर मुसलमान बहुत ही थोड़ी तादाद में थे। उसके बाद (हम इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि इतिहास के किस बिन्दु पर आकर

यह सोपान खतम हुआ) किसी भी अर्थ में यह नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्ष में सब मुसलमानों का राज्य था। जिस समय भारतवर्ष में कथित मुस्लिम राज्य खतम हुआ, उस समय तो ग़रीब मुसलमानों की हालत ग़रीब हिन्दुओं से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी। शासकवर्ग में सभी मुसलमान बहुत थोड़े दिन के अतिरिक्त कभी शामिल नहीं रहे। साम्प्रदायिक कारणों से ही इस दन्तकथा को इतिहास का रूप दिया गया कि भारतवर्ष में इतने सौ वर्ष तक मुसलमानों का राज्य था। असल में कल्लू, रहीम आदि साधारण मुसलमानों का कभी भी राज्य नहीं रहा।

४४—स्पेन में इस्लाम प्रचार का कारण—स्पेन की मुस्लिम विजय के पीछे कौन से आर्थिक कारण थे, यह हमें अमीरअली के विवरण से ज्ञात हो जाता है। वे Histary of the Saracen में लिखते हैं 'मुस्लिम विजय से सबसे अधिक लाभ स्पेन के दासों तथा अर्द्धदासों को हुआ। अब तक इनके साथ मामूली जानवरों की तरह व्यवहार होता था, बल्कि इससे भी खराब किन्तु अब इन दासों को मनुष्यता की मर्यादा प्राप्त हो गई। जिन राज्यों पर मुसलमानों का अधिकार होता गया, उनमें फ़ौरन ग़ुलाम और अर्द्धग़ुलाम आज़ाद होते गये। अब वे ऐसे किसान के रूप में हो गये जो अपनी ज़मीनों के मालिक थे, इसलिए अब उनको खेती में दिलचस्पी भी हुई। अब व्यावहारिक रूप से ज़मीन के मालिक वे ही हुए। हाँ, उन्हें अब नये मुसलमान ज़मींदारों को उपज का एक हिस्सा देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जो ग़ुलाम या अर्द्धग़ुलाम ईसाई मालिकों के अधीन भी रह गये, उनकी भी हालत पहले से कहीं अधिक सुधर गई, क्योंकि यदि किसी प्रकार के दुर्व्यवहार की शिकायत विजेताओं तक पहुँचती थी या ग़ुलाम अथवा अर्द्धग़ुलाम मुसलमान हो जाता था तो सतानेवाले पर क़ानून के अनुसार दबाव पड़ता था। नतीजा यह होता था कि वह ग़ुलाम या अर्द्धग़ुलाम आज़ाद हो जाता था। ग़ुलाम या अर्द्धग़ुलामों ने इस्लाम इसलिए क़बूल किया कि स्वतन्त्रता तथा जीवन के आशीर्वादों को प्राप्त करें। ये ऐसे आशीर्वाद थे जो उन्हें इसके पहले के राज्यकाल में अप्राप्य थे।'

४५—बंगाल में मुसलमानों की संख्या तलवार के ही क़ारण नहीं—इश प्रकार स्पेन में इस्लाम का जो प्रचार हुआ, वह इस कारण हुआ कि इस्लाम नये

श्रम-सम्बन्धों को लेकर आया था। मोटे तौर पर इसी कारण इस्लाम् की सफलता हुई। बंगाल में मुसलमानों को 'नेड़े' यानी सिरमुंडा कहते हैं। इसके पीछे एक दीर्घ इतिहास है। एक बार समग्र भारत बौद्ध हो गया था, किन्तु बाद को जब हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान (अवश्य नये रूप में) हुआ, तब कुछ थोड़े से लोग ही बौद्ध रह गये। परन्तु बंगाल में बौद्धों की संख्या बहुत काफ़ी बनी रही। ये लोग नेड़े या सिरमुंडा होते थे, अर्थात् इनके भिक्षुओं का सिर मुँड़ा हुआ होता था। इन लोगों को बहुत अधिक सताया जाता था, तथा इन्हें एक तरह से अछूत क़रार दिया गया था। इसलिए जब बाहर से मुसलमान आये तो इन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया। आपात दृष्टि से यह बात समझ में नहीं आती कि मुसलमान धर्म पश्चिम से आया, पंजाब आदि में उसका अधिक प्रचार हुआ, बीच के हिस्से संयुक्त प्रान्त और बिहार में इसका कम प्रचार हुआ; किन्तु बंगाल में क्यों अधिक लोग मुसलमान हो गये। इसको जब हम इस दृष्टि से देखेंगे, तो समझ में अच्छी तरह आ जायगा कि बंगाल में मुसलमानों की संख्या क्यों अधिक हो गई। बंगाली मुसलमान क्यों नेड़े कहलाते हैं, उसके पीछे कौन-सा ऐतिहासिक कारण है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इतना तो साफ़ है कि बंगाल में जो लोग अधिक तादाद में मुसलमान बने, इसका कारण हिन्दुओं द्वारा बौद्धों का निर्यातन है, न कि केवल तलवार।

४६—**धर्म में भी तलवार का प्रयोग**—इसमें सन्देह नहीं कि वैयक्तिक क्षेत्रों में जोशीले धर्म प्रचारकों ने हमेशा तलवार की सहायता ली है। किसी धर्म के प्रचारकों ने अधिक ली है किसी ने कम; किन्तु केवल तलवार से ही किसी धर्म का प्रचार होना अविश्वास्य है। हाँ, तलवार की शक्ति के साथ-साथ जब अन्य आर्थिक कारण आकर जुड़ गये, तो बात दूसरी है। हमें यह भी मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं कि बहुत निष्पक्ष रूप से विचार करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि धर्मप्रचार में मुसलमानों ने हिन्दुओं से अधिक तलवार का प्रयोग किया (हिन्दुओं में भी शशांक आदि हुए हैं) किन्तु हिन्दू धर्म तो बहुत कम हद तक प्रचारक-धर्म था, इसलिए इन दोनों की तुलना करना ठीक नहीं। दुनिया के कई धर्म नये लोगों को भर्ती करने में विश्वास नहीं करते। उदाहरणार्थ यहूदी धर्म ऐसा ही धर्म है (अवश्य बिलकुल ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर

इस नियम में कहीं व्यतिक्रम नहीं हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता)। इस्लाम तथा ईसाई धर्म प्रचारमूलक धर्म हैं अर्थात् ये बाहरी लोगों को भर्ती कर लेने में विश्वास करते हैं, भारतीय धर्मों में बौद्ध और जैन-धर्म भी इसी श्रेणी में आते हैं। बौद्ध और जैन धर्म प्रचार में विश्वास तो करते हैं फिर भी इनका इतिहास अपेक्षाकृत शान्तिमूलक रहा है; किन्तु कैथोलिक धर्म और इस्लाम के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। (Inquisition) या धार्मिक न्यायालयों में सैकड़ों की तादाद में लोगों को ज़िन्दा जला दिया गया। इस्लाम के सम्बन्ध में कितना भी कहा जाय, कैथोलिकों के मुक़ाबिले में वह बहुत ही शान्तिमूलक धर्म रहा। लेकिन यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि कोई धर्म शान्तिमूलक रहा और कोई नहीं, इसके पीछे भी आर्थिक शक्तियाँ थीं। जहाँ पर विवदमान आर्थिक शक्तियाँ बहुत तगड़ी थीं, वहाँ पर यह संघर्ष अधिक रक्तपात-मूलक हुआ, जहाँ ऐसा नहीं था, वहाँ रक्तपात कम हुआ। जैसा कि हम दिखा चके हैं, रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट धर्मों के पीछे की वर्ग शक्तियाँ बहुत ही उग्र थीं, दोनों बहुत तगड़ी थीं, इसीलिए धर्म में उनके संघर्ष का रूप बहुत तीव्र हुआ। यों ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि धर्म के नाम पर जितने अत्याचार और रक्तपात हुए हैं, इतने शायद ही किसी अन्य विचार के नाम पर हुए हों।

४७—इस्लाम और दासता—अमीरअली ने स्पेन के सम्बन्ध में जो यह लिखा है कि वहाँ इस्लाम ग़ुलामी से मुक्ति दिलानेवाले के रूप में गया, इससे यह ग़लतफ़हमी हो सकती है कि इस्लाम ने प्रत्येक क्षेत्र में ग़ुलामी का अन्त कर दिया। सत्य इससे बहुत दूर है। अवश्य यह ठीक है कि कुरान में यह कहा गया है कि मुसलमान होने पर दास बराबरी के दर्जे पर आ जाता है। यह भी सच है कि हज़रत मुहम्मद के पास जैद नामक एक ग़ुलाम था, जब वह मुसलमान हो गया, तो न केवल दासता से मुक्त कर दिया गया बल्कि हज़रत ने उसे गोद लेकर उसका विवाह अपनी फूफी उमैया की लड़की जैनब से कर दिया, यह सब सच है; किन्तु फिर भी यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अरब में इस्लामी शासन में बराबर दास प्रथा रही। अरब के अधीन जो दूसरे देश आ गये, उनकी भी यही हालत रही। इस्लाम ने प्रारम्भिक युग में नये रँगरूट प्राप्त करने के लिए

वर्गभेद पर पर्दा डालकर ग़ुलाम आदि सबकी बराबरी का आध्यात्मिक नारा दिया था, किन्तु कार्यक्षेत्र में ऐसा बहुत कम हुआ। तथ्य यह है कि मुसलमानी देशों में ग़ुलामी प्रथा सबसे बाद तक रही, और कदाचित् सऊदी अरब में अब भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लाम जिस देश में उत्पन्न हुआ, उस देश में और ही आर्थिक सामाजिक कारणों से जयी हुआ, और जिन बाहरी देशों में वह गया, उनमें उसने दूसरी तरह के नारे दिये। स्पेन या कुछ अन्य स्थानों में जैसे बंगाल में वह जनता के एक बड़े हिस्से के मुक्तिदाता के रूप में आया, किन्तु उसका यह चरित्र स्थायी नहीं हुआ और न हो सकता था, क्योंकि वर्गों का अन्त किये बिना शोषितवर्ग को स्थायी रूप से लाभ पहुँचाना सम्भव नहीं था। यह इस्लाम की कोई निन्दा नहीं है। हम देख चुके कि ईसाई धर्म भी मुक्तिदाता के रूप में रोमन ग़ुलामों में स्वीकृत हुआ, किन्तु बाद को उसका यह रूप बदल गया। अब धर्म दृष्टि से देखने पर दुनिया के सबसे बड़े शोषक ईसाई देश के शासक वर्ग हैं। जो धर्म जब आया, वह सामाजिक शक्तियों के साथ आया। जब वह बदला तो सामाजिक शक्तियों के कारण बदला।

४८—अब इस्लाम प्रतिक्रियावादी है—इस्लाम अपने अभ्युदय के युग में एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में आने पर भी अब वह ईसाई धर्म की तरह कोई प्रगतिशील शक्ति नहीं है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में/पैन इस्लामवाद नाम से अनवर पाशा आदि ने जो आन्दोलन चलाया था, उसमें प्रगति का कोई उपादान नहीं था। यह पैन जर्मनवाद और पैनस्लाववाद* की तरह एक प्रतिक्रियावादी

*सोवियट रूस ने भी पैनस्लाववाद का आन्दोलन चलाया है, किन्तु ज़ार-शाही द्वारा चलाये हुए पैनस्लाववाद आन्दोलन से उसके अन्तर्गत वस्तु भिन्न होने के कारण उसका चरित्र प्रगतिशील और समाजवाद के हित में है। पैन-स्लाववाद आन्दोलन चलाने में ज़ारशाही का उद्देश्य यह था कि इस प्रकार नस्ल और भाषागत समता की दुहाई देकर स्लाव देशोंको ज़ार के साम्राज्यान्तर्गत कर लिया जाय। इसके विपरीत सोवियट रूस का उद्देश्य यह है कि इन देशों को समाजवादी पितृभूमि की आर्थिक सामाजिक प्रणाली के अन्दर लाया जाय इन दोनों तरह के पैनस्लाववाद आन्दोलन के ब्यौरे से भी स्पष्ट हो जाता है कि ज़ारशाही के चलाये हुए आन्दोलनों में स्लाव देशों के ज़ार के पक्षपाती उच्च वर्ग के समर्थक थे, किन्तु सोवियट के पैनस्लाववाद की समर्थक इन देशों की शोषित जनता है।

आन्दोलन था। ऐसे आन्दोलन शोषित तबक़े को यह भ्रम दिलाकर कि वे और शासक एक ही हैं, उनको धोखे में डालते हैं। कमालपाशा (१८८०–१९३८) ने टर्की में राष्ट्र के आधुनिक करण के लिए जो चेष्टा की उसमें उनके मार्ग में मुल्लाओं की ओर से सबसे अधिक रोड़े अटकाये गये; और उन्हें विवश होकर मुल्लाओं का दमन करना पड़ा जिनमें से सैकड़ों फाँसी के तख्ते पर भेज दिये गये। मुल्लाओं का कट्टर विरोध होते हुए भी तुर्की भाषा से अरबी शब्द निकाल बाहर किये गये, और तुर्की रोमन में लिखी जाने लगी। कमालपाशा ने दुर्बोध्य अरबी भाषा को 'अजान' से भी निकाल दिया। इस पर भी उनका विरोध धार्मिकों की ओर से हुआ। अमानुल्ला ने अफ़ग़ानिस्तान को घोर सामन्तवाद के युग से निकालकर आधुनिक राष्ट्रों की क़तार में लाने की चेष्टा की, किन्तु मुल्लाओं के विरोध के कारण (अवश्य इसके पीछे बाहर की साम्राज्यवादी शक्तियों का भी हाथ था) उनकी चेष्टा व्यर्थ हो गई, और उन्हें जान लेकर अफ़ग़ानिस्तान से भाग जाना पड़ा। १९२५ में रज़ाशाह पहलवी ने ईरान में जो क्रान्ति की उसकी प्रेरणा इस्लाम से नहीं बल्कि २,००० वर्ष पहले के प्राक् इस्लामी युग से ली गई थी। रज़ाशाह ने जो पहलवी नाम ग्रहण किया था, वह प्राक् इस्लामी युग की वंशगत उपाधि है। ईरानी भाषा को भी अरबी भाषा से पाक करने का आन्दोलन हुआ।

दूसरे देशों में भी इस्लाम ने प्रगति की अनुकूलता की, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष में देवबन्द आदि के मुल्लाओं तथा जमायत-उल-उलेमा का रुख़ शुरू से ही साम्राज्यवाद विरोधी रहा है, इसका कारण हम आगे बतायेंगे।

४९—प्राच्य देशों में धर्म ने एक हद तक प्रगतिशील हिस्सा अदा किया— प्राच्य देशों में जातीयता तथा साम्राज्यवाद विरोध का उदय एक बड़ी हद तक धर्म की छत्रछाया और पृष्ठपोषण में हुआ, क्या इससे हमारे इस कथन में कुछ फ़र्क़ आता है कि वर्तमान युग में धर्म एक प्रगति-विरोधी शक्ति है? यदि देखा जाय तो प्राच्य देशों में जातीयता और साम्राज्यवाद विरोध के साथ धर्म का गठबन्धन बहुत कुछ आकस्मिक है,—आकस्मिक इस अर्थ में नहीं कि वह कार्य-कारण के नियमों से बाहर है, बल्कि आकस्मिक इस अर्थ में कि प्राच्य देशों पर जो ईसाई जातियाँ शासनारूढ़ थीं, उनके धर्म में और शासितों के धर्म में प्रभेद

होने के कारण ही एक हद तक धर्म के नाम पर उल्लिखित आन्दोलन पनपे। राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई के लिए इन्हीं कारणों से यह सम्भव हुआ कि वह एक हद तक धर्मयुद्ध का रूप धारण करे। अलमेंहदी, चाफेकर बन्धु, खुदीराम, तिलक, गांधी आदि की धार्मिकता इस प्रकार समझ में आ जाती है। भारत में ग़दर से लेकर या उससे भी पहले से जितने भी आन्दोलन विदेशी शासन के विरुद्ध हुए उनमें हम धर्म को प्रगति की तरफ़ एक शक्ति के रूप में देखते हैं। लोकमान्य तिलक के इर्द-गिर्द महाराष्ट्र में जो राष्ट्रीय आन्दोलन गत शताब्दी के अन्तिम दशक में उठा, या बंगाल तथा अन्य स्थानों के क्रान्तिकारियों ने स्वदेशी युग, १९१४–१८ की लड़ाई के युग, यहाँ तक कि प्राक् भगतसिंह युग के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भी धर्म की दुहाई बराबर दी जाती थी। लोग गीता को लेकर फाँसी के तख़्ते पर हँसते-हँसते चढ़ गये। १९२७ में अशफ़ाकुल्लाह नामक एक क्रान्तिकारी शहीद ने गले में कुरान बाँधकर फाँसी को वरण किया, और साम्राज्यवाद विरोधी नारे लगाते हुआ फाँसी पर चढ़ गया।

५०—केवल प्राच्य देशों में ही नहीं—धर्म के साथ आधुनिक काल में प्रगतिशील आन्दोलनों का गठबन्धन केवल प्राच्यदेशों में ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं हैं। पिछड़े हुए देशों में जब कारण अनुकूल हुए तो कहीं कहीं धर्म के साथ प्रगातिशील आन्दोलन यहाँ तक कि स्वाप्निक समाजवाद के गठबन्धन के एक से अधिक उदाहरण मौजूद हैं। ईसाई समाजवाद नाम से एक समाजवादाभिमुखी आन्दोलन पाश्चात्य में उठा था। इस मत के मानने वाले लोगों को द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय में जगह भी दी जाती थी। ईसाई समाजवादी गण बाईबिल, विशेषकर ईसा द्वारा पर्वत से दिये गये उपदेश से समाजवाद की अनुप्रेरणा प्राप्त करने का दावा करते हैं।

५१—मैक्सिको में भी पुनरुज्जीवनवाद के ज़रिये प्रगति—मैक्सिको के आदिम अधिवासियों में पुनरुज्जीवन के आन्दोलन ने वहाँ के प्राचीन देवताओं के पुनरुज्जीवन का स्वरूप ग्रहण किया था। मैक्सिको के लोग बिलकुल यूरोपीय रोमन कैथोलिक संस्कृति और धर्म में निमज्जित हो गये थे। इससे छुटकारा तथा पाने के लिए वहाँ रोमन कैथोलिक सन्तों की जगह पर क्वेटजालक्वाटल (Quetzalcoatl) और टिजोक (Tizoc) आदि प्राचीन मैक्सिकन

देवताओं को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा की गई। साथ ही यह भी चेष्टा हुई कि माता मरियम को मैक्सिको की राष्ट्रीय देवी का रूप दिया जाय। विशेषकर ग्वाडालूपेहिडालगो के मन्दिर में माता मरियम को यह रूप देने की चेष्टा की गई। इस देवी की पूजा के साथ वहाँ के प्राचीन नृत्यों तथा विशेष नैवेद्यों को सम्मिलित करने की चेष्टा हुई। भवद्वीप में राम तथा पाण्डवों को वहीं के वीर रूप में स्वीकृत किया गया है, यह भी एक बाहरी धर्म को राष्ट्रीयता के साथ संयुक्त करने की प्रक्रिया का परिणाम है।

५२—भारतीय उल्माओं की प्रगतिशीलता कहाँ तक और कहाँ तक नहीं— भारतवर्ष में उल्मागण बहुत कुछ साम्राज्य विरोधी रहे हैं, किन्तु वे कहाँ तक मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमें सन्देह है। इस सम्बन्ध में यह तुलना विशेष दिलचस्प है कि जहाँ हिन्दुओं में कट्टर धर्मवादीगण बिलकुल प्रतिक्रियावादी रहे हैं, (धार्मिक सामाजिक रूप से तो दोनों ही प्रतिक्रियावादी रहे हैं, यहाँ केवल राजनैतिक क्षेत्र की बात हो रही है), वहाँ उल्मा लोग राजनैतिक रूप से बराबर साम्राज्यवाद-विरोधी रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ, इसके लिए हमें इतिहास में जाना पड़ेगा। जिस समय भारतवर्ष में अँगरेज़ों का शासन क़ायम हुआ, उस समय तक यह दन्तकथा क़रीब-क़रीब मुस्लिम जनता तक स्वीकृत हो चुकी थी (और इसे मुस्लिम जनता को समझा देने में असली शासक वर्ग को फ़ायदा ही था) कि राज्य मुसलमानों का है। इस धारणा के फलस्वरूप सभी मुसलमान, विशेषकर मुस्लिम धर्मगुरुगण, अँगरेज़ों से फ़िरन्ट रहे। मुसलमानों में जिस तबक़े ने धीरे-धीरे अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त की, ब्रिटिश शासन के प्रति उनका आक्रोश अलीगढ़ विश्वविद्यालय तथा मार्ले मिन्टो सुधार के ज़रिये अँगरेज़ी शिक्षित ुसलमानों को अधिक नौकरियाँ मिलने के कारण ख़तम हो गया, किन्तु पुराने ढर्रे के अरबी फ़ारसी पढ़नेवाले मुसलमानों और धर्मगुरुओं का विद्वेष ज्यों का-त्यों बना रहा। इस प्रकार ये लोग हमेशा हर प्रकार के साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन में शिरकत करते रहे। जैसे औरों ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपनाया वैसे ही देवबन्द के ओवेदुल्ला सिन्धी आदि ने साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के नाते क्रान्तिकारी आन्दोलन में हिस्सा लिया। सच तो यह है कि रेशमी चिट्ठियों का षड्यन्त्र नामक आन्दोलन इन्हीं उल्माओं के द्वारा चलाया हुआ था, और

इसकी शाखाएँ मध्यपूर्व के सब देशों में थी। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इन उल्माओं का असर मुसलिम जनता पर अपेक्षाकृत कम है, और भारत वर्ष में मुसलमान उच्चवर्ग तथा मध्यवित्तवर्ग ने इस्लाम का इस्तेमाल प्रतिक्रियावादी रूप में ही किया है। इस्लाम ख़तरे में है नारा देकर बराबर एक ऐसा वातावरण बनाया गया है। और इसमें सफलता भी मिली है जिसमें हर तरीक़े के प्रगतिशील आन्दोलन का पनपना टेढ़ी खीर है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोवृति का डटकर बिना विरोध किये भारतवर्ष में समाजवाद को सम्भावना बहुत कम होगी, अवश्य यह विरोध स्वयं मुसलमान प्रगतिशीलों की ओर से होना चाहिए, यह दूसरी बात है। यदि हम ख़ूब ध्यान से देखें तो ये उल्मा भी अपने साम्राज्यवाद विरोध के वावजूद हिन्दूधार्मिकों की तरह पुनरूज्जीवनवादी हैं। इसलिए वे एक हद तक ही प्रगति के उपादन हो सकते हैं। फिर भारतवर्ष ऐसे देश के लिए जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों बड़ी संख्या में हैं, यह एक बड़ी सम्मस्या है कि चूँकि मुसलमान पुनरूज्जीवनवादी कुछ और चाहते हैं और हिन्दू पुनरूज्जीवनवादी कुछ और चाहते हैं, इसलिए भले ही कुछ दिनों के लिए क्रियाशील पुनरूज्जीवनवादीगण साम्राज्यवाद विरोध करें, फिर भी अन्ततक जाकर वे अपना प्रति क्रियावादी स्वरूप प्रकट करेंगे। इसलिए ऐसी शक्तियों को प्रगति के रथ में जोतने के समय इन बातों को सोच लेना चाहिये।

५३—आर्यसमाज का पुनरुज्जीवनवाद कहाँ तक प्रगतिशील—पुनरूज्जीवनवाद के क़िस्म के आन्दोलनों में जहाँ तक वर्तमान सड़ीगली पद्धति तथा विचारों को छोड़ने की बात है, वहाँ तक तो वह प्रगतिशील है, किन्तु उनसे छुटकारा प्राप्त कर एक दूसरी देवमण्डली या पद्धति में फँस जाने की बात है। इस प्रकार का आन्दोलन प्रतिक्रियावादी है। फिर भी प्रगतिशीलता जिस युग में ज़ोरों पर है, उस युग के प्रारम्भ में एक हद तक पुनरूज्जीवनवाद का आन्दोलन प्रगतिशीलता का सहायक होता है। यदि एकाएक यह कहा जाय कि बिलकुल इस समय के धार्मिक विचारों को छोड़ दो, तो वह शायद बहुत कम लोगों को मान्य हो किन्तु जब इसी बात को इस रूप में कहा जाता है कि वर्तमान युग में प्रचलित धर्म विचार अपने विशुद्ध रूप में मौजूद नहीं है, उन्हें विशुद्ध रूप में मानना चाहिए

तो ऐसे कथन की मान्यता बढ़ जाती है। भारतवर्ष में आर्यसमाज आन्दोलन ने इसी प्रकार पुनरूज्जीवनवाद का नारा देकर अपने को खड़ा किया, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने अभ्युदय के युग में इसका हिस्सा प्रगतिशील रहा। फिर भी इस सम्बंध में द्रष्टव्य यह है कि आर्यसमाज में जिस वैदिक युग को आदर्शमानकर उसमें लौट जाने का नारा दिया गया उस रूप में वैदिक युग कभी इतिहास में था ही नहीं। संस्कृतभाषा के पांडित्य की सहायता से स्वामी दयानन्द ने इस आदर्श युग को वेदों से ही खड़ा कर दिया। यहाँ इस विषय में ब्यौरे में जाने का कोई अवसर नहीं है कि किस अर्थ में हम यह कह रहे हैं कि स्वामी दयानन्द परिकल्पित वैदिक युग कभी मौजूद ही नहीं था, किन्तु फिर भी उदाहरण के तौर पर एक-दो बातें बताई जा सकती हैं। स्वामी दयानन्द ने यह दिखलाया है कि यज्ञ में पशुहिंसा नहींहोती थी। यह बात बिल्कुल इतिहास विरुद्ध है तथा विकासवाद के विरूद्ध पड़ती है। सच तो यह है कि वैदिकयुग में तो नहीं किन्तु प्राक्वैदिक युग में नरमेध तक होता था। शुनःशेप की कथा में इस प्रथा की स्मृति वैदिक युग में बाकी थी। यह सच है कि धीरे धीरे यज्ञ में दी जानेवाली बलि का सूक्ष्मीकरण हुआ, उपनिषदों में आकर इन्द्रियों तथा वासनाओं की आहुति देने की बात कही गई, किन्तु यह तो सूक्ष्मीकरण है। असल में वैदिकयुग में पशुबलि प्रचलित थी, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने अद्भुत पांडित्य से वेदों में पशुबलि के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया। ऐसा ही उन्होंने और मामलों में भी किया।

जोभी हो, उन्होंने डटकर सनातनियों में प्रचलित कुछ कुसंस्कारों तथा कुप्रथाओं का बहुत ज़बरदस्त विरोध किया। इस प्रकार आर्यसमाज आन्दोलन एक हद तक बहुत ही प्रगतिशील आन्दोलन रहा। सन्देह नहीं कि आर्यसमाज ने जहाँ तक एक तरफ सनातनी रूढ़ियों पर आघात करने की बात है, और दूसरी तरफ सम्पूर्णरूप से पाश्चात्यों के समाने घुटना टेक देने की बात है, इनसे उद्धारकर एक प्रगतिशील हिस्सा अदा किया। यहाँ पर पाश्चात्यों के सामने घुटना टेकना किसी अन्ध जातीयता के अर्थ में अभिप्रेत नहीं है। उस युग में जो लोग पाश्चात्य रहन सहन, तौर तरीक़े को अपना रहे थे, वे लोग उसके आन्तरिक गुणों के कारण ऐसा नहीं कर रहे थे, बलिक उनके ऐसे अनुकरण में गुलामी का एक

बहुत बड़ा उपादान था। वे लोग यह समझते थे कि हम कुछ नहीं हैं, और पाश्चात्य के हमारे प्रभु ही सब कुछ हैं। दूसरे शब्दों में उनकी मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की समर्थक थी। जब इस मनोवृत्ति का विरोध किया गया, वह चाहे पुनरूज्जीवनवाद के झंडे को उठाकर ही किया गया हो, और चाहे एक ऐसे युग की दोहाई देकर किया गया हो जो कि इतिहास में कभी था ही नहीं, किन्तु फिर भी इस मनोवृत्ति में अन्तर्निहितदासता के उपादान का विरोध करने के लिए इस अन्दोलन को प्रगतिशील मानना ही पड़ेगा।

फिर भी काल्पनिक या ग़लत नीति पर स्थापित होने के कारण इस प्रकार के पुनरूज्जीवनवाद-मूलक आन्दोलन एक हद तक ही प्रगतिशील हो सकते हैं। आर्य समाज का भी ऐसा ही हुआ। सनातन धर्म की कुप्रथाओं का विरोध जिस रूप में आर्यसमाज ने किया था., उसके अन्तर्गत बहुत से विचार आर्यसमाज के बाहर भी आम हो गये। कहीं ग़लतफ़हमी न हो इसलिए यह बता दिया जाय कि इन विचारों के आम होने में आर्यसमाज के अतिरिक्त और भी शक्तियों ने काम किया। जो भी हो, ऐसा हो जाने पर आर्यसमाज का आन्दोलन चूँकि एक कल्पित और प्रस्तरीभूत वैदिक युग के पुनरुज्जीवन की नींव पर स्थित था, इसलिए यह आन्दोलन उस सीमा के बाद स्वयं रूढ़िवादी हो गया। आर्यसमाज ने जहाँ बहुत से कुसंस्कारों का विरोध किया था, वहाँ उसने नित्य यज्ञ आदि बहुत से कुसंस्कारों को बिना कारण अपनाया था, इसलिए वह एक हद तक ही क्रान्तिकारी हो सकता था। हमने यहाँ कुछ विस्तार के साथ आर्य समाज पर लिखा इसलिए इतना और बता दें कि आमतौर पर उसकी प्रगतिशीलता ख़तम हो जाने पर भी जो लोग अब तक मानसिक रूप में एक शताब्दी या उससे अधिक पीछे पड़े हुए हैं, विशेषकर आम सनातनियों के मुक़ाबिले में यह सम्प्रदाय प्रगति के लिए अधिक अच्छा उपादान साबित हो सकता है।

५४—सनातनी पंडित और प्रगति—भारतवर्ष के कट्टर उल्माओं के सम्बन्ध में हम बता चुके। हम यह भी दिखा चुके कि कैसे और क्यों उनका चरित्र साम्राज्यवाद विरोधी है। जब हम सनातनियों की ओर देखते हैं, और उनके उल्माओं या महामहोपाध्यायों की जाँच करते हैं, तो हम बिलकुल एक दूसरे ही जगत् में पहुँच जाते हैं। ये लोग

न केवल धर्म की ठेकेदारी का दावा करते हैं, बल्कि ये उसके स्वीकृत ठेकेदार हैं। भले ही ऊपरी तौर पर उनका कोई असर न मालूम होता हो, किन्तु रोज़मर्रा के जीवन में इनका असर बहुत अधिक रहता है। इनके सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि इनसे कभी किसी प्रगतिशील या क्रान्तिकारी आन्दोलन को समर्थन का फतवा नहीं मिला। काशी,पूना या नवद्वीप के पंडितों ने कभी किसी अच्छे आन्दोलन को अपना आशीर्वाद नहीं दिया। पग पग पर धर्म को लेकर चलने वाले गान्धी जी को भी बराबर इनके विरोध का सामना करना पड़ा। भारतीय संस्कृति के ये ठेकेदार हमेशा राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग ही रहे। कोई महामहोपाध्याय कभी किसी राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल गया हो ऐसा सुनने में नहीं आया। अतएव यह जो एक तरफ़ तिलक, चावेकर बन्धु, खुदीराम, शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि ने धर्म का उपयोग राष्ट्रीय अभ्युत्थान के पक्ष में किया वह इन महापंडितों के बावजूद तथा एक तरह से उनकी इच्छा के विरुद्ध हुआ। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि भारतीय संस्कृति के ठेकेदार बनने पर भी इन्होंने भारतीय संस्कृति के लिए कोई भी त्याग नहीं किया, बल्कि जब देखो तब इन्होंने विदेशी सरकार को ही अपना आशीर्वाद दिया।

५५—**अब प्राच्य देशों में भी धर्म प्रगति विरोधी**—जिस समय भारतवर्ष का साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन बिल्कुल एक भावुकता के आधार पर चल रहा था, उस समय तो धर्म का इस प्रकार का उपयोग स्वाभाविक था, क्योंकि उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन की सारी पूँजी कुछ अस्पष्ट भावुकता भरी बातें ही थीं, किन्तु ज्यों ज्यों साम्राज्यवाद-विरोध का आर्थिक सामाजिक आधार उद्घाटित होता जा रहा है, ज्यों ज्यों धर्म का वर्गचरित्र खुलता जा रहा है, त्यों त्यों अब धर्म के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन की दूरी बढ़ती जा रही है। हमने यह बताया है कि साम्राज्यवाद-विरोध के प्रारम्भिक युगों में यहाँ तक कि प्राक् भगतसिंह युग तक क्रान्तिकारीगण भी धर्म की दुहाई देकर क्रान्तिकारी आन्दोलन को चलाते थे, किन्तु १९४५ में कोई भी ऐसा क्रान्तिकारी दल शायद नहीं है जो धर्म से अनुप्रेरणा लेता हो। अवश्य गान्धीजी अब भी धर्म तथा अन्दरूनी रोशनी से अनुप्रेरणा लेते हैं, किन्तु वह कमोबेश उनकी

निजीबात हो चुकी है। फिर अन्दरूनी रोशनी या भीतरी आवाज़ के रूप में जिस जिस बात को वे उठाते हैं, उसके विश्लेषण से यह ज्ञात हो सकता है कि यह उनके कहने का एक तरीक़ा मात्र है, असल में वे उस बात की उँचाई निचाई बिल्कुल भौतिक रूप से सोचकर तभी उसे उठाते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्राच्यदेशों में भी अब धर्म किसी भी अर्थ में प्रगतिशील शक्ति नहीं रह गया है।

५६—भारतवर्ष में धर्म और साम्राज्यवाद-विरोध का पृथक्करण अत्यन्त आवश्यक—साम्राज्यविरोध के साथ धर्म के सम्बन्ध-विच्छेद के इस बीच में कुछ कारण ऐसे सामने आ चुके हैं, जिनसे अब आगे इनको किसी प्रकार एक साथ चलाने की चेष्टा अव्यवहारिक होगी। भारतवर्ष में मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या है, इस कारण जैसे महाराष्ट्र में गणपति उत्सव, बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन में रक्षाबन्धन तथा गान्धीवाद में, रामराज्य की परिकल्पना के ज़रिये राष्ट्रीय आन्दोलन अग्रसर हुआ था, वैसा अब आगे होना कठिन है, बल्कि इन उत्सवों तथा विचारों के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन का गठबन्धन होना अव्यावहारिक ही नहीं खतरनाक हो गया है। यह एक तथ्य है और इसे जितना जल्दी मान लिया जाय, उतना ही अच्छा कि बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' से लेकर गान्धी जी की रामराज्य सम्बन्धी परिकल्पना में कुछ ऐसे उपादान हैं जो साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चों में मुसलमानों को आने से रोकते हैं। कम से कम इन उपादानों के कारण वे इस वायुमण्डल में (At Home) महसूस नहीं करते, यह सत्य है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि अब धर्म को एक सर्व धर्म समन्वय का रूप देकर साम्प्रदायिक पुट से शुद्ध कर दिया जाय, और उसके आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन या साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन चलाया जाय,—सच तो यह है कि बाबू भगवानदास आदि कुछ विद्वान् इस दिशा में बराबर यत्नशील रहे हैं, किन्तु हम जानते हैं कि कार्यकाल में अर्थात् व्यावहारिक रूप में धर्म का चित्र जब किसी के सामने आता है, तो वह उस व्यक्ति के द्वारा माने हुए विशेष मार्केवाले धर्म के रूप में ही आता है और तो और छोटी-सी थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य भी अपने घरों में अपने विशेष धर्म का ही

आचरण करते हैं, इसलिए बाबू भगवानदास ऐसे व्यक्तियों के द्वारा उठाये हुए सर्वधर्म समन्वय का नारा भले ही सदिच्छा प्रणोदित हो, किन्तु वह व्यावहारिक नहीं है। ऐसी हालत में अब यह जरूरी है कि और कारणों के अलावा हिन्दू-मुस्लिम सिक्ख ईसाई सभी के लिए समान रूप से ग्रहणीय बनाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन बल्कि साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन को धर्म से सम्पूर्ण रूप से अलग कर देना पड़ेगा। यह बिल्कुल निश्चित है कि आगे यह आन्दोलन—यदि इसे एक अखिल भारतीय संयुक्त आन्दोलन रहना है—धर्म के साथ अपना सम्बन्ध क़ायम नहीं रख सकता। साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन के नेतागण इस पहलू को जितना शीघ्र समझ लें, आन्दोलन के लिए उतना ही अच्छा है। हमें बहुत निम्न सतह पर जाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु फिर भी एक सार्वजनिक रूप से ज्ञात तथ्य की ओर यहाँ पर ध्यान आकृष्ट किये बग़ैर नहीं रह सकते। वह तथ्य यह है कि सर्वधर्म समन्वय, राम-रहीम एक हैं इत्यादि नारों के बावजूद एक ही संस्था के सदस्य हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक दंगों के समय कैसा आचरण करते हैं, यह सर्वजन विदित है। सच तो यह है कि कथित हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक ही अन्तिम समाधान हो सकता है, और वह यह है कि हिन्दू और मुसलमानों को अपना अपना धर्म छोड़कर किसी उच्चतर सतह पर—उसे चाहे मानवता कह लीजिए या समाजवाद—एक होना पड़ेगा।

५७—क्या धर्म इस युग में प्रगतिशील नहीं हो सकता? —हमने धर्म का जो विश्लेषण किया उसमें यह बात आ गई कि इस समय किसी धर्म का हिस्सा प्रगतिशील नहीं है किन्तु साथ हो हमने यह जो माना कि भूतकाल में कई धर्मों ने एक प्रगतिशील हिस्सा अदा किया, इससे स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न की गुंजाइश हो जाती है कि माना, कोई प्रचलित धर्म इस समय प्रगतिशील नहीं है, पर जब भूतकाल में कुछ धर्म प्रगतिशील माने गये हैं, तो क्या वर्तमान तथा भविष्य के लिए किसी प्रगतिशील धर्म की सृष्टि नहीं हो सकती। अवश्य ही यह एक प्रासंगिक प्रश्न है, और धर्म के सम्बन्ध में कोई भी विवेचक इसका उत्तर बिना दिये आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें 'धर्म क्या है', इस प्रश्न पर गहराई के साथ विचार करना पड़ेगा।

५८—धर्म के स्वरूप का निर्णय—पहले हम सर जेम्सफ़ेजर की परिभाषा देते हुए यह बता चुके हैं कि उनके अनुसार धर्म ऐसी श्रेष्ठ शक्तियों की तुष्टि तथा अनुकूलता प्राप्त करना है जिनके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वे मनुष्य जीवन तथा प्रकृति का नियंत्रण करती हैं। प्रथम दृष्टि में कदाचित् फ़ेजर की परिभाषा असम्पूर्ण जान पड़े, किन्तु धर्म की जितनी भी सर्वतोमुखी व्यापक परिभाषाएँ की गई हैं, उन सभी में अपने से बाहर की शक्ति पर भरोसा या विश्वासवाला उपादान स्पष्ट हो जाता है। डब्ल्यू० आर० मैथ्यूज ने Outline of modern knowledge में The idea of God-and introduction to the philosophy of religion नामक अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में धर्म की प्रचलित सब मुख्य परिभाषाओं को लाकर एक जगह कर दिया है। इन परिभाषाओं के वर्गीकरण और विश्लेषण के बाद वे भी इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि बाहरी शक्ति या ऊपर में विश्वास के बग़ैर कोई धर्म नहीं होता। उनके विश्लेषण के अनुसार धर्म को मनुष्य के मानसिक जीवन के तीन पहलू यानी विचार, इच्छा, अनुभूति के अनुसार तीन तरह से समझने की कोशिश की जा सकती है। धर्म के बौद्धिक सिद्धान्त में धर्म में ज्ञान के उपादान को ही प्रधानता दी जाती है, और यह समझा जाता है कि प्रत्येक धर्म एक विश्व दृष्टि मात्र है। इस दृष्टि से धर्म दर्शन के बिल्कुल नज़दीक हो जाता है। हेगेल के अनुसार धर्म की मर्यादा दर्शन से निम्न दर्जे की थी, और वे धर्म को अन्तःकरण की एक स्थायी और स्वतन्त्र-क्रिया समझते थे, यानी वे धर्म को दर्शन से स्वतन्त्र अस्तित्वयुक्त मानने के लिए तैयार नहीं थे। मैथ्यूज ने दिखलाया है कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक वेनोडेटेक्रोचे इस मामले में हेगेल को सही नहीं समझते। वे धर्म को केवल एक असम्पूर्ण दर्शनमात्र समझते हैं। क्रोचे का कहना है कि धर्म विश्व को मूर्तरूप में देखता है। इस प्रकार वह कला की श्रेणी से मिलता-जुलता है। वह धर्म को धारणाओं के रूप में नहीं देखता जो दर्शन के सही वाहन हैं। इसलिए क्रोचे के मतानुसार धर्म केवल एक अस्थायी उपसर्गमात्र है, और यह ज़रूरी नहीं कि वह चिरस्थायी हों। इसके विपरीत जो धर्म की बौद्धिक परिभाषा को नहीं मानते वे कहते हैं कि यह एक मानसिक रुझान या रुख़ मात्र नहीं है, बल्कि अधिकांश क्षेत्रों में यह उससे कहीं ज़्यादा है, यानी उसमें पूजा करने की वृत्ति तथा भाव की आवश्यकता की अनुभूति रहती है। धर्म की नैतिक परिभाषा में धर्म व्यावहारिक माना

गया है, यानी यह समझा गया है कि धर्म का उद्देश्य इच्छा को एक विशेष ढंग से निमंत्रित करना है। कान्ट ने ही पहले-पहल इस विचार का अच्छी तरह प्रतिपादन किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार धर्म यह है कि हम अपने सारे कर्त्तव्यों को दैवी आज्ञा के रूप में करने लगें। इस सिद्धान्त को भी सम्पूर्ण कहना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक धर्म में एक विशेष व्यवहार तथा इच्छा को एक विशेष प्रकार से शिक्षित करने की बात है, फिर भी धर्म केवल इतना ही नहीं है। धर्म में पूजा तथा त्राण का विचार तो है ही, उसको अलग करना सम्भव नहीं है। धर्म की तीसरी परिभाषा को रोमांचक कहा गया है। इसमें कल्पना को महत्त्व दिया गया है। इस मतवाद के मुख्य प्रतिपादक श्लाइयेर मारवेर हो गये हैं जिनका कहना है कि धर्म का बौद्धिक अर्न्तदृष्टि या नैतिक व्यवहार से कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है, बल्कि धर्म तो अनन्त की एक अनुभूति या बाद को जिसे उन्होंने परम निर्भरता की अनुभूति कहा, वह है।

५९—**धर्म में अपर में विश्वास अपरिहार्य**—इस प्रकार इन सब परिभाषाओं का अनुशीलन करने के बाद मैथ्यूज इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इनमें से कोई भी परिभाषा सम्पूर्ण नहीं है, और सबमें अव्याप्ति दोष है। वे कहते हैं कि चाहे धर्म की कोई भी परिभाषा की जाय, उसमें अपर में निर्भरता जरूरी है। यदि अपर में निर्भरता न हो तो धर्म-धर्म ही न हो। धर्म के साथ त्राण का विचार भी अपरिहार्य रूप से लगा हुआ है। यदि त्राण नहीं है तो धर्म भी नहीं है। इस त्राण में वह बाहरी शक्ति सहायक है। उस शक्ति का नाम ईश्वर हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं। बौद्ध और जैन-धर्म में ईश्वर न होते हुए भी धर्म तथा संघ की शरण में जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इन धर्मों में कर्म को तथा कर्म के भोग को एक रहस्यवादी रूप प्राप्त हो चुका है। बाद को बौद्धधर्म को जो महायान रूप मिला, उसमें बुद्ध को जिस प्रकार से कल्पित किया गया, उसमें तो इस धर्म में और दूसरे इर्द-गिर्द के धर्मों में कोई फ़र्क़ नहीं रहा। इसलिए अपर में विश्वास—समस्याओं से घबराकर उनके सही समाधान की ओर न जाकर एक काल्पनिक समाधान का अन्वेषण—यह धर्म की एक विशेषता है।

६०—**धर्म की कुछ प्रसिद्ध परिभाषाएँ**—धर्म की कुछ अन्य परिभाषाओं को हम

यहाँ उद्धृत करते हैं। हम इन परिभाषाओं की अलग-अलग आलोचना नहीं करेंगे। प्रथम दृष्टि में ही ज्ञात हो जायगा कि उन पर वही आलोचना लागू होगी जो उद्धृत परिभाषाओं पर लागू है। बेन्जामिन कीड ने इन परिभाषाओं का संग्रह किया है। हम उनको ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं—

सेनेका—ईश्वर को जानना और उसका अनुकरण करना धर्म है।

कान्ट—धर्म का अर्थ यह है कि हम अपने सब कर्त्तव्यों को ईश्वरीय आदेश के रूप में मान लें।

रस्किन—हमारा जातीय धर्म यह है कि हम गिर्जों के अनुष्ठानों का सम्पादन करते हैं, और सुला देनेवाले सत्यों (या असत्यों) का प्रचार करते हैं जिससे जनता चुपचाप अपना काम करती रहे, और हम भी चैन की वंशी बजाते रहें।

कोंत—मानवता की पूजा धर्म है।

एलेक्ज़ेंडर बेन—धार्मिक भाव, कोमल भावुकता, भय तथा मसन् की भावना से बनता है।

एडवर्ड केड—किसी मनुष्य का धर्म विश्व के प्रति उसके अन्तिम रुख का द्योतक है, तथा चीज़ों के सम्बन्ध में उसकी जो धारणा है उसे तथा उसके अर्थ को व्यक्त करता है।

हेगेल—शान्त आत्मा (finite spirit) जब अपने को निरवच्छिन्न आत्मा के रूप में जान लेती है, तो ज्ञान को धर्म कहते हैं।

हक्सले—सदाचारमूलक, विचार के लिए प्रेम और सम्मान, और इस प्रेम और सम्मान को जीवन में कार्यान्वित करने की इच्छा धर्म है।

फ्रूड (Froude)—जिस शक्ति ने हमारी सृष्टि की, उसके प्रति उत्तरदायित्व की भावना धर्म है।

मिल—सर्वोत्तम रीति से स्वीकृत तथा इच्छा के स्वार्थमय उद्देश्यों पर सही रूप से एक सर्वश्रेष्ठ आदर्श उद्देश्य की ओर प्रबलता से, साथ ही ईमानदारी के साथ अपनी इच्छाओं पर भावनाओं को चलाना ही धर्म का सार है।

ग्रूये—एक ऐसी अवस्था या सत्ता में विश्वास को धर्म कहते हैं जो यदि सच कहा जाय तो मनुष्य की चेष्टा और उसकी प्राप्ति के बाहर है, किन्तु जिसे

इस दायरे में एक विशेष तरीक़े से यानी त्याग, अनुष्ठान, प्रार्थना, प्रायश्चित्त और आत्मत्याग के द्वारा लाया जा सकता है।

कार्लाइल---एक व्यक्ति का धर्म वही है जिसमें वह व्यावहारिक रूप से विश्वास करता है, जिसे वह व्यावहारिक रूप से हृदय में धारण करता है, और जिसे इस रहस्यमय जगत् के साथ अपने सबसे ज़रूरी सम्बन्धों को मन में रखता है।

डाक्टर मार्टिनों---चिरन्तन ईश्वर में अर्थात् विश्व पर शासनकारी दैवी मन और इच्छा में ही विश्वास धर्म है, विश्व के साथ मनुष्य का नैतिक सम्बन्ध है।

इनमें से रस्किन की परिभाषा तो दूसरे शब्दों में इस बात की स्वीकृति है कि धर्म जनता के लिए अफ़ीम है। बाक़ी परिभाषाओं में कोंत की मानवतामूलक परिभाषा अस्पष्ट है, क्योंकि मानवता का अर्थ साफ़ नहीं किया जाता। इस प्रकार से परिभाषा करना एक अज्ञात के द्वारा दूसरे अज्ञात की परिभाषा करना है। अन्य परिभाषाओं में अपर में निर्भरतावाली बात साफ़ हो जाती है। कुछ परिभाषाओं का तो कोई अर्थ ही नहीं है केवल वागाडम्बर मात्र है।

६०---विज्ञान ने धर्म की पीठ दीवार से लगा दी---वर्तमान युग में विज्ञान की जो उन्नति हुई है, उसको देखते हुए इस प्रकार की श्रेष्ठ या अपर शक्ति में विश्वास असम्भव है। धर्म का आधार अति प्राकृतिकता है, और विज्ञान का आधार प्राकृतिकता। ऐसी हालत में वैज्ञानिक युग में धर्म न तो ठहर ही सकता है और न उसकी आवश्यकता है। विज्ञान ने अपने दूरवीक्षण, अणुवीक्षण आदि यंत्रों से एक के बाद एक उन पवित्र स्थानों पर धावा किया जो ईश्वरवाद के ख़ास गढ़ समझे जाते थे, और यह दिखला दिया कि उनमें साधारण प्राकृतिक नियम ही कार्यशील हैं, ईश्वर के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जिन विषयों के सम्बन्ध में समझा जाता था कि उनमें अज्ञात, अज्ञेय और अलौकिक शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनका जो विश्लेषण किया गया तो ज्ञात हुआ कि वे साधारण प्राकृतिक वस्तु हैं, और उनमें प्राकृतिक नियम काम कर रहे हैं। प्राणयुक्त भूत का विश्लेषण किया गया, तो ज्ञात हुआ कि जिस उपादान पर प्राण प्रकट होता है वह ऐसा उपादान है, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में परमाणुओं को जमा करने

का गुण था। अधिकांश ऐटम इस गुण से वंचित हैं, फिर भी ये ऐटम सम्पूर्णरूप से प्राकृतिक ही हैं। जीवन के सम्बन्ध में यह ज्ञात हुआ कि वह हमेशा कार्बन के साथ पाया जाता है। कार्बन में ऐसा कौन-सा प्राकृतिक गुण है कि प्राण का उसमें स्फुरण होता है, इसकी जाँच की गई तो ज्ञात हुआ कि इसके सहारे हजारों नहीं लाखों परमाणु (molecules) इकट्ठे हो सकते हैं। बहुत दिनों तक और खोज करने पर जिसे जीवनी शक्ति कहते थे उसका भी रासायनिक उत्पादन यूरिया के रूप में ज्ञात हुआ।

६२—नेग्रोवस्की के प्रयोग से जीवन की भौतिकता प्रमाणित—अभी हाल में American Review of Soviet medicine में रूसी अध्यापक नेग्रोवस्की के कुछ प्रयोगों का विवरण निकला है जिससे ज्ञात होता है कि जीवन नाम से जो प्रक्रिया परिचित है वह बिलकुल भौतिक है। अध्यापक नेग्रोवस्कीमृत्यु की प्रक्रिया को तीन सोपानोंमें विभक्त करते हैं। वे प्रथम सोपान को मृत्यु-यंत्रणा का नाम देते हैं। दूसरे सोपान को वे चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार मृत्यु बताते हैं, तीसरे सोपान को वे जीव वैज्ञानिक मृत्यु कहते हैं। अध्यापक नेग्रोवस्की ने बहुत से मुर्दों को लेकर प्रयोग किये और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि अभी जीव-वैज्ञानिक मृत्यु के सोपान से किसी मृत व्यक्ति को बचाना सम्भव नहीं हुआ है, किन्तु मृत्यु के द्वितीय सोपान से बहुत से आदमियों को बचाना सम्भव हुआ है। हम इसके ब्यौरे में नहीं जायँगे, किन्तु वेलैन्टाइन चेराथनाफ का मामला बहुत ही दिलचस्प है। चेरायनाफ के सम्बन्ध में डाक्टरों ने घोषित कर दिया कि वे मर चुके, इसके साढ़े तीन मिनट बाद विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त कुछ डाक्टरों ने योजना के अनुसार, उस पर अपनी चिकित्सा-प्रणाली का प्रयोग शुरू किया। एक मिनट के अन्दर उसका हृदय धड़कने लगा। तीन मिनट बाद चेरायनाफ श्वास लेने लगा। एक घंटे के अन्दर चिरायनाफ ने आँखें खोल दीं, और पीने के लिए पानी माँगा। जिस समय 'सोवियट चिकित्साशास्त्र के अमेरिकन मासिक' में यह विवरण निकला था, उस समय तक चिरायनाफ जीवित थे। अध्यापक नेग्रोवस्की के इस प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि जीवन की प्रक्रिया में कोई अलौकिक बात नहीं है। अवश्य बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिन्हें आज भी हम नहीं जानते, किन्तु कोई

कारण नहीं कि कल भी हम उन्हें न जानें। सच तो यह है कि आज भी ईश्वरवाद के जो थोड़े-बहुत जड़ पदार्थ जगत् में सीना तानकर खड़े हैं, वे विज्ञान की प्रचण्ड गोलाबारी के सामने कल ढह जायँगे। Thing-in-itself या परमतत्त्व का दायरा बराबर पीछे हटता जा रहा है, और अब तो परम तत्त्व विज्ञान के हमलों के सामने दीवार से पीठ लगाकर खड़ा है। ऐसी हालत में किसी अति प्राकृतिक शक्ति में विश्वास करते रहना, साथ ही यह विश्वास करना कि उसके सामने घुटना टेकने या प्रार्थना करने से कोई बात हल होगी, बिलकुल भ्रम है।

६३—विश्वधर्म, और सर्वधर्म समन्वय का नारा—इनका विश्लेषण— विज्ञान के मुक़ाबिले में धर्मों के इस आम पतन से घबराकर धार्मिकों की ओर से विश्वधर्म तथा सर्वधर्म समन्वय का नारा दिया गया है। वह कुछ हद तक लोगों को धोखे में डाल सकेगा। हम पहले ही बता चुके हैं कि इस प्रकार विश्वधर्म नारे के ढोल के अन्दर बहुत पोल है। यदि ऐसे नारे वालों के जीवन का अनुशीलन किया जाय, तो हमें ज्ञात होगा कि वे भले ही दार्शनिक रूप से ऊपर से विश्वधर्म का नारा दें, किन्तु वैयक्तिक जीवन में वे जन्म, विवाह, मृत्यु में किसी न किसी स्थानीय बल्कि अपने पैतृक धर्म के अनुसार चलते हैं। ऐसी हालत में उनके इस विश्वधर्म के नारे को लफ़्फ़ाज़ी के अतिरिक्त किसी और रूप में लेना सम्भव नहीं है। यदि इनमें से कुछ लोग सचाई के साथ ऐसा नारा दे भी रहे हों, तो यह स्पष्ट है कि उनकी बात कोई सुनने नहीं जा रहा है। फिर हम यह भी तो देखते हैं कि यूरोप एक धर्म का माननेवाला होने पर भी वहाँ के लोग आपस में लड़ते समय एक ही धर्म की दुहाई देकर अपने पक्ष को सही और न्यायपूर्ण बतलाते हैं। इसलिए यदि विश्वधर्म स्वीकृत भी हो जाय, तो उससे वर्गशक्तियों या साम्राज्यवाद की शक्तियों में कोई फ़र्क़ आयेगा, ऐसा दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। हम तो व्यावहारिक रूप से यह देखते भी हैं कि प्रत्येक देश के पूँजीवादी वर्ग के भाड़े के टट्टू लेखक तथा सांवादिकगण मानवता की दुहाई देकर अपने देश के पक्ष को अर्थात् अपने यहाँ के शासक वर्ग के पक्ष को सही बतलाते हैं, ऐसी हालत में विश्वधर्म होने से कोई ख़ास बात होगी, यह हमारी समझ में नहीं आता।

विश्वधर्म के नारे देनेवाले लोग जितने परोपकारी और मानवतावादी ज्ञात

होते हैं, उतने परोपकारी और मानवतावादी वे हैं कि नहीं, इसमें सन्देह है। वे बहुत बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं, किन्तु उनके निकट ये बातें कोई महत्त्व नहीं रखतीं कि एक वर्ग का व्यक्ति तो काम करते-करते मर जाता है, किन्तु फिर भी उसका पेट नहीं भरता, और दूसरे वर्ग का सदस्य बैठे-बैठे हमेशा, चैन की वंशी बजाया करता है, एक देश को दूसरे देश के कुछ लोग अपने वर्गहित के लिए शोषण करते हैं; स्त्रियों की हालत ग़ुलामों की तरह है; कुछ लोगों को ही संस्कृति, शिक्षा, चिकित्सा सभी बातों की सुविधाएँ प्राप्त हैं, दूसरे वर्ग के लोग अज्ञान तथा हर प्रकार की असुविधा में ही मर जाते हैं, इत्यादि। इन अन्यायों की ओर उनकी उदासीनता, प्रगति के लिए त्याग विमुखता आदि को देखते हुए यही प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि आख़िर यह विश्वधर्म है किस मर्ज़ की दवा। यदि इस शोषणमूलक समाज-पद्धति को ख़तम करने में इनका विश्वधर्म हमारा सहायक नहीं होता, यदि यह विश्वधर्म शोषितों के मन में ऐसी तीव्र अग्नि प्रज्वलित नहीं करता जो इस पद्धति को नष्ट करके ही दम ले तो यह विश्वधर्म केवल कुछ अलस लोगों के वाग्विलास के लिए भले ही हो, इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। वर्तमान युग में ऐसे विश्वधर्म से अर्थात् उसके नारे से मनुष्य का कोई कल्याण नहीं होने का। एकमात्र समाजवाद ही ऐसी विचारधारा है जो मनुष्य के कल्याण के लिए वास्तविक रूप से लाभजनक हो सकती है, क्योंकि समाज के नियमों का जानकार समाज को परिवर्तित करने का मार्ग प्रदर्शन करता है।

६४—विश्वधर्म में भी अधिकारभेद से धर्मभेद—जो लोग विश्वधर्म चाहते हैं, उनमें से सबके सब लोग एक ही बात नहीं कहते। वाइकाउन्ट सैमुअल की तरह जो लोग यह अनुभव भी करते हैं कि मौजूद धर्मों में त्रुटियाँ हैं, वे भी इस बात की ज़रूरत समझते हैं कि विभिन्न स्तर के लोगों के सामने धर्म को विभिन्न रूप में पेश किया जावे। उनका कहना है कि ऐसा करने के लिए सिद्धान्तों में मतभेद की आवश्यकता नहीं। वे इस बात को मानते हैं कि जाति-परम्परा, संस्कृति, उम्र, लिंग तथा वैयक्तिक स्वभाव के अनुसार धर्म के व्यावहारिक रूप में विभिन्नता या विचित्रता होनी चाहिए। वे समझते हैं कि एक ही धर्म, जिसके अनुष्ठान तथा सिद्धान्त बिलकुल एक हों, सबके लिए काम नहीं दे

सकता।[१] दूसरे शब्दों में उनका कहना यह है कि धर्म के क्षेत्र में वर्तमान अराकजवाद को जारी रखते हुए, विश्वधर्म होना चाहिए। प्रकारान्तर से इसका अर्थ यह निकलता है कि नाममात्र के लिए एक विश्वधर्म हो, असल में कोई विश्वधर्म न हो सकता है न होगा।

६५—धर्म बुद्धि से परे का नारा—कुछ लोग ऐसे भी हैं जो साफ़ साफ़ यह कहते हैं कि धर्म को बुद्धि के सीमित दायरे में चलने के लिए बाध्य करना केउस साथ ज़्यादती होगी। वे धर्म को अतिबौद्धिक कहते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार घुमा-फिराकर अज्ञान को प्रोत्साहन दिया जाता है और ढोंग और ढकोसले के लिए गुंजाइश पैदा की जाती है। इस प्रकार के मत को मानकर रहस्यवाद के भँवर में पड़कर भटकते रहना होगा। मानवता अब इन बातों से कहीं आगे निकल चुकी है, और अब यह सम्भव नहीं कि ऐसी बातों के भुलावे में डालकर उसकी प्रगति को रोका जाय। यदि धर्म अपने को बुद्धि की अग्नि-परीक्षा में सही साबित नहीं कर सकता, तो वह चला जाय, और उसे चला जाना पड़ेगा। जिस समय मनुष्य का ज्ञान बहुत सीमित था, उस समय धर्मों की आड़ में यदा कदा कोई प्रगतिशील विचार आ गया, और उसने जगत् का कल्याण भी किया, किन्तु अब जब कि हम सामाजिक शक्तियों को अच्छी तरह समझते हैं, धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि उसने दो चार मामलों में कुछ प्रगतिशील विचारों को आगे बढ़ाया, तो सैकड़ों क्षेत्रों में उसके कारण प्रगतिशील विचारों को पीछे हटाना पड़ा। अब हम सत्य का सामना सत्य के ही रूप में करेंगे—चाहे वह सत्य कितना ही कटु हो। धर्म की जो आधारगत बात है, किसी बाहरी शक्ति में विश्वास, वह अब इस विज्ञान के रूप में ठहर नहीं सकता।

६६—धर्म में सुधारकर उसकी रक्षा की चेष्टा—वाईकाउन्ट सैमुअल ने धर्म के सम्बंन्ध में एक सुधारक दृष्टिकोण की पैरवी करते हुए लिखा है कि यदि ये सुधार धर्म के अन्तर्गत कर लिए जायँ तो 'अदृष्टवाद का दौरदौरा खतम होकर प्रयास का मूल्य सर्वत्र प्रकट हो जावेगा। तथा मनुष्य की मर्यादा में वृद्धि होगी। आदमी अब आगे दुनिया में दिव्यलीलाओं को देखकर आश्चर्य से आँख फाड़कर देखनेवाले मात्र नहीं रह जायेंगे, बलिक वे स्वयं उसके कर्त्ता होंगे

१. B. A. p. 69

तथा उन हाथों के रूप में हो जायेंगे जिनके ज़रिये चिरन्तन उद्देश्य अपने आप को पूर्ण करता है। उस अनुप्रेरणा में अब जैसा धर्म हमारे दैनिक जीवन से आमतौर पर वियुक्त रहता है, वैसा न होगा, वह गृह तथा राष्ट्र के कार्यों में अपना जौहर दिखलायेगा।'[१] जो बातें वाइकाउन्ट ने धर्म के सम्बंध में कही हैं वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सम्बंध में लागू होती है, न कि धर्म के सम्बंध में। हाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दिव्यलीला आदि शब्दों को निकाल देगा। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही मनुष्य को उसके कर्त्तव्य के सम्बंध में काल्पनिक भावुकतामय तरीक़े से नहीं, बल्कि वास्तववादी सही तरीक़े पर उद्बुद्ध कर सकता है। वह मनुष्य को एक बाहरी शक्ति की दया पर बैठे रहने के लिए न कहकर उसे सही तरीक़े से अपने भाग्य निर्माण के लिए अनुप्रेरित कर सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य की प्रगति के प्रश्न को काल्पनिक तरीक़े से नहीं बल्कि वैज्ञानिक तरीक़े से समझने के लिए बाध्य करता है। उसकी दृष्टि एक अव्यावहारिक मानवता की नीव पर नहीं, बल्कि समाज की शक्तियों को सहीरूप से समझने पर आधारित होने के कारण तथा उसकी दृष्टि वर्गहीन समाज पर निबद्ध होने के कारण वही मनुष्य मात्र को मनुष्यता की मर्यादा दिला सकता है।

धर्म में कितना भी सुधार किया जाय, उसमें जो अपर में विश्वासवाला उपादान है, अर्थात् उसमें जो अवास्तविकता का आधार है, वह तो रहेगा ही। ऐसी हालत में धर्म में पैबन्दों से काम नहीं चलेगा, बल्कि उसको जड़-मूल सहित खतम कर देना पड़ेगा, और हमारी विश्वदृष्टि को सम्पूर्णरूप से आधुनिकतम विज्ञान पर आधारित करना पड़ेगा।

६७—क्या भौतिकवाद एक धर्म हो सकता है?—अब यहाँ पर स्वाभाविक तौर पर यह प्रश्न उठता है कि माना कि कोई धर्म सही दृष्टिकोण लेकर नहीं चलता, इसलिए उनका परिवर्जन अपरिहार्य है; किन्तु फिर जब यह माना जाता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सही दृष्टिकोण है, तो इसे ही क्यों न एक धर्म के रूप में माना जाय? मार्क्स या लेनिन को या और किसी को इस धर्म का पैग़म्बर, रसूल आदि क्यों न माना जाय? इस प्रकार के आश्चर्य पूर्ण कथन

---

१. Ibid p. 80

के समर्थन में यह कहा जाता है कि साधारण मनुष्य के लिए तो कोई न कोई बुत चाहिए, उसे सिजदा के लिए कोई न कोई वास्तविक या काल्पनिक माबूद चाहिए, उसे बोसा लेने के लिए कोई न कोई संग असवद चाहिए। कहा जाता है, साधारण मनुष्य को कितना भी आलोक प्राप्त हो जाय, उसे कभी इस कमजोरी से छुटकारा प्राप्त नहीं होगा। जो लोग सम्पूर्णरूप से बन्धन-मुक्त हो चुके हैं, उनके सम्बन्ध में भी इन लोगों का कहना यह है कि वे भी किसी न किसी भी मुहूर्त में अपने जीवन में ऐसी चीज़ों का अभाव अनुभव करते हैं जिनकी वे पूजा कर सकें, तथा कमजोरी या दुःख के समय उनकी शरण में जा सकें।

६८—हक्सले कहते हैं रूस में साम्यवाद एक धर्म हो चुका—मनुष्यों में इस प्रकार की पूजावृत्ति स्वाभाविक है, इसके प्रमाणस्वरूप यह बताया जाता है कि सोवियट रूस की जनता ने लेनिन की लाश को ईश्वर की मर्यादा दे रखी है, किसी बुत या मूर्ति की इतनी मर्यादा नहीं होगी, जितनी लेनिन की लाश की है। ऐसी बातें कुछ अधकच्चरे लोगों की तरफ़ से ही नहीं कही गई हैं बल्कि कुछ विद्वानों ने भी यह बताया है कि पूजाभाव मनुष्य स्वभाव का एक अंग है, और उसकी मूर्ति धर्म से होती है, इसलिए धर्म आवश्यक है। बर्ट्रेन्ड रसेल ने यह कहा है कि प्रजननेच्छा तथा धर्म की पृष्ठभूमि को सम्पूर्णरूप से बुद्धि के मानदंड से समझना सम्भव नहीं है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हक्सले (जिनका धर्म सम्बंधी मत आगे उद्धृत किया जायगा) यह कहने पर भी कि विज्ञान की सर्च-लाइट के सामने धर्म टिक नहीं सकता, धर्म से अपना छुटकारा नहीं कर पाते, और कहते हैं कि "धर्म के भविष्य के विषय में विज्ञान की भविष्यवाणी यह है कि आगे चलकर समाज के संगठन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति का अधिकाधिक सम्बंध रहेगा, जिसका अर्थ यह है कि निकटभविष्य में जाति या जातियों के भूभागीय समूह के आधार पर समाज का संगठन होगा। यह प्रक्रिया शुरू हो गई है। बहुत से निरीक्षकों ने रूसी साम्यवाद में धार्मिक उपादानों की मौजूदगी बताई है, यानी इसमें वही मतान्धता, कट्टरपन पर ज़ोर, भंयकर आध्यात्मिक बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति, आत्मबलिदान की भावना, अपने से भिन्न मतवालों को कष्ट देने की प्रवृत्ति, सार्वजनिक जोश, निष्ठा तथा हर मत को अपने मत की

कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर है।" जिस समय हक्सले ने ये बातें लिखी थीं, उस समय फासिवाद ज़ोर पर था। फासिवाद में भी हक्सले को धार्मिक उपादान दिखलाई पड़े। उन्होंने यह लिखा कि फासिवाद और रूसी साम्यवाद में वे ही उपादन दृष्टिगोचर थे, जो ईसाई धर्म की उत्पत्ति के पहले की तथा बाद की शताब्दियों में दृष्टिगोचर थे। हक्सले ऐसे महाविद्वान् इस बात की सम्भावना देखते हैं कि साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद स्वयं एक धर्म होने जा रहा है।

६९—मैक्सइस्टमैन का आरोप—मैक्सइस्टमैन नामक लेखक इसी बात को प्रमाणित करने के लिए कि साम्यवाद भी एक धर्म है, कुछ बहुत तगड़े तर्क उपयुक्त करते हैं। मैक्सइस्टमैन कभी मार्क्सवाद के समर्थक थे, बाद को वे ट्राट्स्की के अन्यतम शिष्यों में हो गये, किन्तु वे यहीं पर नहीं रुके। इसके बाद वे स्टालिन के कटु आलोचक हो गये और इसी आलोचना के सिलसिले में यह बताते हैं कि स्टालिन के रूस में साम्यवाद ने धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है। उनकी समालोचना केवल लेनिन की लाश के सम्मान पर आधारित नहीं है, बल्कि उनकी आलोचना मार्क्सवाद की नींव तक को स्पर्श करती है, इसलिए उनका मत और भी विचार्य है।

वे समझते हैं कि हेगेल के जो दो मूलविचार थे, उनमें से एक यानी 'विचार' (Idea) का आत्मविकास ही परिस्थितियों को तथा भौतिक अवस्थाओं को उत्पन्न करने के लिए ज़िम्मेदार है, इसको तो मार्क्स ने उलट दिया; किन्तु हेगेल की पद्धति की जो दूसरी मूल बात थी यानी इस जगत् का विकास द्वन्द्वात्मक तरीक़े से होता है, उसको ग्रहण कर लिया, और उसे एक कुसंस्कार की हद तक पहुँचा दिया। इस्टमैन का कहना है कि मार्क्स ने दूसरी बात को अपनाकर भौतिकवादी धार्मिकता उत्पन्न कर दी। इस धार्मिकता का व्यावहारिक रूप इस समाजवादी विश्वास में अन्तर्निहित है कि समाजवाद तो होगा ही, हम उसे द्रुत या विलम्बित कर सकते हैं। इस्टमैन कहते हैं कि चूँकि मनुष्य एक यंत्र नहीं है, उसमें भावुकता है, विश्वास का उस पर एक हद तक प्रभाव पड़ता है; इसलिए इस प्रकार की धार्मिकता के लिए गुँजाइश पैदाकर मार्क्स ने क्रान्तिकारी उद्देश्य के हक़ में भलाई की या नहीं, यह प्रश्न उलझनयुक्त हो सकता है। इस्टमैन कहते हैं कि इस विश्वास को (उनके शब्दों में धार्मिक विश्वास को) वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। अन्त तक विचार करने के बाद इस्टमैन

इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सामयिक रूप से पेशेदार क्रान्तिकारियों को अनुप्राणित करने के लिए यह विश्वास भले ही उपयोगी सिद्ध हो, किन्तु कोई भी अवैज्ञानिक मतवाद अन्त तक जाकर कल्याणकर नहीं हो सकता, यह निश्चित है।[१]

७०—इस्टमैन के आरोप की जाँच—इस्टमैन ने इस प्रकार विकास का ही मज़ाक उड़ाया है, दूसरे शब्दों में वे विकासवाद के कायल नहीं है। यह सत्य है कि विकासवाद के विपरीत भी बहुत से तथ्य मिले हैं, किन्तु फिर भी विकास की ओर आमप्रवृत्ति एक स्वीकृत तथ्य है। फिर मार्क्स ने यह कभी नहीं कहा कि हर हालत में उच्चतर की ओर विकास होगा ही, समाजवाद की स्थापना होगी ही, बल्कि मार्क्स ने जो कुछ कहा और आमरण उसका प्रचार किया, वह यही है कि विकास का क्रम यदि जारी रहेगा, तो वह इस दिशा में जायगा, किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि विकास की लड़ी टूट जाय, और वह समाज ही लुप्त हो जाय। १८४८ में लिखित कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों में ही मार्क्स-एंगेल्स ने यह बात इसी रूप में कह दी थी। इसलिए मार्क्स के समाज-विकास-सम्बन्धी वक्तव्य को धार्मिक विकास की श्रेणी में रखना ज़्यादती होगी। मैक्सइस्टमैन यह भूलते हैं कि वास्तविकता पर आधारित धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त वास्तविकता तथा प्रयोगों पर आधारित वैज्ञानिक विश्वास भी हो सकता है। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक का यह विश्वास कि मामूली परिस्थितियों में दो हिस्से हाइड्रोजन और एक हिस्सा आक्सिजन मिलाने से पानी उत्पन्न होगा, एक वैज्ञानिक विश्वास है। मार्क्स का समाज-विकास-सम्बन्धी विचार वैज्ञानिक विश्वास की श्रेणी में आता है न कि धार्मिक विश्वास की श्रेणी में।

७१—बुखारिन-द्वारा प्रगति का स्पष्टीकरण—बुखारिन ने इसी विषय का अनुधावन करते हुए लिखा है 'किसी युग में मैमथ (अतिकाय हस्ती) थे, किन्तु अब वे नहीं हैं। हमारे देखते देखते भैंस प्राणीजाति का अन्त हो रहा है। आमतौर पर हम यह सकते हैं कि सैकड़ों क़िस्म के प्राणी लुप्त हो चुके हैं। रहा मनुष्यों की टुकड़ियों का, सो इनका भी यही हाल है। किसी युग में अमेरिका में सर्वेसर्वा इनका और आजटेकगण अब कहाँ है। ऐसिरोबैबीलोनीय समाज-

१. M. O. S.

पद्धति अब कहाँ हैं? क्रीटीय सभ्यता तथा प्राचीन ग्रीक सभ्यता कहाँ है। जगत् पर शासन करनेवाला प्राचीन रोम अब कहाँ है ? ये सब समाज अब नष्ट हो चुके हैं। उनका अस्तित्व अब कहानी का विषय हो चुका है। फिर भी अगणित क़िस्मों में से कुछ बच भी रही हैं, और उन्होंने अपने को पूर्ण कर लिया है। यों प्रगति का अर्थ है—जैसा कि हम कह सकते हैं कि—दस हज़ार विकास के प्रतिकूल संयोगों में से विकास के अनुकूल एक या दो संयोगों का रह जाना। यदि हम केवल अनुकूल परिस्थितियों तथा अनुकूल परिणामों को स्मरण रक्खें तब तो हमें ऐसा ज्ञात होगा मानो इस जगत् का निर्माण अत्यन्त आश्चर्यजनक तथा एक योजना को पहले से मानकर चला है (अहा! यह जगत् कितने सुन्दर तरीक़े से बनाया गया है!), किन्तु यदि ये अन्तर्निहित उद्देश्यवादीगण (teleologists) सिक्के की दूसरी ओर देखने का कष्ट करें तो उन्हें विनाश के अगणित उदाहरण दिखाई देंगे।'[१] अध्यापक एडवर्डमेयर ने फ्रांस के खननकार्य में एक ऐसी सभ्यता का पता पाया जो बिल्कुल निश्चिह्न हो गई। ऐसी प्रगति से मार्क्स का क्या आशय है, यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मैक्सइस्टमैन थोड़ी चेष्टा करने पर समझ सकते थे, किन्तु बुर्जुआवर्ग के प्रिय लेखक होने की उच्चाकांक्षा के कारण वे उसका अनर्थ लगाकर यह बताने की धृष्टता करते हैं कि मार्क्सवाद में आमतौर से प्रगति में जो विश्वास है, उसका रूप धार्मिक है।

७२—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धर्म नहीं हो सकता—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद व्यक्ति-पूजा को किसी प्रकार प्रोत्साहन नहीं देता। इस मतवाद के अनुसार बड़े से बड़ा व्यक्ति समाज की उपज है, अतएव व्यक्ति की पूजा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि फिर भी व्यक्ति पूजा होती है, तो यह निःसन्देह है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसे नहीं चाहता। इसी के साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह भी बताता है कि पहले के युगों में जो मनोवृत्तियाँ मनुष्य में अन्तर्निहित हो चुकी हैं—समाज की शक्तियों को प्रधानता न देकर व्यक्तिविशेष की पूजा करने लगना इसी प्रकार की एक मनोवृत्ति है—रातोंरात ख़तम नहीं हो सकतीं। इस मनोवृत्ति के लुप्त होने में कुछ दिन लगेंगे। राजनैतिक क्रान्ति जैसे रात

१. H. M. p. 26

भर में हो सकती है, उस प्रकार से मानसिक क्रान्ति रात भर में नहीं हो सकती। इसके होते होते कुछ समय लगना अनिवार्य है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धर्म का जामा इसलिए भी नहीं पहिन सकता कि वह निरन्तर नये सत्यों को अपने अंग में मिलाता रहता है, और किसी भी हालत में अपने वर्तमान रूप को अन्तिम सत्य नहीं समझता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपर में विश्वास का बिल्कुल विरोधी है। वह तो मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता मानता है, अवश्य मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण मौजूद परिस्थितियों में रहकर करता है। ऐसी अवस्था में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को धर्म के सिंहासन पर बैठाकर अभिषिक्त करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। केवल यही नहीं कि भौतिकवाद धर्म नहीं हो सकता, बल्कि भौतिकवाद क्रियाशील रूप से धर्म का विरोधी है। धर्म विज्ञान के विरुद्ध है, और भौतिकवाद विज्ञान के ही सहारे चलता है। यह समझना ठीक नहीं कि जोश केवल धार्मिकों की ही बपौती है। वर्ग सचेतन मजदूर अपने हक़ के लिए तथा अपने मज़दूर राष्ट्र की रक्षा के लिए जिस जोश के साथ लड़ सकता है, उसका प्रमाण १९४१-४५ के रूसी-ज़र्मन युद्ध में लड़ते हुए रूसियों को देखकर हम जान चुके। फिर एक नये वर्ग के लिए आत्मसचेतन पर और अपने सन्मुख भविष्य का सारा कैन्वास खुला है, यह देखकर किसे जोश न आवेगा। किसी वर्ग में आमतौर से जोश का अभाव उस वर्ग की ह्रासशीलता को सूचित करता है।

७३—वर्तमान युग में भी धर्म एक प्रबल शक्ति—वर्तमान युग में धर्म का न तो कोई क्रान्तिकारी हिस्सा है, और न हो सकता है। ऐसी हालत में भी *रूस के अतिरिक्त सारी दुनिया में धर्म की प्रधानता बनी हुई है। करोड़ों

---

* हाल में रूस में धर्म-प्रचार की सुविधा दी गई है। इससे कुछ लोगों में बहुत तहलका मचा हुआ है। ऐसे लोगों को यह ज्ञात नहीं कि रूस के मौलिक विधान में ही धर्म तथा धर्मविरोधी प्रचार दोनों को पूर्ण स्वतंत्रता दी गई थी। रहा आडम्बर के साथ जो गिर्जे आदि अभी कुछ दिनों से खुले हैं, तथा विशप और आर्क विशप भड़कीले वस्त्र पहिनकर रूस में इधर से उधर घूम रहे हैं, इसका महत्त्व इतना ही है कि एक तो अब रूस की जनता को धर्म-प्रचार से कोई डर नहीं, दूसरे केवल थोड़े से विशप तथा कुछ अनुष्ठानों को सहन करने पर ही दुनिया के मध्य मार्गवादी (centrist) उपादान की साहनुभूति रूस को

व्यक्ति अभी तक उसके मार्ग का अनुसरण करते हैं। पुरोहितों, मुल्लाओं, पादरियों तथा उनकी उपपत्नियों को करोड़ों रूपये अब भी मिलते हैं। इसका क्या कारण है? धर्म आज भी एक सामाजिक शक्ति क्यों बनी हुई है। केवल भारत, चीन आदि देश ही नहीं, सभ्यता के शिखर पर स्थित योरप में भी बहुत से स्थानों पर राजनैतिक दल धर्म के विभाजन के अनुसार मौजूद हैं। अब भी पोप, शंकराचार्य आदि का काफ़ी असर है। पोप का तो यह हाल है कि किसी भी विवादास्पद विषय पर उनके विचार जानने के लिए सभ्य जगत् लालायित रहता है। तिब्बत या अफ़ग़ानिस्तान ऐसे पिछड़े हुए स्थानों में धर्मध्वजियों का राज्य ही है। अब भी धर्म के नाम पर क्रान्तियाँ पीछे हटा दी जाती हैं, जैसा स्पेन तथा अफ़ग़ानिस्तान में हुआ। अवश्य विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होगा कि अफ़ग़ानिस्तान में तो धर्म की आड़मात्र थी, उसके पीछे वहाँ का सामन्तवादी वर्ग था, जो पूँजीवाद से बल्कि लोकतंत्र से खौफ़ खाता था।

७४—धर्म का वर्ग चरित्र—लेनिन ने लिखा है कि धर्म का यह जो विश्व-व्यापी प्रभाव है, उसकी केवल यह कहकर व्याख्या करना कि लोगों में अज्ञान है, यथेष्ट नहीं। यह जरूरी है[१] कि जिन देशों में ज्ञान विज्ञान का प्रचार कम है, उन्हीं देशों में लोग धर्म को गम्भीरता के साथ लेते हैं, अन्य देशों में लोग धर्म को जीवन से अलग रखते हैं। एक अँगरेज़ छः दिन तक तो मैमन या कुवेर के मन्दिर में उपासना करता है, और सातवें दिन चर्च आफ़ इँगलैंड में हाज़िरी देता है; फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सभ्य देशों में भी धर्म एक महान् शक्ति है। इसी कारण लेनिन ने धर्म के प्रभाव को अज्ञान से उत्पन्न कहकर टालने की चेष्टा को छिछोरा बतलाया है, और कहा है कि यों धर्म के मूल की व्याख्या नहीं होती। उन्होंने यह कहा कि इस प्रकार कहना

प्राप्त हो सकती है/यह समझकर इन बातों को होने दिया गया है। कुछ ऐसे व्यक्तियों को जो सुधर नहीं सकते, धर्माचरण करने देने में अब कोई आपत्ति नहीं की जाती। यह मानना पड़ेगा कि ऐसे धर्म का कोई विशेष प्रचार न होगा क्योंकि जड़ तो स्कूलों आदि में काट ही दी गई है, और बराबर काटी जा रही है।

१ R. L. p. 24

कोई भौतिकवादी तरीक़ा नहीं है, बल्कि भाववादी तरीक़ा है। लेनिन ने इसीलिए धर्म के वर्गचरित्र के उद्घाटन पर ज़ोर देने के लिए कहा है।

७५—नेपोलियन-द्वारा धर्म के वर्गचरित्र की स्वीकृति—धर्म का वर्गचरित्र न तो मार्क्सवादियों की कपोलकल्पना है, और न शासकवर्ग तथा धर्म का यह गठबन्धन सर्वत्र अनजान में ही होता रहता है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण नेपोलियन के मुँह से निकली वह वाणी है, जो उन्होंने पोप के साथ पारस्परिक सहायता के समझौते के बाद दी थी। उन्होंने कहा था "बिना धर्म के भला एक राष्ट्र में सुव्यवस्था कैसे रह सकती है। समाज व्यक्तियों के भाग्यों की विषमताओं के बग़ैर चल नहीं सकता, और धर्म के बिना ये विषमताएँ टिक नहीं सकतीं। जिस समय एक व्यक्ति भूखों मर रहा है, और उसके बग़ल में ही दूसरा व्यक्ति अति भोजन के कारण बीमार है, उस समय पहला व्यक्ति तब तक किसी हालत में अपनी अवस्था को सहन करने के लिए तैयार न होगा, जब तक कोई अधिकारी व्यक्ति उसके सामने आकर ज़ोरों से साथ यह न कहे कि 'ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है। जगत् में अमीर और ग़रीब दोनों का होना अनिवार्य है, किन्तु इस जगत् के बाद परलोक में इस समय जो बटवारे का तरीक़ा है, वह हमेशा के लिए बदल जायगा।"[१]

हमने अपनी आलोचना के दौरान में यह दिखलाया है कि किसी किसी स्थान में धर्म तथा सम्प्रदायों का उत्थान प्रगतिशील उपादानों की प्रेरणा के कारण हुआ था, किन्तु हमने यह भी दिखलाया कि हर बार जल्दी ही धर्म की यह प्रगतिशीलता लुप्त हो गई। तबसे शासकवर्ग साथ ही धर्म के ठेकेदारगण बुद्धिमान् हो चुके हैं और एक दूसरे के साथ पवित्र मित्रता कर चलते हैं। हम यह दिखला चुके हैं कि जिस समय पूँजीवादीवर्ग का अभ्युदय हो रहा था, उस समय धर्म सामन्तवादियों के हाथों का एक हथियार मात्र था, तभी पूँजीवाद के अभ्युदय के उषःकाल में इस युग के अग्रदूत स्वरूप पूँजीवादी दार्शनिकों ने धर्म के विरुद्ध बाँग दी, और डटकर सामन्तवादी धर्म का विरोध किया। धर्म को समझने के लिए विशेषकर उसके वर्गचरित्र को समझने के लिए उसके इतिहास के इस पहलू को कुछ विस्तार के साथ बताना ज़रूरी है। १८वीं

---

१. O. W. H. p. 930

सदी में हालवाख, हेलेवेसियस आदि लेखकों ने धर्म के विरुद्ध जो तर्क दिये थे, उनको आज हम पूँजीवादियों-द्वारा पृष्ठपोषित धर्म के विरुद्ध भले ही उपयोग कर सकें—और करते ही हैं—किन्तु उस समय के लेखक पूँजीवादीवर्ग के उदय के मार्ग में जो खण्डमेघ तथा कोहरे थे, उनको छिन्न-भिन्न करने में बहुत ज़बरदस्त साबित हुए।

७६—**हालवाख का मतवाद**—हालवाख ने अपनी पुस्तक प्रकृति की पद्धति में यों तो दृश्यमान रूप से धर्म तथा ईश्वर की बुराई करते हुए लिखा है, किन्तु यदि हम उसको गहराई तक देखें तो पता लग जायगा कि वे उस समय की शासनप्रणाली अर्थात् सामन्तवादी शासकवर्ग से कितने परेशान हैं, तथा किस प्रकार लोगों के अधःपतन को उन्हीं के सिर पर मढ़ देते हैं। हम यहाँ केवल एक उदाहरण देंगे। वे लिखते हैं 'क़रीब क़रीब सभी सज़ा और जजा देनेवाले एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, फिर भी हम प्रत्येक देश में यह देखते हैं कि भले आदमियों के मुक़ाबिले में दुष्टों की संख्या कहीं अधिक है। यदि हम इस व्यापक अधःपतन के सही कारण को जानना चाहें, तो हमारा काम न तो आध्यात्मिक विचारों से और न धर्मों के द्वारा दिये हुए कपोल कल्पित कारणों से चलेगा। मनुष्य का अधःपतन इसलिए हो रहा है कि वे प्रायः सर्वत्र बहुत बुरी तरह शासित हो रहे हैं और वे बुरी तरह इसलिए शासित हो रहे हैं कि धर्मों ने इन राजाओं को ईश्वरीय बना रखा है। राजा लोग यह जानते हैं कि उन्हें कोई सज़ा नहीं मिल सकती और उन्होंने अनिवार्य रूप से अपनी प्रजा को भी पुष्ट तथा अभागा बना दिया है। बुद्धि के विरुद्ध चलनेवाले लोगों के शासन में रहने के कारण बुद्धि ने कभी उनका पथप्रदर्शन नहीं किया। धोखेबाज़ पुरोहितों-द्वारा अन्ध बनाये जाने के कारण उनकी बुद्धि उनके लिए व्यर्थ हो चुकी है।'[१]

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि हालवाख ईश्वर और धर्म से विशेषकर इसलिए नाराज़ हैं कि इन लोगों ने सामन्तवादी शासकों को अपनी छत्र-छाया में रख छोड़ा है। यह बताना ठीक न होगा कि हालवाख ने या उस समय के किसी भी फ़्रेन्च भौतिकवादी ने जानबूझ कर पूँजीवादीवर्ग के वर्गहित

---

१. E. H. M. p. 65

को सिद्ध किया यानी यह चाहा कि एक शोषणपद्धति जाकर उसके स्थान में दूसरी शोषणपद्धति आवे। ऐसा कहना तो इन महानुभावों के साथ सरासर अन्याय करना होगा, किन्तु इतना सत्य है कि इन लोगों ने सामन्तवादी वर्ग का जो सर्वतोमुखी विरोध किया (वह चाहे सामन्तवादी धर्म के विरोध के रूप में ही रहा हो), उससे पूँजीवादीवर्ग को फायदा हुआ, और उसने उनसे फ़ायदा उठाया।

७७—हेलविसियस का धर्म-विरोध—प्लेखनाव ने हालवाख के सम्बन्ध में लिखते हुए यह बताया है कि 'हालावख धर्म को अत्यन्त गहरे रूप में जड़ पकड़ा हुआ कुसंस्कारमात्र समझते थे, और इसके विरुद्ध लगातार संग्राम करते थे।' इसी प्रकार उस युग में हेलवेसियस नामक एक विद्वान् हो गये हैं जिन्होंने यह कहा था कि जो लोग यह समझते हैं कि धर्म से कुछ फ़ायदा होता है, वे भ्रम में हैं। उन्होंने यह भी कहा कि प्रत्येक धर्म का काम मनुष्य की ज्ञानपिपासा को थपकियाँ देकर सुला देना है जिससे वह उन मूर्खतापूर्ण बातों की गहराई तक न पहुँच सके जिनसे धर्म का कारोबार चलता है, इत्यादि।

७८—वाल्टेयर के धर्म-विरोध की विशेषता—फ्रैंच राज्यक्रान्ति के पहले के दार्शनिकों में वाल्टेयर का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। वे फ्रेंच राज्यक्रान्ति के अग्रदूतों में माने जाते हैं। उन्होंने धर्म का ज़ोरदार विरोध किया, और अपनी पुस्तकों में साथ ही साथ सामन्तवादी पद्धति की बुद्धि विरुद्धता का पग पग पर पर्दा फाश किया। उनका धर्म-विरोध हालवाख के धर्म-विरोध से दूसरी तरह का था। हालवाख ने तो धर्म के वृक्ष को जड़मूल से काट देना चाहा था, किन्तु वाल्टेयर ने गिर्जों के विरुद्ध लोहा लेते समय ईश्वर पर हमला नहीं किया। हाँ, उन्होंने ईश्वर से तर्क करने की चेष्टामात्र की। वाल्टेयर इस प्रकार धर्म में विधानवादी थे, यानी वे चाहते थे कि ईश्वर जहाँ के तहाँ बने रहें, किन्तु वे लोगों को एक शासन-विधान दें। वे चाहते थे कि परम सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता सामन्तवादी राजाओं की तानाशाही की तरह न हो, बल्कि विधान के अन्दर शासन करनेवाले राजा की तरह वे प्रकृति के उन नियमों में बँध जायँ जिनको दार्शनिकों ने सोच रक्खा है। वाल्टेयर के सामाजिक आदर्श क्या थे, इसे जानने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने धर्म विरोध के साथ ईश्वर-विरोध क्यों नहीं किया। वे वैयक्तिक स्वतंत्रता, टैक्स के बोझों का समीकरण

अर्थात् सामन्तवादी प्रभुओं और अन्य सब लोगों से बराबर टैक्स लिया जाना, अर्द्धगुलामी का खातमा, पादरियों के हाथ से सार्वजनिक शिक्षा विभाग का छुटकारा, सामन्तवादी प्रभुओं के तरह तरह के हक़ों का उच्छेद आदि चाहते थे। हालवाख और हेलवेसियस जिस प्रकार एक अस्पष्ट तरीक़े से समसामयिक समाज व्यवस्था का विरोध कर रहे थे, उसके मुक़ाबिले में वाल्टेयर का विरोध कहीं अधिक निखरा हुआ तथा आत्मसचेतन था। वे सही सज्ञान रूप से नहीं, किन्तु सहजाति वृत्ति के द्वारा यह समझते थे कि ईश्वर का विरोध करना खतरे से खाली न होगा। हाँ, ईश्वर के सामन्तवादी जामें को उखाड़ फेंकना ज़रूरी है। वाल्टेयर के मत में यह बातें थीं। इसी कारण वह मत पूँजीवादी वर्ग को कहीं अधिक ग्रहणीय हुआ। वाल्टेयर ईश्वर के विचार को ज़रूरी समझते थे। उनका कहना था कि वास्तविक रूप से यदि कोई ईश्वर न हो, तो भी काम चलाने के लिए ईश्वर की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस विचार के पीछे प्रभुत्व का उपादान स्पष्ट है।

७९—धर्म के विरुद्ध दियरों के दो हथियार—इस युग के दार्शनिकों में दियरो (१७१३-८४) का स्थान प्रमुख रहा है। उस ज़माने में विश्वकोष के इर्दगिर्द जितने विद्वान् जमा हुए थे उनमें दियरों सबसे अधिक विद्वान् थे। उन्होंने १७७० में 'प्राकृतिक धर्म की यथेष्टता' नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने धर्म को अनावश्यक बतलाया। अपने दीर्घ लेखक-जीवन में उन्होंने बराबर ईसाई धर्म की अपौरुषेयता पर हमले किये। प्रचलित अध्यात्मवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्होंने दो हथियारों की सहायता ली—एक सन्देहवाद और दूसरा साधारण बुद्धि। उन्होंने कहा, जिस मतवाद को इन दोनों कसौटियों पर नहीं कसा गया, उनको सत्य का दावा करने का कोई हक़ नहीं। इस प्रकार उन्होंने भी सामन्तवादी धर्म को हटाने में एक प्रमुख हिस्सा लिया।

८०—जातीयता के उदय के कारण धर्म की शक्ति घट गई—यद्यपि जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, पूँजीवाद के अधिकारारूढ़ होते ही धर्म ने अपने को पूँजीवाद के अनुकूल कर लिया, इस प्रकार धर्म और पूँजीवाद की पवित्र मित्रता के युग का सूत्रपात हुआ, फिर भी यदि सही रूप में देखा जाय तो सामन्तवाद के युग के बाद धर्म का ज़ोर बहुत कुछ घट गया। बात यह है कि पूँजीवाद के उदय

के साथ साथ आधुनिक अर्थ में जातीयता की उत्पत्ति हुई, और जातीयता धर्म से कहीं अधिक बड़ी शक्ति है, यह थोड़े ही दिन में प्रमाणित हो गया। पहले के युग में धर्म के नाम पर या धर्म के एक विशेष सम्प्रदाय के नाम पर उस धर्म के माननेवाले सब देशों के लोगों को विधर्मियों के विरुद्ध उत्तेजित कर क्रूसेड कराया जा सकता था, किन्तु पूँजीवाद तथा जातीयता के उदय के साथ साथ धर्म की यह शक्ति लुप्त हो गई। मार्क्स ने १८५३ और १८५६ के बीच क्रीमीय युद्ध पर न्यूयार्क ट्रिव्यून में कुछ पत्र लिखे थे। इन पत्रों में धर्म की घटी हुई शक्ति, साथ ही जातीयता की वृद्धिशील शक्ति हमारे सामने बहुत अच्छी तरह प्रकट हो जाती है।

८१—**क्रीमीय युद्ध पर मार्क्स का लेख**—मार्क्स लिखते हैं 'पश्चिमी योरप के युद्धों में जब धार्मिक पहलू एक प्रधान उपादान की हैसियत में थे, वे दिन मालूम होता है अब जा चुके। . . .पश्चिमी योरप की दो बड़ी शक्तियों ने रूस के विरुद्ध इस लड़ाई में जो रुख लिया है, वह इस सत्य का द्योतक है। हम देखते हैं कि प्रोटेस्टेंट इँगलैंड और कैथोलिक फ़्रांस ने मुस्लिम राष्ट्र टर्की की रक्षा के लिए मित्रता कर ली है, जब कि उनका धार्मिक कर्त्तव्य था उस 'पवित्र' रूस की सफलता चाहना, जो उन्हीं की तरह एक ईसाई शक्ति है, और टर्की का विनाश (क्योंकि टर्की एक काफ़िर देश है)। यद्यपि प्रशिया और आस्ट्रिया का रुख उतना साफ़ नहीं है, फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि ईसाई जर्मनी की ये दो ताक़तें, फ़्रांस और इँगलैंड की तरह, मुस्लिम साम्राज्य की समग्रता को टूटने देना नहीं चाहतीं। वे चुप्पी साधे हुए हैं, और रूस के विरुद्ध युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं इसका कारण और चाहे जो हो, धार्मिक नहीं है।

"इस परिस्थिति को सम्पूर्णरूप से समझने के लिए हमें क्रूसेडों के युग की याद करनी चाहिए, जब तेरहवीं सदी तक पश्चिमी योरप ने पवित्र समाधि-स्थान पर क़ब्ज़ा करने के लिए काफ़िर तुर्कों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ी थी। अब पश्चिमी योरप न केवल पवित्र समाधिस्थल पर तुर्कों के अधिकार को स्वीकार करता है, बल्कि परिस्थिति यहाँ तक पहुँची है कि जब इन दिनों कभी ग्रीक या लैटिन जातियों के भिक्षु आपस में इस बात पर तर्क-वितर्क करते हैं कि किन लोगों का इस समाधिस्थल पर (जिस पर कभी सारी ईसाई जातियाँ

अपना अधिकार जमाने के लिए लालायित थीं) अधिकार होगा, तो लोग इन पर क़हक़हेबाज़ी करते हैं। जब ईसाई रूस आज तुर्की साम्राज्य की ईसाई प्रजा की 'रक्षा' के लिए क़दम बढ़ाता है तो पश्चिमी योरप आज उसके विरुद्ध सशस्त्र होकर लड़ाई करता है। मुसलमान देशों में स्थित ईसाइयों की इस प्रकार पैरवी करना कभी बहुत बड़ा सराहनीय काम समझा जाता था। किसी युग में मुस्लिमों को योरप से निकाल देने के नारे पर फ़्रांस और इँगलैंड जोश में आ जाते थे, किन्तु अब तुर्की को योरप से न निकालना इन जातियों की सबसे प्रिय आकांक्षा मालूम देती है। तो १९वीं सदी के योरप और तेरहवीं सदी के योरप में इतनी भारी खाई है। इसी से स्पष्ट है कि उस ज़माने के मुक़ाबिले में धार्मिक सिद्धान्तों का राजनैतिक प्रभाव कितना घट गया है।"

आगे चलकर इसी लेख में मार्क्स इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि इस यूरोपीय संकट पर विशुद्ध धार्मिक दृष्टि की भले ही न चलती, किन्तु इधर उधर छिटपुट रूप से इस प्रकार के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति 'तो होती। उन्होंने इस सम्बन्ध में अनुसन्धान किया और बहुत खोज करने के बाद उन्हें केम्ब्रिज के एक धर्माचार्य (D.D.), इँगलैंड के उत्तर के एक आलोचक तथा पेरिस के univers नामक अख़बार का एक लेख मिला, जिसमें धार्मिक दृष्टिकोण से क्रीमीय युद्ध पर विचार किया गया था।' इनमें ईसाई जातियों द्वारा मुस्लिम शक्ति की रक्षा को बिल्कुल पापपूर्ण बतलाया गया है। फिर भी इन देशों में किसी के कानों में जूँ तक नहीं रेंगी। इसका क्या कारण है? प्रोटेस्टेंट सुधार के युग से प्रत्येक योरोपीय जाति के उच्च वर्ग ने चाहे वह प्रोटेस्टेंट हो गया हो, और चाहे कैथोलिक रह गया हो, विशेषकर उनके राजनीतिज्ञों, वकीलों, कूटनीतिज्ञों ने व्यक्तिगत रूप से धर्म से अपना पल्ला कटवा लिया, और कथित स्वतंत्र विचार-धारी हो गये। फ़्रांस के लुई १४ वें के ज़माने से यह बौद्धिक आन्दोलन उच्चतर-वृत्तों में खुलकर प्रकट हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप उस सार्वजनिक रुझान की सृष्टि हुई जिसे १८वीं सदी में दर्शनशास्त्र कहा गया था। वाल्टेयर ने फ़्रांस में रहने में ख़तरा देखा, और ऐसा न तो उनके मतों के लिए और न इसलिए कि मौखिक रूप से उन्होंने उन मतों को प्रकट किया था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने इन विचारों को सारी साक्षर जनता के सामने रख दिया था, तो उन्होंने

इँगलैंड में जाकर आश्रय लिया। इस प्रकार उन्होंने मानो इस बात को प्रमाणित कर दिया कि लन्दन के उच्च जीवन के केन्द्र पेरिस के केन्द्रों से अब भी अधिक स्वतन्त्र थे। सच तो यह है कि द्वितीय चार्ल्स के राजसभा के पुरुष, तथा स्त्री जैसे बीलिंग ब्रोक, वाल्पोलगण, ह्यूम, गिबन, चार्ल्स फ़ाक्स ये ऐसे नाम हैं जिनके सुनते ही धर्म में अविश्वास का प्रचलन प्रकट होता तथा उस ज़माने के उच्च-वर्ग—इसके राजनीतिज्ञों तथा राजपुरुषों की उस युग के दर्शन के प्रति आम-तौर से अनुरक्ति ज्ञात होती है। इस युग को हम सामन्तवादग्रस्त पुरोहितवर्ग के शासन के विरुद्ध उदीयमान पूँजीवादी अभिजात वर्ग के विद्रोह का युग कह सकते हैं। कोंत ने एक छोटे से वाक्य में इस परिस्थिति का सुन्दर दिग्दर्शन कराया है—'सोलहवीं सदी के क्रान्तिकारी युग के प्रारम्भ से ढोंग-ढकोसले की यह पद्धति व्यवहार में और भी व्यापक हो गई है। और यह एक विशेष तरीक़े के सभी मनों को छुटकारा देने की इजाज़त केवल इस अकथित शर्त पर देती है कि वह जनता को वश में रखने के काम को दीर्घतर करने में सहायता दें। यही खास करके जेस्वीरों की नीति थी।'

"अब हम फ्रेंच राज्य क्रान्ति के युग में पहुँच जाते हैं जब पहले-पहल तो फ़्रांस की जनता और बाद को तमाम पश्चिमी यूरोप की जनता ने राजनैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता की इच्छा के साथ साथ धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति बढ़ती हुई घृणा प्रकट करना शुरू कर दिया। १७९३ के फ्रेंच प्रजातांत्रिक कन्वेनशन से ईसाइयत को राष्ट्र की स्वीकृत-संस्था के रूप में जो हटा दिया गया था, तब से जहाँ भी पश्चिमी यूरोप में जनता का वश चला, वहीं से राजनैतिक और नागरिक मामलों में धार्मिक कसौटियों का वर्जन कर दिया गया। साथ ही १८४८ में इटली का आन्दोलन चला। इन बातों से अच्छी तरह पता लगता है कि यूरोप में जन-मत की गति किस ओर थी। हमारे सामने अब भी यही युग चल रहा है, जिसे हम पुरोहित अधिकारों के विरुद्ध लोकतांत्रिक विद्रोह का युग कह सकते हैं।

"किन्तु फ्रेंच राज्यक्रान्ति के युग से यही जन आन्दोलन जो सामाजिक समता के आन्दोलन से बँधा हुआ था, बाद में उच्च स्थानों में धर्म के अधिकार के अनुकूल एक ज़ोरदार प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ। अभिजात-वर्ग और

पादरी-वर्ग ने देखा कि जन-आन्दोलन से उनको बराबर खतरा है, इसलिए यूरोप के उच्च वर्ग ने सार्वजनिक जीवन में अपने सन्देहवाद को एक ओर रख दिया, और राष्ट्रीय गिर्जों तथा उनकी पद्धतियों के साथ बाहरी रूप से दोस्ती कर ली।"

८२—**धर्म ने पूँजीवादी चोला पहना**—धर्म के साथ नये पूँजीवादी प्रभु ने यह जो समझौता कर लिया, इसमें हाथ दोनों तरफ़ से बढ़े और मिल गये। धर्मजीवियों को राष्ट्र की सहायता प्राप्त करना इसलिए ज़रूरी था कि वे परलोक का यश गाते रहने पर भी इहलोक में अच्छी तरह रहने में विश्वास करते थे, और पूँजीवाद को धर्म की आवश्यकता इसलिए थी कि धर्म के ज़रिये जनता को जितनी हद तक दबाकर रक्खा जा सकता है, उतना कारगर और कोई अन्य हथियार नहीं हो सकता। यदि धर्म सामन्तवादी युग का ही राग अलापता रहता, तब तो पूँजीवादी वर्ग उसकी भी वही हालत कर देता, जो उसने गिल्ड आदि सामन्त युग की संस्थाओं की की थी। किन्तु धर्म के नेतागण चतुर थे; इसके अतिरिक्त धर्म में कोई ऐसी बात अन्तर्निहित नहीं थी जो अपरिहार्य रूप से से पूँजीवाद के विरुद्ध पड़े, इसलिए धर्म ने अपना चोला बदल दिया। धर्म ने जब इस प्रकार अपनी शुद्धि कर पूँजीवादी वस्त्र धारण किये तो पूँजीवाद को उसके साथ गठबन्धन में क्या आपत्ति हो सकती थी। यही कारण है कि पूँजीवाद ने अपने यौवन के प्रारम्भ में धर्म के जिस घट को लात मारी थी, इसके बाद से उसी घट के जल से आचमन कर वह अपने दिन का प्रारम्भ करने लगा। मार्क्स ने दिखलाया है कि ज्यों ज्यों समय आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों धर्म के प्रति पूँजीवादी राष्ट्रों का प्रेम बढ़ता गया, और पूँजीवादी राष्ट्रों ने भी सेवा तथा पारलौकिक आशीर्वाद के फलस्वरूप धर्म के दामन को मणिजटित स्वर्ण-पुष्पों से भर दिया। यदि इन दोनों की पवित्र मित्रता में किसी को हानि रही, तो जनता को रही।

८३—**धार्मिक नारों की आड़ में वर्ग-युद्ध**—धर्म इस प्रकार बराबर आर्थिक, सामाजिक शक्तियों के साथ बँधे रहने के कारण ही शक्ति बन सका, इस सम्बन्ध में यह अवश्य द्रष्टव्य है कि धर्म ने बराबर अपने पति बदले हैं। ट्राटस्की ने दिखलाया है कि मध्ययुग में यूरोप में अक्सर इस बात पर ख़ून की नदियाँ बह

गईं कि 'जान के सुसमाचार' के अमुक अंश का यह अर्थ है या वह;' किन्तु इन झगड़ों के पीछे कुछ दूसरी ही बातें रहती थीं। धर्म कहाँ और कब प्रगतिशील रहा या नहीं रहा, यह इस पर निर्भर रहा है कि जिन लोगों ने उसकी छत्रछाया में अपना काम निकालना शुरू किया (ऐसे लोग हमेशा क्या अक्सर सज्ञान ही होते हैं, ऐसी बात नहीं), उन्हीं पर यह निर्भर था कि वे प्रगतिशील हैं या नहीं। बाइबिल के एक अंश का अर्थ एक पक्ष के लिए ग़ुलामी तथा दूसरे पक्ष के लिए आज़ादी का सन्देह हो सकता था, और इतिहास में ऐसा हुआ है। धार्मिक झगड़ों की आड़ में अक्सर आर्थिक और राजनैतिक लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। इस समय भी भारतवर्ष ऐसे पिछड़े हुए देश में पाकिस्तान तथा इसी प्रकार के अन्य नारों की आड़ में हिन्दू तथा मुसलमान, उच्च और मध्यमवर्ग की लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं। अवश्य हम यह नहीं कहते कि इन नारों में सर्वत्र एक ही उपादान है, और दूसरी कोई भी सही माँग या दृष्टिकोण अन्तर्निहित नहीं है। ट्राटस्की ने यह भी लिखा है कि केवल मध्ययुग में ही नहीं, बल्कि आजकल भी ऐसे नारों की तह में दूसरी ही बातें होती हैं। एक क्रान्तिकारी का कर्त्तव्य यह है कि वह किसी भी समय किसी संस्था की ओर से दिये गये ऊपरी नारों पर विश्वास न करे—अक्सर नारे तो राजनैतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों पर मुलम्मा चढ़ाने के लिए तथा उनको छिपाकर अधिक से अधिक जनता को अपने साथ और अपने झण्डे के नीचे लाने के लिए दिये जाते हैं। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इसलिए नारों तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखकर उनकी तह में जावेगा, अन्तर्निहित शक्तियों का उद्घाटन करेगा, उनके अन्दर जो वर्ग-शक्तियाँ काम कर रही हैं उनकी परीक्षा करेगा, तथा देखेगा कि नेतृत्व ने किन सामयिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नारे दिये हैं। धार्मिक नारे इसलिए विशेषकर विश्लेषणीय हैं कि धर्म का भी इस युग में बहुत ज़ोर है, इसलिए चतुर नेतागण धार्मिक नारों की आड़ इस समय भी लेते हैं।

८४—धर्म और पूँजीवाद की मित्रता राष्ट्र की ग़ुलामी में परिणत——धर्म ने अर्थात् धार्मिक नेताओं ने अपने फ़ायदे के लिए धार्मिक नारेबाज़ी को बराबर प्रोत्साहित किया है, फिर भी धर्म का प्रभाव घटता ही गया है। यों तो सभी ने धर्म से काम निकाल लिया, किन्तु पूँजीवादीगण जिस प्रकार अधार्मिकता

से डरते थे, उसी प्रकार धर्मवादियों के अधिक प्रभाव को वे अच्छा नहीं समझते। इसीलिए धर्म पूँजीवादी राष्ट्रों का एक अंग या विभागमात्र होकर रह गया है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों धर्म को बिलकुल एक निकृष्ट दर्जा मिलता गया, और धर्म तथा पूँजीवाद की मित्रता मित्रता न रहकर ग़ुलामी के ताक में परिणत हो गई। इस ग़ुलामी का नग्नचित्र, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, धर्मावलम्बी दो राष्ट्रों में युद्ध के समय खुल जाता है। उस समय प्रत्येक देश के पादरी अपने देश के युद्ध को न्यायसंगत होने का फतवा देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय धर्मगुरु पोप या तो ऐसे समय चुप्पी साधकर बैठ जाते हैं या जब कभी हिमम्मत कर मुँह भी खोलते हैं, तो उनके शब्द इतने द्वयर्थक होते हैं कि उसी से उनकी ग़ुलामी और भी स्पष्ट हो जाती है।

८५—क्या धर्म और समाजवाद का गठबन्धन सम्भव?—इस सिलसिले में हम फिर उसी प्रश्न पर पहुँचते हैं कि यदि धर्म इस प्रकार परिवर्तनशील है कि वह पहले ग़ुलामों का पक्ष लेकर आया, फिर ग़ुलामों के मालिकों का पक्षपाती हुआ, उसके बाद उसने सामन्तवाद का और फिर पूँजीवाद का पक्ष लिया, तो क्या यह सम्भव नहीं कि धर्म उसी प्रकार युग के अनुसार सर्वहारा का पक्ष लेकर आगे बढ़े? अभी १९३९–४५ के महायुद्ध के दौरान में सोवियट रूस में ग्रीक गिर्जे की स्वीकृति का जो समाचार आया था, और इसी के साथ जो यह समाचार आया था कि ग्रीक गिर्जे के प्रधान पादरियों ने उस युद्ध में सोवियट रूस को अपना आशीर्वाद दिया था, उससे इस प्रश्न में और भी ज़ोर आ जाता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि सोवियट रूस-द्वारा ग्रीक गिर्जे की स्वीकृति कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना नहीं करती, बल्कि इससे यही सूचित होता है कि धर्म को स्वतन्त्रता देने पर भी अब वहाँ पर उसकी जड़ें इतनी अच्छी तरह काट दी गई हैं कि उसके पनपने की कोई गुँजाइश नहीं। वह तो केवल दुनिया के मध्यम मतावलम्बियों के प्रीत्यर्थ मात्र है। सोवियट रूस बल्कि समाजवाद की तह में जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण है उसके साथ धर्म की चिर-शत्रुता है, ऐसी हालत में समाजवाद और धर्म का सामंजस्य अकल्पनीय है। किसी मसलहत के कारण धर्म को दिखावे के तौर पर समाजवादी देश में स्वतन्त्रता दी जाय, तो दूसरी बात है।

सर्वहारा वर्ग के शासन का अर्थ ही यह है कि मनुष्य-द्वारा मनुष्य के शोषण का उच्छेद कर दिया जाय, तथा भूतपूर्व शोषक वर्ग को लुप्त कर वर्गहीन समाज बनाया जाय। धर्म का उद्देश्य इसके विपरीत कुछ अपवादों के अतिरिक्त यह रहा है कि शोषण की प्रथा को क़ायम रक्खा जाय। ऐसी हालत में धर्म और समाजवाद से हार्दिक मित्रता कैसे हो सकती है? फिर हम बता दें कि ऊपरी मित्रता की बात नहीं हो रही है। स्पष्ट है कि धर्म ने सम्पूर्ण रूप से अपने को स्थिर स्वार्थों के साथ बाँध रक्खा है जिस समय समाजवादी रूस की सेनाएँ तेज़ी के साथ अपनी पितृभूमि को जर्मनों से मुक्त कर यूरोप में प्रवेश कर रही थीं, उस समय यूरोप के सर्वप्रधान धर्मगुरु पोप को बहुत भारी डर यह हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि लाल सेना की अग्रगति के साथ साथ देशों में समाजवादी क्रान्ति हो जाय, और पूँजीवादियों की सम्पत्ति खतरे में पड़ जाय, इसलिए उन्होंने 'ईसाई सभ्यता खतरे में' का नारा देकर एक वक्तव्य प्रकाशित किया। पोप ने यह स्पष्ट कर दिया कि वैयक्तिक सम्पत्ति में विश्वास ईसाई संस्कृति का एक अपरिहार्य अंग है, और किसी भी सामयिक लाभ-हानि के विचार के वश में होकर ईसाइयों को इसे विपत्ति में नहीं डालना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ईसाई संस्कृति' के साथ समाजवाद का कोई भी समझौता नहीं हो सकता, फिर भी यह प्रश्न एक काँटे की तरह उठता ही है कि जैसे सोवियट रूस में स्वीकृत ग्रीक गिर्जे ने सम्पूर्ण रूप से अपने को सोवियट पक्ष का बताया तथा प्रमाणित किया है, क्या वैसे दूसरे गिर्जे भी समस्त जगत् में समाजवाद होने पर नहीं कर सकते? मानना पड़ेगा कि वे ऐसा कर सकते हैं। सोवियट रूस के ग्रीक गिर्जे के रवैये को देखकर हमें इसकी सम्भावना माननी ही पड़ेगी। किन्तु साथ ही यह प्रश्न उठता है कि फिर इस प्रकार धर्म की आवश्यकता ही क्या रहेगी? इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तो विज्ञान तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही काफ़ी है। सोवियट रूस में ग्रीक गिर्जे की क़ानूनी स्वीकृति का, जैसा हम बता चुके हैं, एक उपयोग है कि उसकी स्वीकृति के द्वारा सारी दुनिया के ऐसे लोग—जो केवल धर्म-विरोध के कारण सोवियट के विरुद्ध थे—सोवियट के पक्ष में हो गये; रूस के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना के युग में, इसकी बहुत बड़ी उपयोगिता है; किन्तु जिस समय सब

देशों में समाजवाद स्थापित हो जायगा, उस युग में किसको अपनी तरफ़ आकर्षित करने के लिए इस ढोंग को—अधिक से अधिक कहा जाय तो इस व्यर्थ चीज़ को—सहन किया जायगा ?

८६—विज्ञान की उन्नति के साथ धर्म की वृद्धि ?—धर्म की जिस प्रकार उत्पत्ति हुई उसी से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म किसी भी हालत में, सर्वहारा वर्ग तथा समाजवाद के साथ गठबन्धन तो दूर रहा, वर्तमान वैज्ञानिक युग में एक प्रगतिशील शक्ति नहीं हो सकता। धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम पहले सुप्रसिद्ध नृतत्त्वविद् सर जेम्स फ़्रेजर को ही लेंगे। उन्होंने बताया है कि धर्म का प्रारम्भ पहले-पहल मनुष्य से श्रेष्ठतर शक्ति की मामूली तथा आंशिक स्वीकृति से होता, और वह धीरे धीरे ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ दैवशक्ति पर सम्पूर्ण निर्भरता की स्वीकृति में परिणत होता जाता है; मनुष्य के पहले के स्वतन्त्र विचरण का अज्ञात की रहस्यवादी शक्तियों के सम्मुख सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के रुख़ में अन्त हो जाता है।[१] यदि जेम्स फ़्रेजर के इस कथन का यह मतलब है कि आदिम समाज के मनुष्यों में किसी अति प्राकृतिक शक्ति में, आत्मा के अमरत्व में या ईश्वर में विश्वास नहीं था, और बाद को मनुष्यों में धीरे धीरे इन सब पचड़ों की उत्पत्ति हुई, तो यह ठीक है; किन्तु उन्होंने यह जो कहा कि ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के साथ साथ मनुष्य अपनी असहायता को अधिकाधिक हृदयंगम करने लगा; और वह दिन ब दिन अति प्राकृतिक शक्ति के सामने घुटना टेकता गया, तो यह बात तथ्य के बिलकुल विपरीत है। ऐसी ग़लतफ़हमी इस कारण हो सकती है कि एक तरफ़ तो मनुष्य में ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति होती गई, और दूसरी तरफ़ धर्म की उत्पत्ति हुई, और धर्म भी जटिलतर होते गये; किन्तु इन दोनों धाराओं को सम्बद्ध कर यह कहना कि वैज्ञानिक सम्मान के कारण धार्मिकता की वृद्धि हुई, इसलिए ग़लत है कि ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि आम लोगों में नहीं हुई, बल्कि कुछ लोगों में हुई, और धर्म का प्रचार सब लोगों में हुआ। जिन लोगों में ज्ञानविज्ञान की उत्पत्ति हुई, उन लोगों ने अपने को पहले के मुक़ाबिले में असहाय नहीं समझा। ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ-

---

१. M. N. J. p. 47

साथ मनुष्य असहाय नहीं होता जा रहा है, बल्कि उसमें काल्पनिक विश्वासों की कमी होकर आत्म-विश्वास की वृद्धि हो रही है। एक छोटा सा उदाहरण लिया जाय। रोगों के सम्बन्ध में अज्ञान के युग में शीतलामाई और न मालूम कौन कौन से भूतप्रेतों की पूजा तथा गण्डा-तावीज़ के पहनने का रिवाज था, किन्तु ज्यों-ज्यों रोगों के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों शीतलामाई की पूजा घटती जा रही है, और यदि रूढ़ि के रूप में मौजूद है, तो उसका स्थान दोयम हो गया है। पहले मनुष्य जिन चीज़ों को अज्ञात शक्तियों से उत्पन्न तथा परिचालित समझता था, उनको आज वह न केवल जान ही गया है, बल्कि उनको एक हद तक इच्छानुसार नियंत्रित तथा परिचालित भी कर सकता है। विज्ञान का यदि कोई अर्थ है, तो यही कि मनुष्य उत्तरोत्तर प्रकृति पर अपना नियंत्रण बढ़ाता चला जा रहा है। मनुष्य का ज्ञान बढ़ते बढ़ते अब परमाणु की शक्ति के रहस्यों को अपने कार्य में नियुक्त करने के सोपान तक आ गया है। पहले मनुष्य जिन अक्षमताओं का असहाय शिकार था, उनसे अब वह धीरे धीरे मुक्त होता जा रहा है। इन असहायताओं की संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। ऐसी हालत में यह कहने का क्या अर्थ हो सकता है कि मनुष्य अति प्राकृतिक शक्ति के चरणों में अधिकतर नतमस्तक होता जा रहा है? वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है।

८७—आत्मा की धारणा की उत्पत्ति—विज्ञान और आत्मा—धर्म की धारणाओं में आत्मा की धारणा का प्रमुख स्थान है। आत्मा के सम्बन्ध में श्री अरविन्द, राधाकृष्णन या अन्य कोई भी आत्मावादी चाहे कितनी भी लम्बी चौड़ी बात कहें, हम जानते हैं कि आत्मा की धारणा की उत्पत्ति प्राक् वैज्ञानिक बल्कि प्राक्-सभ्यता के युग में हुई है। मृत्यु एक बहुत आम घटना है। जिसे हम मृत्यु भय कहते हैं, वह अत्यन्त आदिम युग में उस रूप में नहीं था। लोग मृत्यु को एक बिलकुल मामूली घटना—जैसे नींद को लेते हैं, वैसे—समझते थे। कई विद्वान् यह मानते हैं कि जब मनुष्य में मृत्यु-भय की उत्पत्ति हुई तभी से धर्म की उत्पत्ति हुई। प्रसिद्ध रूसी-लेखक एन० पोक्रवस्की मृत्यु के भय को ही धर्म का उत्पत्तिस्थल मानते हैं। वे इस भय को मानवीय विशेषता और सो भी बाद के युग के मानव की विशेषता न समझकर प्राणिमात्र की विशेषता मानते

हैं। डाक्टर हेकर ने इस पर सही तौर से यह लिखा है कि तब तो पशुओं में भी धर्म होना चाहिए था यानी उसका कोई न कोई अविकसित रूप होता, किन्तु चूँकि ऐसा नहीं है इसलिए सही कारण के लिए हमें अन्यत्र जाना पड़ेगा।

मृत्यु अवश्य एक विशेष घटना थी, किन्तु बहुत आदिम युग में बहुत कम लोगों को स्वाभाविक रूप से मरने की नौबत आती थी। अक्सर लोग पशुओं के साथ या दूसरे कबीलों के लोगों के साथ लड़ते हुए मारे जाते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक समझा जाता था। इसके अतिरिक्त जिन लोगों को वृद्ध होने का मौक़ा मिलता था, वे एक तरह से आत्महत्या करते थे अर्थात् उनकी राय से उनके साथवाले उन्हें मार डालते थे। बात यह है कि समाज उन दिनों अनुत्पादक सदस्यों का बोझा उठाने के लिए तैयार नहीं था। इस प्रकार मृत्यु भी स्वाभाविक समझी जाती थी। इस मृत्यु को उत्सव रूप में मनाया जाता था। इसमें समाज की कोई हानि नहीं समझी जाती थी, क्योंकि धार्मिक रूप से उस व्यक्ति का मांस खाया जाता था, और यह समझा जाता था कि उस व्यक्ति की शक्ति मांस खानेवालों में आ गई। हमें यहाँ इन प्रथाओं के ब्यौरे में नहीं जाना है। हमें तो इतना ही देखना है कि जिस मानी में आज मृत्यु का डर माना जाता है, उस यानी में मृत्यु के भय की उत्पत्ति बाद के समाज में हो सकती थी। उत्पादन के साधनों में उन्नति के साथ साथ बूढ़ों तथा अपाहिजों को मारकर खा जाने की प्रथा का अन्त हुआ और उन्हें शान्ति से मरने दिया जाने लगा। स्मरण रहे, शान्ति शब्द का प्रयोग हम आज के अर्थों में कर रहे हैं, नहीं तो अत्यन्त आदिम युग में बूढ़ों के खा जाने की प्रथा जब थी, तब भी बुड्ढे बड़ी शान्ति से मरते थे। क्रोपाटकिन ने अपनी रचनाओं में इसके उदाहरण दिये हैं कि ऐसी जातियाँ जीवित पाई गई हैं जिनमें यह प्रथा प्रचलित होने पर भी वहाँ के बुड्ढे बड़ी ख़ुशी से मरते थे, बल्कि हाथ-पैर बेकाम हो जाने पर वे ख़ुद ही अपने लोगों को बुलाकर यह कहते थे कि साथियो, अब मेरा जाने का समय हो गया।

लोग जब आमतौर से स्वाभाविक रूप से मरने लगे तभी लोगों में मृत्यु के सम्बन्ध में अथवा मृत व्यक्ति और जीवित व्यक्ति के प्रभेद के सम्बन्ध में कौतूहल उत्पन्न होने लगा। एक बात तो यह साफ़ मालूम देती थी कि मुर्दे में श्वास नहीं चलती। इसी श्वास न चलने के साथ आत्मा की धारणा आदि की

कैसे उत्पत्ति हुई, इसका भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सर एड्वर्ड बी० टाइलर ने बहुत सुन्दर उद्‌घाटन किया है। वे कहते हैं "श्वासों के रूप में आत्मा की धारणा को हम सेमेटिक तथा आर्य शब्द-शास्त्र के ज़रिये अनुसरण कर जगत् के दर्शनशास्त्रों की मुख्य धराओं तक पहुँच सकते हैं। इब्रानी में श्वास के अर्थ में जीवन, आत्मा, मन, प्राणी सभी आते हैं। संस्कृत आत्मन् तथा प्राण ग्रीक Psyche तथा Pnuma, लैटिन Anymus, Anima, spiritus का यही इतिहास है। स्लैव डूच शब्द में भी श्वास से आत्मा अर्थ की उत्पत्ति हुई है। जिप्सियों की बोल-चाल में यही शब्द डूक के रूप में श्वास, आत्मा तथा प्रेतवाचक है। जर्मन गाइस्ट (मन) शब्द और अँगरेज़ी गोस्ट (Ghost) शब्द, बहुत सम्भव है, मौलिक अर्थ में शायद एक ही हों।"[१] इससे स्पष्ट है कि जिस आत्मा पर धार्मिकों को इतना नाज़ है, वह क़रीब क़रीब असभ्य मानव का एक कुसंस्कारमात्र था। अब उसी कुसंस्कार को नाना प्रकार का रूप देकर किस प्रकार सुन्दर सुन्दर दर्शनशास्त्र बने हैं, यह द्रष्टव्य है। यह मानव-जाति का दुर्भाग्य है, और इस दुर्भाग्य के लिए शासकवर्गों का वर्गस्वार्थ ज़िम्मेदार है कि इस प्रायः आदिम कुसंस्कार को आगे चलकर ख़त्म कर देने के बजाय शासक वर्ग से सम्बद्ध विद्वानों तथा दार्शनिकों ने बराबर इस कुसंस्कार को जटिलतर बनाकर लोगों के सामने सत्य के रूप में पेश किया। अवश्य ही समाजवाद इस प्रकार के कुसंस्कारों के साथ कोई समझौता नहीं कर सकता। अध्यापक नेग्रोवस्की के प्रयोगों के बाद आत्मावाले संस्कार का बिलकुल अन्त हो जाना चाहिए, और लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि जीवन सम्पूर्णरूप से एक भौतिक प्रक्रिया है, उसमें कोई भूतेतर रहस्य नहीं है। यदि कोई रहस्य अब भी है, तो वह हमारे ज्ञान की कमी के कारण है, और ज्यों ज्यों हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जायगी त्यों त्यों इस रहस्य में कमी होती जायगी। हमने आत्मा-सम्बंधी धारणा का जो अत्यन्त संक्षिप्त इतिहास दिया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा की धारणा के साथ विज्ञान पर अवलम्बित समाजवाद का कोई भी समझौता नहीं हो सकता।

८८—धर्म की उत्पत्ति पर एंगेल्स—धर्म की उत्पत्ति के सम्बंध में एंगेल्स का मत सर्वांग सुन्दर है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एंटी-ड्यूरिंग में इस सम्बंध

---

१. Ibid p. 60.

में अपना वक्तव्य दिया है। फ्रेज़र आदि ने जैसे धर्म को केवल प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध से ही प्राप्त करने की चेष्टा की है, वैसी एकदेशीय चेष्टा न कर एंगेल्स ने उसको प्रत्येक सम्भव पहलू से समझने की चेष्टा की है। मार्क्सवादी साहित्य में एंगेल्स का यह विवेचन अत्यन्त सुन्दर होने के कारण हम इसे यहाँ उद्धृत करते हैं।

वे लिखते हैं "मनुष्य के दैनिक जीवन पर जो बाहरी शक्तियाँ नियंत्रण रखती हैं, उन्हीं का मनुष्य के मन में जो काल्पनिकतापूर्ण प्रतिफलन होता है—उसमें जागतिक शक्तियाँ अति प्राकृतिक रूप धारण करती हैं—यही धर्म है। इतिहास के प्रारम्भ में केवल प्रकृति शक्तियाँ ही कथित रूप से मनुष्य के मन में प्रतिफलित हुआ करती थीं, किन्तु आगे के विकास के दौरान में जागतिक शक्तियाँ विभिन्न जातियों में बहुविध तथा विभिन्नरूप से मूर्त हो गईं। तुलनात्मक पुराण (mytto logy) ने पहलेवाली प्रक्रिया को, कम से कम एन्डो-पुराण यूरोपीय जातियों के क्षेत्रों में, भारतीय वेदों में उनकी उत्पत्ति तक पता लगाया है, और भारतीयों, पारसियों, ग्रीकों, रोमनों, जर्मनों तथा—जहाँ तक उपादान उपलब्ध हैं—केल्टो, लिथुवानियों, स्लावों में इनका अनुसरण किया गया है। किन्तु मनुष्य के इतिहास में प्रकृति की शक्तियों के साथ साथ सामाजिक शक्तियाँ भी इस क्षेत्र में क्रियाशील होने लगती हैं। शुरू शुरू में ये शक्तियाँ मनुष्य के निकट समान रूप से बाहरी और समान रूप से अव्याख्येय ज्ञात होती हैं जो उन पर प्रकृति की शक्तियों की तरह ज़बर्दस्ती शासन करते हैं। काल्पनिकता पूर्णरूप से शक्तियों को मूर्त करने की प्रक्रिया में पहले केवल प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियाँ ही प्रतिफलित होती थीं, किन्तु इस बिन्दु पर आकर यह प्रक्रिया सामाजिक गुणयुक्त हो जाती है, और इतिहास की शक्तियों के रूप में भी वे हो जाती हैं।* विकास की और भी अगली मंज़िल में असंख्य देवताओं

---

* बाद की मंज़िल में देवताओं को यह जो दोहरा चरित्र प्राप्त हो जाता है, उसे तुलनात्मक पुराण-विद्या नहीं पकड़ पाती। वह उनके उसी रूप पर ध्यान देती है जिसमें ये देवता केवल प्रकृति की शक्तियों के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं, यद्यपि उनके सही दोहरे चरित्र को न समझ पाने के कारण ही पुराण-विद्या में गड़बड़ी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार जर्मन कबीलों में प्राचीन

के प्राकृतिक तथा सामाजिक गुण एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर में रूपान्तरित हो जाते हैं। यह ईश्वर स्वयं काल्पनिक मनुष्य का एक प्रतिफलित रूपमात्र है। इसी प्रकार से एकेश्वरवाद की उत्पत्ति हुई जो ऐतिहासिक रूप से बाद के ग्रीकों के इतरीकृत दर्शनशास्त्र की आखिरी उपज थी, और जो केवल यहूदियों के ही जातीय ईश्वर जिहोवा में मूर्त हो गये। इस सुविधाजनक, व्यवहारयोग्य तथा नमनीय रूप में मनुष्य पर प्रभुत्व करनेवाली उन बाहरी प्राकृतिक तथा सामाजिक शक्तियों के साथ मनुष्य के सम्बंधों के भावुकता पूर्ण रूप में धर्म तब तक रह सकता है जब तक मनुष्य इन शक्तियों के अधीन रहें। हमने एक बार से अधिक यह देखा है कि मौजूदा पूँजीवादी समाज में मनुष्य पर उन आर्थिक अवस्थाओं का—उन्हीं के बनाये हुए उत्पादन के साधनों का प्रभुत्व रहता है, मानो वे कोई बाहरी शक्ति हैं। इस प्रकार धार्मिक प्रत्यावर्तन-क्रिया (reflex action) का वास्तविक आधार मौजूद रहता है, और उसी के साथ स्वयं धार्मिक क्रिया भी मौजूद रहती है। यद्यपि पूँजीवादी अर्थशास्त्र ने बाहरी शक्तियों-द्वारा इस प्रभुत्व के कारणगत आधार में कुछ अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कर दी है, किन्तु फिर भी इससे कोई विशेष फ़र्क़ नहीं आता। न तो पूँजीवादी अर्थशास्त्र आमतौर से अर्थसंकटों को रोक सकता है, और न वह वैयक्तिक रूप से एक एक पूँजीपति को उन हानियों, डूबे हुए रुपयों तथा दिवालियापन से ही बचा सकता है, न वह वैयक्तिक रूप से एक एक मज़दूर को बेकारी तथा अभाव से ही बचा सकता है। अब भी यह सच है कि मनुष्य चाहता कुछ और है, और ईश्वर (अर्थात् पूँजीवादी उत्पादनपद्धति की बाहरी शक्तियाँ) करता कुछ और है। केवल ज्ञान, चाहे वह पूँजीवादी अर्थविज्ञान से कहीं आगे और कहीं अधिक गया हो, सामाजिक शक्तियों को समाज के नियंत्रण में लाने के लिए यथेष्ट नहीं है। इसके लिए सर्वोपरि ज़रूरी बात है समाज की ओर से क्रिया। जब यह क्रिया की जा चुकी है, और जब समाज ने उत्पादन के तमाम साधनों पर क़ब्ज़ा कर एक योजनात्मक आधार पर उनका

नार्डिक रणदेवता टीर (Tyr), प्राचीन उच्च जर्मन ज़िओ (Zio), ग्रीक ज्यूइस, लैटिन ज्यूपिटर (जो द्युपितर के लिए है), दूसरे जर्मन कबीलों में ऐर, एओर, ग्रीक ऐरिस तथा लैटिन मार्स के साथ एक हैं। (एंगेल्स का नोट)

व्यवहार शुरू किया है, तब स्पष्ट है कि उसने अपने को तथा अपने सदस्यों को उस बन्धन से मुक्त कर लिया है जो उन्हीं के द्वारा निर्मित उत्पादन के साधनों के ही बन्धन हैं, किन्तु जो अब उनके मुक़ाबिले में एक अनिवार्य 'बाहरी शक्ति के रूप में उनके सामने आता है। इसलिए उस समय जब कि मनुष्य केवल प्रस्ताव ही करके नहीं रह जाता है, बल्कि वह उस प्रस्ताव को अन्जाम भी देता है, तभी धर्म में जो अन्तिम बाहरी शक्ति प्रतिफलित होती है, उसका विलोम हो सकेगा, और उसके साथ ही धार्मिक प्रतिफलन भी सरल कारण से लुप्त हो जायगा। प्रतिफलन के लिए कुछ रहेगा ही नहीं।"

८९—धर्म पर मार्क्स—मार्क्स ने सामग्रियों के चरित्र का उद्‌घाटन करते हुए—उपमा के रूप में बताया है कि धर्म में बुतों की सृष्टि कैसे होती है, "तुलना करने के लिए हमें धार्मिक जगत् से कोहरों से आवृत क्षेत्रों का आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रक्रिया में मनुष्य के दिमाग़ की उपज जीवन से युक्त स्वतंत्र अस्तित्वों के रूप में मालूम पड़ती है, और मालूम पड़ता है कि वे बुत या अस्तित्व एक दूसरे से तथा मानव-जाति से सम्बद्ध हैं।"[१]

९०—मार्क्स एंगेल्स के साथ हक्सले के मत की तुलना—मार्क्स तथा एंगेल्स के विश्लेषण के अनुसार धर्म के दो मूलगत आधार हैं, एक प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध, जिसमें मनुष्य प्रकृति को ठीक तरीक़े से समझ न पाकर उस पर अतिप्राकृतिकता का आरोप करता है तथा उसको मूर्त करके भूत प्रेत, यक्ष-किन्नर, देवी-देवता, ईश्वर, अल्ला, फ़रिश्ता के रूप में देखता है; दूसरा मनुष्य के साथ सामाजिक शक्तियों का सम्बन्ध अर्थात् उसी के बनाये हुए उत्पादन के साधनों के साथ उसका सम्बन्ध है। हक्सले (जिनका विस्तृत मत हम आगे उद्धृत करेंगे) भी यह मानते हैं कि पहले-पहल जादू-सम्बन्धी विचारों का प्रयोग खाद्य प्राप्ति के लिए तथा युद्ध में विजय के लिए होता था, और कहीं बाद को चलकर व्यक्तिगत मुक्ति के लिए होने लगा। हक्सले ने यह भी लिखा है कि 'धर्म मनुष्य के ऊपर प्रभाव डालनेवाली विश्व-सम्बन्धी (Cosmic), सामाजिक तथा वैयक्तिक न समझ में आनेवाली शक्तियों के साथ समझौते के रूप में व्यक्त होता है। यह समझौता उनके सामने घुटना टेककर हो सकात

१. C. K. M. vol. chapter I

है, उन पर जीत पाकर हो सकता है, उनसे पलायन के रूप में हो सकता है या सही अर्थ में समझौते के रूप में हो सकता है। इन्हीं विभिन्न कारणों की क्रियाशीलता के कारण धर्म के विभिन्न रूप हो गये।'[१] इस प्रकार हक्सले भी मार्क्स, एंगेल्स की तरह यह मानते हैं कि बाहरी शक्तियों के साथ समझौते के रूप में जो कल्पित मत गृहीत होता है वह धर्म का रूप धारण करता है। हक्सले के मत में जो कमी है उसे वे इस प्रकार कहते हैं मानो बाहरी शक्तियों के साथ यह समझौता सज्ञानरूप से किया गया है जब कि वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। इसलिए एंगेल्स-द्वारा व्यवहृत प्रतिफलन शब्द अधिक उपयुक्त तथा तथ्यानुयायी है।

९१—**विज्ञान की उन्नति के साथ धर्म का एक फेफड़ा नष्ट**—प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का ऊलजलूल प्रतिफलन तो उसी समय बन्द होने लगता है जब विज्ञान की उन्नति होने लगती है। जो अब तक रहस्यावृत होने के कारण भय तथा सम्मान-भाजन होता था, वह अब दिन की रोशनी में स्पष्ट होने लगता है। इस प्रकार धर्म का एक फेफड़ा तो विज्ञान से नष्ट हो जाता है। रहा यह कि जो चेष्टा कुछ बुर्जुआ वैज्ञानिकों की ओर से निरन्तर जारी है कि विज्ञान के ही सहारे धर्म के लुंजपुंज शरीर को मनुष्य के हृदय-सिंहासन पर बैठा रक्खा जाय, उसकी पोल यह है कि कुछ बातों में विज्ञान की पैठ अभी यथेष्ट नहीं है—यद्यपि यह पैठ नित्य बढ़ती जा रही है, इसलिए कुछ ऐसी बातें आ पड़ती हैं जो साधारण नियम के दायरे से कुछ पृथक् ज्ञात होती हैं। इन्हीं को आश्रय बनाकर यह कहने का दावा किया जाता है कि विज्ञान के नियमों से परे भी कुछ है, और वह कभी विज्ञान या गणित की पकड़ में नहीं आ सकता। जब तक इन विषयों में ज्ञान और अधिक नहीं हो जाता तब तक इन वैज्ञानिकों के गुमराह करनेवाले ये हथकंडे कुछ न कुछ चलते ही रहेंगे, किन्तु जैसा विज्ञान में हमेशा हुआ है कि अधिक तथ्य ज्ञात होते ही धर्म को अपने गढ़ों को छोड़कर पीछे हटना पड़ा है, वैसा आगे भी होता रहेगा। हम इस विषय पर आगे चलकर और भी विस्तार के साथ विचार करेंगे।

---

१. G. M. G p. 278

९२—वैज्ञानिक समाजशास्त्र से धर्म का दूसरा फेफड़ा खत्म—धर्म के आधार-स्वरूप जो दूसरी बात है यानी समाज की उत्पादनशक्तियाँ, उनके सम्बन्ध में तो हम बार बार कह चुके हैं कि ज्यों ही मनुष्य समाज की गति का उद्घाटन कर उनके सहारे चलने लगेगा अर्थात् ज्यों ही मनुष्य समाज की गति को जानकर उस ज्ञान का उपयोग आगे के समाज-गठन में करेगा त्योंही धर्म का यह भी फेफड़ा नष्ट हो जायगा। दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी समाजशास्त्र का ज्ञान—केवल ज्ञान नहीं, साथ ही उसका प्रयोग मनुष्य-जाति को अपनी कमज़ोरी के इस पहलू से बिलकुल मुक्त कर देगा। प्रयोगात्मक रूप से सोवियट रूस में यह देख लिया गया कि जिन आर्थिक संकटों को पूँजीवादी समाज प्रति दस साल में आनेवाली एक दैवी विपत्ति के रूप में समझता था, सोवियट नेताओं के गास्प्लेनों के कारण उनका बिलकुल अन्त हो गया। इसी प्रकार समाज की अन्य बहुत सी बुराइयाँ, जैसे वेश्यावृत्ति जिसे एक आवश्यक बुराई बताया गया है (और यही वर्ट्रेन्ड रसेल ऐसे बुर्जुआ विद्वानों के दिवालियेपन को सूचित करता है), सोवियट रूस में नियंत्रण में ला दी गई है, और क़रीब क़रीब उसका अन्त हो चुका है। ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की बहुत सी कथित रूप से अव्यक्त सामाजिक शक्तियों तथा समस्याओं को आज बहुत अच्छी तरह समाजवादी नेताओं ने समझ लिया है। इस प्रकार इस क्षेत्र में रहस्यवाद के कारण जिन शून्य स्थानों की (Vacuum) सृष्टि हुई थी, अब उनके लुप्त हो जाने के कारण धर्म के लिए उनके दराजों में पैठकर रहने की गुंजाइश नहीं रही। फिर भी पूँजीवादी देशों में अभी तक सामाजिक शक्तियाँ रहस्यावृत समझी जाने के कारण उनमें धर्म की गुँजाइश रहेगी, किन्तु अखिल विश्व में समाजवाद की स्थापना होने के साथ साथ इस पहल का बिलकुल अन्त हो जायगा।

९३—धर्म के सम्बन्ध में हक्सले—हम अपनी आलोचना में कई बार हक्सले का उल्लेख कर चुके हैं। जूलियन हक्सले का आधुनिक वैज्ञानिकों में एक विशेष स्थान है। उन्होंने एक लेख-संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें दृश्यगत समस्या के रूप में धर्म नामक एक बहुत महत्त्वपूर्ण लेख है। इस लेख को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे किस प्रकार प्रचलित विचारों

से अपने वैज्ञानिक प्राण का छुटकारा करा लेने के लिए फड़फड़ा रहे हैं। इस चेष्टा में वे सफल नहीं रहे हैं, फिर भी उन्होंने यत्रतत्र जो मन्तव्य किये हैं उनसे एंगेल्स के धर्म-सम्बन्धी मत का समर्थन किस प्रकार होता है, यह द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं कि 'ईश्वर की धारणा अपनी उपयोगिता की सीमा को पार कर चुकी है, आगे इसका विकास सम्भव नहीं। धर्म का भार सँभालने के लिए मनुष्य ने अतिप्राकृतिक शक्तियों की सृष्टि की थी। अस्पष्ट ऐन्द्रजालिक शक्ति युक्त माना (Mana) से व्यक्ति भूत, प्रेत, इत्यादि, भूत-प्रेतों से ही देवी-देवता, देवी-देवता से ईश्वर, इस प्रकार मोटे तौर पर विकास चलता गया। देवतागण विकास की एक ख़ास मंज़िल में ज़रूरी तथा उपयोगी हैं। मनुष्य के लिए देवताओं के उपयोगी होने के लिए तीन बातें ज़रूरी हैं। बाह्य जगत् की विपत्तियों को इतना कम समझा गया हो कि यह न मालूम हो कि वे प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, और वे अनियंत्रित हों, जिससे रहस्यजनक रूप से भय उत्पन्न कर सकें; साधारण जीवन की असहायता इतनी अधिक हो कि इस जीवन में किसी प्रकार तरक्क़ी में विश्वास सम्भव न हो, तब उस हालत में सामाजिक जीवन नहीं, ईश्वर ही ज़रूरी पलायन यंत्र दे सकता है। अब भी ऐन्द्रजालिक शक्ति में विश्वास होगा, यद्यपि वह सूक्ष्म या उदात्तीकृत रूप में होगा, और साथ ही मनुष्य-द्वारा अपने मन की खोज इतनी बढ़ी हुई न हो कि वह अपने Superego और Id की अचेतन शक्तियों को इस प्रकार प्रसारित तथा मूर्त न कर सके मानों वे उससे बाहरी कोई अस्तित्व हों। प्राकृतिक विज्ञान, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान की प्रगति हमें ऐसी जगह ले आई है कि ईश्वर का मानना अब उपयोगी नहीं है। प्राकृतिक विज्ञान ने ईश्वर को बहुत ही दूर ढकेल दिया है, और उसका यदि कोई काम रह सकता है, तो यह कि अब ईश्वर शासक और अधिनायक के रूप में समाप्त होकर केवल एक प्रथम कारण या अस्पष्ट आमसिद्धान्त के रूप में हो गया है। (सर जेम्स जिन्स इत्यादि इसी रूप में ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं—ले०) अब यह समझ लिया गया है कि इन्द्रजाल का सिद्धान्त एक झूठा सिद्धान्त है, और यह भी समझ लिया गया है कि नियंत्रण विज्ञान तथा उसके प्रयोग के द्वारा प्राप्त होगा, और अब त्यागमूलक अनुष्ठान तथा दरख़्वास्त के रूप में

प्रार्थना का कोई अर्थ नहीं रह गया है।...ईश्वरवादमूलक विश्वास प्रकृति में मनुष्य के अपने विचारों तथा भावनाओं के प्रसरण से उत्पन्न होते हैं। यह अव्यक्तिगत घटनाओंका मूर्तरूप है। ...देवी देवताओं, फ़रिश्तों, दैत्यों, भूतों तथा अन्य आध्यात्मिक नाचीज़ों के साथ ईश्वर भी एक मनुष्योत्पादित सामग्री है, जो अनिवार्य रूप से बाहरी परिस्थिति के सम्बन्ध में मनुष्य के अज्ञान तथा असहायता से उत्पन्न हुई है। अज्ञान की जगह पर ज्ञान के आ जाने से तथा वास्तविक रूप से नियंत्रण की वृद्धि हो जाने के कारण और साथ ही विचारों में यह बात मान ली जाने के कारण कि नियंत्रण सम्भव है ईश्वर उसी प्रकार ख़तम होता जा रहा है, जैसे उसके पहले शैतान, प्राचीन जगत् के देवी देवता, और स्थानीय भूत-प्रेत तथा यक्ष आदि ख़त्म हो गये...। यह बात अब लोगों की समझ में आने लगी है कि ग़रीबी, ग़ुलामी, स्वास्थ्यहीनता, सामाजिक कष्ट, लोकतंत्र, राजतंत्र या राजनैतिक या आर्थिक पद्धति किसी दैवी क्रिया के अनिवार्य हिस्से नहीं हैं, हमारी इच्छा के मुताबिक़ उनका नियंत्रण उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार रसायनशास्त्र या विद्युत्शास्त्र में वस्तुओं का नियंत्रण किया जाता है। ...पाश्चात्य की परम्परागत उन्नति प्राकृतिक धार्मिक पद्धतियों के पतन के कारणों का विश्लेषण करने पर यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गई है कि यदि इतिहास को पीछे की ओर नहीं लौटना है तो धर्म का पतन अनिवार्य है, क्योंकि हमारे ज्ञान तथा नियंत्रण में वृद्धि के कारण मनुष्य की बाह्य परिस्थितियों में अज्ञान और भय की कमी हो गई; तथा यंत्र, अनाज की उत्पत्ति, पदार्थ-विज्ञान और रसायन के आविष्कार एवं रोग-कीटाणु आदि के आविष्कार से धर्म के लिए गुँजाइश नहीं रह गई है। जब तक ये हैं, और विज्ञान तथा यंत्र विद्या अन्धकार युग में लौट नहीं जाती तब तक धर्म के पतन की यह प्रवृत्ति क़ायम रहेगी।" मज़े की बात है कि हक्सले इस प्रकार के विचार रखते हुए भी अन्त तक किसी न किसी प्रकार के धर्म के पक्ष में अपनी राय देते हैं। इसको क्या कहा जाय? शासकवर्ग के कुसंस्कारों के प्रति रियायत या वैज्ञानिक साहस की कमी? स्मरण रहे कि इस सम्बन्ध में केवल हक्सले ही उच्छवृत्तिवाद का परिचय नहीं देते, बल्कि बहुत से अन्य बुर्जुआ लेखक तथा विचार नेता अपने विचारों के द्वारा जिन उपसंहारों पर पहुँचते हैं, उनसे कार्यरूप में कुछ

अलग ही बातों का प्रचार करते हैं। यह दुरंगापन एक तरफ़ तो नवीन विचारों की अनिवार्यता तथा दूसरी तरफ़ इस वर्ग की ह्रासशीलता को सूचित करता है।

९४—फ़ायड के अनुसार धर्म एक भ्रान्ति—विश्व विख्यात मनोवैज्ञानिक फ़ायड बिलकुल दूसरे ही यानी केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से धर्म की आलोचना कर अपनी 'एक भ्रान्ति का भविष्य' नामक पुस्तक में यह दिखाते हैं कि सभी धर्म भ्रान्तिमूलक हैं। उनका कथन कुछ यों है कि मनुष्य की प्रकृति कुछ ऐसी है कि विभिन्न जातियाँ अनिवार्य रूप से धार्मिक विश्वास प्राप्त कर लेती हैं। उनका स्पष्ट ही यह कहना है कि यह विश्वास भ्रान्तिमय है, इसलिए उनके सामने कोई भविष्य नहीं है। डाक्टर फ़ायड का यह कहना है कि यदि बौद्धिक रूप से धर्म की उपकारिता समझ में आ जावे, तो उससे काम नहीं चलने का क्योंकि उससे अभीष्ट असर जाता रहेगा। धर्म में लोगों से यह कहा जाता है कि वे उसके सिद्धान्तों पर इन कारणों से विश्वास करें—, एक तो इसलिए कि हमारे बाप-दादे उन पर विश्वास करते थे, दूसरे इसलिए कि ये विश्वास अत्यन्त प्राचीन युग से होते चले आये हैं, तीसरे यह कि उनके सही होने के सम्बन्ध में हम कोई प्रश्न ही न उठावें। कहना न होगा कि ये तीनों बातें ऐसी हैं जिन्हें कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता। फ़ायड भी धर्म के मूलभूत तर्कों को पेश करने के बाद एक एक करके उनकी आलोचना कर इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। फ़ायड ऐसे मार्क्सवाद से शून्य व्यक्ति भी इस बात का अनुभव किये बिना नहीं रह सके कि धर्म में एक वर्ग-विशेष का कल्याण है। केवल यही नहीं है, उन्होंने यह भी अनुभव किया कि धर्म में दूसरे वर्ग का दमन है। फ़ायड के शब्दों में 'सभी आधुनिक संस्कृतियों का यही हाल है। इसलिए यह बात समझ में आती है कि ये दमित श्रेणियाँ इस संस्कृति की तरफ़ से फिर जायँगी—एक ऐसी संस्कृति जिसका वे अपने श्रम के द्वारा निर्माण करते हैं, किन्तु जिसकी नियामतों पर उनका कोई हिस्सा नहीं है।...यह कहने की ज़रूरत नहीं कि जिस संस्कृति में एक बहुत बड़ी संख्या असन्तुष्ट रह जाती हैं, और जिसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए वे दिन ब-दिन उन्मुख हो रहे हैं उसके सामने न तो कोई भविष्य है और न होना ही चाहिए।'[१] साथ

---

१. F. A. I.

ही डाक्टर फ़ायड इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यदि एक पुश्त को धार्मिक कुसंस्कारों से मुक्त रखकर शिक्षित किया जाय, तो उसका नतीजा बहुत अच्छा ही होगा, क्योंकि उनके मतानुसार धार्मिक रूप से किये गये अवैज्ञानिक निषेधों से बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि आमतौर से जो लोग दुर्बल चित्त होते हैं उन्हीं पर धार्मिक विधि-निषेधों का प्रभाव पड़ता है। स्ट्रेची ने इस कथन पर टीका करते हुए ठीक ही लिखा है कि मार्क्स ने जो धर्म को अफीम बताया है, उस कथन में और फ़ायड के मत मे समता है, किन्तु स्ट्रेची ने जो बात नहीं कही, किन्तु कही जा सकती थी, वह यह है कि फ़ायड इस बात को केवल व्यक्ति की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु मार्क्स इसको सारे वर्ग बल्कि वर्गों की दृष्टि से देखकर कहते हैं।

९५—फ़ायड विज्ञान को धर्म से श्रेष्ठ मानते हैं—फ़ायड ने अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'टोटम और टाबू' में भी धर्म की आलोचना की है। वे उसमें कहते हैं कि मनुष्य के विश्वासों का पहला सोपान animistic या पशु-पक्षी-वृक्ष प्रतीकवादी होता है। इसके बाद क्रमशः धार्मिक और वैज्ञानिक सोपान आते हैं। 'इन सोपानों में हम विचारों की सर्वशक्तिमत्ता का अनुसरण कर सकते हैं। पहले सोपान में मनुष्य अपने ऊपर सर्वशक्तिमत्ता का आरोप करता है। धार्मिक सोपान में वह देवताओं पर सर्वशक्तिमत्ता का आरोप करता है, किन्तु गम्भीरता के साथ वह अपने हाथों से इस शक्ति को जाने नहीं देता, क्योंकि वह अपने लिए देवताओं को किसी न किसी प्रकार से अपने हित के अनुकूल प्रभावित करने का काम सुरक्षित रखता है। जीवन के प्रति वैज्ञानिक रुख में मनुष्य की सर्वशक्तिमत्ता के लिए कोई जगह नहीं छूटती। उसने अपनी क्षुद्रता स्वीकार कर ली है, और मृत्यु तथा तमाम प्राकृतिक आवश्यकताओं के निकट समर्पण कर दिया है। फिर भी मानवीय भावना में, जो कि वास्तविकता के नियमों के ऊपर शासन करती है, निर्भरता के रूप में विचार की सर्वशक्तिमत्ता के आदिम विश्वास का कुछ न कुछ अब भी बाक़ी रहता है।'[१] इस विश्लेषण के सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य है कि फ़ायड ने विचार की सर्वशक्तिमत्तावाली जो बात कही है, वह एक अजीब शब्दावली है। उससे विचारों के परिष्करण

---

१. T. A. T. p. 141

में कोई सहायता नहीं मिली। वैज्ञानिक सोपान के सम्बन्ध में उन्होंने जो यह कहा है कि मनुष्य तमाम प्राकृतिक आवश्यकताओं के निकट आत्म-समर्पण कर देता है, इसका अर्थ समझना कठिन है। सच तो यह है कि विज्ञान के सहारे ही (और विज्ञान मनुष्य-द्वारा निर्मित है) मनुष्य अपनी शक्ति का असली अनुभव करता है। भिर भी यह द्रष्टव्य है कि इस पुस्तक में भी फ़ायड ने धार्मिक युग को वैज्ञानिक युग से निम्नकोटि का माना है। दूसरे शब्दों में फ़ायड के मतानुसार धर्म के मुक़ाबिले विज्ञान ही श्रेयस्कर है।

एंगेल्स की विश्लेषण की तुलना में फ़ायड का विश्लेषण अपूर्ण तथा एक-देशीय है। फ़ायड जिस प्रकार से चीजों को केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं, वह पूर्ण नहीं कहला सकता। मार्क्सवाद न केवल किसी बात का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सतह पर करता है, बल्कि उससे भी गहराई तक आर्थिक, सामाजिक सतह तक अपनी सर्चलाइट डालता है। फिर भी फ़ायड ऐसे विश्वविख्यात मनोवैज्ञानिक का धर्म के सम्बन्ध में क्या मत है, यह अपनी जगह पर बहुत भारी महत्त्व रखता है।

९६—**धर्मोत्पत्ति-सम्बन्धी यौन सिद्धान्त**—धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी बहुत से सिद्धान्त हैं जिनका विस्तार के साथ उल्लेख हमने धर्म-सम्बन्धी अपनी प्रकाण्ड पुस्तक में किया है। यहाँ केवल उनको गिनाया ही जा सकता है। कुछ लोग धर्म को सेक्स या यौन इच्छा से उत्पन्न मानते हैं। उदाहरणार्थ ब्रीफ़ोल (Briffault) नामक एक लेखक यह कह जाते हैं कि व्यावहारिक रूप से सभी धर्मों में यौन इच्छा की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक देश के आदिम इतिहास में योनि-पूजा तथा लिंग-पूजा का प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद में शिश्न देवों का जो उल्लेख है, उससे ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक युग में भी शिश्नपूजक मौजूद थे। मोहनजोदड़ो की सभ्यता में भी लिंग पूजा का परिचय मिलता है। इसी प्रकार मिस्र, क्रीट, जापान, नवगायना, पोलिनेशिया और दक्षिण अमेरिका—संक्षेप में सभी देशों में लिंग पूजा का परिचय मिलता है। भारतवर्ष में तो यह पूजा-प्रणाली इस समय भी मौजूद है। ब्रीफ़ोल का कहना है कि 'संस्कृति के आदिमतम रूप में चाहे वह आदिम शिकारी कबीलों से ही देखा जाय, तो उनसे लेकर महान् कृषि-प्रधान देशों तक में-जिनसे हमारी सभ्यताओं का उदय हुआ

है, प्राय: प्रत्येक अनुष्ठान में हम देखते हैं कि उनमें कामुकतापूर्ण नृत्यगीत के साथ साथ यौन क्रिया—चाहे सचमुच की जाय या प्रतीक रूप में—सम्मिलित रहती है। साथ ही बिलकुल पुमिश्रणा के व्यभिचारमूलक अनुष्ठान भी किये जाते हैं।'' ब्रीफ़ोल ने यह दिखलाया है कि प्राचीन मिस्र और क़ाबुल से लेकर सभी देशों में इस प्रकार की बातें पाई गई हैं। रोमनों की सैटरनेलिया, भारतीयों की होली, बंगाल में प्रचलित कोजागरी पूर्णिमा का उत्सव और रासलीला—सभी में ऐसे उपादान मौजूद हैं। तांत्रिकों के अनुष्ठानों का उल्लेख अनावश्यक है। पंचमकार की साधना में यौन उपादान बहुत प्रधान है। शियाओं के इदेगदीर में भी यह उपादान प्रधान है। हम यदि इस सिद्धान्त की विशद आलोचना करें तो वह स्वयं एक ग्रन्थ हो जायगा, इसलिए हम इतना बताकर आगे बढ़ें कि धर्म-सम्बन्धी यह सिद्धान्त एकदेशीय है तथा धर्म में ऐसी सैकड़ों बातें हैं जिनमें यौन इच्छा से व्याख्या नहीं की जा सकती।

९७—**धर्म का सूर्य-सिद्धान्त**—कुछ लोग सभी धर्मों को सूर्य-पूजा से उत्पन्न मानते हैं। वैदिक विद्वानों में मैक्समूलर इसी मत के प्रतिपादक थे। हिन्दुओं का प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र सूर्य की ही स्तुति है। वेदों में जो थोड़े से देवता हैं उनमें से अधिकांश को सूर्य से सम्बद्ध दिखाया जा सकता है। जैसे, सविता, अर्यमा, उषा इत्यादि। अग्नि पूजा भी सूर्य-पूजा का एक रूप है यद्यपि अब अग्नि-पूजा केवल पारसियों में रह गई है, किन्तु किसी युग में मध्यपूर्व के सारे देश सूर्य-पूजक थे। जापान उदीयमान सूर्य का देश समझा जाता है तथा वहाँ के राजा स्वयं सूर्य देवी के वंशज माने जाते हैं। हमारे यहाँ भी सूर्यवंशी लोग हैं। सूर्य का संबंध शस्योत्पादन से है। इसके अतिरिक्त सूर्य-पूजा में यौन उपादान भी हो सकता है, यह भी बताया गया है। पृथ्वी को माता, आकाश को पिता और सूर्य को प्रजनन शक्ति के प्रतीक रूप में कल्पित किया गया है जो इधर से उधर जाकर प्रजनन का कार्य करता है।

९८—**टोटेम सिद्धान्त**—धर्मों के एक प्रधान सिद्धान्त के रूप में टोटेमवाद या प्रतीक पूजा है। भारतीय आर्यों में भी प्रतीक पूजा की प्रथा थी, इसका प्रमाण कई बातों से मिलता है। आदिम आर्य कबीलों में मत्स्य जाति अपनी उत्पत्ति किसी मत्स्य से मानती थी। हिन्दुओं के दशावतारों में कई अवतार पशु हैं। इस

सम्बन्ध में यह विशेष द्रष्टव्य है कि पहले कई अवतार मत्स्य, वाराह, कूर्म अर्थात् पशुओं के रूप में हुए, और बीच का अवतार अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्धसिंह अर्थात् नृसिंह रूप में हुआ। क्या इस अनुश्रुति के अन्दर धर्म की पशु प्रतीक मूलक उत्पत्ति की कथा छिपी हुई नहीं है? आदिम जातियों में तो अभी तक पशु-प्रतीक पूजा प्रचलित है। भारतीयों में जो हनुमान्, गरुड़ आदि पशुपक्षियों की पूजा होती है, उसमें कहाँ तक पशुप्रतीक पूजामूलक उपादान छिपे हैं, यह विचार्य है।

९९—ग्रेन्ट एलेन का मृतक पूजा-सिद्धान्त—ग्रेन्ट एलेन आदि कुछ विद्वानों के मतानुसार धर्म की उत्पत्ति मृतक पूजा से हुई। इनके अनुसार जो जो पेड़, पत्थर, नदी, मृतकों के साथ सम्बद्ध होते गये, वे पूजास्थान होते गये। हमने धर्म-सम्बन्धी अपने प्रकाण्ड आलोचना ग्रन्थ में यह दिखलाया है कि हिन्दुओं में इस सिद्धान्त की पुष्टि में बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। एक ही उदाहरण इस सम्बन्ध में यथेष्ट होगा। गंगा पहले-पहल जब मर्त्य में लाई गईं, तो भगीरथ उन्हें सगर की सन्तानों को तारने के लिए लाये। इस प्रकार गंगा के साथ सगर के मृत-पुत्रों को तारने का सम्बन्ध हो गया। इसे खींचातानी अवश्य कहा जा सकता है किन्तु ग्रेन्ट एलेन को अपने मत के प्रतिपादन में ऐसी खींचातानी करनी पड़ी है।

अब हम इन एकदेशीय सिद्धान्तों पर विचार न करेंगे। इनमें से कोई भी सिद्धान्त गहराई तक नहीं जाता। सच तो यह है कि एंगेल्स के सिद्धान्त से ही धर्म के रहस्य का उद्घाटन होता है, और समझ में आता है कि किस प्रकार और कब धर्म से मनुष्य जाति को छुटकारा मिल सकता है।

१००—हाइजनवर्ग का अनिश्चयतासिद्धान्त और धर्म—हम पहले ही बता आये हैं कि कुछ बुर्जुआ वैज्ञानिक आधुनिकतम विज्ञान की सहायता से ईश्वर को स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह सम्भव नहीं कि यहाँ हम विस्तार से इस सम्बन्ध में लिखें, फिर भी थोड़े में इनके कथन का सारांश देंगे। हाइजनवर्ग का अनिश्चयता का सिद्धान्त कहता है कि एक एलेक्ट्रन की या तो स्थिति होगी या गति होगी, किन्तु दोनों बातों का पता नहीं मिल सकता। एक एलेक्ट्रन की स्थिति का जितना ठीक पता लगेगा उसकी गति उतनी ही अस्पष्ट

हो जाती है, और उसकी गति जितनी स्पष्ट हो जाती है, उसकी स्थिति उतनी ही अस्पष्ट होती है। इस सिद्धान्त को बहुत तूल दिया गया है, और कहा गया है कि प्रकृति के सम्बन्ध में जितना ही हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है, उतना ही ऐसा मालूम होता जा रहा है कि चीजें नियम के अन्दर नहीं आतीं। अध्यापक श्रेडिगर ने एक संवाददाता से यह कहा था कि 'इन छोटी इकाइयों में से प्रत्येक के क्षेत्र में ऐसा मालूम होता है कि वे किसी निश्चित नियम से स्वतंत्र रूप से अपनी गति का अनुसरण करती हैं। यदि हम इस सम्बन्ध में किसी नियम या क़ानून की बात कर सकते हैं, तो वह केवल आँकड़ेगत नियम (Statistical law) कह सकते हैं। जहाँ तक बड़ी वस्तुओं की दुनिया ((Macroscopic) है वहाँ तक तो नियम लागू है, किन्तु क्षुद्रतम इकाइयाँ किसी नियम का पालन नहीं करतीं।'[१] श्रेडिगर ऐसा कहते हैं किन्तु प्रश्न उठता है कि यह अनिश्चयता हमें इसलिए मालूम होती है कि हमारा ज्ञान अभी त्रुटिपूर्ण है या सचमुच ऐसी ही बात है। वैज्ञानिक-शिरोमणि आइन्स्टाइन व्यक्तिगत जीवन में धर्मवादी होते हुए भी कहते हैं कि यह अनिश्चयता सिद्धान्त 'केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरण गृह ((temporary asylum of ignorance) है', और वे समझते हैं कि जल्द ही इस क्षेत्र में कार्य कारणवाद का राज्य स्थापित हो सकेगा।[२]

आइन्स्टाइन ने अनिश्चयता-सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको यदि छोड़ भी दिया जाय और यह मान लिया जाय कि अणुवीक्षणयंत्र की दुनिया में (microscopic) नियम नहीं अनियम है, कार्यकारण नहीं कार्यकारणहीनता है, तो भी यह पूछा जा सकता है कि उससे अध्यात्मवाद को कैसे सहायता मिल सकती है। जहाँ तक हमने समझा है, कोई भी ईश्वरवादी यह नहीं समझता कि ईश्वर की दुनिया एक ऐसी दुनिया है कि जिसमें कोई नियम ही नहीं है, और ईश्वर एक आराजकवादी जगत् का राजा है। अनिश्चयतासिद्धान्त से कार्यकारणवाद या भौतिकवाद को ठेस अवश्य पहुँचती है, किन्तु उस सिद्धान्त से धर्म और ईश्वर को कौन सी मदद पहुँचती है। अनिश्चयता-सिद्धान्त को सन्देहवाद उत्पन्न करता है, न कि किसी ईश्वर में अविश्वास।

१. G. M. T. p. 83 २. O. M. K. p. 390

सन्देहवाद यदि भौतिकवाद के साथ सामंजस्यहीन है तो वह अध्यात्मवाद का ही सहायक कब है? इसलिए अनिश्चयता के सिद्धान्त को लेकर धर्मवादियों के आनन्द से नृत्य करने की कोई बात नहीं उठती।

१०१—**एन्ट्रापी सिद्धान्त और धर्म**—आधुनिकतम विज्ञान के सिद्धान्तों में एन्ट्रापी का सिद्धान्त भी धर्मवादियों के हाथ में पड़कर धर्म के स्तम्भ के रूप में दिखलाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व क्रमशः समशीतोष्ण अवस्था की ओर जा रहा है, इसलिए यदि विश्व को आगे चलना है तो उसे एक स्रष्टा की ज़रूरत पड़ेगी जो, घड़ी में चाबी ख़त्म होने पर जैसे चाबी भरी जाती है वैसे, विश्व को समशीतोष्ण अवस्था से हटा देगा, और इस प्रकार एक बार फिर सृष्टि का चक्र चालू होगा। इस सम्बन्ध में हमारा अज्ञान ही हमें ऐसा सोचने के लिए बाध्य करता है। डाक्टर वर्नहार्ड वेविंक ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यह इन्ट्रापी केवल सान्त पृथक् पद्धतियों (finite isolated systems) पर लागू है। 'इसलिए इसे विश्व पर लागू न करना ही अच्छा होगा, क्योंकि विश्व को इस धारणा के अधीन नहीं लाया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस नियम को इस रूप में मान लेने में एक दूसरी आपत्ति भी है, क्योंकि यदि यह माना भी जाय कि साक्षेपवाद के सिद्धान्त के अर्थ में हमारा विश्व देश में सान्त (finite in space) है, तो भी इस नियम से इस उपसंहार पर पहुँचने की कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है कि यह विश्व-प्रक्रिया समय में सान्त (finite in time) है। ऐसा मानने के लिए इसके अतिरिक्त और भी बातें मान लेनी पड़ेंगी। एन्ट्रापी के नियम के अन्तर्गत वस्तु इतना कहने से ही समाप्त हो जाती है कि एक सान्त पद्धति की मुक्तशक्ति (the energy of a finite system) धारावाहिक रूप से घटती जाती है, किन्तु इसमें इस विषय पर कुछ भी नहीं कहा जाता कि किस अनुपात से यह क्षय होता है। यह उपसंहार भी, जो बराबर घट रहा है, एक निश्चित समय के बाद—चाहे वह समय बहुत ही दीर्घ क्यों न हो—शून्य के अंक पर पहुँच जायगा। जिनको उच्चगणित की शिक्षा नहीं मिली है, उनकी आम ग़लतियों में यह है। फिर भी यह एक बहुत बड़ी ग़लती है।'[१] लेवी का कहना है कि

१. A. S. p. 260-61

एन्ट्रपी का आधार निरीक्षत तथ्यों पर नहीं है। उनका कहना है 'यह बिलकुल अवैज्ञानिक भविष्यवाणी है जिसकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी प्रकार से परीक्षा नहीं हो सकती।'[१] डाक्टर वेविंक बड़ी छानबीन तथा वैज्ञानिक तर्क वितर्क के बाद यह मानने से इन्कार करते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र के लिए यह नियम सही होगा ही, क्योंकि कुछ सीमित क्षेत्रों में इसको लागू होते हुए देखा गया है। एन्ट्रापी के विरुद्ध आउयेर वाख (Auerbach) ने Ektropy का सिद्धान्त पेश किया है, किन्तु डाक्टर वेविंक का कहना है कि यह सिद्धान्त सही नहीं मालूम होता। फिर भी वे कहते हैं कि एन्ट्रापी के नियम के निराकरण की जो सम्भावना तथा आशा है वही बहुत कुछ है। विज्ञान की वर्तमान उन्नति ने निराकरण की इस आशा को बिलकुल बन्द नहीं किया। इसलिए यह उचित न होगा कि सर जेम्स जिन्स की तरह एन्ट्रापी को एक विश्वव्यापी नियम मानकर उससे कोई दार्शनिक निष्कर्ष निकाला जाय।[२]

१०२—भूत की आधुनिकतम धारणा—अति आधुनिक विज्ञान से भूत की धारणा में बहुत संशोधन हुआ है। भूत के सम्बन्ध में यह जो पुरानी धारणा थी कि भूत कोई ऐसी चीज है जिसको हम छू सकते हैं, देख सकते है, और जो देश में (space) पड़ा बिखरा है, वह लुप्त हो गई। उसकी जगह पर अब भूत की जो धारणा आई है, वह बहुत ही सूक्ष्म है। १९वीं सदी में डाल्टन ने भूत को ऐटम से बने हुए रूप में वर्णन किया था, और ऐटम अत्यन्त छोटी कठिन ठोस गोली के रूप में परिकल्पित होते थे। ऐटम शब्द का अर्थ ग्रीक में अविभाज्य है। चालीस-पैंतालीस साल पहले तक यह समझा जाता था कि ऐटम के बाद कोई और विभाजन सम्भव नहीं, किन्तु अब ज्ञात हुआ है कि उसको विभक्त किया जा सकता है। अब तो ऐटम को ऐसे विभक्त किया जा सकता है जिसे हम अवैज्ञानिक भाषा में टुकड़े टुकड़े करना कह सकते हैं।[३] १९४५ में जापान के हिरोशिया में जो ऐटमबम गिराया गया था, उसके कारण सब लोग अच्छी तरह जान गये हैं कि ऐटम को विभाजित करना सम्भव है, तथा वह प्रचण्ड शक्ति का आधार है। ऐटम की बनावट के सम्बन्ध में इतना बता देना यथेष्ट

१. U. S. H. p. 27 २. A. S. p. 265-7
३. A. E. N. p. 2

होगा कि उसके बीच में एक सारभाग (nucleus) है जिसके चारों तरफ़ एल्केट्रन घूम रहे हैं। इस प्रकार ठोस वस्तु भी अब विद्युत्-शक्ति के चार्ज में—चाहे वह धनात्मक हो चाहे ऋणात्मक—परिणत हो गया है। इस प्रकार भूत का जो रूप रह गया है वह विद्युत् की तरंगों में जाकर ख़त्म हो गया है। कहा गया है, 'इससे अब भौतिकवाद की कोई गुँजाइश नहीं रह जाती और अब तो केवल सम्बन्धों के अलावा कुछ नहीं रह जाता। अध्यापक प्लेक ने सुलिवन की बातचीत में कहा था 'मैं चेतना को नींव की चीज़ समझता हूँ। मैं भूत को चेतना से निकला हुआ समझता हूँ। हम चेतना के परे नहीं जा सकते। हम जिस किसी चीज़ के बारे में बात करते हैं, तथा जिस किसी चीज़ को अस्तित्व के रूप में देखते हैं, उसमें चेतना की ज़रूरत है।'[१]

१०३—रसेल के अनुसार सापेक्षवाद से भौतिकवाद असिद्ध—अब हम देखेंगे कि भूत की बदली हुई धारणा से बुर्ज़ुआ वैज्ञानिकों की बात कहाँ तक सिद्ध होती है, और उनकी बातें विज्ञान के क्षेत्र में कहाँ तक अपने कुसंस्कारों का प्रसारणमात्र है। ऐसा करने के पहले हम सुप्रसिद्ध गणितज्ञ वर्ट्रेन्ड रसेल के मत को उद्धृत करेंगे जिन्होंने एक तरह से इस आधार पर भौतिकवाद के विरुद्ध एक पूरा फ़र्द जुर्म पेश किया है। वे लिखते हैं 'सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने देश को देशकाल में निमंज्जित कर दार्शनिकों के तमाम तर्कों से कहीं अधिक नुक़सान भूत की परम्परागत धारणा को पहुँचाया है। साधारण बुद्धि में भूत कोई ऐसी वस्तु है जो काल में जारी रहता है (persists), और देश में गतिशील रहता है, किन्तु आधुनिक सापेक्षवादी पदार्थ विज्ञान के लिए यह दृष्टिकोण अब गृहणीय नहीं है। अब भूत का एक टुकड़ा परिवर्तित परिस्थिति में जारी रहनेवाली कोई चीज़ नहीं रह गई, बल्कि केवल पारस्परिक सम्बन्धयुक्त घटनाओं का सिलसिलामात्र रहा। पुराना ठोसपन जाता रहा, और इसके साथ वे विशेषताएँ भी जाती रहीं जिनके कारण भूत भौतिकवादी के नज़दीक क्षणस्थायी विचारों से अधिक वास्तविक मालूम पड़ता था। न कोई चीज़ स्थायी है, और न कोई चीज़ रहती है। इस कुसंस्कार को छोड़ देना पड़ेगा।'

१. G. M. T. p. 96

१०४—नये विज्ञान में भूत का अस्तित्व अव्याहित—हम इस विषय पर यहाँ विस्तार के साथ विचार नहीं कर सकते। पेल्क, रसेल, एडिंगटन, जिन्स आदि वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में कल्पना से काम लिया है, यह सुनिश्चित है। सी० एम० जोड की तरह भौतिकवाद से भागनेवाले लेखक ने भी यह लिखा है कि जिन्स और एडिंगटन की दार्शनिक उड़ानें सचमुच उनके वैज्ञानिक ग्रन्थों के मुक़ाबिले में निम्नकोटि की हैं, और अच्छे दार्शनिकों ने उनकी बातों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं।[१] लेवी ने विज्ञान के सब वक्तव्यों पर विचार करने के अनन्तर लिखा है 'प्रायः यह लिखा जाता है कि भूत का ज़माना जाता रहा, और यह प्रकृत वैज्ञानिक युग की वस्तु है। कहा जाता है कि आधुनिक आविष्कारों से जो हमें इतना ठोस तथा भारयुक्त मालूम होता है वह भूत वास्तव में अत्यन्त वेग से चलनेवाले विद्युत् के बहुत छोटे चार्जों के समूह हैं। ये चार्ज इतने छोटे हैं कि उनके बीच में तुलनात्मक रूप से बहुत प्रकाण्ड खुले देश (Space) हैं। इसलिए अब ठोस भूत की पुरानी कहानी को क़ायम रखना बेकार है। अधिकांश में देश देश ही है यानी वह निरवच्छिन्न देश है। यहाँ पर भूत शब्द का प्रयोग इस मानी में किया गया है कि हम इधर-उधर जो टुकड़ों या चीज़ों को उठा लेते हैं, वही भूत है। सरल वैज्ञानिक आविष्कारों की मिथ्या व्याख्या से साधारण बुद्धि विपथचालित होने से इन्कार करती है। जैसे जैसे विज्ञान की उन्नति होती है वैसे वैसे वह हमें भूत के इन टुकड़ों की बनावट तथा गठन के विषय में अधिक बताता है। सम्भव है, ये इसको तोड़कर और भी प्राथमिक हिस्सों में बाँट दें। भूत को ले जाते जाते उनको अन्त तक रोशनी, उत्ताप और वैद्युतिक शक्ति में ले जाया गया है। किन्तु यदि इसे घटाते घटाते ले जाने का अर्थ यह लगाया जाय कि उसे बिलकुल अस्तित्व के पृष्ठ से ही निकाल दिया जाता है, तो वह बहुत बड़ी भूल होगी। एक टुकड़ा काग़ज़ जब जलाया जाता है, तो वह जिस अर्थ में नष्ट होता है, भूत उससे अधिक क्षीण नहीं हुआ है। रूप भर बदला है, वह चला नहीं जाता। वह एक परिवर्तनशील से दूसरे परिवर्तनशील में चला जाता है। भागों के सम्बन्ध बदल जाते हैं। वे आगे उस रूप में नहीं दिखलाई पड़ते जिसमें वे पहले दिखाई पड़ते थे। इस कारण यह कहना

१. G. M. T. p. 97

कि भूत अब विज्ञान के पूर्वयुग की एक बेकार धारणा हो चुका है, साधारण बुद्धि से इन्कार करना है, क्योंकि इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक विषय में जितना ही जानते जा रहे हैं उतना ही उसको कम समझते हैं। सच तो यह है कि हम भूत के तथा उसके आचरण के विषय में पहले से कहीं अधिक जानते हैं।'

'एक अर्थ में शायद ऐसा कहना सही है कि एक ठोस चीज़ के कणों का देश स्वयं उन कणों से कहीं अधिक है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं होता कि उस चीज़ का ठोसपन बिलकुल अस्वीकृत कर दिया गया। इसकी परीक्षा कीजिए। देश के विषय में यह बताया जाता है कि कणों के समूह प्रचण्ड रूप से आन्दोलित हो रहे हैं। तो देश क्या है? क्या यह तथ्य नहीं है कि ये कण हर समय कुछ देश से होकर चलते हैं, और कुछ समय सारे देश में होकर चलते हैं जो भूत के ठोसपन को दृश्यमान कर देता है? यह गतिशील समूह की एक चारित्रिक विशेषता है। गति कणों का एक अनिवार्य गुण है, और समूह के रूप में कण ठोसपन दिखलाते हैं।'[१]

भूत की पुरानी धारणा बहुत कुछ स्थूल थी। अब यह सूक्ष्म हो गई है; किन्तु जैसा कि लेवी ने बताया, इस सूक्ष्मता का अर्थ उसका विलोम नहीं बल्कि उसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी है। चेतना के बाहर दृश्यगत रूप से अवस्थित जगत् ज्यों का त्यों बना है। कोई वैज्ञानिक अपने व्यक्तिगत जीवन में कुछ भी माने, और बुर्जुआवर्ग में अपनी पुस्तकें बिकवाने के लिए कुछ भी लिखे, हमें यह देखना पड़ेगा कि वैज्ञानिक के विज्ञान से उसकी कही हुई बातों का कहाँ तक समर्थन होता है। प्रत्येक वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों के दौरान में कहीं भी ईश्वर को मानकर नहीं चलता। वह तो भौतिक तथ्यों तथा अस्तित्वों से ही चीजों को समझने-समझाने की चेष्टा करता है,। अवश्यक हीं कहीं वैज्ञानिक का ज्ञान आकर रुक जाता है, और वहाँ वह marginalmind आदि की कल्पना कर अपने अज्ञान को एक मर्यादायुक्त नाम देने की चेष्टा करता है, किन्तु हम बार बार बता चुके हैं, जो बात पहले विज्ञान में अज्ञात और अज्ञेय समझी जाती थी, वही बाद को सम्पूर्ण रूप से ज्ञात हो गई, और भौतिक तथ्यों तथा वस्तुओं से उन भूतपूर्व 'अज्ञेयों' की व्याख्या की गई।

---

१. P. M. M. p. 32

१०५—विचार और कर्म का सम्बन्ध—बड़ी बड़ी दार्शनिक समस्याओं पर किसी की कोई भी राय हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं। असली चीज़ जो एक व्यावहारिक कर्मी को देखनी चाहिए वह यह है कि सांगठनिक रूप में एक व्यक्ति ठीक काम कर रहा है या नहीं, तथा आर्थिक, सामाजिक विषयों में उसके विचार ठीक हैं या नहीं; किन्तु हम इसे नहीं मानते। हम दिखा चुके हैं कि मनुष्य के विचारों का—चाहे वे धार्मिक आड़ लिये हुए हों, उसके रोज़-मर्रा के जीवन पर बहुत भारी असर होता है; बल्कि सच तो यह है कि वही वह उत्सस्थल है जहाँ से किसी व्यक्ति की कर्मशक्ति निःसृत होती है। हम यह भी दिखा चुके हैं कि धर्म, शोषकों के हाथ में, एक बहुत पैने अस्त्र का काम देता है।

१०६—पड़ोसी के प्रेम के पहले देखो पड़ोसीवर्ग शत्रु तो नहीं है—लुनाचार्स्की ने मानो इसी बात को विशद करते हुए लिखा था—

'हम ईसाइयों से घृणा करते हैं। यहाँ तक कि उनमें से जो सबसे अच्छे हैं वे हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं। वे अपने पड़ोसी के प्रति दया तथा प्रेम के सिद्धान्त का प्रचार कर रहे हैं जो सर्वथा हमारे सिद्धान्त के विपरीत है। ईसाई प्रेम क्रान्ति के विकास को कुंठित करता है, इसलिए पड़ोसी के प्रेम का नाश हो। हमें जो चीज़ चाहिए वह है घृणा। हमें यह सीखना चाहिए कि कैसे घृणा की जाती है तभी हम विश्व को जीत सकते हैं।'

ये शब्द बहुत कड़ुवे हैं। असल में समाजवाद में ही मनुष्य मनुष्य में सच्चा प्रेम सम्भव है। लुनाचार्स्की ने जिस प्रेम की निन्दा की है वह शोषित और शोषक के बीच की खाई को कृत्रिम रूप से पाटकर (स्मरण रहे उनकी सम्पत्ति का विभाजन कर नहीं) उनको एक ही उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील करना चाहता है, और स्वाभाविक रूप से वह उद्देश्य शासकों का हित-साधन हो जाता है।

इसलिए लेनिन ने बतलाया है कि कोई भी क्रान्तिकारी इस नारे से बहक नहीं सकता कि धर्म एक व्यक्तिगत मामला है। शोषित को शोषण-मुक्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि उसको मानसिक ग़ुलामी से मुक्त किया जाय अर्थात् उसको उन विचारधाराओं के हमलों से बचाया जाय जो ऊपरी तौर

पर चाहे जो कुछ हों किन्तु अन्त तक जाकर शोषकवर्ग के हितों के अनुकूल-सिद्ध होते हैं।

१०७—विश्वप्रेम कब और कब नहीं—विश्वप्रेम बहुत ही अच्छा नारा है, और धर्मवादियों ने इसे अपनाया है; किन्तु जो लोग विश्वप्रेम का नारा देते हैं उनकी नीयत पर या कम से कम बुद्धि पर इसलिए सन्देह हो जाता है कि वे इतने भोले बनते हैं कि जिस समय जगत् में साम्राज्यवाद की खूँखार प्रथा मौजूद है, एक देश पर बाहरी लोगों का शासन रहता है और वे उस पराधीन देश का मनमाना शोषण करते हैं, उस हालत में विश्वप्रेम का सिवा इसके क्या अर्थ होता है कि पराधीन देश के लोगों को उल्लू बनाया जाय? विश्वप्रेम के नारे की सफलता के लिए इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक देश अत्मशासित हो तथा मनुष्य द्वारा-मनुष्य के शोषण का अन्त हो गया हो अर्थात् दूसरे शब्दों में अखिल जगत् में समाजवाद की स्थापना हो गई हो। जो लोग जगत् की वर्तमान अवस्था में विश्वप्रेम का नारा देते हैं, वे जान में या अनजान में साम्राज्यवादियों तक शोषकों के हाथों में कठपुतले सिद्ध होते हैं।

१०८—शान्तिवाद नारे का विश्लेषण—इसी प्रकार का दूसरा नारा शान्तिवाद का है। धर्म का इसे भी समर्थन प्राप्त है। अहिंसा के नाम पर शान्तिवाद को बहुत ऊँचा करके दिखलाया जाता है; किन्तु विश्लेषण करने पर हम शान्तिवाद में वे ही उपादान पाते हैं, जो विश्व प्रेम में हैं। समाजवाद का ध्येय लड़ाइयों का अन्त करना है। यह दूसरी बात है, किन्तु इस बहाने से यह कहना कि जिन देशों पर आक्रमण होता है, वे या जो देश सौ दो सौ वर्ष पहले आक्रान्त होकर पराधीन हो चुके हैं, वे लड़ाई न करें, शान्तिवादी के नाम से नपुंसकता, कायरपन तथा बुज़दिली का प्रचार करना है। ऐसे शान्तिवादी हमेशा साम्राज्यवादियों के हाथों में कठपुतले साबित होते हैं।

१०९—धर्म व्यक्तिगत मामला नहीं है—इसीलिए हमें धर्म के दिये हुए या धर्म के द्वारा समर्थित नारों से किसी प्रकार बहकना नहीं चाहिए। धर्म व्यक्तिगत मामला है, यह भी इसी प्रकार का एक नारा है। जिस समय धर्म पराजय की तरफ़ जाता है उस समय धर्मध्वजी धर्म के व्यक्तिगत मामला होने का नारा

देते हैं; नहीं तो सारे इतिहास में जब धर्म की शक्ति प्रबल थी, तब धर्मध्वजियों ने कब इस बात को माना कि धर्म व्यक्तिगत मामला है? यदि धर्म व्यक्तिगत मामला है तो Inquisition में हज़ारों की तादाद में कथित हेरेटिकों को मौत के घाट क्यों उतार दिया गया? वर्तमान युग में भी धर्मध्वजी जहाँ भी कुछ ज़ोर कर पाते हैं वहीं वे यह नारा देते हैं कि शिक्षाविभाग उन्हीं के अधीन रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की सबसे बड़ी घटनायें जन्म, मृत्यु, विवाह—तो उन्हीं की देख-रेख में होती हैं। इसलिए धर्म को व्यक्तिगत मामला मानने के नारे के असर में कोई भी समाजवादी नहीं आ सकता। आज रूस में जो एक हद तक नाम के वास्ते धर्म व्यक्तिगत मामला मान लिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में कौन सी बृहत्तर बातें हैं, यह हम पहले ही दिखा चुके हैं।

११०—धर्मविरोधी प्रचार की आवश्यकता—लेनिन ने जंगजू भौतिकवाद के विषय में लिखते हुए डिस्टगेन की उस उक्ति को उद्धृत किया है कि आधुनिक समाज में अक्सर एक दर्शनशास्त्र का अध्यापक पादरीवाद का एक डिप्लोमा-प्राप्त पिछलगुआमात्र है। इसलिए लेनिन ने कहा था कि 'एक मार्क्सवादी इससे बढ़कर कोई ग़लती नहीं कर सकता कि वह सोचे कि मार्क्सवादी शिक्षाक्रम से करोड़ों आदमी अज्ञान, मूर्खता आदि से छुटकारा कर लेंगे।' ऐसा लिखने में लेनिन का मतलब यह था कि सोवियट रूस में भी निरीश्वरवाद के पक्ष में ज़ोरों से प्रचार-कार्य करने की ज़रूरत है। फिर उन देशों का तो कहना ही क्या है—विशेषकर भारत का जहाँ धर्म का अत्यन्त अधिक प्रभाव है। धर्म के विषय में तथा उसके चरित्र को उद्घाटित करते हुए अधिक से अधिक साहित्य की आवश्यकता है। एंगेल्स ने जर्मन साम्यवादियों को यह कहा था कि वे बजाय बकवास के तथा इधर-उधर थीसिस लिखते फिरने के १८वीं सदी के नास्तिक साहित्य का अनुवाद तथा प्रचार करें तो कहीं अच्छा हो।

१११—धर्म के विरुद्ध केवल साहित्यिक प्रचार से कुछ न होगा—इसके साथ यह भी स्मरण रहे कि धर्म के विरुद्ध केवल साहित्यिक प्रचार करने से धर्म की जड़ नहीं खुदेगी। धर्म के लिए जब तक अनुकूल आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति मौजूद रहती है, तब तक धर्म के विरुद्ध प्रचार एक हद तक ही

उपयोगी तथा सफल रह सकता है। लेनिन ने लिखा था 'यह पूँजीवादी संकीर्णता होगी, यदि हम इस तथ्य को भूल जायँ कि धर्म के रूप में जो दमन है, वह समाज में आर्थिक दमन की मौजूदगी के कारण सम्भव है। कितनी ही पुस्तकें लिखी जायँ तथा कितना भी प्रचार किया जाय, हम शोषितवर्ग को तब तक नहीं सिखला सकते जब तक वह पूँजीवाद की काली शक्तियों के विरुद्ध लड़ने के दौरान में खुद न सीखें। हमारे लिए यह विश्वास कहीं अधिक जरूरी है कि शोषितवर्ग सही क्रान्तिकारी लड़ाई से इसी दुनिया पर स्वर्ग स्थापित कर सकते हैं बनिस्वत इसके कि आसमान में स्थित काल्पनिक बहिश्त के विषय में वे एकमत हों,[१]। इसके साथ ही लेनिन ने बार बार इस बात पर भी जोर दिया है कि प्रचार के आवेश में हमें अपने असली उद्देश्य को भूलकर धर्म के पीछे ही नहीं पड़ जाना चाहिए। धर्म तो ऊपरी ढाँचे का एक अंग है। असली जिस चीज़ के बदलने से सब चीजें, सब धारणाएँ तथा सारा ऊपरी ढाँचा बदलेगा, वह है उत्पादन के वर्तमान शोषक-शोषित सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन। स्टालिन ने इसी द्वन्द्ववाद को समझकर सोवियट रूस में नाममात्र के लिए धर्म को तरह दिया है। फिर भी निरीश्वर-वाद, समाजवाद का एक अत्यावश्यक अंग है, इसे हमें न भूलना चाहिए। १८४४ में ही मार्क्स ने कहा था कि धर्म की आलोचना ही सब आलोचनाओं का प्रारम्भ है। एंगेल्स ने १८७४ में लिखा था कि यूरोपीय श्रमिक दलों में निरीश्वरवाद क़रीब क़रीब एक स्वीकृत तथ्य हो चुका है। १९०९ में लेनिन ने यह कहा था कि 'वर्ग चेतनायुक्त साम्यवादी तो निरीश्वरवादी होता है।'[२] सच तो यह है कि निरीश्वरवाद के बग़ैर क्रान्तिकारी कर्त्तव्यशास्त्र की कल्पना ही नहीं हो सकती। कहीं क्रन्तिकारी शब्द से ग़लतफ़हमी न हो और यह न समझा जाय कि हम एक ही लपेट में तमाम ईश्वरवादियों को—चापेकर बन्धु। खुदीराम, शचीन्द्र-नाथ सान्याल सभी को क्रान्तिकारित्व से ख़ारिज कर रहे हैं; इसलिए यह बता दिया जाय कि यहाँ क्रन्तिकारी शब्द का अर्थ सर्वतोमुखी क्रान्तिकारी से है। यों तो जो भी जिस पहलू में अपने समय के लिए प्रगतिशील होगा, वही उस सम्बन्ध में क्रान्तिकारी कहलायेगा।

---

१. R. L. p 17

२. Ibid, introdution

११२—धर्म-विरोध एक क्रान्तिकारी हथियार—अन्त में यह भी बात साफ़ कर देनी चाहिए कि प्रत्येक निरीश्वरवादी ही क्रान्तिकारी नहीं कहला सकता। कुछ लोगों में निरीश्वरवाद केवल एक मानसिक विलास मात्र हो सकता है। वैसे विपरीत निरीश्वरवाद के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हम तो धर्म और ईश्वर के विरुद्ध इसलिए हैं कि वे जनता के लिए अफीम सिद्ध होते हैं, सही ज्ञान के मार्ग में रुकावट पैदा करते हैं। हमारा धर्म-विरोध एक क्रियाशील पैना हथियार है, जिसके द्वारा हमें एक ऐसी समाजपद्धति की स्थापना करनी है जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण असम्भव हो।

विज्ञान की भौतिक उत्पत्ति और विकास

१—क्या विज्ञान समाज से विमुक्त है ? विज्ञान भी आर्थिक नींव के ऊपर खड़ा सामाजिक ऊपरी ढाँचे का एक अंग है। अवश्य इसका यह सम्बन्ध बहुत छिपा हुआ है, और आसानी से पकड़ में नहीं आता। बात यह है कि लोगों में विज्ञान को एक सूक्ष्म विचार-समूह—कई अंशों में तो जीवन से सम्पूर्ण विमुक्त रूप में देखने-सोचने की परिपाटी है। लोगों का कुछ ऐसा ख्याल है कि वैज्ञानिक की प्रयोगशाला से समाज का मानो सम्बन्ध ही नहीं है। वैज्ञानिक मानो एक ऐसा तपस्वी है जो तरह तरह के यंत्रों से समन्वित अपनी गुफा में बैठकर गूढ़ प्रश्नों को सुलझाया करता है। किन्तु क्या वस्तुस्थिति ऐसी है जैसा लोग समझते हैं ? क्या विज्ञान की उत्पत्ति से समाज का कोई सम्बन्ध नहीं था ?

२—विज्ञान और धर्म में भेद—सारे विज्ञान का इतिहास इस विषय पर क्या कहता है, यह देखने योग्य है। विज्ञान की कहानी को यदि एक वाक्य में कहा जाय तो वह मनुष्य और प्रकृति के बीच होनेवाले संघर्ष में मनुष्य की विजय की कहानी है। इस विजय का रहस्य यह नहीं रहा कि मनुष्य ने अपनी इच्छा शक्ति को प्रत्यक्षरूप से प्रकृति पर लाद कर जो चाहे सो करा लिया बल्कि मनुष्य को प्रकृति के नियमों का उद्घाटन कर तथा उसका प्रयोग कर प्रकृति पर नियंत्रण करना पड़ा है। धर्म में भी मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध प्रतिफलित होता है, किन्तु वह प्रतिफलन भिन्न कोटि का है। धर्म में भी प्रकृति तथा प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पाने की चेष्टा अभिव्यक्त है, किन्तु विज्ञान और धर्म के तरीक़ों में भिन्नता है। धर्म जहाँ पर जादू, टोना, मंत्र, प्रार्थना आदि तरीक़ों से प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करने की व्यर्थ चेष्टा करता है, और उसी में सारी कर्मशक्ति लगा देता है, विज्ञान में वहीं पर प्रकृति के नियमों को जानकर प्राकृतिक शक्तियों पर सफल नियंत्रण किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर विज्ञान और धर्म का मोटे तौर पर उद्देश्य एक होने पर भी उनके modus operandi या करने के तरीक़े में पूरा विरोध है। एक यदि पूर्व की ओर जा रहा है तो दूसरा पश्चिम की ओर।

बहुत शताब्दियों तक विज्ञान और धर्म एक साथ खिल्ल-मिल्ल होकर चलते रहे, किन्तु जैसा कि एंगेल्स ने कहा है, बाद को विज्ञान ने धर्म के साथ अनिवार्यरूप से सम्बद्ध कुसंस्कारों से अपना छुटकारा कर लिया। 'विज्ञान का इतिहास इन्हीं मूर्खतापूर्ण बातों से मनुष्य के क्रमशः छुटकारा पाने तथा उनकी जगह पर उनसे ताजे, किन्तु उनसे कम मूर्खतापूर्ण बातों के आ जाने का इतिहास है।' इस प्रकार विज्ञान का एक पहलू बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

३—वैदिक आर्य वृष्टि को यज्ञ से उत्पन्न समझते थे—कुछ उदाहरण लिये जाएँ। वैदिक धर्म में मनुष्य वृष्टि के लिए वरुण या इन्द्र को ज़िम्मेदार समझता था, और चूँकि कृषि वृष्टि पर निर्भर है, और कृषि पर ही उस युग का सारा उत्पादन निर्भर था, इसलिए वह इन देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञ आदि करता था। वैदिक युग का मनुष्य ही नहीं गीता में श्री कृष्ण कह रहे हैं (३।१४) 'प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है, और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।' मनुस्मृति में यह जो लिखा है 'यज्ञ में दी हुई आहुति सूर्य को मिलती है, और फिर सूर्य से (अर्थात् परम्परा द्वारा यज्ञ से) पर्जन्य उत्पन्न होता है', इत्यादि के साथ गीता की वाणी का भाव साम्य है। इस प्रकार किसी युग में—आश्चर्य तो यह है कि अब भी इस ढंग की बातों में विश्वास करनेवाले मौजूद हैं। यह समझा जाता था कि अनावृष्टि, अतिवृष्टि से बचने के लिए यज्ञ करना ही एक मात्र उपाय है। अवश्य गीता में गीता के उद्धृत श्लोक में, कहा गया है कि यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है। यहाँ यज्ञ का सूक्ष्मीकरण कर उसको एक उदात्ततर अर्थ देने की चेष्टा की गई है, किन्तु स्वयं वेदों में यज्ञ से यज्ञ ही समझा जाता था न कि उसका कोई सूक्ष्मीकृत रूप जैसे कि बाद को यज्ञ को सूक्ष्मीकृत कर विभिन्नरूप देने की चेष्टा की गई।

४—कुसंस्कार मुक्तता से विज्ञान का सूत्रपात—धीरे धीरे मनुष्य को मालूम हुआ कि इस प्रकार की पूजा आदि करना व्यर्थ है। वृष्टि बादल से होती है, और बादल नियत समय पर कुछ विशेष नियमों के अनुसार बनते, आते, बरसते हैं; तब इस रूप में देवावाहन शिथिल हो गया। यह जो मनुष्य को ज्ञात हुआ

कि वृष्टि से किसी देवी देवता के रागद्वेष से सम्बन्ध नहीं है, इसी ज्ञान को हम विज्ञान का सूत्रपात कह सकते हैं।

५—दिन, रात कैसे होते हैं, इस पर प्राचीन मिस्रियों की धारणा—प्राचीन मिस्र में भी लोग समझते थे कि 'प्रत्येक रात को जिस समय सूर्य देवता रा उज्ज्वल पश्चिम में अपने घर में डूबते थे, उस समय यह समझा जाता था कि उन पर आयेपी नामक दैत्यराज के नेतृत्व में दैत्यों का हमला होता था। सारी रात बेचारे रा अर्थात् सूर्य उनसे लड़ते रहते थे, और कभी कभी तो दिन में भी ये दैत्य बादलों के रूप में रा की ज्योति को घटाकर उसकी शक्ति को क्षीण करने के लिए धावा बोल देते थे। इस रोज़मर्रा की लड़ाई में सूर्य देवता को मदद देने के लिए थिविस में, सूर्य के मन्दिर में, रोज एक अनुष्ठान किया जाता था। उनके शत्रु आयेपी की, जिसकी कल्पना कुत्सित मुखयुक्त घड़ियाल या कई कुण्डलीवाले साँप के रूप में की जाती थी, एक मोम की मूर्ति बनाई जाती थी, और इस पर उस दैत्य का नाम हरी स्याही से लिखा जाता था। इसे एक काग़ज़ के डब्बे से ढक दिया जाता था। इस पर आयेपी की एक दूसरी मूर्ति हरी स्याही से खींची जाती थी। उस मूर्ति को काले बाल से बाँधा जाता था, उस पर थूका जाता था, उस पर पत्थर की छुरी से वार किया जाता था, तथा उसे ज़मीन पर पटका जाता था। इसके बाद पुरोहित इस पर बार-बार बायें पैर से चलता था। इसके बाद कुछ पौधों या घासों की आग में यह जला दिया जाता था। इस प्रकार अन्धकार के दैत्य आयेपी की दुर्गति करने के बाद उसके संगी साथी, मा-बाप, कच्चे बच्चे सबकी यही दुर्गति होती थी। यों पुरोहितों के अनुष्ठान से बलयुक्त होकर सूर्य देवता नित्य प्रातःकाल विपत्तियों पर विजयी होकर प्रकट होते थे।'[१] इस विवरण को जो भी व्यक्ति पढ़ेगा उसे हँसी आये बिना नहीं रहेगी, किन्तु उन दिनों यही सत्य समझा जाता था। अब एक स्कूली बच्चा जानता है कि दिन रात होने का क्या रहस्य है।

६—ग्रहण सम्बन्धी हिन्दू धारणा और विज्ञान—रा और आयेपी की कथा को पढ़कर जिनको हँसी आई होगी, उन्हें यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आदिमकाल की तो बात दूर रही, अब भी हिन्दुओं में कुछ प्राकृतिक

१. Frazer quoted in T. A. T. p. 128.

घटनाओं पर ऐसे विश्वास तथा मत प्रचालित हैं, जो प्राचीन मिस्रियों की दिन-रात के सम्बन्ध की धारणाओं से कम हास्यास्पद नहीं है। ग्रहण क्यों हुआ करते हैं, इस सम्बन्ध में जो हिन्दू धारणा आम तौर से प्रचलित है, उस पर व्यावहारिक रूप से विश्वास करनेवाले लोगों की संख्या करोड़ों तक पहुँचती है। ग्रहणों के अवसर पर काशी, कुरुक्षेत्र आदि में होने वाले विराट् मेले जिनमें सैकड़ों तो कुचल जाते हैं और खो जाते हैं, इस बात के प्रमाण हैं कि मिस्र में भले ही रा ओर आयेपी का युग चला गया हो, किन्तु यहाँ की हिन्दू जनता में अभी तक ये विश्वास सजीव हैं। हिन्दू पुरोहितों की इसलिए सराहना की जाय या निन्दा, यह समझ में नहीं आता क्योंकि उन्होंने बिलकुल प्राकृतिक कारणों से होनेवाली एक प्राकृतिक घटना को किस प्रकार अपनी परोपजीविता का एक आधार बना रक्खा है।

ग्रहण के विषय में हिन्दूधारणा यह है कि देवताओं ने समुद्रमन्थन किया तो उससे बहुत सी चीज़ें निकलीं, अमृत भी निकला। सोचा गया कि सब देवताओं को अमृतपान कराया जाय। अमृत का बटवारा होने लगा तो एक दैत्य भी आँख बचाकर देवताओं की पंक्ति में आकर बैठ गया। इसका पता सबसे पहले चन्द्र-सूर्य को लगा। उन्होंने इस की खबर दूसरे देवताओं को दे दी। इस पर उस दैत्य का पीछा किया गया, और संक्षेप में कथा यह कि काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये गये, किन्तु अमृत पी चुकने के कारण दैत्य मरा नहीं, और राहु और केतु दो टुकड़ों में बटकर जीवित रहे। आज भी वे दैत्य चन्द्र और सूर्य की उस मुख़बिरी को नहीं भूले और यदा कदा चन्द्र तथा सूर्य को ग्रस लिया करते हैं। यही ग्रहणों का स्वरूप है।

जिस प्रकार थिबिस के मन्दिर में रा की विजय के लिए मांगलिक अनुष्ठान होते थे, उसी प्रकार करोड़ों धर्मात्मा हिन्दू, आज भी, जब ग्रहण लग जाता है तो, सूर्य और चन्द्र की मुक्ति के लिए दान आदि देते हैं। फिर ग्रहण के मोक्ष पर स्नान करते हैं, मानों वे किसी विपत्ति से बचे हों। ग्रहण के असली कारण को तो अब प्रत्येक स्कूली बच्चा जानता है, साथ ही यह भी जानता है कि ब्राह्मणों को दान देने या गंगा स्नान करने से किसी प्रकार ग्रहण बचाया नहीं जा सकता। ग्रहण के बहाने परोपजीवी वर्ग जिस प्रकार दान लेता

है, उसमें विज्ञान का एक हिस्सा भी अर्थात् गणितज्योतिष भी छिपा हुआ है। यह जो पहले से बता दिया जाता है कि अमुक दिन, अमुक समय पर ग्रहण होगा, और इतने घंटे या मिनट रहकर ग्रहण का मोक्ष होगा, यह विज्ञान है। बाक़ी सब बातें कुसंस्कार हैं। यह देखने की बात है कि किस प्रकार गणित ज्योतिष को इन पुरोहितों ने अन्य बातों के साथ ऐसे जोड़ दिया कि उनके वर्गहित की सिद्धि हो।

७—ज्योतिष की सामाजिक उत्पत्ति—यदि हम विभिन्न विज्ञानों के इतिहास को अलग अलग देखें तो भी इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य हैं कि समाज के साथ विज्ञान का अच्छेद्य सम्बन्ध है। विज्ञानों में अत्यंत सूक्ष्म ज्योतिष के इतिहास को ही लिया जाय। प्रकृति के रूप विलास से मुग्ध होकर मनुष्य ने आकाश के नक्षत्रों को गिनना, उनका निरीक्षण करना तथा उनके मानचित्र बनाना इत्यादि शुरू किया हो, ऐसी बात नहीं है। जहाँ तक पता चलता है, नौचालन तथा इसी प्रकार की अन्यभौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य ने आकाश का अध्ययन शुरू किया। आज भी जिन लोगों में घड़ी आदि का रिवाज नहीं है, वे भी आकाश के तारों से यही काम लेते हैं। अनपढ़ किसान आज भी घड़ी के अभाव में तारों को देखकर समय जान लेता है कि अभी हल लेकर चलने का समय हुआ या नहीं।

८—मिस्र में बाढ़ के आगमन को जानने के लिए सौर वर्ष का आविष्कार—इस सम्बन्ध में मिस्र में सौर वर्ष का जिस प्रकार आविष्कार हुआ, वह दिलचस्प है। वहाँ प्रतिवर्ष नील नद में बाढ़ आती है, और इसी बाढ़ पर वहाँ की सारी खेती निर्भर करती है। जब बाढ़ आती है तभी खेती के सारे कार्य शुरू होते हैं। इसलिए यदि किसी प्रकार यह पता लग जाता कि बाढ़ कब आयेगी तो वह किसानों के लिए बहु फ़ायदे की बात हो सकती थी। बाढ़ के आगमन के समय का पता लगाने से कितनी सुविधा हो सकती थी, यह कल्पनीय है। इस बाढ़ का सम्बन्ध पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने से था, बल्कि वास्तव में दक्षिण पश्चिमी बरसाती हवा या मानसून के अबीसीनिया के पहाड़ों से टकराने से था; किन्तु प्राचीन मिस्रियों के लिए यह ज्ञान असम्भव था। इसलिए जो व्यक्ति यह बता सकता कि बाढ़ किस समय आवेगी, वह अवश्य उस युग

में एक बहुत शक्तिशाली व्यक्ति—जादूगर समझा जाता। इस सम्बन्ध में केवल यह जानने की ज़रूरत थी कि सौर वर्ष कितने दिन के होते हैं, क्योंकि आमतौर से सूर्य और पृथ्वी अपने भ्रमण पथ में जब एक विशेष अवस्थिति में हो जाते थे तभी यह बाढ़ आती थी। पहले के लोग चान्द्रवर्ष गिना करते थे। इसमें कोई दिक्क़त नहीं थी, क्योंकि चन्द्र को देखकर मास और वर्ष का हिसाब लगाया जाता था। सौर वर्ष कितना बड़ा होता है, यह जानना अदिमतम लोगों के लिए बहुत कठिन था। दीर्घ निरीक्षण के बाद कुछ लोग इस नतीजे पर पहुँचे कि जिस समय बाढ़ काहिरा में पहुँचती है, उस समय क्षितिज में रात्रि के अन्तिम तारे के रूप में Sirius या मिस्रियों के शब्द में सौथिस (Sothis) का उदय होता था। 'सिरियस का इस प्रकार Heliacal रूप में उदित होना सौर वर्ष में स्वाभाविक रूप से एक निश्चित बिन्दु था, और उस समय यह देखा गया कि यह घटना मोटे तौर पर ३६५ दिन में घटित होती है। इस प्रकार इतने ही दीर्घ एक कृत्रिम राष्ट्रीय वर्ग के प्रारम्भ बिन्दु के रूप में सिरियस के इस प्रकार उदित होने को लिया गया। यहाँ पर यह बताने की ज़रूरत नहीं कि सुदीर्घ निरीक्षण के बाद ही लोग यह समझ पाये होंगे कि इस तरह एक नक्षत्र उदित होता है, और फिर इसको आधार मानकर एक नई वर्ष-पद्धति की स्थापना हुई होगी। यह बहुत बड़ी सफलता थी, गाणतिक ज्योतिष की पहली दिग्विजय थी। इसमें कुछ ग़लती थी। इस ग़लती के कारण हिसाब में छः घंटे से कुछ कम की गड़बड़ी हो जाती थी। यह ग़लती भी एक तरह से बहुत अच्छी रही, क्योंकि इसी के कारण अब हम जान सकते हैं कि इस प्रकार का आविष्कार कब हुआ होगा।'[१]

९—सौर और चान्द्रवर्ष में चान्द्रवर्ष क्यों छोड़ दिया गया—इस ग़लती से हिसाब लगाकर दो भिन्न नतीजे निकाले गये। कोई तो इस वर्षगणना का आविष्कार ई० पू० ४२३६ में मानता है और कोई ई० पू० २७७६ में। चाइल्ड ने बताया है कि अधिकांश विद्वान् ई० पू० ४२३६ को ही सही मानते हैं। जो हो, यह द्रष्टव्य है कि सौर वर्ष की आवश्यकता उत्पादन की ज़रूरत के कारण हुई,

---

१. M. M. H. p. 154-5.

और उसी के कारण उसका आविष्कार हुआ। सौर वर्ष के सार्वदेशिक हो जाने का कोई चान्द्र वर्ष के साथ जीवन संग्राम में उसके जयी होने का एक कारण यह भी है कि चान्द्र महीने ऋतुओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताते, किन्तु सौर वर्ष के महीने ऋतुओं के सम्बन्ध में हमें एक स्थूल ज्ञान ही नहीं, अच्छा खासा ज्ञान देते हैं। मुसलमानों का रोजा चान्द्र महीनों से चलता है, इसलिए वह कभी तो गरमी में पड़ता है, कभी जाड़े में और कभी बरसात में। अन्य धार्मिक त्योहार इस प्रकार चान्द्र वर्ष से नहीं गिने जाते इसलिए होली, दिवाली, दशहरा, बड़ा दिन, ये सब एक निर्दिष्ट ऋतु में ही पड़ते हैं। इस सुविधा के कारण चान्द्र वर्ष का हट जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। चान्द्र वर्ष के हटाये जाने में लगान और खेती सम्बन्धी कारण भी है।

यह बहुत रहस्यपूर्ण बात है कि गणितज्योतिष से फलित ज्योतिष का सम्बन्ध किस प्रकार हो गया, किन्तु इस सम्बन्ध को समझना कोई कठिन बात नहीं। गणित की सहायता से, जिस समय ऋतु, बाढ़ आदि प्राकृतिक घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना सम्भव हुआ, उस समय यह भी समझना स्वाभाविक था कि गणित के द्वारा मनुष्य के सम्बंन्ध में भी भविष्यवाणी की जा सकती है। इसी के साथ साथ अपने भविष्य को जानने का जो अपार कौतूहल है उससे भी फलित ज्योतिष की वृद्धि में सहायता हुई होगी। यहाँ इस विषय पर कोई मन्तव्य प्रकट करना हमारे लिए अनुचित होगा कि वास्तव में ऐसा कोई विज्ञान हो भी सकता है जो मनुष्य को उसके भविष्य के सम्बन्ध में बतला दे, किन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध-रूप से कहा जा सकता है कि इस समय तक ऐसे किसी विज्ञान का पता नहीं है, यद्यपि कहीं चेहरा देखकर, कहीं हस्तलिपि देखकर कहीं जन्म के समय के ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति देखकर यह बताने का दावा किया जाता है कि अमुक मनुष्य का चरित्र यों होगा तथा उसका भाग्य यों रहेगा। अवश्य कुछ चारित्रिक विशेषताओं जैसे हस्तलिपि बातचीत का तरीक़ा आदि—को देखकर एक साधारण व्यक्ति भी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ न कुछ राय क़ायम कर लेता है, और बहुत से व्यक्ति इस प्रकार जो रायें क़ायम कर लेते हैं, वह मोटे तौर पर सही भी निकलती है, किन्तु इसके विरुद्ध उदाहरण भी मौजूद है। सच तो यह है कि किसी भी क्षेत्र में नेतृत्व के गुणों

में एक गुण यह भी है कि मनुष्य जिसके साथ बरतता है, उसके चरित्र के सम्बन्ध में कुछ सही राय क़ायम कर सके। कहना न होगा कि इस प्रकार राय क़ायम करने में कोई रहस्यवादी बात नहीं है, बल्कि गम्भीर निरीक्षण के परिणाम-स्वरूप इस प्रकार की राय क़ायम की जा सकती है। गणित ज्योतिष के फलित ज्योतिष में बहक जाने के संक्षेप में ये ही कारण हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि एक वर्ग की रोटी का इसके साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण तथा उसकी परोपजीविता में सहायक होने के कारण फलित ज्योतिष जनता में एक विज्ञान के रूप में स्वीकृत है।

१०—अज्ञान के कारण कुसंस्कार—भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ आकाश के अध्ययन के दूसरी तरह के कारण भी हुए हैं। समय-समय पर आकाश में धूमकेतु ऐसे अजीब दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। स्वभावतः मनुष्य ने जानने की चेष्टा की होगी कि यह क्या है, और जब उस ज़माने के ज्ञान से इसका कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने उसके एक ऊल-जलूल कुसंस्कार-पूर्ण उत्तर की कल्पना कर ली। इस प्रकार आकाश के ज़रिये भी एक दूसरे प्रकार के कुसंस्कार पैदा हो गये होंगे। विज्ञान का काम कुसंस्कारों को धीरे-धीरे दूर करना तथा इसके सम्बन्ध में सत्य का पता लगाना रहा है। १४५६ में इसी प्रकार का एक धूमकेतु आकाश-मार्ग में एक अपरिचित अनाहूत अतिथि की तरह दिखाई पड़ा था। चूँकि १४५३ में मुसलमानों ने कुस्तुन्तुनिया ले लिया था, इसलिए इसका अर्थ ईसाई जगत् में यह लगाया गया कि अब सारे संसार में मुस्लिम साम्राज्य का दौर-दौरा होनेवाला है। यह धारणा केवल ईसाइयों में ही नहीं क़रीब-क़रीब सब जातियों में ही धूमकेतुओं के सम्बन्ध में रही। १६८२ में जब हैली ने एक धूमकेतु देखा और धूमकेतुओं के आविर्भाव के सम्बन्ध में एक नियम स्थिर किया तभी इस संस्कार का अन्त हुआ, और लोगों को मालूम हो गया कि धूमकेतु कोई असगुन के द्योतक नहीं बल्कि उसी प्रकार की प्राकृतिक घटनाएँ हैं जैसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि। इस क्षेत्र में भी विज्ञान ने एक ज़रूरत की पूर्ति की और एंगेल्स की परिभाषा को चरितार्थ करते हुए एक मूर्खतापूर्ण सामाजिक धारणा को दूर किया।

११—वैज्ञानिकों में भी रूढ़िवाद—यह सत्य का पता लगाने का काम उतना

आसान नहीं रहा जितना लोग समझते हैं। विज्ञान के साथ धर्म, रूढ़ि और परम्परा का जो जीवनमरण-संघर्ष रहा है, उसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि स्वयं विज्ञान के घर में भी रूढ़ि पैदा हो गई और उसने बराबर विज्ञान की प्रगति का गला घोंट दिया। किसी भी हालत में ऐसी रूढ़ि विज्ञान की वृद्धि के लिए कम नृशंस नहीं रही। विज्ञान के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं जब प्रतिष्ठित वैज्ञानिक महन्त बनकर विज्ञान के सिंहद्वार पर बैठ गये, और किसी भी आगन्तुक को उसके अन्दर आने से रोका। १८११ में फ़ुरियर नामक वैज्ञानिक ने अपनी एक गवेषणा पेरिस की एकेडेमी के सामने स्वीकृति के लिए पेश की। इस गवेषणा की जाँच करने के लिए उस युग के क्या सभी युगों के तीन महान् गणितज्ञ लायलास, लाग्रांज, लजाफ़ नियुक्त हुए। इस गवेषणा को स्वीकार करना तो दूर रहा, इन्होंने इसकी ऐसी धज्जी उड़ाई कि लेखक को गवेषणा लौटा दी गई। इसके कोई तेरह वर्ष बाद फ़ुरियर इसी एकेडेमी के मंत्री हुए और उन्होंने अपनी मौलिक गवेषणा को ज्यों का त्यों प्रकाशित किया। अलिवर हेवी साइड नामक एक गणितज्ञ की भी ऐसी ही दुर्दशा कैम्ब्रिज के धुरन्धर गणितज्ञों के हाथों हुई थी। बात यह थी कि उन्होंने जिस तरह अपनी गवेषणा की थी वह प्रचलित पद्धति से कुछ पृथक थी। केवल इसी कारण पच्चीस वर्ष तक गणित में इनका महान् दान स्वीकृति का ठप्पा नहीं प्राप्त कर सका। वैज्ञानिक जगत् में यह धाँधली और भी अधिक सम्भव इसलिए है कि अत्यन्त विशेषज्ञ गवेषणाओं को समझने में समर्थ व्यक्ति एक काल और एक देश में कुछ ही होते हैं। यदि किसी कारण ये वैज्ञानिक महन्त-प्रकृति के हुए, या भ्रमवश वे नवीन गवेषणा के सत्य को समझ नहीं पाये तो वैज्ञानिक के लिए मौत ही है। उसे तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक यह वातावरण सत्य के बल के कारण उसके अनुकूल न हो जाय। साधारण व्यक्ति तो विशेषज्ञ-गवेषणाओं को समझने से रहा, इसलिए और क्षेत्रों की तरह जनमत के प्रति अपील का विज्ञान में कोई अर्थ नहीं होता। जनमत न तो यही बता सकता है कि नई गवेषणा सही है, या उसको नामंजूर कर रद्दी की टोकरी में डालनेवाले सही हैं।

१२—विज्ञान और साधारण बुद्धि—आइनस्टाइन के सिद्धान्त के कारण जो विपुल क्रान्ति हुई है, उससे यह कहा जाने लगा है कि विज्ञान और साधा-

रण बुद्धि दो पृथक् बल्कि परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं, किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक वैज्ञानिक सत्य उस युग की प्रचलित साधारण बुद्धि को ठेस लगाकर ही आया है। उदाहरण स्वरूप जिस समय चन्द्रग्रहण राहु और केतु की प्रतिहिंसा परायणता के कारण घटित होता समझा जाता रहा, उस युग में जब इस सम्बन्ध का वैज्ञानिक ज्ञान आया तो वह साधारण बुद्धि (Common Sense) पर प्रबल ठेस पहुँचाकर ही आया। तथ्य यह नहीं है कि वैज्ञानिक सत्य साधारण बुद्धि को ठेस पहुँचाकर आता है बल्कि तथ्य यह है कि वह अज्ञ जनों की साधारण बुद्धि पर ठेस लगाकर आता है। विशेषज्ञों की साधारण बुद्धि उसे तो मान ही लेती है तभी वह वैज्ञानिक सत्य की मर्यादा प्राप्त करता है। इसीलिए आइनस्टाइन या किसी भी क्रान्तिकारी वैज्ञानिक के आविष्कार से जो स्थिति उत्पन्न होती है, वह यह है कि प्रचलित साधारण बुद्धि यानी अज्ञों की साधारण बुद्धि पर ठेस लगाकर वह आता है। जो हो, चाहे विशेषज्ञों की साधारण बुद्धि के ज़रिये ही वैज्ञानिक सत्य आवे, अन्त तक उसे साधारण बुद्धि के साथ अपने को स्थापित करना पड़ता है। यदि यह प्रक्रिया बराबर न चलती रहती तो विज्ञान कहीं और होता, और साधारण बुद्धि कहीं और; किन्तु हम देखते हैं कि एक समय के बाद ठेस प्राप्त साधारण बुद्धि अपने को नये वैज्ञानिक सत्य की क़तार में खड़ी कर लेती है। इसी में विज्ञान की विजय है।[१]

१३—विज्ञान और व्यक्ति—यहाँ हम एक बात और समझ लें। विज्ञान के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रतिभा का बहुत बड़ा स्थान रहा है। एस० आई० वावीलाफ़ ने इस प्रश्न पर रोशनी डालते हुए लिखा है 'विज्ञान के विकास में व्यक्तियों का प्रभाव बहुत ही ज़बरदस्त रहा है। सही तौर पर विज्ञान के इतिहास में व्यक्तियों के नाम से युगों का नाम हुआ है, जैसे न्यूटन, फ़ाराडे, डारविन या पाशतूर।' कहीं इससे ग़लतफ़हमी न हो जाय इसलिए वावीलाफ़ ने बता दिया है कि व्यक्तियों का यह प्रभाव रहस्यवादी प्रभाव नहीं रहा, बल्कि इसका सीधा सादा सम्बन्ध सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से रहा है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि सभी प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों का प्रभाव, अपनी प्रतिभा के अनुसार,

१. Universe of science.

विज्ञान के विकास पर रहा है, ऐसी बात नहीं। उदाहरणार्थ लियोनार्डो डा विन्ची और लोमोनोसोफ का प्रभाव न्यूटन के मुक़ाबिले कहीं कम रहा। यह भी कहीं तक़दीर में शुमार न किया जाय, इसलिए वावीलाफ़ ने स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रभेद का कारण इन व्यक्तियों की विचित्रता या वैयक्तिक चरित्र में नहीं बल्कि सामाजिक परिस्थितियों में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वावीलाफ़ ने यह भी सुन्दर तरीक़े से दिखलाया है कि एक व्यक्ति ने एक महान् आविष्कार कर दिया, इसी से वह सामाजिक न हो सका अर्थात् समाज इससे फ़ायदा न उठा सका। उदाहरणार्थ, उन्होंने दिखलाया है कि १७वीं सदी में ही आधुनिक उषाकाल में sptics के सारे मूलभूत तथ्य आविष्कृत हो चुके थे। हुक और न्यूटन ने बीच में आनेवाली सारी बातों का आविष्कार किया था, और न्यूटन ने प्रथम बार दृश्य-मान आलोक की रश्मियों की लम्बाई की परिभाषा की थी। इ० बरटोलिन ने द्विगुण परावर्तन (double refraction) का आविष्कार किया था और न्यूटन ने आलोक रश्मियों के ध्रुवीकरण (polarisation) की सम्भावना सम्बन्धी उपसंहार निकाल लिया था....इत्यादि,।[१] फिर भी कोई १५० वर्ष बाद ही इन आविष्कारों का उपयोग हो सका। इसके कारण ये हैं कि उस युग में इनकी सामाजिक रूप से माँग नहीं हुई। जब नौविद्या के लिए इनकी ज़रूरत हुई तभी इन आविष्कारों का सही मर्म समझकर उनका प्रयोग किया गया। इस प्रकार विज्ञान समाज से आगे इस अर्थ में जा सकता है कि एक दो या दस वैज्ञानिक समाज से भले ही निकल जायँ, किन्तु वह विज्ञान सामाजिक तभी होता है जब समाज को उसकी ज़रूरत होती है।

१४—**विज्ञान परिवर्तनशील**—इस प्रकार विज्ञान का सामाजिक चरित्र बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। इसके साथ यह भी बात स्वाभाविक रूप से आ जाती है कि चूँकि समाज परिवर्तनशील है इसलिए समाज की विचारधारा का एक मुख्य अंग विज्ञान भी परिवर्तनशील है। यदि समाज का इतिहास सामाजिक अवस्थाओं के एक सिलसिले का इतिहास है, जिसकी गति कभी बढ़ती है और

---

१. Marxism and modren thought p. 178.

कभी घटती है, किन्तु मोटे तौर पर यदि समाज प्रगतिशील है और म्रियमाण नहीं है तो उसकी गति एक खास दिशा में—विशेष मंजिलों से होते हुए होती है, तो विज्ञान का भी यही हाल है। वैज्ञानिक उन्नति भी एक गति है जो निरन्तर आगे की ओर जा रही है। इसके प्रभाव में जो कल तक रहस्यावृत, अन्धकार मंडित था, वह आज स्पष्ट हो जाता है। सामयिक रूप से ऐसा ज्ञात अवश्य होता है कि नया वैज्ञानिक सत्य अन्तिम सत्य है, किन्तु थोड़े दिन बाद उस सत्य के साथ जब निरीक्षित तथ्य की असंगति पाई जाती है तो वृहत्तर सत्य की आवश्यकता होती है; जिसमें उस असंगति का निराकरण हो गया है। जैसे मनुष्य शैशवावस्था में बहुत-सी बचपन भरी धारणाओं का शिकार रहता है, उसी प्रकार विज्ञान के बचपन में हम पारस, वैद्युतिक तरल पदार्थ, फ्लाजिस्टन सिद्धान्त तथा ईथर आदि पाते हैं।[1] विज्ञान भी बचपन में घुटनों के बल चलता है, किन्तु ज्यों ज्यों उसके पैर के नीचे के निरीक्षित तथ्यों की ज़मीन मज़बूत होती जाती है, और उसके पैर मज़बूत होते जाते हैं, त्यों त्यों विज्ञान और भी ज़ोरों के साथ सत्य का निर्घोष करता जाता है। इसलिए विज्ञान से कोई अन्तिमता की आशा करना अनुचित है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञान पर कोई भरोसा न किया जाय। जब तक बृहत्तर सत्य नहीं आता तब तक प्रचलित सत्य को ही वैज्ञानिक सत्य मानकर चलने में विश्व का कल्याण है। विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति इस बात को माने बग़ैर नहीं हो सकती।

१५—वायल और गेलेसाक का नियम—जिस समय विज्ञान में बृहत्तर सत्य का आविष्कार होता है, उस समय पहले का संकीर्णतर सत्य उसका एक अंश बनकर रह जाता है। बात यह है कि जिस समय कोई ऐसी परिस्थिति या घटना वैज्ञानिक के निरीक्षण में आ जाती है, जिसका समन्वय अथवा समाधान प्रचलित वैज्ञानिक सत्य के द्वारा नहीं हो पाता, उसी समय बृहत्तर सत्य की आवश्यकता होती है। लेवी ने अपनी पुस्तक Universe of Science में इसका एक वैज्ञानिक उदाहरण दिया है। गैसों के घनत्व (volume) तथा उस पर दबाव के सम्बन्ध के विषय में वायल ने एक नियम का प्रतिपादन

१. Uuiverse of science. H. Leoy p. 12.

किया था। इसके अनुसार यदि गैस के एक विशेष घनत्व पर दबाव डाला जांय, जैसे साइकिल के पम्प में डाला जाता है, तो उसका घनत्व आधा हो जायगा यदि उसका दबाव दुगुना कर दिया जाय। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि यदि दबाव आधा किया जाय तो घनत्व दुगुना हो जायगा इस प्रकार बायल ने घनत्व और दबाव के बीच सम्बन्ध को बतलाते हुए एक नियम का प्रतिपालन किया किन्तु इस नियम के अन्दर उत्ताप में परिवर्तन होने से घनत्व और दबाव के पारस्परिक सम्बन्ध में क्या परिवर्तन होगा, यह नहीं आता था। हमें ब्यौरे में जाने की ज़रूरत नहीं। गेलिसाक (Gay Lussac) ने उस व्यापकतर नियम का प्रतिपादन किया जिसमें उत्ताप को लेकर इस नियम का प्रतिपादन हुआ। इस प्रकार बायल का नियम गेलिसाक के नियम का एक अंश या उपपद्धति (subsystem) होकर रहा। इसी प्रकार बराबर विज्ञान में बृहत्तर सत्य और उसके बाद बृहत्तर सत्य, और फिर उसके बाद बृहत्तर सत्य की जययात्रा जारी रहती है। इसलिए यूक्सक्रील (Uckkull) ने यह जो कहा है कि एक वैज्ञानिक सत्य आज की ग़लतियों के जोड़ के अलावा कुछ नहीं है[१], ग़लत है। हमारे ज्ञान में कमी और उथलापन ज़रूर है, बाद को वह दूर होगा, किन्तु इसलिए सारे ज्ञान को ग़लतियों का जोड़ कहकर तिरस्कार करना ठीक नहीं।

१६—गणित का प्रतीकवाद में बहक जाना—गणित विज्ञान आज कुछ अध्यात्मवादियों के हाथ में पड़कर बिलकुल बेपर उड़ने का दावा कर रहा है। वह तो प्रतीकों के सहारे बिलकुल अपने पैरों को वास्तविकता की ज़मीन से हटा लेना चाहता है, किन्तु गणित के जिस हिस्से को लिया जाय उसी की उत्पत्ति तथा विकास व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण हुआ था। मान लीजिए, गणित में पाँच सिद्धान्त हैं। इनमें से पाँचवाँ भौतिक उपयोग का है, किन्तु पाँचवें पर हम अन्य चार सिद्धान्तों के बग़ैर नहीं पहुँच सकते थे, तो कहना पड़ेगा कि ये पाँचों भौतिक उपयोग के सिद्धान्त हैं।

गिनने की ज़रूरत तो बहुत बहुत आदिम है, और अंकगणित का उद्भव स्पष्ट है। जब आदिम मनुष्य कुछ विनिमय करते होंगे या शिकार को बाँटते

१. Anotomy of science p. 40

होंगे तो उनको भी एक मोटे गणित की ज़रूरत पड़ती होगी। मिस्र में नील नदी में बाढ़ के कारण बार बार लोगों को ज़मीनें एक दूसरे से मिल जाती थीं इसलिए हर बाढ़ के बाद ज़मीनों के पुनर्विभाजन का प्रश्न सामने आता था। कहा जाता है, इसी की पूर्ति के लिए रेखागणित की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त जहाँ भी लोग बद्दू हालत के बाद बसने लगे उस समय खेती में उनको कुछ न कुछ नाप जोख की ज़रूरत पड़ती होगी। इस प्रकार प्रत्येक आदिम जाति में कुछ न कुछ आदिम रेखागणित की उत्पत्ति हुई होगी, भले ही यह मिस्र की तरह बढ़ा चढ़ा न हो पाया हो। चीज़ों के तौल तथा नाप जोख की ज़रूरत तुलना करने की सहूलियत के लिए हुई होगी। अति आदिम युग में जब धनुष के लिए गुण या हँसिया के लिए मूठ की ज़रूरत होती होगी तो पहले तो ऐसा होता होगा, कि जिस चीज़ को जिसमें फ़िट करना है, उसे उस पर रखकर नापा जाता होगा, किन्तु धीरे धीरे—जैसा कि चाइल्ड ने बताया है जब औद्योगिक उन्नति हुई तब लोगों की समझ में यह बात आ गई कि उस चीज़ से ही उस वस्तु को नापने की कोई ज़रूरत नहीं। यह काम तो एक तीसरी वस्तु से उसको नापने से चल सकता है। उदाहरणार्थ यह दिखाया गया है कि नाव बनाने में प्रत्येक तख्ते को जंगल में काटने और उसे नदी के किनारे बनती ई नाव पर रखकर नापने के बजाय, एक तीसरी वस्तु से ही नाप जोखकर तख्ता काटने की समझ लोगों में आ गई होगी। पहले पहल इस प्रकार नाप के लिए हाथ से ही काम लिया जाता होगा। आज भी हमारी नाप की पद्धति में हाथ, बित्ता, उँगली आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। इसी प्रकार तोल में भी पहले पहल तराजू का व्यवहार न होकर किसी प्रकार के नपने का व्यवहार हुआ होगा। आज भी बहुत से समाजों में—हम दूर क्यों जाएँ भारतवर्ष में ही—सेर, गण्डा, सैकड़ा आदि की गिनती और तोल में बहुत फ़र्क़ पाया जाता है। ऐसा फ़र्क़ सामन्तवाद के युग में ही सम्भव है। पूँजीवाद के युग में या पूँजीवाद ही क्यों सौदागरी की वृद्धि के युग में यों नाप तोल में गड़बड़ी और अराजकवाद नहीं चल सकता। जो हो, नापों, तौलों आदि का उसी प्रकार एकीकरण एक समाज के लिए ज़रूरी है जैसा वर्णमाला तथा लिखन प्रणाली की एकता का। पहले तो यह नाप, तौल, गिनती प्रत्यक्ष भौतिक द्रव्यों से संयुक्त रहती है, किन्तु बाद को गिनतियों का

और तौलों का आपस में ही हिसाब होने लगता है, और फिर विशुद्ध परिमाण तथा यूक्लीडीय देश (Space) की उत्पत्ति होती है। चाइल्ड ने लिखा है कि प्राचीन समाज अनन्त दीर्घता या शून्य देश में दिलचस्पी नहीं रखते थे, बल्कि उनके द्वारा किये हुए सूक्ष्मीकरण व्यावहारिक हितों से परिचालित होते हैं। "प्राचीन सुमेर में क्षेत्रफल की नापों के नाम कई क्षेत्रों में वज़न की नापों के सदृश हैं, विशेषकर दोनों नापों में जो सबसे छोटी इकाई है, वह सी या एक यव (Grain) है। दूसरे शब्दों में सुमेर का वर्गनाप मौलिकरूप से बीज की नाप थी। सुमेरवालों की इस सम्बन्ध में दिलचस्पी यह थी कि एक ज़मीन के कड़े को जोतने के लिए कितने बीज की ज़रूरत है। उसकी दृष्टि में उसकी ज़मीन उतना शून्य देश नहीं बल्कि एक ज़मीन का टुकड़ा था जिसको बोने के लिए एक विशेष परिमाण में बीज की आवश्यकता पड़ती थी। जो मरुस्थल जोताई के लायक़ नहीं था उससे या नीले आसमान के क्षेत्रफल से उन्हें कुछ मतलब नहीं था। जिसे हम वज़न करना कहते हैं उसके लिए तराजू नामक विशेष औज़ार की ज़रूरत थी। प्रागैतिहासिक मिस्र की क़ब्रों में पेट्री को कुछ ऐसे द्रव्य मिले हैं जिनको वे अनुमान से बटखरे समझते हैं।...मिस्र, इराक़ और भारतवर्ष में विभिन्न वज़नों की पद्धतियाँ प्रचलित हैं।"[१]

जहाँ तक गिनती का सम्बन्ध है, बहुत ही आदिम काल में उँगली पर गिनना शुरू हुआ होगा। कुछ ऐसी जंगली जातियाँ इस समय भी मौजूद बताई जाती हैं जो पाँच से अधिक गिन नहीं सकतीं। सुमेर आदि में गिनती का जो इतिहास प्राप्त होता है वह यों है कि गिनती का उद्भव चीजें गिनने के लिए हुआ। इसके अधिक ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु ब्यौरे में जाने पर भी हम उन्हीं उपसंहारों पर पहुँचते हैं जिन पर हम पहले पहुँच चुके हैं।

इसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म कहलानेवाले चाहे जिस विज्ञान को लिया जाय, उसकी जड़ में हमें सामाजिक आवश्यकता मिलेगी। जब जब प्रकृति और मनुष्य की उत्पादन पद्धति में या विभिन्न उत्पादन पद्धतियों में कोई असंगति पैदा हो गई है, तब तब एक सजीव जाति के विज्ञान ने आगे बढ़कर इस असंगति को सुलझाया है। जब भी वैज्ञानिकों ने विज्ञान को सामाजिक उत्पत्ति

१. Man makes himself p. 220.

न समझकर उसको वैयक्तिक उत्पादन करके दिखलाने की चेष्टा की है, तभी ऐसा हुआ है कि विज्ञान के भीतर उनके वैयक्तिक रागद्वेष तथा कुसंस्कार मिल गये हैं जैसा हम एडिंगटन, जिन्स, जेफ़्रीज तथा सुलिमन के क्षेत्र में देखते हैं कि वे कहाँ से कहाँ बहक कर पहुँच गये। इसका उदाहरण हम पहले ही यंत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ कुछ दे चुके हैं।

१७—बेकन द्वारा विज्ञान का चरित्र निर्णय—बेकन ने जो यह कहा है कि विज्ञान के दो उद्देश्य हैं, एक फलोत्पादक तथा दूसरा आलोकोत्पादक, यदि इन दोनों को देखा जाय तो एक ही हैं। आदिम मनुष्य के विज्ञान के इन दो पहलुओं में, जिनको हम दूसरे शब्दों में व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक कह सकते हैं, कोई फ़ासला नहीं था। जब सबसे पहले आदिम मनुष्य ने एक पेड़ की डाल की सहायता से दूर की शाखा के फल को तोड़ लिया और इस प्रकार पहले पहल विज्ञान की सृष्टि की, तो उसके सामने न्यूटन की तरह यह प्रश्न नहीं था कि फल किस कारण नीचे की ओर गिरते हैं, न गेलीलियो की तरह यह प्रश्न ही था कि भारी फल पहले गिरता है कि हल्का फल। उसके सामने तो एक ही प्रश्न था कि फल कैसे प्राप्त किया जाय। यही उसके विज्ञान का (वह तो जानता भी नहीं था कि विज्ञान भी कोई वस्तु है) समग्र स्वरूप था। विज्ञान बहुत दिनों तक बल्कि युगों तक बिलकुल ही तात्कालिक उपयोगिता के साथ क़दम रखकर चलता रहा। उसके सामने और उद्देश्य हो ही क्या सकता था? उस युग में विज्ञान के, ऊपर गिनाये हुए, दोनों पहलू साथ साथ चलते थे, किन्तु कुछ दिनों के बाद ऐसा मालूम हुआ कि यह ज़रूरी नहीं कि किसी आविष्कार की व्यावहारिक उपयोगिता फ़ौरन ही मालूम हो जाय (यह भी बात उपयोगिता की दृष्टि से अभिज्ञता के आधार पर मालूम हुई थी)। हो सकता है कि कोई व्यक्ति एक ऐसे सत्य का (स्मरण रहे, विज्ञान में सत्य तुलनात्मक होते हैं, और बृहत्तर सत्य के आविष्कार के साथ अप्रचलित हो जाते हैं) आविष्कार करे जो उस समय तो कुछ भी उपयोगी न मालूम हो किन्तु बाद को इसकी उपयोगिता खुले। माइकल फ़ाराडे (१७९१—१८६७) ने पहले पहल बिजली के सम्बन्ध में जो प्रयोग किये थे वे उस उमय केवल प्रयोगशाला के लिए ही दिलचस्पी के मालूम हुए, किन्तु बाद को उसके जौहर

खुलते ही गये। एडीसन (१८४७) ने इसी के सहारे कई बड़े बड़े आविष्कार किये जिनमें सिनेमा प्रमुख है। बराबर इस पर आधारित और नये आविष्कार होते चले जा रहे हैं। इस प्रकार एक आविष्कार के बाद कई सौ वर्ष तक उस पर व्यावहारिक आविष्कार हो सकते हैं और होते रहते हैं। इस दृष्टि से फारा के आविष्कार को भला समाज से अलग कैसे किया जा सकता है। अध्यापक एच० लेवी ने ठीक ही लिखा है "वैज्ञानिक तथा उसके काम को परिवर्तनशील जगत् के बाक़ी हिस्से से अलग नहीं किया जा सकता; विज्ञान की सामाजिक जड़ें हैं, तथा उसके परिणाम भी सामाजिक हैं।"[१] अन्यत्र अध्यापक लेवी इसी विचार को दूसरे शब्दों में यों प्रकट करते हैं "विज्ञान मुख्यतः एक गति तथा ऐसी सामाजिक उपज है जो सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है, और इसके किसी भी पहलू को समाज से पृथक् करने का प्रयत्न (चाहे वह विशुद्ध गणित ही हो), जिसका यह एक आवयविक अंश है, केवल झूठे और ख़तरनाक उपसंहार पर पहुँचा सकता है।" (Universe of science p. vii)

१८—विज्ञान की भौतिक जड़ें—जब सूक्ष्म से सूक्ष्म विज्ञान की सामाजिक जड़ें होती हैं तो चिकित्सा-विज्ञान, कृषि-विज्ञान आदि प्रत्यक्षरूप से मनुष्य के लिए उपयोगी विज्ञानों का तो कुछ कहना ही नहीं है। वे तो तात्कालिक उपयोगिता को छोड़कर मुश्किल से एक क़दम आगे बढ़ते हैं। विज्ञान यदि किसी समय केवल सिद्धान्तों की उड़ान भरता हुआ मालूम होता है तो वह दृश्यमान मात्र है। उसे देर में या जल्दी अपनी उड़ान के स्थान से नीचे उतर कर आना पड़ेगा और उपयोगिता की कसौटी पर अपने मूल्य को साबित करना पड़ेगा। यदि वह आज या कल या कुछ सालों में व्यावहारिक रूप से मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता तो वह विज्ञान की मर्यादा से उतार दिया जायगा।

१९—विज्ञान में सूक्ष्मीकरण का उद्देश्य—यदि विज्ञान में सूक्ष्मीकरण (abstraction) है तो वह लोगों को भ्रम में डालने के लिए नहीं बल्कि एक चीज़ के बहुत से पहलुओं में से एक को अलग कर अध्ययन करने के लिए

---

१. H. Lavey—The Paradox of science in Man and Nature.

है जिससे जल्दी किसी निर्दिष्ट नतीजे पर पहुँचा जा सके। यदि हम एक लोहे के छड़ को तराजू पर रखकर तौलते हैं और इस समय हम उसके किसी और पहलू पर ज़ोर न देकर केवल वज़न पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते हैं तो उसका अर्थ यह न समझा जाना चाहिए कि उसमें वज़न के अतिरिक्त और कोई गुण है ही नहीं, बल्कि उसका मतलब इतना ही है कि हम तात्कालिक रूप से उसके वज़नवाले पहलू को समझ लेना चाहते हैं। इसी प्रकार विज्ञान में जहाँ भी सूक्ष्मीकरण है वहीं पर वह प्रश्न को सरल करने के लिए है। फिर एक बार हम लेवी की बातों का हवाला देते हुए कहेंगे कि सूक्ष्मीकरण के ज़रिये असामंजस्यपूर्ण बातें छाँट दी जाती हैं और विभिन्न वस्तुओं में मूलगत समताओं का उद्घाटन किया जाता है। सारे विज्ञान के सिद्धान्तों का यही रहस्य है। उन पर अति प्राकृतिकता मढ़ने की चेष्टा करना व्यर्थ है। यद्यपि उसका भौतिक अर्थ उस समय छिपा हुआ रहे, वह बाद को स्पष्ट हो जायगा। जे० आरथर टामसन ने biology and human progress में लिखा है, यदि हम तार, टेलीफ़ोन, ब्राडकास्टिंग, चिकित्सा में रश्मियों का उपयोग, शल्यविद्या, तथा सीरम से रोगों का इलाज करना देखें तो ज्ञात होगा कि यह सभी बहुत ही सूक्ष्म खोजों तथा आविष्कारों पर निर्भर है।" इस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्त उड़ान नहीं होते, बल्कि कुछ घटनाओं से निकले हुए उपसंहार होते हैं और दूसरी तरफ उनके परिणाम स्वरूप दूसरी घटनाओं को समझने तथा उन पर नियंत्रण प्राप्त करने के कारण स्वरूप होते हैं।

२०—सभी विज्ञानों की भौतिक उत्पत्ति—ज्योतिष और गणित की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज करते हुए हम जिस प्रकार उनके भौतिक आधार में पहुँच गये, उसी प्रकार हम अन्य विज्ञानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहुँचते हैं। पदार्थ-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध उत्पादन तथा युद्ध से था। इसी प्रकार रसायन विज्ञान का सम्बन्ध काँच, रँगाई, बर्तनों की कलई, पेन्टों की उत्पत्ति और धातुविज्ञान के साथ था। मिस्र और चीन में ही इस विज्ञान के सबसे प्राचीन रूप का पता लगता है। वहाँ इन्हीं बातों से उसका सम्बन्ध था। रसायन-विज्ञान शब्द का केमी या काले से सम्बन्ध है, इससे अनुमान किया गया है कि इस विज्ञान की उत्पत्ति मिस्र में हुई है। खान-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, पशु-विज्ञान, शरीर-विज्ञान,

रोगविज्ञान इन सबकी भौतिक उत्पत्ति तो बहुत ही स्पष्ट है और, जैसा कि हम बता चुके, ये विज्ञान अपने भौतिक उपयोग के आधार को छोड़कर एक भी क़दम आगे नहीं जाते। भूगोल की उत्पत्ति व्यापार तथा युद्ध-विद्या के लिए हुई। प्राचीनकाल में फिनिसियन, कर्थेजिनियन और उसके बाद ग्रीक अरब ज्यों ज्यों व्यापार में प्रमुख होते गये त्यों त्यों ये जातियाँ भूगोल में अधिकतर प्रवीण होती गईं। १५वीं सदी से जब से औपनिवेशिक विस्तार का प्रारम्भ हुआ तबसे भूगोल की अधिक उन्नति हुई है। अब भी तिब्बत तथा अफ़्रिका के आभ्यन्तरिक भाग में भूगोल की उन्नति के बहाने साम्राज्यवाद के लिए आधार, साधन तथा संस्पर्श पैदा किये जाते हैं। अभी बहुत हाल की बात है, १९४४ में भारत और बर्मा की सरहद पर जो अल्पज्ञात भूभाग थे उनके सम्बन्ध में जानकारी बढ़ी। इसी प्रकार जब बर्मा से चीन का रास्ता, बर्मा के जापानियों के क़ब्ज़े में आ जाने से, बन्द हुआ तो एक दूसरी सड़क ढूँढ़ने के लिए बहुत से नये भौगोलिक आविष्कार हुए। इन क्षेत्रों में भौगोलिक आविष्कार तथा नेतृत्व स्पष्ट रूप से भौतिक आवश्यकता के कारण हुआ। मध्ययुग में पुर्तगाल, स्पेन, इँगलैंड, हालैंड आदि जिन देशों के लोग व्यापार तथा साम्राज्य स्थापना में प्रमुख रहे, उन्होंने अच्छे जल मार्गों आदि के आविष्कार किये। इसी प्रकार १९४४ में इस सूची में जापान और अन्य युद्धमान देशों का नाम जुड़ गया है। जो विज्ञान सामाजिक विज्ञान कहलाते हैं उनकी उत्पत्ति तो सामाजिक होगी ही, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।[१] ऐसे विज्ञानों में इतिहास, अर्थशास्त्र, भाषाविज्ञान, आँकड़ाशास्त्र है।

२१—'विज्ञान विज्ञान के लिए' नारा निरर्थक—हम पहले ही बता चुके हैं कि जिस मनुष्य ने पेड़ की एक डाल की सहायता से फलों को तोड़ा वह पहला वैज्ञानिक था। इसका अर्थ यह है कि विज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य को प्रकृति के मुक़ाबिले में सफल बनाने के लिए हुई है, इस बात को हमें कभी भूल न जाना चाहिए। इसलिए, विज्ञान विज्ञान के लिए' नारे का कोई अर्थ नहीं होता। ऐतिहासिक रूप से तथा व्यावहारिक रूप से यह बात बिलकुल ग़लत है। लेवी ने अपनी पुस्तक Universe of science में दिखलाया है कि "विज्ञान विज्ञान

१. Historical matrialism—Bukharin p. 162-3.

के लिए इस नारे की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और लोग किस प्रकार उसमें बह गये। अध्ययन की सुविधा के लिए विषयों को अलग अलग कर लिया गया। होते होते उनके एक एक पहलू भी पृथक् कर लिये गये। जब यह पृथक्करण दो एक पुश्त तक चला तब उस पहलू के छात्र को ऐसा मालूम होना स्वाभाविक हो गया मानो विज्ञान विज्ञान के लिए हैं।

मनुष्य जाति के कल्याण के अतिरिक्त विज्ञान की कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। विज्ञान ने हर पग पर मनुष्य को पहले से सुन्दरतर तरीक़े पर रहना और जीना सिखलाया है, किन्तु यह भी इस सम्बन्ध में हमें न भूलना चाहिए कि विज्ञान का निर्माता मनुष्य स्वयं है। पहले से अच्छे तरीक़े पर रहने की आन्तरिक इच्छा से ही विज्ञान का उदय हुआ और वह अक्सर प्रत्यक्ष रूप से और कभी-कभी परोक्ष रूप से इसी उद्देश्य को ध्रुवतारा की तरह सामने रखकर अपनी नाव खे रहा है। इसमें कुछ वैज्ञानिक व्यक्तिगत रूप से भले ही कुछ और बात मिलाकर उसे दूसरे रंग में रँगने की कोशिश करें, किन्तु विज्ञान की सार्थकता, उसके चरित्र की चरितार्थता मनुष्य के कल्याण-साधन में ही है। हैरबर्ट स्पेन्सर ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान जीवन के लिए है, न कि जीवन विज्ञान के लिए। यदि किसी समय धोखे से हमें इसका विपरीत मालूम होता है तो ज़रा गहराई से देखने पर ही यह भ्रम दूर हो सकता है। आदिम मनुष्य ने चन्द्र को रोज़ उदित होते देखा, बहुत सम्भव है और भी जानवर चाँदनी और चाँद को देखते हैं, किन्तु अपने विकसित मन के द्वारा जब आदिम मनुष्य ने चन्द्र को एक नियम के अनुसार घटते-बढ़ते और उसमें पूर्णिमा तथा अमावस्या होते देखा तो कुछ दिनों में वह समझ गया कि किस नियम से आकाश में चन्द्रोदय होता रहता है। यों ऊपर से देखने पर मालूम होगा कि मानो यह ज्ञान मनुष्य के लिए ज्ञान के लिए ज्ञानमात्र था, किन्तु ऐसा नहीं। आदिम मनुष्य एक तो इसी ज्ञान के सहारे समय को नापने लगा (जो हर तरीक़े से उसके लिए उपयोगी था), दूसरे वह इस ज्ञान का उपयोग कृषि, नौचालन इत्यादि भौतिक तरीक़े से करने लगा। सच तो यह है कि यदि उसको इसकी भौतिक ज़रूरत न रहती तो उसे चन्द्रोदय-सम्बन्धी ज्ञान होता ही नहीं। 'कोई भी इस बात का कष्ट नहीं उठाता कि जँगले पर कितनी मक्खियाँ बैठी हैं या सड़क पर कितनी गौरइयाँ हैं, किन्तु

सींगदार जानवर गिने जाते हैं। बात यह है कि पहले दो विषयों में संख्याओं का जानना किसी के लिए उपयोगी नहीं है, किन्तु सींगदार जानवरों की संख्या जानना बहुत उपयोगी है।'[१]

यदि हम इसी प्रकार विज्ञान की सारी उन्नति के इतिहास को देखें तो वह सिलसिले से इसी तरह आवश्यकता की उत्तेजना पर विकसित होता गया है। मनुष्य को अधिक गेहूँ की ज़रूरत पड़ी या लोहा, कोयला, मछली शीघ्र यातायात की जरूरत पड़ती गई और विज्ञान में विकास होते गये।

२२—विज्ञान की विभिन्न परिभाषाएँ—'बाक़ी सृष्टि की तरह मनुष्य भी, अपनी धुरी पर घूमती हुई पृथ्वी की भाँति, न्यूनतम क्रिया के सिद्धान्त पर चलना चाहता है यानी जहाँ तक हो सके, वह कष्ट से बचना चाहता है' (टामसन)। इसी इच्छा के कारण मनुष्य विज्ञान की सृष्टि करता है। किसी काम को सबसे अच्छे ढंग से सबसे जल्दी और सबसे कम शक्ति लगाकर करने का तरीक़ा ही विज्ञान है। विज्ञान की जितनी भी परिभाषाएँ की गई हैं उनमें विज्ञान की सामाजिकता का उत्पादन स्पष्ट है। अध्यापक टी० हक्सले कहते हैं "विज्ञान से मैं ऐसे ज्ञान को समझता हूँ जो गवाही (evidence) तथा तर्क पर अवलम्बित है।" कहना न होगा कि यह गवाही तथ्यों का गवाही है, और तथ्य सामाजिक हैं। डाक्टर एलेक्जेंडर हिल कहते हैं कि "सब बुद्धि संगत ज्ञान विज्ञान है तथा विज्ञान (perspective) में ज्ञान है।" अध्यापक कार्ल पियरसन कहते हैं कि विज्ञान का काम तथ्यों का वर्गीकरण, उनके क्रम तथा तुलनात्मक अर्थ की स्वीकृति है। अमेरिकन अध्यापक एफ० जे० टेगर्ट का कहना है कि "विज्ञान घटनाओं में प्रकाशित प्रक्रियाओं की पद्धतिगत खोज है। लार्ड एक्टन कहते हैं कि विज्ञान बहुत से सदृश तथ्यों को एक सामान्वीकरण, एक सिद्धान्त या एक क़ानून की एकता में एकत्र कर देता है, और वह क़ानून या नियम ऐसा होता है जो हमें उसी तरह की परिस्थितियों में उसी तरह की घटना की पुनरावृत्ति की भविष्यवाणी करने में समर्थ करता है।"[२] आइनस्टाइन ने अपनी

---

१. Historical materialism p. २. The science of history by Hearnshaw in outline of modern knowledge.

पुस्तक (the meaning of relativity) में लिखा है "सब विज्ञानों का उद्देश्य चाहे वह प्राकृतिक विज्ञान हो या मनोविज्ञान, हमारी अभिज्ञताओं में सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनको एक तार्किक पद्धति के अन्दर लाना है।"[१] इनमें से सभी परिभाषाओं से विज्ञान पर हमारे दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

२३—एडिंगटन की विज्ञान सम्बन्धी धारणा—आधुनिक वैज्ञानिकों में सर आर्थर एडिंगटन प्रसिद्ध भाववादी हैं। उनकी विज्ञान-सम्बन्धी धारणा कुछ विभिन्न है, फिर भी उसकी यहाँ पर थोड़ी आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा। एडिंगटन का कहना है कि जिस प्रकार गणित में पादार्थिक जगत् की चीज़ों का सूक्ष्मीकरण कर उनके सम्बन्धों का निर्णय होता है, उसी प्रकार विज्ञान के जगत् में दृश्यमान जगत् की साधारण बुद्धि की अवमानना कर विचार होता है, अर्थात् उनके अनुसार विज्ञान भी सम्बन्धों और प्रतीकों को लेकर चलता है यानी उसका कारबार एक वास्तविक जगत् से है। गहराई के साथ सोचने पर ज्ञात होगा कि विज्ञान पर यह दृष्टिकोण इस सम्बन्धी दूसरे दृष्टिकोणों से केवल दृश्यमान रूप से ही भिन्न है क्योंकि जैसा हम कई बार कर चुके हैं, सम्बन्धों और प्रतीकों का सम्बन्धित वस्तुओं और मूल पदार्थों के अतिरिक्त कोई अस्तित्व हो ही नहीं सकता।

२४—विज्ञान का भौतिक उपयोग—यदि हम विज्ञान की परिभाषाओं को छोड़कर यह देखें कि मनुष्य ने विज्ञान का क्या इस्तेमाल किया है अर्थात् विज्ञान से मनुष्य को किस प्रकार अग्रगति के मार्ग में उत्तेजना मिली है तो उससे हमारी बात की और भी पुष्टि होगी। हमारे दिये गये उदाहरण के अनुसार प्रथम वैज्ञानिक ने जिस साधन से अपनी उत्पादकता बढ़ा ली वह मनुष्य का पहला औज़ार था। ऐसे ही औज़ारों के विकास के ज़रिये मनुष्य तथा उसकी सभ्यता का विकास होता गया है। प्राचीन से प्राचीन स्थाने यानी गुफाओं में जहाँ मनुष्य के रहने के चिह्न मिले हैं वहाँ पत्थर, लकड़ी, हड्डी आदि के औज़ार मिले हैं। मनुष्य ही पहला प्राणी नहीं था जिसने अपने शरीर के बाहर किसी वस्तु का उपयोग औज़ार के रूप में किया है। बेंजामिन फ्रेंकलिन ने इसी लिए

१. The universe of science p. 199.

मनुष्य की परिभाषा औज़ार बनानेवाले प्राणी के रूप में की थी, यद्यपि उसके अलावा भी प्राणियों ने कुछ अविकसित औज़ारों का उपयोग किया है। मनुष्य के शरीर तथा दिमाग़ का गठन इतना विकसित है कि उसमें बराबर औज़ारों की उन्नति सम्भव हुई, जो होते-होते आज की दशा में पहुँची है।

आविष्कार किस प्रकार होते गये, इस सम्बन्ध में यह जो मत है कि एक व्यक्ति के दिमाग़ में एकाएक एक विचार आया, और एक आविष्कार हुआ, फिर दुनिया प्रगति के रास्ते पर चल निकली, यह बिलकुल ग़लत है। प्रश्न यह है कि आख़िर ऐसा विचार एक मनुष्य के दिमाग़ में क्यों आ सका, और वह सामाजिक रूप से ग्रहणीय हो सका? एच० जी० वेल्स की तरह विद्वान् लेखक भी इस बात को समझने में गड़बड़ा जाते हैं। इसलिए वे मार्क्स के कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो की भूल निकालते हैं। मार्क्स ने कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो में लिखा था कि 'मुश्किल से कोई एक शताब्दी के अपने राज्य में पूँजीवादी वर्ग ने पहले की सब पुश्तों से कहीं अधिक शक्तिशाली तथा विराट् उत्पादन की शक्तियों का निर्माण किया है।.......भला पहले की पुश्तों में से किस पुश्त को इस बात का स्वप्न में भी भान था कि संयुक्त-श्रम के गर्भों में इस प्रकार की विराट् उत्पादन शक्तियाँ प्रसुप्त हैं।" वेल्स इसका मज़ाक़ उड़ाते हुए कहते हैं "क्या खूब! औद्योगिक क्रान्ति जो यांत्रिक क्रान्ति का परिणाम था, यहाँ उसके कारण के रूप में दिखाई जाती है। क्या तथ्यों को इससे अधिक गड़बड़ाकर पेश किया जा सकता है?"[१] हमें यह देखना है कि तथ्य क्या है। इस प्रश्न के साथ आविष्कार के प्रश्न का बहुत निकट सम्बन्ध है। आविष्कार पहले हुए या उन्नति पहले हुई, यह एक व्यर्थ का पेचीदा प्रश्न है क्योंकि आविष्कारों के लिए अनुकूल परिस्थिति होने पर आविष्कार हुए, (यहाँ पर यह स्मरण रहे कि जितनी परिस्थिति आविष्कार होने के लिए उपयुक्त हो सकती है, उतनी परिस्थिति में जब वह आविष्कार हो जाय तो उसे कार्यरूप में परिणत करने और उपयोग में लाने के लिए वह यथेष्ट नहीं है, इसी लिए हम अक्सर यह भी देखते हैं कि आविष्कार तो हो गया, किन्तु उसके लिए सामाजिक आर्थिक-परिस्थिति न होने के कारण

---

१. Out look for Homospiens p. 195.

वह आविष्कार धरा रह गया, और उसका उपयोग न किया गया), फिर जब आविष्कार हुए तब उन्नति को और भी द्रुततर कर दिया।

हाब्सन किसी प्रकार का साम्यवादी नहीं था, बल्कि एक कट्टर पूँजीवादी लेखक था, किन्तु यह महाशय केवल तथ्यों के आधार पर जिन उपसंहारों पर पहुँचने के लिए मजबूर हुए, वे इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। वे लिखते हैं "कपड़े के सम्बन्ध में जितने आविष्कार हुए, उनका मन्थन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि एक-एक आविष्कार को देखा जाय, तो यह ज्ञात होगा कि वे पहले कुछ थे, और धीरे-धीरे उनमें वृद्धि होते-होते वे वर्तमान रूप में पहुँचे हैं।"– पि० आर० हाज ने हाउस आफ़ लार्ड्स के सामने गवाही देते हुए जिस बात को कहा था उसे हाब्सन ने उद्धृत किया है। उन्होंने यह कहा था "वर्तमान समय में हम जिस कातने के यंत्र का इस्तेमाल मिलों में करते हैं, उसमें ८०० आविष्कार आकर मिले हैं। इसी प्रकार वर्तमान समय में जो धुनने का यंत्र है, वह ६० पेटेन्टों का एकत्रित रूप है।" स्मरण रहे कि हाज साहब ने ऐसा १८५७ में हाउस आफ़ लार्ड्स की एक कमिटी के सामने कहा था। उस समय से न मालूम कितने और आविष्कार इन यंत्रों में सम्मिलित किये गये हैं। हाब्सन इसी बात पर ज़ोर देते हुए कहते हैं "अधिकांश आविष्कारों का इतिहास यही है। औद्योगिक परिस्थितियों का दबाव बहुत से मनों की बुद्धि को एक ऐसे बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है, जिसमें बहुत दिक्कत पड़ रही है। नतीजा यह होता है कि उस युग के सार्वजनिक ज्ञान की सतह एक होने के कारण बहुत से व्यक्ति एक ही साथ एक ही निर्णय पर पहुँचते हैं। इन बहुत से समाधानों में से वह समाधान, जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसने भाग्य की उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ लिया, सबमें विजयी सिद्ध होता है। उस आविष्कार का आविष्कर्ता—खबर देनेवाला, किसी-किसी क्षेत्र में उस आविष्कार को चुराकर समाज के सामने पेश करनेवाला कहा जाने लगता है। किसी एक महान् औद्योगिक आविष्कार में जो पहले बिलकुल शुरुआत के आविष्कार होते हैं, वे इस कारण प्रसिद्धि प्राप्त नहीं करते कि उनसे कुछ प्राप्ति नहीं होती। जब

१. Evolution of modern capitalism p. 79,

इसमें वृद्धि होते-होते वह प्राप्ति कराने के बिन्दु तक पहुँच जाता है, तभी इस बिल्कुल अन्त की वृद्धि को आविष्कार की मर्यादा प्राप्त होती है, यद्यपि पहले जो आविष्कार हुए थे, जिनके आधार पर इस सबसे अन्तिम आविष्कार की इमारत बनी, सम्भव है वे सबसे अन्तिम आविष्कार के बराबर महत्त्व के हों या उससे कहीं अधिक महत्त्व के रहे हों। आविष्कार वृद्धि में कोई भी आकस्मिक या रहस्यवादी उपादान नहीं है। आवश्यकता इसकी जननी है। इसका अर्थ इतना ही है कि यह कम से कम विरोध की पंक्ति के मार्ग से (line of least resistenec) चलती है। के० हारग्रीव्स, आर्कराइट, कार्टण्इट ने अपनी बुद्धि तथा श्रम केवल उन दिक्कतों के दूर करने में लगाया, जो उठती गईं। कपड़े के सम्बन्ध में जितने बड़े आविष्कारक थे, उनमें से क़रीब-क़रीब सभी व्यावहारिक व्यक्ति थे।........किसी दिक्क़त की बात को सोचते हुए, उस पर विचार किया; इस तरह उसके समाधान की कोशिश करते हुए, फिर उसमें असफल होकर दूसरी तरह से उसका समाधान करते हुए दूसरे, व्यावहारिक व्यक्तियों के प्रयत्न तथा असफलताओं से सबक़ लिया और उन पर उन्नति करते हुए अन्त में उस समाधान पर पहुँच गये जिससे वह खास दिक्क़त दूर होकर अभीष्ट फल प्राप्त होता था। यदि हम किसी निर्दिष्ट आविष्कार को लें, और घनिष्ठ रूप से उसकी जाँच करें, तो ज्ञात होगा कि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में कुछ-कुछ वृद्धि होते होते आविष्कार व्यावहारिकता के क्षेत्र में पहुँच गया है।"[१]

हम पहले ही बता चुके हैं कि हाब्सन किसी प्रकार भी मार्क्स के क़ायल नहीं हैं, किन्तु उन्होंने जिस प्रकार आविष्कार के द्वन्द्ववाद को स्पष्ट किया है, वह बहुत ही सुन्दर है। हाव्सन के उद्धरण के बाद यही पूछने की इच्छा होती है कि मार्क्स तो खैर गुमराह थे, किन्तु हाव्सन ने क्यों ऐसी बात कही।

ब्रुक्स एडम ने, अपनी The law of civilisation and decay में यह स्पष्ट कर दिया है कि आविष्कार अनुकूल परिस्थिति के बिना कोई महत्त्व नहीं रखता। वे लिखते हैं—'प्लासी का युद्ध १७५७ में हुआ, और सम्भवतः उससे होनेवाले परिवर्तन की गति की कोई तुलना नहीं हो सकती।

---

१ Ibid p. 80

सन् १७६० ई० में करघे में ढरकी को अपने आप चलानेवाले यंत्र का आविष्कार हुआ, तथा भट्टी के लिए अब लकड़ी की जगह पत्थर के कोयले का इस्तेमाल होने लगा। सन् १७६४ में हार्ग्रीव्ज ने सूत कातनेवाली कल का आविष्कार किया। सन् १७७६ में क्राम्पटन ने सूत कातने का उन्नततर यंत्र बनाया, तथा सन् १७८५ में कार्टराइट ने कलद्वारा चलानेवाला करघा बनाया। सन् १७६८ में जेम्स वाट ने इन सबसे मुख्य भाप के इंजिन को जन्म दिया जो शक्ति को केन्द्रित करने के सब साधनों में सबसे अधिक सर्वांगपूर्ण था। यद्यपि इन कलों का आविष्कार हो गया; किन्तु वे स्वयं कार्यशील न हो सके। आविष्कार स्वयं निष्क्रिय होते हैं। उनमें से कई महत्त्वपूर्ण आविष्कार शताब्दियों तक सुप्त पड़े रहते हैं, और ऐसी शक्ति के पर्याप्त भण्डार के संचित होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जो उन्हें कार्यान्वित करे।...भारतीय धन के बहाव और उससे उत्पन्न होनेवाले ऋण के प्रसार के पहले इन आविष्कारों को कार्यान्वित करने की पर्याप्त शक्ति मौजूद नहीं थी, और यदि जेम्स वाट पचास वर्ष पहले उत्पन्न होते, तो वे और उनके आविष्कार अवश्य साथ ही साथ लुप्त हो जाते।.....। सम्भवतः सृष्टि के प्रारम्भ होने के समय से किसी पूँजी के प्रयोग से उतना लाभ नहीं उठाया गया, जितना भारतीय लूट से उठाया गया, क्योंकि लगभग पचास वर्षों तक इँगलैंड बिना प्रतिद्वन्द्वी के रहा।'[१]

२५—युद्ध के सम्बन्ध में विज्ञान का उत्तरदायित्व—आमतौर पर विज्ञान तथा यंत्र की निन्दा के रूप में युद्धों का हवाला दिया जाता है और कहा जाता है कि यदि वैज्ञानिक उन्नति न होती तो इस प्रकार का आम नर-संहार सम्भव न होता। पहले जहाँ, तलवार पर तलवार, तीर पर तीर (स्मरण रहे तलवार तथा तीर भी प्रागैतिहासिक हथियारों की तुलना में बड़ी उन्नति थी) चलते थे, अब उनकी जगह पर बीसियों मीलों तक मार करनेवाली तोपें हैं। पहले की दीवारों को तोड़ने के लिए ढेंकी की जगह अब डिनामाइट तथा न मालूम कितने उन्नत अस्त्र हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९१४-१८ के महायुद्ध तथा १९३९ के महायुद्ध में एक-एक दिन में एक एक मोर्चे पर जो संहार हुआ है उसकी तुलना में कुरुक्षेत्र तथा पानीपत बच्चों के खेलमात्र हैं। फिर महाभारत का इतना

१. कम्पनी के काले कारनामे—बी० डी० बसु पृ० १०५-६

बड़ा युद्ध केवल १८ दिन हुआ था और अब युद्ध वर्षों, हजारों मीलों के मोर्चे पर, चलते हैं। इसलिए स्वाभाविक रूप से यंत्र के विरुद्ध Prima facie एक मुक़दमा तो तैयार हो ही जाता है। इस आधार पर यंत्र को गालियाँ देना बहुत आसान रहा है। किन्तु यदि गहराई तक देखा जाय तो क्या इसमें यंत्रों का दोष है या यंत्रों को इस्तेमाल करनेवालों का ही दोष है? आखिर ये यंत्र हैं क्या? वे मनुष्य के ही बनाये हुए हैं न? मार्क्स ने पूँजी में सामग्रियों के बुतों में परिणत कर दिये जाने की बात कही है। उसमें उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार मनुष्यों ने अपनी पैदा की हुई सामग्रियों को बुतों में इस प्रकार परिणत कर दिया है कि उनके सम्बन्धों को मनुष्यों के सम्बन्धों के रूप में देखने के बजाय उनको वस्तुओं का सम्बन्ध समझ रक्खा है और उनके मुक़ाबिले में अपनी बेबसी का अनुभव करते हैं। यही हाल यंत्रों के बारे में है। बजाय यह समझने के कि लड़ाई का यह पहलू तोप आदि चलानेवालों का पारस्परिक सम्बन्ध है, वे ऐसे पेश आते हैं मानो लड़ाई तोपों का ही पारस्परिक सम्बन्ध हो और मनुष्य इसके मुक़ाबिले में बिलकुल विवश हो।

२६—**विज्ञान का वर्गचरित्र**—मनुष्य जाति की वैज्ञानिक उन्नति का यह एक दुखान्त हिस्सा रहा है—और यह समाज में वर्गों के विभाजन को देखते हुए अनिवार्य भी था—कि यंत्रों की उन्नति पर शोषक वर्ग का एकाधिकार रहा, और इस वर्ग ने केवल अपने अधीन शोषितों को दबा रखने में ही नये-नये हथियारों का प्रयोग नहीं किया, बल्कि बराबर दुनिया की लूटमार पर अपना एकाधिकार जमाने के लिए आपस में भी इन खूनी हथियारों का व्यवहार किया है। जब पूँजीवादी विज्ञान या वर्ग विज्ञान की बात कही जाती है तब उसका अर्थ यह नहीं होता कि चन्द्रमा पूँजीवादियों या शोषकों के लिए तो २९ दिन में और शोषित के लिए ३१ दिन में पूर्णिमा में पहुँचता है, बल्कि उसका मतलब केवल ऐसे ज्ञान के उपयोग से है। यदि आल्प्स या हिमालय को मनुष्य के लिए मार्ग देने के निमित्त डिनामाइट का प्रयोग किया जाता है तो वह पूँजीवादी प्रयोग नहीं है, किन्तु यही मार्ग इसलिए प्राप्त किया जाय कि आल्प्स तथा हिमालय के उस पार के लोगों पर हमला कर उनका शोषण किया जाय तब वह अवश्य लुटेरा विज्ञान होगा। जब विज्ञान की प्रयोगशाला में उत्पादन-शक्ति भी बढ़ाने

के लिए केवल इसलिए खोज होती है कि मुनाफ़े की मात्रा बढ़े तब उस खोज का नर-संहार से सम्बन्ध न होते हुए भी वह पूँजीवादी विज्ञान ही होगा।

कई जगह जहाँ पर पूँजीवादी वर्ग बनाम आम जनता या मज़दूरवर्ग का प्रश्न आता है वहाँ पर हम यह देखते हैं कि विशेषज्ञगण अपने प्रभु का राग अलापते हैं। किसी खान में कोई दुर्घटना हुई, कहीं गाड़ी लड़ गई, या किसी जगह कारखाने में विस्फोट हुआ, तो फ़ौरन किराये के विशेषज्ञ यह कहने लगते हैं कि विपत्ति से रक्षा के लिए जो सम्भव उपाय थे वे काम में लाये गये थे, फिर भी दुर्घटना हो गई। इसके विपरीत कुछ विशेषज्ञ यह भी कहते हैं कि यथेष्ट एहतियात नहीं किये गये इसलिए ऐसा हुआ, अतएव इस दुर्घटना से क्षतिग्रस्त लोगों को हर्जाना दिया जाय। हमें यहाँ इस बात से मतलब नहीं कि किस अवसर पर कौन अधिक सत्य के निकट होता है, किन्तु इससे विज्ञान का वर्ग-चरित्र तो स्पष्ट ही हो जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन चीनियों में तीन तरह की संख्याएँ थीं (Set of numerals), एक संख्या राज-कर्मचारियों के लिए थी, दूसरी विज्ञान के लिए थी, तीसरी नागरिक व्यापारियों के लिए थी। यह तथ्य ऐसा है जिस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

विज्ञान के वर्ग चरित्र से इन्कार कर बहुत से लोग यह जो कहते हैं कि वैज्ञानिक तो योगी की तरह बहुत निस्पृह है, उसे तो घटनाओं तथा वस्तुओं का अध्ययन भर करना है, उनके आन्तरिक नियमों का उद्घाटन करना है, उसे वर्ग और वर्गस्वार्थ से भला क्या मतलब है, यह बिल्कुल ग़लत है, क्योंकि वैज्ञानिक इन सबके अलावा और भी कुछ है। विज्ञान का काम केवल प्राकृतिक रहस्यों का निःस्पृह उद्घाटन नहीं, है बल्कि जान-बूझकर इस ज्ञान के ूते पर प्राकृतिक घट-नाओं में हस्तक्षेप करना है। विज्ञान विज्ञान ही न होगा, यदि उसमें न भविष्य-वाणी की शक्ति रहे और न प्रकृति में सज्ञान हस्तक्षेप की क्षमता। इस दृष्टि से देखने पर वैज्ञानिक एक निष्क्रिय विद्याव्यसनीमात्र नहीं रह जाता, बल्कि वह समाज का सज्ञान निर्माता के रूप में हमारे सामने आता है। कहना न होगा कि यह निर्माण-कार्य वह मौजूद सामाजिक परिस्थितियों के अन्दर ही कर सकता है, अर्थात् ऐसा करने में उसे किसी न किसी दल को, किसी न किसी वर्ग या गुट को अपनाना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्योंही कर्मक्षेत्र में उतरेगा

अर्थात् ज्योंही वह अपनी गवेषणाओं के परिणामों का उपयोग प्रकृति में सज्ञान हस्तक्षेप की दृष्टि से करेगा त्योंही मौजूद समाज के झगड़ों में फँस ही कर रहेगा, क्योंकि उसकी खोज आदि के लिए साधन शासकवर्ग ही जुटावेगा, तथा शासक-वर्ग के बाज़ार की कसौटी पर ही उसके गुणों का परिचय प्राप्त होगा। उसी के अनुसार उसकी क़दर होगी। इस दृष्टि से देखे जाने पर समाजवाद के अधीन भी विज्ञान का वर्ग-चरित्र क़ायम रहेगा; क्योंकि उस समय विज्ञान का उपयोग आम जनता की अधिक से अधिक भलाई तथा प्रतिक्रान्तिकारियों की चेष्टाओं को व्यर्थ करने में किया जायगा। समाजवाद के अधीन फिर भी विज्ञान का यह वर्गचरित्र पूँजीवादी समाज के अधीन उसके वर्गचरित्र से श्रेष्ठतर इसलिए होगा कि एक तो प्रथमोक्त में विपुल बहुसंख्या की भलाई का दृष्टिकोण रहेगा, और दूसरा यह कि सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की शर्त ही यह है कि वह अपनी मुक्ति के साथ साथ क़रीब-क़रीब सारे समाज को मुक्त कर दे। वर्गहीन समाज में ही विज्ञान वर्ग-चरित्रहीन होगा, अवश्य इसके पहले भी आमतौर से नहीं किन्तु किसी विरल क्षेत्र में विज्ञान declassed हो सकता है, किन्तु फिर भी सामाजिक रूप से उसका वर्गचरित्र होगा।

२७—क्या युद्ध एक जीव वैज्ञानिक आवश्यकता है?—युद्ध के सम्बन्ध में विज्ञान का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, यह तो हम पहले ही देख चुके। इस सिलसिले में यह भी देखना प्रासंगिक होगा कि युद्ध एक जीव वैज्ञानिक आव-श्यकता है या नहीं। बात यह है बहुत से युद्धवादियों ने कहा है कि युद्ध मनुष्य की उच्चतम भावनाओं को—त्याग, आत्म-बलिदान आदि भावनाओं को—कार्यरूप में आने का मौक़ा देता है, इसी कारण बहुत-सी उन्नतियाँ फुर्ती से होती हैं, बहुत से नये रास्ते खुलते हैं (जैसा बर्मा सीमान्त पर १९३९ के महायुद्ध में हुआ) इसलिए युद्ध जरूरी है। हम पहले देखेंगे कि जीव वैज्ञानिक आवश्यकता कहाँ तक है। जूलियन हक्सले ने लिखा है कि युद्ध झगड़ा या रक्तपात ही नहीं है, बल्कि यह एक ही प्राणिजाति के अन्दर के टुकड़ों के बीच लड़ाई है। 'जिस समय दो हिरन हिरनियों के लिए लड़ रहे हैं, एक मनुष्य दूसरे का क़त्ल कर रहा है, एक दर्जन कुत्ते एक हड्डी पर लड़ रहे हैं तो उसे, जिस अर्थ में हम यहाँ युद्ध शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं उस अर्थ में, युद्ध नहीं कह सकते। दो भिन्न प्राणी

जातियों में जिस समय प्रतियोगिता हो रही है तो उसे भी हम युद्ध नहीं कह सकते, चाहे उसमें शारीरिक लड़ाई हो या हाथापाई। जिस समय यूरोप में भूरा चूहा आकस्मिक रूप से लाया गया, और इन चूहों ने काले चूहों का नाश शुरू किया तो उसे भी युद्ध नहीं कह सकते। जिस समय एक प्राणी जाति दूसरी प्राणी जाति का शिकार कर रही है, उस समय तो उसे हम और भी कम अर्थ में युद्ध कह सकते हैं, चाहे वह विनाश संगठित रूप में ही होता हो। भेड़ियों का झुण्ड यदि हिरनों या भेड़ों के झुण्ड पर टूट पड़े या पोरेग्रीन (poregrine) बत्तखों पर टूट पड़े तो वह भी युद्ध नहीं है। हक्सले ने यह भी दिखलाया है कि दो ही तरह के प्राणी हैं जिनमें युद्ध होता है। इसके ब्यौरे में न जाकर हम इतना बता दें कि चीटियों का युद्ध बहुत थोड़े दिन चलता है। मैककूक नामक पिपीलिका-विशारद ने चींटियों की एक लड़ाई फ़िलेडेल्फिया के पेनस्क्वायर में देखी थी जो तीन हफ्ते तक चलती रही। इतिहास में जो सबसे लम्बी चींटियों की लड़ाई देखी गई है, वह ६½ सप्ताह तक चली थी। जीव-विज्ञान में युद्ध किस प्रकार एक नियम है, वह इतने से स्पष्ट हो जाता है। हक्सले लिखते हैं कि इस प्रकार युद्ध प्रकृति का सार्वदेशिक नियम, यहाँ तक कि आम घटना, होने के बजाय जीवित प्राणियों में बहुत ही विरल घटना है। डारविन के Survival of the fiittest योग्यतम का जीवन संग्राम में विजयी होने के नियम का उपयोग लड़ाई के समर्थन में किस प्रकार किया जा सकता है, इसका आभास हम पहले ही दे चुके हैं, साथ ही यह भी बता चुके हैं कि इस उपयोग में कहाँ तक यथार्थता है। युद्ध तो एक ही प्राणी जाति के अन्तर्गत आपसी लड़ाई है। यदि सारी प्राणी जाति की दृष्टि से देखा जाय तो यह उस प्राणी जाति के विकास के मार्ग में बाधक होगा, न कि साधक। साथ ही हक्सले ने यह भी कहा है कि सभी क्षेत्रों में युद्ध बुरा नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस तर्क को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि बर्बर युग की, कबीले की, सतह पर रहते हुए लोगों में युद्ध कदाचित् प्राणी जाति के लिए अच्छा रहा हो, क्योंकि इससे मनुष्यता के सद्गुणों को मिश्रित होने का मौक़ा मिलता। यों तो एक समाज दूसरे समाज के लिए साधारण रूप से बन्द होता था। इसके लिए हक्सले ने यह भी कहा है कि उस युग में जन-संख्या के अत्यन्तिक दबाव तथा दूसरी तरह से युद्ध की कदाचित् कुछ भलाई रही हो।

वे यह भी कहते हैं कि प्रागैतिहासिक युग के लोग युद्ध करते थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके जो प्राचीनतम औज़ार प्राप्त हुए हैं, वे शिकार के ही उपयुक्त हैं न कि युद्ध के। यहाँ पर हक्सले कदाचित् कुछ अधिक आशावाद से काम ले रहे हैं, क्योंकि मनुष्य मारने के आदिम हथियार में और पशु का शिकार करने के आदिम हथियार में किसी प्रकार का फ़र्क़ होने की आशा कैसे की जा सकती है।

जिस पत्थर के हथियार से एक पशु का चमड़ा उधेड़ा जा सकता था, उससे आदमी का भी चमड़ा उधेड़ा जा सकता था। अवश्य हक्सले इस अर्थ में सही हैं कि जैसे आजकल एक हथियार से सामूहिक हत्या हो सकती है, वैसे उस युग के हथियार से नहीं हो सकती थी, किन्तु इसका केवल यह अर्थ निकालना कदाचित् उचित न होगा कि उस युग में सामूहिक हत्या नहीं थी, बल्कि इसका यही अर्थ निकालना उचित होगा कि उस युग में आजकल के अर्थ में सामूहिक हत्या के साधन नहीं थे। आज रेकों में नरबलि पत्थर की छुरी से दी जाती थी, यह हमें मालूम है। इसके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। फिर भी हक्सले का इस सम्बन्ध में पूरा वक्तव्य जानने लायक़ है। वे लिखते हैं 'बस्तीवाली सभ्यता के पहले के सोपान में संगठित युद्ध का सूत्रपात न हुआ होगा, यही अन्दाज़ है। जैसे चीटियों में लड़ाई केवल सम्पत्ति के लिए होती है, वैसे ही मनुष्यों में सम्पत्ति के लिए ही लड़ाइयाँ हुई हैं। जो हो, जब मनुष्यों ने नगरों में रहना और सम्पत्ति बटोरना सीख भी लिया, तब भी लड़ाई अनिवार्य रूप से होती ही थी, यह बात नहीं है। ई० पू० ३,००० वर्ष के समय की सिन्ध सभ्यता में युद्ध का कोई चिह्न नहीं मिलता। इसी प्रकार चीनी सभ्यता के प्रारम्भिक युग में तथा पेरू की इन्का सभ्यता में लड़ाई बिलकुल अज्ञात थी, ऐसा मालूम होता है।"[१]

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि एक जीव वैज्ञानिक की दृष्टि में लड़ाई की क्या वैज्ञानिक हैसियत है। किन्तु कहीं हमारा मतलब ग़लत न समझा जाय इसलिए, कुछ अप्रासंगिक हो जाने की आशंका हो जाने पर भी—(और हक्सले ने भी यह बात दूसरे अर्थ में कही है)—यह कह दिया कि युद्ध जीव-वैज्ञानिक

---

१. Dawn 15 Oct. '44

आवश्यकता हो या न हो, जैसा समाज अब बन चुका है, उसमें युद्ध अनिवार्य है। युद्ध तभी असम्भव होगा जब वर्गशोषण का अन्त हो जाय, किन्तु उस सोपान तक हम वर्गयुद्धों—जिनका रूप कभी गृहयुद्ध और कभी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होगा—के ज़रिये ही पहुँच सकते हैं।

युद्ध के सम्बन्ध में एक बात तो ऐतिहासिक रूप से ज्ञात होती है कि कई क्षेत्रों में इसके कारण सभ्यता का प्रचार हुआ है, सभ्यता से हमारा मतलब यहाँ पर किसी आध्यात्मिक बात से नहीं है, बल्कि उन्नतर आर्थिक पद्धति से ही है। मिस्र के द्वितीय राजवंश के फरउनों ने अपने को सिनाई की चट्टानों पर अभागे बद्दूओं को मारते हुए चित्रित कराया है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञात है कि सिनाई में जो ताँबा होता था, उसको निकालने के लिए मिस्र से मज़दूर भेजे जाते थे। सुमेर और अक्काड के सम्बन्ध में ज्ञात है कि उनकी तरफ़ से इलाम-वालों पर हमले हुए। चाइल्ड ने लिखा है कि बैबीलोनिया को एक करने के अतिरिक्त आगाडे के सारगन ने इधर-उधर के भूभागों पर आर्थिक उद्देश्यों से हमले किये। 'उनके अपने अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने सेडर के वनों (लेबनान?) तथा चाँदी की खानों (तूर?) पर हमले किये। बाद के एक लेख से ज्ञात है कि वे कप्पाडोसिया में वहाँ के धातु के व्यापारियों की मदद के लिए बुलाये गये थे, ... और भी बाद के एक लेख से ज्ञात है कि सारगन की जीतों में एक टीन का देश भी था। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इलाम के धातु-उत्पादक ज़िलों पर क़ब्ज़ा कर लिया तथा अपने राज्य को कैस्पियन या भूमध्य-सागर से फ़ारस की खाड़ी तक फैलाया। इस प्रकार उन भूभागों को अपने अन्दर ले लिया जिन पर बैबीलोनिया निर्भर था।' चाइल्ड ने ही दिखलाया है कि इन क्षेत्रों में तथा अन्य कई क्षेत्रों में युद्धों के कारण शहरी सभ्यता फैली। असेरिया में, निनवे में सारगन के प्रपौत्र ने, कहा जाता है कि, एक मन्दिर बना-कर इसी प्रकार शहरी सभ्यता की स्थापना की। उन्होंने कहा है कि बाइबिल के इस वाक्य में काफ़ी सत्य है कि अश्शुर सार (सुमेर) से निकलकर निनवे का निर्माण करते हैं। अभी तक अत्यन्त आधुनिक इतिहास में भी इस बात का प्रमाण मिल सकता है कि बहुत-सी जातियों ने अपने यहाँ की ख़ानों की क़दर नहीं की, जल-प्रपातों का शोषण नहीं किया, ज़मीनों की ढंग से बोआई आदि

नहीं की; किन्तु बाहर से विजेताओं ने आकर ये काम किये, और देश के लोगों को ये काम सिखाये। इस कथन का अर्थ यह कदापि न लगाया जाय कि हम शोषण का समर्थन कर रहे हैं, बल्कि हमारा कथन इतना ही है कि ये बातें तथ्य हैं। जिन विजेताओं ने इन नई बातों का प्रवर्तन किया उन्होंने शोषण की दृष्टि से ही इनका प्रवर्तन किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य, ज़ार का साम्राज्य, संक्षेप में किसी भी उन्नततर आर्थिक पद्धतिवाली जाति के साम्राज्य-विस्तार में हम इस बात को देख सकते हैं। जब विजेता की आर्थिक पद्धति विजितों की आर्थिक पद्धति से अच्छी होगी, तो इस प्रकार की उन्नति अनिवार्य है, ऐसा ही सर्वत्र हुआ है।

नेपोलियन के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वे सफ़ेद घोड़े पर चढ़कर प्रगति के मूर्तरूप में यूरोप में फैलते गये, यह इसी अर्थ में सत्य है कि फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप जो बुर्जुआ फ्रांस अस्तित्व में आया, उसके प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने सामन्तवादी यूरोप के विरुद्ध मोर्चा लिया। इसी प्रकार यह भी माना गया है कि लाल नेपोलियनवाद भी हो सकता है, यानी यदि कोई प्रबल पराक्रान्त समाजवादी देश हो तो, उसकी तरफ़ से मुक्ति सेना सफलतापूर्वक बिलकुल परिपक्व दृश्यगत अवस्थाओं की हालत में समाजवाद की स्थापना अपने देश के बाहर भी कर सकती है। सच तो यह है कि सब बातें जो कही गई हैं वे युद्ध की प्रशंसा में नहीं, बल्कि केवल इसी बात को ज़ाहिर करती हैं कि जैसी शक्ति विजयी होगी, वैसी ही शक्ति का दौरदौरा बाद को होगा। उदाहरणार्थ यदि फ़ैसिस्ट शक्तियाँ १९३९ के युद्ध में विजयी होतीं तो सारा जगत् फासिवाद की ओर जाता; किन्तु समाजवादी रूस विजयी हुआ, या यों कहा जाय कि जिस हद तक विजयी हुआ उसी हद तक दुनिया समाजवाद की ओर बढ़ी। इसीसे युद्ध के लिए विज्ञान को दोष देना उचित न होगा, बल्कि युद्ध को एक हथियारमात्र समझकर जैसी शक्ति के हाथ में विजय जावेगी वैसा ही परिणाम होगा, यह कहा जा सकता है। युद्ध के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक तर्क दिये जाते थे, उन्हें हम देख चुके।

२८—मुनाफ़ा पूँजीवादी विज्ञान का परिचालक—विज्ञान के वर्गचरित्र के सम्बन्ध मे आलोचना करते समय हम देख चुके कि स्वयं विज्ञान में कोई बात

पूँजीवादी या सर्वहारा नहीं है किन्तु विज्ञान जिस पृष्ठभूमि में उदित होता है, पनपता और बढ़ता है, साँस लेता है, वह यदि शोषकवर्ग के हित की है और शोषितों के पैर की जंजीरों को मजबूत करने के लिए है तो वह शासक वर्ग का विज्ञान है। एंगेल्स ने 'फ़्रांस में वर्गयुद्ध' नामक अपनी पुस्तक में दिखलाया है कि किस प्रकार ज्ञान-विज्ञान तथा विशेषकर अस्त्र-शस्त्रों की विपुल उन्नति के कारण जनक्रान्ति पहले के मुक़ाबिले में कठिन हो गई। केवल विज्ञान का शासकवर्ग के हित में ही इस्तेमाल होने पर वह पूँजीवादी विज्ञान कहलाता है, यह नहीं बल्कि वर्तमान युग में तो विज्ञान की उन्नति तथा विकास भी बहुत कुछ पूँजीवादी वातावरण में होता है, इसलिए यद्यपि उनके निकाले हुए नियम सब वर्गों के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से होते हैं, और सभी लोग उससे बराबर फ़ायदा भी उठा सकते हैं, फिर भी उसके ऊपर अपने जन्म की छाप रह ही जाती है और कार्यरूप में वह केवल एक ही वर्ग यानी शासकवर्ग के फ़ायदे की चीज होती है। उदाहरणार्थ गन्दे से गन्दा काम जैसे टट्टी साफ़ करना समाज के लिए बहुत उपयोगी होने पर भी वैज्ञानिकों ने इस पर दिमाग़ नहीं खपाया कि किस प्रकार अधिक से अधिक सफ़ाई के साथ, बिना गन्दगी में सने यह काम किया जा सकता है। पूँजीवादी विज्ञान को इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी कि भंगी का दु:ख घटे या उसकी मर्यादा बढ़े, यह इसलिए कि ऐसे आविष्कार में मुनाफ़े की वृद्धि के रूप में कोई उत्तेजना नहीं थी। इस सम्बन्ध में जब उन्नति भी हुई जैसे फ्लश पद्धति इत्यादि का आविष्कार हुआ तो वह भी कोई भंगी (एक प्रकार के मजदूर) की दृष्टि से नहीं बल्कि धनियों के आराम की दृष्टि से। ऐसे बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ वैज्ञानिक सिर खपाते तो कोई न कोई सुन्दरतर तरीक़ा निकालते किन्तु उसमें मुनाफ़े की सम्भावना न होने के कारण अर्थात् उसकी खपत की सम्भावना न होने के कारण वैज्ञानिकों की दृष्टि उन विषयों पर गई ही नहीं। इस प्रकार पूँजीवादी विज्ञान का नारा केवल एक काल्पनिक नारा नहीं बल्कि हर पहलू से सही नारा है।

कुछ स्वतंत्र विचारवाले लेखकों को विज्ञान के पूँजीवादी चरित्र से इतना क्रोध आया कि वे कई बार यह नारा देते रहे कि ऐसी हालत में विज्ञान यदि नष्ट हो जाय तो कोई हर्ज़ नहीं। कहना न होगा इस प्रकार के निष्फल तथा आदर्शवादी क्रोध से किसी का कुछ बिगड़ता नहीं है और पूँजीवादी वर्ग रूपी

हाथी अपने रास्ते चलता जाता है। इस समस्या का क्या समाधान होना चाहिए, यह न समझ पाने के कारण इन लोगों ने ऐसा ऊलजलूल नारा दिया कि विज्ञान को ही नष्ट कर दिया जाय। अध्यापक हक्सले ने १९वीं सदी में ही कहा था कि 'आधुनिक सभ्यताओं में से जो सबसे अच्छी है उसमें मुझे ऐसा जान पड़ता है, न तो कोई उचित आदर्श ही है और न कोई स्थायित्व ही। मैं यह कहने में हिचकता नहीं हूँ कि यदि मानवीय परिवार की अधिक संख्याकीअवस्था में कोई विशेष उन्नति की आशा न हो, तथा यदि यह सत्य है कि ज्ञान की वृद्धि प्रकृति पर अधिकतर प्रभुत्व तथा इसके फलस्वरूप जो विपुल धन की वृद्धि होती है, उससे जनता के अधिकांश लोगों की शारीरिक और मानसिक अवनति जैसी की तैसी बनी रही, तो किसी समय धूमकेतु के आगमन का मैं स्वागत करूँगा कि वह आकर सर्वनाश कर दे।' इस पर टिप्पणी करते हुए वेनजमिन कीड कहते हैं कि योरपीय समाज के अन्तस्तल से यह बात निकल रही है। मोशिये लावले ने इस भावना को यों व्यक्त किया था। १८वीं सदी ने मनुष्य से कहा कि 'तू अभिजातों और जातियों का गुलाम न रहा, तू स्वतंत्र है।' किन्तु हमारे युग की समस्या यह है कि यह तो अच्छी बात है कि 'हम मुक्त और स्वतंत्र रहे, किन्तु इसका क्या कारण है कि मुक्त और स्वतंत्र अक्सर भूखों मरता है। यह क्या बात है कि जो लोग सब शक्तियों के उत्सस्थल हैं, वे अक्सर कड़ी मेहनत करने पर भी अपने लिए जरूरी चीजें जुटा नहीं पाते।'[१] मोशिये लावले ने हक्सले के मुक़ाबिले में (हक्सले का यह लेख मई १८९० के Ninteenth century में प्रकाशित हुआ था) समस्या को अधिक अच्छी तरह समझा है और केवल निष्फल क्रोध दिखला कर नहीं रह गये हैं, किन्तु उन्होंने भी यह नहीं बताया कि इस विषमता को तथा उनकी समझ में अन्याय को दूर कैसे किया जाय। यह काम मार्क्स तथा उनके अनुयायियों ने ही किया है।

२९—**विज्ञान शासकवर्ग का गुलाम**—विज्ञान ने न मालूम क्या क्या आविष्कार किये, किन किन दुःसाध्य रोगों के इलाज के साधन निकाले, रेडियो आदि लोकशिक्षा के कितने ही उपायों का आविष्कार किया, किन्तु जिसे आम जनता कहेंगे उसे कहीं भी ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि इनमें बहुत खर्च पड़ता

१. Social Evolution p. 4

है। सच तो यह है कि लगे हाथों इनसे आम जनता को चाहे कुछ फ़ायदा हो जाय, रेल, तार, टेलिफोन, रेडियो, सिनेमा यहाँ तक कि शिक्षा का नियंत्रण शासकवर्ग अपने शासन को स्थायी बनाने के उपायों के रूप में करता है। कार्ल मार्क्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में यह बात साफ़ कर दी है कि पूँजीवादीवर्ग के अस्तित्व का अपरिहार्य तक़ाज़ा उत्पादन के साधनों में निरन्तर उन्नति करना है। यही उसके स्थायित्व की शर्त है। मामूली समय पर रेल तार आदि से शासक वर्ग को क्या फ़ायदा है, यह मालूम नहीं होता किन्तु किसी विद्रोह के समय इनसे सरकार को क्या फ़ायदा रहता है, यह स्पष्ट है। रेल, तार इत्यादि कहाँ कहाँ हैं, इसका भी यदि अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ उनकी सबसे अधिक ज़रूरत है वहीं वे हों ऐसी बात नहीं। बहुत-सी रेलें इत्यादि तो बिलकुल सामरिक दृष्टि से बनाई गई हैं, वे घाटे में चलती हैं। सच तो यह है कि शासकव र्ग जो कुछ भी सुविधाएँ आम जनता के लिए देता हुआ मालूम होता है, वे सबकी सब अपने ही व्यापारिक या सामरिक फ़ायदे की दृष्टि से हैं। इस बात को तो एक मामूली पुल की बनावट की जाँच से ही हम अच्छी तरह जान सकते हैं। हर एक महत्त्वपूर्ण पुल सामरिक दृष्टि से भी बना हुआ होता है, उसमें गोली चलाने के सुराख आदि इस बात के प्रमाण हैं।

३०—**यंत्र विज्ञान का सूत्रपात**—आगे हम संक्षेप में विज्ञान की उन्नति का इतिहास देंगे, क्योंकि इसके बिना जाने समाज के विकास को समझना सम्भव न होगा। यदि साथ साथ वैज्ञानिक उन्नति न होती रहती तो मनुष्य के सारे विचार और आदर्श रक्खे रह जाते, क्योंकि बिना नये उत्पादन के साधनों के कोई गहरा सामाजिक परिवर्तन सम्भव न था। जब तक मनुष्य केवल प्रकृति की भिक्षा पर निर्भर था तब तक वह अन्य पशुओं की श्रेणी में था। फिर जब वह केवल बाहरी शक्तियों को अति प्राकृतिक समझकर उनकी पूजा करता था या उनसे डरता था तब भी उसकी दशा कुछ अच्छी नहीं थी। जब वह समाज की परिचालना को अपने हाथ में लेने लगा तभी से वह मुक्त होने लगा। धीरे धीरे वह ठोकरें खा खाकर आवश्यकता की उत्तेजना के कारण प्रकृति के नियमों से परिचित होने लगा और इस ज्ञान के कारण प्रकृति के ऊपर अपने शासन का विस्तार करने लगा। शासन के विस्तार के स्वरूपों में यंत्रों का आविष्कार एक प्रमुख

बात है। बात यह है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ एक हद तक ही काम दे सकती हैं। इसके आगे का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके प्रसार की आवश्यकता है। वैज्ञानिक यंत्रों के आविष्कार ने इस आवश्यकता की पूर्ति बराबर की है, इसका नतीजा यह हुआ कि मनुष्य जहाँ केवल खाली आँखों से आकाश के कुछ ही ग्रहों, नक्षत्रों को, सो भी असम्पूर्णरूप से और धुँधले तरीक़े से देख पाता था, वहाँ अब हज़ारों नक्षत्रों को दूरवीक्षण यंत्र की सहायता से देख सकता है। इसी प्रकार मनुष्य एक हद तक ही छोटी चीज़ों को देख सकता है, किन्तु अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से वह छोटे से छोटे कीटाणु को देखने में समर्थ हुआ है। यों वैज्ञानिक यंत्र हमारी ज्ञानेन्द्रियों को प्रसारित तथा पैनी कर देते हैं। फिर केवल ज्ञानेन्द्रियों को प्रसारित करने की ही बात नहीं है, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जिस वस्तु के अस्तित्व को जान नहीं सकतीं उसको हम यंत्रों की सहायता से दूसरे तरीक़े से जान सकते हैं।[१] उदाहरणार्थ एक लटका हुआ चुम्बक बेतार की एक ऐसी तरंग (Wireleas wave) का पता लग सकता है जिसको हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उसकी सहायता के बग़ैर नहीं जान सकती थीं। वैज्ञानिक यंत्रों के अतिरिक्त जिन यंत्रों से मनुष्य निरीक्षण नहीं करता बल्कि अपनी ताक़त (कर्मशक्ति) बढ़ा लेता है, जैसे पैर से चलने के बजाय हवाई जहाज से चलना। इनसे जिस प्रकार उसकी उन्नति आसान हो जाती है, उसका वर्णन अन्यत्र हो चुका है। जो हो, यंत्र को भी एक बुत बनाकर उसकी पूजा करने की चेष्टा भी उतनी ही ग़लत है जितना उसको शैतान समझकर तिरस्कार करना। यंत्र चाहे कितने भी सूक्ष्म या शक्तिशाली हों, किसी न किसी रूप में उनका अन्तिम सम्बन्ध हमारी ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों से होगा, और यंत्रों को हम समाज से अलग करके नहीं देख सकते।

पहले पहल जब मनुष्य ने कुछ उन्नत यंत्र का आविष्कार किया तो "यंत्र पर ध्यान रखना, उसकी क्रियाओं पर पहरा देना और उसकी ग़लतियों को सही करने के अतिरिक्त उसे अपने अन्दर से ही परिचालिका शक्ति देनी पड़ती थी।"[२] यों तो यंत्र विद्या की उत्पत्ति आर्कमीडिस के हाथों से हुई बत-

१. The Anatomy of modern Science-Bernahard Bavin p. 29

२. Capital volume I chapter XIII p. 395

लाई जाती है, क्योंकि उन्होंने लीवर तथा पानी उठाने के लिए अन्तहीन स्क्रू का आविष्कार किया था, किन्तु यंत्र विद्या की उन्नति उसी युग से समझना चाहिए जब परिचालिकाशक्ति के लिए मनुष्य केवल अपनी या घोड़ा, बैल आदि की शक्ति का नहीं बल्कि प्राकृतिक शक्तियों का भी उपयोग करने लगा। इस प्रकार पहले के चालीस, सौ या दो सौ डाँड़वाले बजरे के मुक़ाबिले में, जिसमें सौ दो सौ आदमी बैठ सकते थे, दो आदमी की जगहवाली पालवाली नाव एक उन्नत वस्तु है। यह इसलिए कि पालवाली नाव में मनुष्य ने एक प्राकृतिक शक्ति (हवा) को अपने कार्य के लिए लगा लिया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यंत्र-विद्या की उन्नति में नई नई प्राकृतिक शक्तियों को व्यापकतर रूप में जोतने से ही यंत्र विज्ञान के इतिहास में नये नये अध्यायों की सूचना होती है।

३१—यांत्रिक उन्नति सिलसिलेवार नहीं—मनुष्य जाति के इतिहास में यांत्रिक उन्नति कोई सिलसिलेवार तरीक़े से होती रही हो, यह बात नहीं। कई बार कई आविष्कार हुए किन्तु उन पर कोई उन्नति नहीं हुई, केवल यही नहीं, वे लुप्त भी हो गये। आगाफोनोफ ने लिखा है कि प्राचीन युग के बहुत से आविष्कार भुला दिये गये, इसमें यदि व्यतिक्रम हुआ तो केवल युद्ध विद्या में ही, यानी युद्धविद्या तथा उससे सम्बद्ध धन्धों में अपेक्षाकृत रूप से क्रमिक उन्नति होती रही है। केवल आविष्कार होने ही से कई आविष्कार सामाजिक रूप तथा पैमाना ग्रहण नहीं करता। यह बात विचारधारा के क्षेत्र में जितनी सही है, उतनी ही अन्य क्षेत्रों में भी। किसी आविष्कार को ग्रहण करने के लिए जब तक समाज की अन्य परिस्थितियाँ तैयार नहीं होतीं तब तक आविष्कार सामाजिक रूप धारण नहीं कर सकता। इसी प्रकार बताया जाता है कि एलेक्जेंड्रिया में ईसा के पहले ही हीरो ने भाप के इंजिन का आविष्कार किया था, किन्तु जेम्सवाट आदि को एक तरह से दुबारा आविष्कार करना पड़ा। प्राचीन युग में बहुत बड़ी बड़ी इमारतें बनीं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके पास कोई अच्छे यंत्र थे। बताया जाता है कि ईसा पूर्व २८०० में जो चियोप (Cheops) का पिरामिड बना उसके लिए एक लाख मनुष्य तीन महीने तक बराबर पत्थर ढोते रहे। इसी प्रकार नील नदी की एक एक सड़क में दस साल लगे थे। उस समय यंत्र के सम्बन्ध

में कितनी आदिम धारणा थी, यह इससे ज्ञात है कि रोमन विट्रूवियस ने यंत्र की परिभाषा यों की थी 'यंत्र लकड़ी का बना एक जुड़ा हुआ पदार्थ है जिससे वज़न उठाने में आसानी होती है।'[१] मनुष्य ने जितने आविष्कार किये हैं वे सब यदि सिलसिलेवार तरीक़े से होते रहते और कहीं पर उनकी कड़ी न टूटती तो आज मनुष्य जाति यांत्रिक ज्ञान की सबसे ऊँची सतह पर होती।

३२—नई नई प्राकृतिक परिचालिका शक्तियों की खोज—"हस्तोत्पादन (Manufaucture) के युग में भी इँगलैंड में, जो आधुनिक बड़े पैमाने पर धन्धे की मातृभूमि है, वायुशक्ति से कहीं अधिक जलशक्ति का प्रयोग होता था।" एक तो जलशक्ति केवल नदी-किनारे, सो भी सब नदियों के किनारे नहीं, प्राप्त हो सकती थी, दूसरे इसे इच्छा के मुताबिक़ बढ़ाया-घटाया नहीं जा सकता था, और कई मौसिमों में तो यह प्राप्त ही नहीं हो सकती थी।

इन्हीं कारणों से मजबूर होकर अन्य वैज्ञानिकों को दूसरे साधनों की खोज करनी पड़ी। वाट ने जब तक कोयला और पानी से चलनेवाले इंजिन का आविष्कार नहीं किया तब तक यह दिक्क़त बनी रही। कोयले की खानों के रूप में इँगलैंड में शक्ति का ख़ज़ाना भरा पड़ा था, किन्तु जेम्स वाट के पहले यह किसी को मालूम नहीं था कि उसका उपयोग किस प्रकार उत्पादन में किया जा सकता है। वाट ने जो आविष्कार किये वे अपनी जगह पर बहुत महत्त्वपूर्ण थे, किन्तु वाट को ही भाप के इंजिन का सारा श्रेय देना ठीक नहीं। उनके पहले ही इसकी नींव पड़ चुकी थी।[२] जो हो, इस आविष्कार से सबसे बड़ा फ़ायदा यह हुआ कि अब सारे के सारे उद्योग-धन्धे नदियों के किनारे, देहात में यत्र-तत्र बिखरे हुए न होकर शहर में एक जगह केन्द्रित हो सकते थे। अवश्य ये शहर, जहाँ तक हो सके, कोयले की खानों के नज़दीक ही हो सकते थे। इस प्रकार भाप के इंजिन से उद्योगधन्धों में एक महान् क्रान्ति हो गई और उद्योग-धन्धों में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। कोयले के इस उपयोग के पहले किसी को क्या मालूम था कि कोयला भी कभी इँगलैंड ही नहीं, सारी दुनिया

---

१. Historical Materialism-Bukharin p. 118

२. Landmark in industrial history by G. T. Warneret says. p. 231

के इतिहास में इतनी बड़ी क्रान्ति का प्रवर्तक होगा। कोयले का फ़ायदा केवल शक्ति-प्रदान करने तक ही सीमित न रहा, बल्कि लोहा गलाने में इसका जो उपयोग हुआ वह भी कोयले की एक बहुत भारी देन है। पहले लोहा महँगा था और जो कुछ भी प्राप्त था उसका सही ढंग से उपयोग नहीं हो सकता था; किन्तु लोहे को इस प्रकार कोयले के सहारे गलाना आदि सम्भव हो जाने के कारण दुनिया के सामने नई सम्भावना का एक पूरा जगत् ही खुल गया। विल्किन-सन नामक एक व्यक्ति ने उस ज़माने में जब कहा था कि लोहे के लिए बड़ी बड़ी सम्भावनाएँ हैं तो उस पर लोगों ने बहुत क़हक़हे लगाये थे। बेचारे विल्किनसन ने केवल यही कहा था कि कभी लोहे के पुल, जहाज़ और मकान होंगे। इस पर उन्हें 'लोहा-पागल' करार दिया था'। किन्तु वे पहला लोहे का पुल (१७७९) और पहला लोहे का जहाज़ (१७९०) अपनी आँखों से देख गये।[१] यही हाल वाट का भी हुआ था, यद्यपि वे बहुत कुछ अपने इंजिन की सम्भावना से परिचित थे। जिस समय १७८४ के अप्रैल में उन्होंने पेटेन्ट लिया था उस समय उन्होंने भाप के इंजिन को न केवल एक काम के लिए बल्कि बहुत से कामों के लिए उपयुक्त यानी यांत्रिक उद्योगधन्धे में सार्वदेशिक रूप से प्रयोग के उपयुक्त बतलाया था।[२] उन पर भी लोग हँसे, किन्तु इसके पचास साल बाद ही वाष्प-परिचालित हथौड़ा बना और १८५१ में इतनी बड़े भोंपू के इंजिन बने जो महासागर में जानेवाले जहाज़ों के लिए काफ़ी समझे गये।

३३—**यातायात के साधनों में उन्नति**—पहले ही हम द्वन्द्वात्मक न्याय का उदाहरण देते हुए यह बतला चुके हैं कि किस प्रकार इस तरह उत्पादन के साधनों में विकास होने के कारण यातायात के साधनों में विकास होना अनिवार्य हो गया। इँगलैंड की ही हालत को लीजिए। १७५० में लम्बी यात्राओं में लगने-वाली घोड़ागाड़ियों की गति घंटे में छः मील से अधिक नहीं थी। बहुत सी जगहों पर तो कोई ढंग की सड़क भी न थी। एक तरह की लीक पर गाड़ियाँ चलती रहती थीं। ऐसी दशा में उत्पन्न माल का इधर से उधर भेजा जाना बहुत ख़र्चीला था। कोयले के लिए तो समस्या और भी टेढ़ी थी। १८१५ में जाकर

---

१. Ibid p. 232   २. Capital V. IX. Chapter XIII.

मैकाडम नामक एक व्यक्ति ने यह कहा कि यदि पत्थर की गिट्टियों से सड़कें बनाई जायँ तो उन पर माल आसानी से जा सकता है। किन्तु सड़कों की कितनी भी उन्नति हो, कोयला तथा कच्चा माल भेजने में दिक्क़त उसी प्रकार बनी रही। मेनचेस्टर से बहुत पास ही एक ड्यूक की कोयले की खानें थीं, किन्तु मेनचेस्टर में आते आते—यद्यपि मेनचेस्टर कुछ ही मील पर था—कोयले का दाम दुगुना हो जाता था। इस दिक्क़त से बचने के लिए उस ड्यूक ने वोरस्ले से, जहाँ खान थी, मेनचेस्टर तक नहर खोदने का भार जेम्स विंडले नामक अपने एक कारीगर को दे दिया। 'विंडले बिलकुल गवार क़िस्म का आदमी था, किन्तु वह ढंग का और व्यावहारिक काम करता था। यद्यपि फ़्रांस और हालैंड में नहरें खुल चुकी थीं, किन्तु इँगलैंड में यह काम बिलकुल अज्ञात था। केवल मौजूद नदियों के धरातल को गहरा किया गया था। अपने ढंग पर यह अच्छा काम था किन्तु विंडले ने देखा कि नहर खोदने में मौजूद नदियो से अलग रहना ही अच्छा है। नदी के पानी का अर्थ बाढ़ आदि के खतरे में पड़ना था। इसिलए उसमें ऐसी बड़ी शक्ति के विरुद्ध बचत वग़ैरह रखने की ज़रूरत थी जिससे खतरा न पैदा हो जाय। बड़ी मुश्किलों से इस कार्य के लिए ड्यूक साहब ने धन इकट्ठा किया था, किन्तु ज्यों ही नहर तैयार हो गई त्यों ही जल्दी से उनका सारा धन लौट आया और मैनचेस्टर में इस नये यातायात के साधन के कारण कोयले का दाम आधा हो गया।[१]

३४—रेल का सूत्रपात—कुछ दिनों तक इस प्रकार नहरों से आधुनिक उद्योगधन्धों का काम कुछ चल गया किन्तु उद्योग-धन्धों की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति के मुक़ाबिले में तथा यंत्रों की कच्चे माल तथा कोयले की विराट् भूख को देखते हुए ये नहरें आवश्यकता की पूर्ति के लिए अयोग्य साबित हुईं। फिर सब जगह नहर हो भी नहीं सकती थी। १७८४ में वाट के ही जीवन-काल में विलियम मरडक नामक व्यक्ति ने एक इंजिनगाड़ी बनाई जिसको पादरी-निवास के पास धुआँ फेंकते देखकर वहाँ के पादरी बेहद घबड़ा गये। मज़े की बात यह है कि वाट ने इस आविष्कार का स्वागत करने के बजाय उसको दबाना चाहा। विलियम मरडक जिस कम्पनी में नौकर थे उसके मालिकों को

१. Landmarks in industrrial history p. 236

वाट ने लिखा कि मरडक से नरमी के साथ कहिए कि इन प्रयोगों से बाज़ आवे। उस कम्पनी ने वाट की बात मान भी ली। यह आविष्कार दबा दिया गया। किन्तु यह दब कैसे सकता था? बहुत से दिमाग़ों में एक साथ यह बात आई और इसके तीस साल बाद, १८१४ में, कीलींगस्वर्थ की खानों में यह इंजिन चलने लगा। १८१९ में, जो वाट की मृत्यु का सन् था, स्टाकटन और डार्लिंगटन रेल की योजनाएँ पार्लियामेंट के सामने स्वीकृति के लिए पेश की गईं।[१] १८५९ तक ब्रिटिश द्वीपपुंज में १० हज़ार मील रेल की पटरी बिछ गई और १९०० तक यह दुगुनी से अधिक हो गई।

३५—जहाज़ों की उन्नति—"जहाज़ों में यों तो वाष्प का प्रयोग १८०२ में ही हो चुका था, और एक यात्री जहाज़ (कामेट) १८१२ में क्लाइड नदी के किनारे बनाया गया था; फिर भी पाल-चालित जहाज़ों पर इनकी प्रधानता होते होते १८७० लग गया। इसी प्रकार एक लोहे का जहाज़ १७८७ में और दूसरा १८२० में वाष्पपरिचालित जहाज़ भी बन चुका था फिर भी १८५० तक लोहे के जहाज़ों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, और इस्पात के जहाज़ों की तो १८७५ तक कोई ख़ास गिनती नहीं थी।" पहले पहल जब इंजिन से जहाज़ चलाये जाने लगे उस समय लोग इन पर इतना सन्देह करते थे कि न मालूम कब इंजिन बन्द हो जाय और बीच समुद्र में यात्री टापते रह जायँ, इसलिए वे वाष्प-इंजिन के साथ साथ पाल भी रखते थे कि समय पड़ने पर काम आवे। १८३८ में जाकर केवल भाप के इंजिन के सहारे पहली बार अटलान्टिक पार किया गया।[२] पहले जहाज़ लकड़ी के बनते थे। यह तो क़रीब क़रीब आदिम मनुष्य भी जानता था कि लकड़ी पानी पर तैरती है। किन्तु लकड़ी के जहाज़ की एक सीमा तक ही उन्नति हो सकती थी। १३०० फ़ुट से ज्यादा बड़ा लकड़ी का जहाज बनाना ख़तरनाक था, क्योंकि आँधी वग़ैरह में उसके उलट जाने का डर हो जाता था। इसलिए स्वाभाविक रूप से ऐसे धातु के ढूँढ़ने की ज़रूरत पड़ी जिसमें इस प्रकार का ख़तरा न हो। उस युग में धीरे धीरे लकड़ी की जगह लोहा लेता जा रहा था, किन्तु लोहा पानी में

---

१. Ibid p. 298
२. Ibid p. 306

डूब जाता है। इस साधारण ज्ञान के कारण लोग जहाज़ बनाने में लोहे का व्यवहार शंका की दृष्टि से देखते थे। फिर भी धीरे धीरे प्रयोगों से यह डर हटता गया और १८९० तक अधिकांश जहाज़ लोहे के बने होने लगे। किन्तु जहाज़ बनाने के धन्धे में आधुनिक युग का प्रवर्तन उसमें इस्पात के प्रयोग से शुरू होता है। इस्पात लोहे से अधिक हल्का, मज़बूत, स्थायी और नमनीय है जिससे उसका प्रयोग हर तरह से सुविधाजनक था।

३६—इस्पात—इस्पात का उत्पादन इस दृष्टि से एक बहुत बड़ा क़दम हो जाता है, किन्तु हम यहाँ उसके विकास का कोई इतिहास न देकर संक्षेप में इतना बतलाना यथेष्ट समझते हैं कि १८५६ में बेशमेयर ने इस्पात बनाने का एक आसान तरीक़ा निकाला। इसके बाद उन्नति होती गई। १८७८ में गिल-ख्रीस और टामस ने इससे भी अधिक उन्नत तरीक़ा निकाला, क्योंकि यह ऐसा पाया गया कि जिस कच्चे लोहे में फास फोरस अधिक मात्रा में मौजूद है उसमें बेशमेयर का तरीक़ा खतरनाक है। इस प्रकार उन्नतियों के कारण इस्पात की प्रमुखता केवल जहाज़-निर्माण में ही नहीं, बल्कि सब तरह के यंत्रों में हो गई। १९१४-१८ के युद्ध के ज़माने में तो दुनिया का जो रूप हो गया था, उसे इस्पात-मय कहा जा सकता है।

३७—स्वेजनहर से यातायात की उन्नति—१८६९ में स्वेज़नहर खुल जाने से पूर्व और पश्चिम में व्यापार बहुत बढ़ गया। इस क़दम से जितना लाभ हुआ है उसको लोग कम समझते हैं। पूँजीवादी उन्नति के कारण दुनिया स्वेज़नहर के ज़रिये मानों दो हिस्सों में बँट गई, एक देहाती हिस्सा जो मुख्यतः कच्चामाल पैदा करता था और जब वह कच्चा माल बन करके आता था तो उसे कई गुने दाम पर ख़रीदता था, दूसरा योरप का शहरी हिस्सा जो इस कच्चेमाल को बने हुए माल में परिणत करता था। स्वेज़नहर के कारण बम्बई से लन्दन की यात्रा २४ दिन से काम में सम्भव हो गई। १८८० में जहाज़ के इंजिन में विशेष उन्नति के कारण जहाज़ों की गति और भी बढ़ गई। यही नहीं, नये ढंग के इंजिनों से कोयले की भी बहुत बचत हुई। इस प्रकार अब कोयले की जगह पर जहाज़ों में अधिक माल लाना और ले जाना सम्भव हुआ। फिर धीरे धीरे तेल

से जहाज़ चलाने की तरक़ीब भी मालूम हो गई। पहले पहल केवल जंगी जहाज़ों में ही इसका इस्तेमाल हुआ, किन्तु धीरे धीरे इसका व्यवहार बढ़ गया।

३८—साइकिल, मोटर—आन्तरिक यातायात के क्षेत्र में साइकिल का प्रयोग न्यूमेटिक टायर के आविष्कार से आम हो गया और १८९६ में तो इसका प्रचार बहुत हो गया। मोटर गाड़ी अभी तक प्रयोग की दशा में थी और फ़्रांस के बाहर इसके विषय में लोग बहुत कम जानते थे किन्तु इसकी जो बड़ी सम्भावनाएँ हैं वे लोगों पर खुल चुकी थीं। यदि इँगलैंड में मोटर का प्रचलन उस समय होता भी तो उसकी अधिक उन्नति न हो सकती क्योंकि नवम्बर १८९६ तक यह क़ानून था कि रास्ते में भी यदि कोई यंत्रचालित गाड़ी चलाई जाय तो उसके आगे आगे एक आदमी लाल झंडी लिए हुए चले जो जनता को तथा दूसरी गाड़ियों को इस ख़तरे से आगाह करता जावे। इस विषय में एक लेखक लिखता है कि १९०३ तक 'टाइम्स' ऐसे अख़बार ने मोटर का मज़ाक़ उड़ाते हुए लिखा था कि माना कि मोटर चल रहे हैं किन्तु इनके आने से बग्घी गाड़ियों में क्या कुछ कमी हुई है। इस बात को सभी जानकार जानते हैं कि लन्दन नगर में इस समय बग्घी गाड़ी केवल अजायबघर में ही देखी जा सकती है। मोटर से आज यात्री ले जाने के अतिरिक्त माल ढोने और सब तरह के काम लिये जाते हैं। भारत ऐसे देश के लिए तो मोटर लारियाँ बहुत उपयोगी हैं, क्योंकि जिन जगहों में रेल की पहुँच नहीं है, वहाँ उनकी पहुँच है।

जिन देशों में कोयला नहीं है उन देशों को भी घबराने की ज़रूरत नहीं, मानो यह बात कहने के लिए ही बिजली की शक्ति का आविष्कार आ है। हम एक अध्याय में बता चुके हैं कि बिजली से क्या क्या लाभ है। हमने यों तो यांत्रिक उन्नति का संक्षिप्त इतिहास दे दिया किन्तु इसके दौरान में उन वैज्ञानिक आविष्कारों का थोड़ा सा वर्णन करना आवश्यक है जो समय समय पर होते रहे और जिनके कारण व्यावहारिक आविष्कार सम्भव ए।

३९—रोजर बेकन और ल्योनार्डो विञ्ची—हमारे विश्लेषण के अनुसार विज्ञान की तो उसी समय सृष्टि हुई जब मनुष्य मनुष्य हुआ यानी जब मनुष्य ने शरीर के बाहर की किसी चीज़ की सहायता से अपने जीवनक्रम को पहले से आसान कर लिया, किन्तु आधुनिक विज्ञान का वर्तन पाँच सौ वर्ष से पुराना

नहीं है। मध्ययुग में यानी आधुनिक युग के पहले दो व्यक्तियों का नाम प्रमुख-रूप से हमारे सामने आता हैं। एक रोजर बेकन (१२१४-१२९२) और ल्योनार्डो विन्ची (१४५१-१५१९)। रोजर बेकन वैज्ञानिक भावना से ओत-प्रोत थे। उन्होंने लोगों से यह कहा कि ज्ञान प्राप्त करने का उपाय विचारों की उड़ान नहीं बल्कि निरीक्षण प्रयोग तथा पुनर्निरीक्षण है। उनकी ये बातें धार्मिकों को भला कब पसन्द आतीं, इसलिए फ्रांसिसकन सम्प्रदाय के जनरल ने उनकी किताबों की निन्दा की, और इस प्रकार उनका अधिक प्रभाव न पड़ सका। रही ल्योनार्डो की बात सो वे एक सर्वतोमुखी प्रतिभा से युक्त व्यक्ति थे। विज्ञान, कला, साहित्य, यंत्रशास्त्र सभी उनके निकट आभारी हैं। सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक हेलेम ने उनके ज्ञान के विषय में लिखा है कि उनका ज्ञान क़रीब-क़रीब अति प्राकृतिक था। इतिहास में बहुत कम व्यक्ति ऐसे हुए हैं जो इस प्रकार सभी तरह की प्रतिभाओं के आधार रहे हों। वे जानते थे कि यदि अपने सारे ज्ञान को प्रकाशित करें तो उनका क्या हाल होगा, इसलिए उन्होंने अपनी अधिकतर चीज़ें अप्रकाशित रक्खीं और मरने के बाद ही वे आविष्कार जनता के सामने आये। यंत्रशास्त्र के क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा दान यह था कि उन्होंने आर्कमिडिस के विस्मृत आविष्कार का पुनरुद्धार किया और उस पर बहुत उन्नति की। ल्योनार्डो ने लिवर को एक ऐसे यंत्र का रूप दे दिया कि वह आमतौर से इस्तेमाल करने योग्य हो गया। आज जल से बिजली उत्पन्न कर कितना काम चलता है, किन्तु जलशक्ति विद्या (Hydraulics) के प्रथम प्रवर्तक वही थे। यों तो बारूद का आविष्कार सबसे पहले चीन में हुआ बतलाया जाता है, किन्तु यूरोप में मारकसग्रिकस (Marcus Graecus) ने आविष्कार किया। उन्हीं ने ब्रिचलोडिंग बन्दूक़ का आविष्कार किया। इसी तरह उन्होंने चल-चक्र (waterwheel), खानों में काम आनेवाले औज़ारों तथा तरह-तरह के अन्य औज़ारों का आविष्कार किया। वाट के पहले ही ऐसा मालूम होता है कि भाप की शक्ति से वे परिचित थे और चुम्बक का काम भी वे जानते थे। ल्योनार्डो के आविष्कार इतने विविध तथा महान हैं कि एक शब्द में हम यों कह सकते हैं कि मानो मध्ययुग को जो कुछ देना था, उनके ज़रिये उसने उसे विज्ञान के वर्तमान युग को दिया।

४०—पृथ्वी का गोल होना प्रमाणित—निकोलस क्युजेन्स ने (१४०१-१४६४) खुल्लमखुल्ला यह कहा कि पृथ्वी चपटी नहीं है जैसा लोग समझते हैं, और अपनी धुरी पर घूमती है। कोलम्बस (१४४७-१५०६) और वास्कोडिगामा १४६९-१५२४) के विश्व पर्यटन से यह विचार फैला। १५१९ में मैगलन (ने जो सारे विश्व की प्रदक्षिणा की उससे निर्विवाद सिद्ध हो गया कि पृथ्वी गोल है। इस प्रकार पहली बार के प्रयोग से एक बहुत पुराना कुसंस्कार, जिसका धर्म ने समर्थन किया था, ूट गया। यह एक बहुत बड़ी बात थी, क्योंकि अब लोगों को यह सन्देह करने का अवकाश मिल गया कि जो बात धर्मयाजकगण कहते हैं वह हमेशा अकाट्य सत्य ही होती है, यह बात नहीं है। यहीं से धार्मिक विश्वासों के नीचे से ज़मीन धसकने लगी और विज्ञान तथा धर्म के अन्दर की खाई प्रतिदिन बढ़ती ही गई। अति आधुनिक काल में इस खाई को पाटने के लिए जो चेष्टाएँ हुई हैं, उनका वर्णन हम आगे यथास्थान करें ।

४१—सूर्य सिद्धान्त प्रमाणित—पैरासेल्सस (१४९३-१५४१) तथा वैन हेल्येन (१५७७-१६४४) ने कहा कि आप्त वाक्य तथा पुस्तकें प्रकृति के अध्ययन में कोई प्रमाण नहीं हैं। इसके लिए तो एकमात्र उपाय प्रयोग तथा निरीक्षण है। इटली के नेपल्स नामक शहर में टेलेसियो (१५०८-१५८८) ने एक एकेडेमी की स्थापना प्राकृतिक घटनाओं के प्रयोगात्मक अध्ययन के लिए की। मोतैनीम (१५३३-१५९२) और सेवंकेज (१५६२-१६३२) ने कठ ुल्लापन का क़ाबिला सन्देहवाद से किया और सहिष्णुता पर ज़ोर दिया। फ़्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) ने मध्ययुग के दु ुणों का दिग्दर्शन किया, किन्तु इन सबसे कहीं महत्व-पूर्ण कार्य पोलैंडा के भिक्षु कोपरनिकस (१४७३-१५४३) ने किया। १५४३ ं उनकी युगान्तकारी पुस्तक "आकाशमार्ग की क्रान्ति पर" निकली[१]। उसको उन्होंने तैंतीस वर्ष के कठिन परिश्रम से लिखा था। हम बता चुके हैं कि किस प्रकार कोपरनिकस ने पृथ्वी के चारों ओर ग्रह-उपग्रहों के घूमने का सिद्धान्त काट दिया और इस प्रकार धार्मिक जगत् में तहलका मचा दिया। धर्म पर

१. Philosophic and scientific retrospect—A wolf (outline of modern knowledge.

अबकी बार एक और ज़बरदस्त प्रहार हुआ। जिससे वह तिलमिला उठा। सच तो यह है कि कोपरनिकस अपने आविष्कारों के वैज्ञानिक प्रमाण को प्रकाशित नहीं करना चाहते थे किन्तु जब एक उच्च धार्मिक व्यक्ति सोमवर्ग ने उनको मजबूर किया और उनका पृष्ठपोषण किया तब वे बड़ी अनिच्छा से अपने आविष्कार सार्वजनिक रूप से रखने को तैयार हुए। फिर भी बचत की दृष्टि से भूमिका में उन्होंने लिख ही दिया कि यह ग्रन्थ केवल एक अनुमान के रूप में लिखा जा रहा है। सन्देह नहीं कि ऐसा उन्होंने केवल पादरियों के हाथ से बचने के लिये किया था। बाद को यह पता चला कि ऐसा उन्होंने स्वयं नहीं लिखा था, बल्कि उनके एक हितैषी ने उनके बचाव की दृष्टि से यह बात जोड़ दी थी।

४२—शरीर की अनात्मवादी व्याख्या—वेसालियस (१५१५-१५६४) न इसी प्रकार 'मानवीय शरीर का गठन' नामक पुस्तक (यह भी कोपरनिकस की महान् पुस्तक की तरह १५४३ में प्रकाशति हुई थी) लिखकर शरीर विज्ञान के लिए बहुत अच्छी नींव डाली। इसमें उन्होंने शरीर को अति प्राकृतिक या ग्रह-उपग्रहों की शक्तियों से परिचालित न बताकर शरीर के अन्दर की वस्तुओं के साथ पारस्परिक सम्बन्धयुक्त बतलाया। कहना न होगा कि इसमें भी धर्म को चोट लगी, क्योंकि शरीर का जो वर्णन लिखा गया था उसमें आत्मा बेचारे का कहीं पता नहीं था।

गैलिलियो के विषय में भी हम पहले संक्षेप में लिख चुके हैं। उन्होंने कोपरनिकस के सिद्धान्त का समर्थन किया।

४३—टाइकोब्राहे का समन्वयात्मक सिद्धान्त—टाइकोब्राहे (१५४६-१६०१) ने आकाश निरीक्षण को और भी बारीकी तक पहुँचा दिया। उन्होंने यों तो बहुत सुन्दर वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग किया और निरीक्षण से कई सूक्ष्म बातें निकालीं किन्तु उन्होंने अजीब तरीक़े से इस प्राचीन सिद्धान्त का कि पृथ्वी के चारों ओर सूर्य आदि घूमते हैं और यह जो नवीन सिद्धान्त था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है—इनके बीच एक समझौता कराकर यों बताना चाहा कि सूर्य और चन्द्र पृथ्वी की ओर घूमते हैं किन्तु दूसरे सब ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। ए० उल्फ ने लिखा है कि सम्भव है, इस सिद्धान्त का तिपादन उन्होंने उन लोगों को दृष्टि में रखकर किया था जो एकाएक नवीन क्रान्तिकारी

सिद्धान्त को अपनाने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे और उनके लिए एक बीच की मंज़िल की ज़रूरत थी, किन्तु यह बात हम लोगों को जँचती नहीं है।

४४—**केपलर**—केपलर (१५७१–१६३०) एक ग़रीब सरायवाले के लड़के थे। उनका बचपन ग़रीबी और अज्ञान में बीता था। केपलर बाद को टाइकोब्राहे के सहायक के रूप में काम करने लगे। वे काम कर ही रहे थे कि टाइकोब्राहे मर गये। टाइको की मृत्यु के बाद उनके इकट्ठे किये हुए सारे मसाले तथा तथ्य उनके हाथ लगे और उन्होंने उनकी व्याख्या करनी शुरू की। उन्होंने ग्रहों की गति, पथ इत्यादि के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का आविष्कार किया। सम्राट् रुडल्फ ने उनको आश्रय दिया था किन्तु सम्राट् के मरने के बाद ही पादरियों ने उनका निर्यातन शुरू किया। हम लिख चुके हैं कि कैसे अपने आविष्कारों के लिए उनकी वृद्धा माता को धर्म के इन ठेकेदारों ने कष्ट दिया और जेल भेजा।

४५—**न्यूटन का मध्याकर्षण सिद्धान्त**—न्यूटन (१६४२-१७२७) उसी साल पैदा हुए जिस साल गैलिलियो मरे। न्यूटन ने जो सबसे बड़ा आविष्कार किया वह था मध्याकर्षण, जिसका अर्थ यह है कि भूत का प्रत्येक कण एक दूसरे को आकर्षित करता है। इसका उन्होंने नियम भी बतलाया। इस प्रकार ग्रह की गतियों का प्रश्न भी हल हो गया और बेचारे ईश्वर वहाँ से भी भगाये गये। ये आविष्कार बहुत महान् हैं, किन्तु इसी शताब्दी में कई और आविष्कार हुए जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

४६—**प्राणविज्ञान प्राकृतिक सिद्धान्त पर स्थापित**—प्राणविज्ञान में जो सबसे बड़ा आविष्कार इस शताब्दी में हुआ, वह हार्वे का आविष्कार था जिसमें रक्त के घूमने का प्रयोगात्मक प्रमाण दिया गया था। वैसालियस ने जिस प्राकृतिकता का राज्य शरीर (१५४३) में स्थापित करने की चेष्टा की थी, उसका विस्तार इस प्रकार हो गया और प्राण-विज्ञान अब अति प्राकृतिक आधार से उतर कर प्राकृतिक क्षेत्र में आ गया।

४७—**आलोक-सम्बन्धी नये आविष्कार**—स्नेल ने १६२१ में आलोक के प्रतिफलन (refraction of light) सिद्धान्त का आविष्कार किया। डेस्कार्ट ने आलोक की व्याख्या चलमान कणाओं (particles) की तुलना

प्रर करने की चेष्टा की। रोमेर ने १६७६ में आलोक की गति का आविष्कार किया। न्यूटन ने श्वेत आलोक के संयुक्त चरित्र के आविष्कार पर अपने प्रयोग पहले ही किये थे। ह्यगेन्स ने आलोक के तरंग सिद्धान्त (undulatory theory) का आविष्कार किया। गणित में भी बहुत से महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए। इसी शताब्दी में दूरवीक्षण, अणुवीक्षण, बैरोमीटर थरमामीटर तथा अणुमापक (micrometre १६३९ में Gascoigne द्वारा) बने।

४८—**हेरशेल के आविष्कार**—हेरशेल (१७३८-१८२२) ने १७८१ में एक नये ग्रह का आविष्कार किया जिसके दो और उपग्रह थे। अब तक ज्योतिष-शास्त्र शनि तक सीमित था, किन्तु इस आविष्कर से ज्ञात-जगत् और भी विस्तृत हो गया। साथ ही उन्होंने ८०० जुड़ँवे नक्षत्रों का आविष्कार किया और उनके सम्बन्ध में यह भी पता लगाया कि वे एक दूसरे के चारों तरफ़ माध्याकर्षण के नियमानुसार घूमते हैं। इस प्रकार यह मालूम होगा कि माध्याकर्षण का नियम सूर्यमंडल के आगे भी लागू है। साथ ही उन्होंने २००० नेवुला (विकसमान जगत्) का पता लगाया जो उनके कथनानुसार विकास की विभिन्न मंज़िलों में थे[१]।

४९—**लापलास**—चन्द्र-सूर्य आदि की गति के सम्बन्ध में जो अब तक ज्ञान था उसको लापलास ने अपनी पुस्तक 'आकाश की यंत्र विद्या' (celestial mechanies) में पद्धतिगत रूप से लिख दिया। साथ ही उन्होंने सूर्य-मंडल की उत्पत्ति की व्याख्या की पहली कोशिश की। कहना न होगा कि यह व्याख्या प्रचलित धर्म के बिलकुल विरुद्ध थी। इसमें यह कहा गया था कि धुरी पर घूमती हुई और संकुचित होती हुई चमकीली गैस से जो टुकड़े छिटक गये उन्हीं के जमे हुए रूप ग्रह हैं। बाद को इस सिद्धान्त में परिवर्तन हुए।

५०—**पदार्थविज्ञान में नये आविष्कार**—पदार्थविज्ञान के क्षेत्र में यद्यपि इस सदी में न्यूटन की तरह कोई महान् व्यक्तित्व पैदा नहीं हुआ फिर भी रम्फोर्ड के प्रयोगों ने यह साबित कर दिया कि उत्ताप गति का ही एक रूप है, हाक्सवी ने १७०५ प्रयोगों से यह प्रमाणित किया कि आवाज़ हवा पर निर्भर है। हाक्सवी ने साथ ही बिजली के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण आविष्कार किये।

---

१. Ibid, p. 32.

५१—इस युग के अन्य आविष्कार—प्राणविज्ञान में भी वफन (१७०७–१७८८) ने जीवन स्वभाव तथा कौन कहाँ पैदा होते हैं, इसके सम्बन्ध में निरीक्षण पर अवलम्बित सुन्दर वर्णन दिये। लिनियस (१७०७–१७७८) ने पौधों के वर्गीकरण के उन्नततर तरीक़े का प्रयोग किया जिससे अनुसन्धान का कार्य कुछ आसान हो गया। इसी प्रकार स्टाल (१६६०–१७३४), ब्लैक (१७२८–१७९९), प्रिस्टले (१७३३–१८०४), शेले (१७४२–१७८६) आदि ने रसायनशास्त्र में कई आविष्कार किये। शेषोक्त ने उस गैस का आविष्कार किया जो बाद को आक्सीजन कहलाई। लावासियर (१७४३–१७९४) ने इसी पर क्षारीककरण (calcination) की व्याख्या की।

५२—गेटे, हूटन, जेनर—जर्मन महाकवि गेटे ने इसी सदी में वैज्ञानिक न होते हुए भी 'पौधों का परिवर्तन' नामक एक पुस्तक लिखकर विकासवाद के आम विचार लोगों में फैलाये हैं। हूटन ने (१७२६–१७९७) भूगर्भ विज्ञान की नींव डाली और जेनर ने (१७४९–१८२३) टीका लगाने का आविष्कार करके रक्षात्मक चिकित्साशास्त्र का प्रवर्तन किया, साथ ही मनुष्य जाति का बड़ा भारी उपकार किया।

५३—१९वीं सदी के आविष्कार-हेल्महाल्टस, लार्ड केल्विन—१८४६ में नैपचून नामक ग्रह का आविष्कार हुआ। १९वीं सदी में विज्ञान की इतनी उन्नति हुई कि उसका वर्णन संक्षेप में भी करना मुश्किल है। फिर भी दो एक महत्त्वपूर्ण आविष्कारकों के नाम यहाँ दिये जाते हैं। हेल्महाल्टस ने उत्तापगति-शास्त्र (Thermodynamics) के प्रथम नियम का आविष्कार किया यानी उन्होंने यह आविष्कार किया कि सारी प्रकृति में उत्ताप और शक्ति (energy) एक दूसरे में परिवर्तित हो सकती है, और वे सुरक्षित हैं। लार्ड कैल्विन ने इसके दूसरे नियम का आविष्कार किया यानी उन्होंने कहा कि 'उत्ताप अपने से किसी शीतलतर वस्तु से उष्णतर वस्तु में नहीं जा सकता। चूँकि बराबर उष्णतर वस्तु से शीतलतर वस्तु में उत्ताप का जाना जारी है, इसलिए विश्व के उत्ताप का समानीकरण होता जा रहा है। इससे यह अनुमान किया गया कि विश्व एक ऐसी हालत की ओर जा रहा है जब सारा जगत् एक उत्ताप हो जायगा और काम के लिए कोई भी उत्ताप प्राप्त न हो सकेगा। चूँकि यह प्रवृत्ति पीछे

को नहीं लौट सकती, इसलिए इडिंगटन ने बाद में जाकर यह कहा कि भूत से भविष्यकाल को जानने का भौतिक मानदण्ड केवल यही है।'

५४—१९वीं सदी में विद्युत्-सम्बन्ध में आविष्कार—विद्युत् के विषय में १९वीं शताब्दी में बहुत से आविष्कार हुए। इन आविष्कारकों में Oersted (१८२०) आम्पेर, फाराडे, नायमान और मैक्सवेल का नाम उल्लेख योग्य है। डाल्टन (१७६६-१८४४) ने यह कहा कि प्रत्येक प्राथमिक उपादान विशेष प्रकार के ऐटमों (otoms) से बना हुआ है। इसके वज़न में विशेषता होती है और बराबर ऐटमों का रासायनिक संयोग होता रहता है। इस सम्बन्ध में उनके सब सिद्धान्त वाद को माने नहीं गये, किन्तु उन्होंने जो रुख़ अपने अनुसन्धान को दिया उसके पश्चात् आविष्कार का कार्य सरल हो गया।

५५—डारविन के पहले विकासवाद की अवस्था—यों तो १९वीं शताब्दी में, जैसा बतलाया गया है, विज्ञान के सभी क्षेत्रों में बहुत उन्नति हुई किन्तु जिस क्षेत्र में सबसे युगान्तकारी आविष्कार हुए वह था प्राणविज्ञान का क्षेत्र। विकास-वाद का विचार कोई नया नहीं है और १८वीं शताब्दी के अन्त तक ही बहुत से लोगों ने इसको अनमान रूपमें जान लिया था। लार्ड मनवड्डो (Monboddo, १७१४–१७९९) इस अर्थ में अपने समय से पहले थे कि उन्होंने मनुष्यों और बन्दरों के बीच एक निर्दिष्ट सम्बन्ध का होना बतलाया था। इस सदी में विकास-वाद एक अनुप्रेरणायुक्त उड़ान की जगह से हटकर वैज्ञानिक सिद्धान्त का स्थान लेने में समर्थ हुआ। क्युवियेर (cubier) ने १८२१ में सब तरह के हाथियों (चाहे वे जीवित हों या प्रस्तरीभूत रूप में पाये गये हों) के न ूने देकर एक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस पुस्तक ें हाथियों के अलावा अन्य जानवरों पर भी इसी प्रकार से विचार किया गया था और इसमें जो वर्णन थे उनसे कई लोगों ने यह अनुमान लगाया कि आजकल के ोड़े पैलीओथीरी (palaeo-there) नामक एक विनष्ट प्राणी से उत्पन्न हैं। क्युवियेर ने तो डरते-डरते बीच की ंज़िलों के विषय में पूछा था किन्तु उनके समय में वे न मिल सके। बाद को वे मिल गये। फिर क्युवियेर के आविष्कार से आधुनिक खुरयुक्त जानवरों के पूर्वजों के सम्बन्ध में कुछ मालूम तो आ ही। इसी के साथ-साथ तुलनात्मक भ्रूण विज्ञान पर भी विचार हुए। वायेर ने इस विज्ञान का सूत्रपात

किया था। अनुसन्धानों के बाद उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि प्राणी का विकास एक वर्ग से बहुवर्ग की सृष्टि की प्रक्रिया है। १८२८ में वायेर इस नतीजे पर पहुँचे कि भ्रूणों से पता चलता है कि प्राणियों की मुख्य क़िस्में एक ही उत्पत्ति रखती हैं। वायेर की मृत्यु के एक या दो साल बाद श्लायेडेन तथा श्वान ने अपना कोष-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने यह कहा कि सब पौदे तथा प्राणी कोषों के द्वारा बने हैं। उन्होंने यह भी दिखलाया कि जटिल शरीरों से व्यक्तिगत कोष आमतौर पर जीवित होते हैं, यहाँ तक कि शरीर से अलग कर दिये जाने पर भी जीवित रह सकते हैं। १८४३ में वैरी ने दिखलाया कि कुछ प्रोटोजोआ (आदिमतम तथा निम्नतम प्राणधारी) एक-कोषयुक्त होते हैं और ये न केवल गतिशील हैं बल्कि आत्मसहायता कर सकते हैं। विज्ञान की ज्यों ज्यों उन्नति होती गई, सभी बहुकोषयुक्त प्राणी, उनके शरीरतन्तु, इन तन्तुओं के हिस्से इत्यादि सब प्रोटोज़ोआ तक पहुँचा दिये गये। इस प्रकार कोष-सिद्धान्त ने सब प्राणियों को लाकर एक ही पद्धति में डाल दिया, यहाँ तक कि कुछ हद तक पौदे और प्राणी भी एक ही पद्धति में आ गये। सारे अनुसन्धान को अब एक दूसरी ही दिशा से बहुत ज़ोर मिल गया। वह यह कि १८३० में लायल ने 'भूगर्भ विज्ञान के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में यह कह दिया था कि 'भूगर्भ के उत्पात के कारण बार बार प्राणियों का सिलसिला टूट जाना' बिलकुल ग़लत बात है। इस प्रकार विज्ञान की हालत डारविन तक पहुँच गई। डारविन के अन्य वैज्ञानिक पूर्वजों में इरासमस डारविन, जियोफ़्रोवाद सांतिलेर, कैन्ट के General natural history of the heavens) और गेटे की वैज्ञानिक रचनाओं को गिनाया जा सकता है।[१] एक पिछले अध्याय में हम बतला चुके हैं कि डारविन ने इस सम्बन्ध में किस प्रकार अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त को एक रूप दिया। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की ज़रूरत नहीं।

५६—आइनस्टाइन—बीसवीं सदी के विज्ञान में सबसे प्रमुख नाम जर्मन वैज्ञानिक आइनस्टाइन (ये नात्सी जर्मनी से निकाल दिये गये थे) का है। उन्होंने सापेक्षवाद के सिद्धान्त से विज्ञान-जगत् में युगान्तकारी क्रान्ति कर दी और यह

---

१. Marxism and modern thought p. 249.

कहा जा सकता है कि न्यूटन, डारविन ऐसे युगान्तकारी वैज्ञानिकों में इनका नाम है। आइनस्टाइन का सापेक्षवाद सिद्धान्त अत्यन्त दुरूहगणित पर अवलम्बित है। स्वयं आइनस्टाइन के कथनानुसार दुनिया में केवल दो सौ व्यक्ति ही ऐसे थे जो उस सिद्धान्त को समझ सकते थे। सम्भव है, स बीच में कुछ और लोग इसे समझने के योग्य हो गये हों, किन्तु आम जनता के लिए तो अभी यह सिद्धान्त दुर्बोध ही रहेगा। हाँ, उसके आम उपसंहारों को साधारण लोग तभी समझें जब वैज्ञानिक लोग उन्हें समझा दें। १९०५ में आइनस्टाइन ने सापेक्षवाद का सरल सिद्धान्त प्रकाशित किया। जे० डब्ल्यू० एन० सुलिवेन वैज्ञानिक विषयों पर सर्वजन बोध्य तरीक़े से लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं, उन्होंने इस सिद्धान्त का यों वर्णन किया है।

"आइनस्टाइन ने इस सिद्धान्त में आधारगत तत्त्व के रूप में यह बात रक्खी कि आलोक की गति का—चाहे उसे किसी चलमान पद्धति से नापा जाय या अचल पद्धति से एक ही मूल्य होगा। स्पष्ट ही यह सिद्धान्त बहुत असाधारण है। इसमें हमें यह विश्वास करने के लिए कहा जाता है कि आलोक की एक किरण एक चलमान पद्धति को उसी गति से पकड़ लेगी (overtakes) जिस गति से वह एक स्थितिशील पद्धति को पकड़ती है—चाहे वह पद्धति आलोक से दूर जा रही हो या आलोक की तरफ़ आ रही हो। यह कैसे सम्भव है? हम इस प्रकार देखते हैं कि यह सिद्धान्त केवल शाब्दिक असंगतिमात्र नहीं है यदि हम सोचें कि गति के लिए उसी मूल्य पर पहुँचा दें, तो नापनेवाले यंत्रों को कुछ न कुछ हो गया होगा। वास्तव में यही आइनस्टाइन का कहना है। वे कहते हैं कि लम्बाई तथा समय-क्षेप (Timelapse) तुलनात्मक धारणायें है, वे द्रष्टा की गति की अवस्था से बदलती हैं। दो घटनाओं के बीच (उदाहरणस्वरूप रोशनी की दो चमकों) का फ़ासला उन देखनेवालों के लिए एक नहीं है जो तुलनात्मक रूप से चल रहे हैं। इन दो घटनाओं के बीच का समयक्षेप भी सभी देखनेवालों के लिए एक नहीं है। मानो एक आदमी अपने साथ अपना देश और काल लेकर चलता है। उनके औजारों, मानदंडों और घड़ियों के आचरण उनकी गति के साथ बदलते हैं। स्थितिशील देखनेवाले की दृष्टि से गतिशील देखनेवाले का मानदण्ड संकुचित है और उसकी घड़ी धीमी चल रही है। जो हो, हम 'स्थितिशील'

मानदण्ड की बात नहीं कह सकते और यह नहीं कह सकते कि इसी को तरजीह दी जाय। हमारे व्यवहार के लिए 'स्थितिशील' शब्द बिल्कुल मनमाना है। ऐसा कोई भी प्रयोग नहीं हो सकता जो एक देखनेवाले को दिखलायेगा कि वह निरवच्छिन्न रूप से विश्राम में है या नहीं। ऐसी सभी पद्धतियाँ, जो एक तरह की तुलनात्मक गति में हैं, एक पैराये पर हैं। जिसको हमने गतिशील देखनेवाला कहा है वह अपने को विश्राम में समझ सकता है और उस समय पहले का स्थितिशील देखनेवाला गतिशील देखनेवाला हो जाता है और दूसरे देखनेवाले के दृष्टिकोण से उसका मानदण्ड संकुचित हो जाता है तथा उसकी घड़ी धीमी हो जाती है। सच तो यह है कि उनके नाम के औज़ारों के विषय में अब वही मन्तव्य किया जाता है जो दूसरेवाले के नाप के यंत्रों के विषय में वह करता है। जैसा हमने कहा है, प्रत्येक देखनेवाला अपने साथ देश और काल लेकर चलता है। सभी देखनेवाले, जो इसी गति के भाग हैं, उसी प्रकार की देश-गतिकता तथा समयगत (Time and space measurement) नाप करते हैं। जिन देखनेवालों की गतियाँ विभिन्न हैं वे समय और देश की विभिन्न नापें करते हैं। किन्तु नापों में यह विभिन्नता मनमानी नहीं है। वे सभी इस तथ्य से संयुक्त हैं कि सभी देखनेवाले आलोक की गति के लिए उसी मूल्य को पहुँचते हैं यानी प्रतिसेकेंड १८,६००० मील। इस तथ्य से हम उस ठीक नियम पर पहुँच सकते हैं जिसके अनुसार गति के साथ देश और काल की नापें बदलती हैं।"[१] कहीं यह ग़लतफ़हमी न हो जाय कि देखनेवाले शब्द में कुछ द्रष्टव्यगत या मनोवैज्ञानिक उपादान का भी हाथ है, सुलीवन ने यह साफ़ कर दिया है कि हम देखनेवाले शब्द की जगह पर स्वयं चालित नाप यंत्र (automatic measuring apparatus) रख सकते हैं।

५७—सापेक्षवाद के कुछ परिणाम—सन् १९२७ में आइनस्टाइन ने सापेक्षवाद के आम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सुलीवन ने सापेक्षवाद के सरल सिद्धान्त का जो सरल रूप दिया है, उसके उपसंहार भी कितने कठिन हैं, यह हम देख चुके हैं। इसलिए हम केवल इसी विषय पर थोड़ी रोशनी डालेंगे

---

१. Physical nature of Universe—sullivan (outline of modern knowledge p. 99.)

कि उनके सिद्धान्तों का आम आदमी के दृष्टिकोण पर कहाँ तक प्रभाव पड़ सकता है। आइनस्टाइन के सापेक्षवाद के आम सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कण "न्यूनतम प्रतिरोध की पंक्ति में चलता है, यानी वह उसी मार्ग से चलता है जो उसके लिए सबसे आसान है। यह सच है कि यह ऐसे चलता है मानो एक दूर के पिंड (body) से आकृष्ट हो रहा है, किन्तु वास्तव में वह उस मध्याकर्षण के क्षेत्र में है और उसके साथ उस कण का अपनी गति के प्रत्येक मुहूर्त में उस कण से सम्बन्ध है जो इसको परिचालित करता है। फिर भी जिस मध्याकर्षण की हम आलोचना कर रहे हैं और जिसके कारण वह कण एक विशेष तरीके से आचरण करता है, उसके गुण (properties) अदृश्य हैं और उस कण की गति के अलावा उसका कभी पता ही न लगता।"[१]

५८—क्वांटम, अनिश्यचता सिद्धान्त—हम आगे चलकर देखेंगे कि इन आविष्कारों का क्या निष्कर्ष निकाला गया है, और निकाला जा रहा है। बीसवीं सदी में इस प्रकार भौतिक जगत् के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण बहुत कुछ संशोधित हो गये हैं। आइनस्टाइन ने देश और काल सम्बन्धी हमारे विचारों को बदल दिया है, और मैक्सप्लैंक के क्वान्टम सिद्धान्त ने शक्ति (energy) तथा भूत के विषय में हमारे विचारों में परिवर्तन किये हैं। हाइजनवर्ग की अनिश्चयता का सिद्धान्त (Inaetrminacy) कहता है कि एक एलैक्ट्रन की या तो स्थिति होगी या गति होगी, किन्तु दोनों बातें बिलकुल ठीक अर्थ में नहीं हो सकतीं। एक एलेक्ट्रन की स्थिति का जितना ही ठीक पता लगता है उसकी गति की बात उतनी ही स्पष्ट हो जाती है और उसकी गति जितनी स्पष्ट हो जाती है उसकी स्थिति उतनी ही अस्पष्ट होती है। इस अनिश्चयता के सिद्धान्त को बहुत तूल दिया गया है और यह कहा गया है कि प्रकृति में जितना ही हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है उतना ही ऐसा मालूम होता है कि चीज़ें नियम के अन्दर नहीं आतीं। अध्यापक श्रोडिंगर ने एक संवाददाता के द्वारा पूछे जाने पर यह कहा था "इन छोटी इकाइयों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में ऐसा मालूम होता है कि वह किसी निश्चित नियम से स्वतंत्ररूप से अपनी गति का अनुसरण करती हैं। यदि हम इस सम्बन्ध में किसी नियमितता या कानून की बात कर

१. Guide to modern thought C. E. M. Joad p. 131.

सकते हैं तो वह नियम केवल आँकड़ेगत नियम (Statistical law) है। जहाँ तक बृहत् वस्तुओं की दुनिया है (Macroscopic) वहाँ तक तो यह नियम लागू है किन्तु क्षुद्रतम इकाइयाँ किसी नियम का पालन नहीं करतीं।"[१] श्रेडिंगर ऐसा कहते हैं, किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या यह नियमितता हमें इसलिए मालूम पड़ती है कि हमारे यंत्र अभी त्रुटिपूर्ण हैं और अभी हम चीज़ों को ढंग से नाप नहीं सकते। बात यह है कि पहले जो चीज़ें नियमित मालूम होती थीं वे धीरे धीरे नियम के अन्दर आती गई हैं, फिर यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि प्रकृति के निम्नतम क्षेत्रों में कोई नियम नहीं है। फिर इसी अनिश्चयता से यह कहा गया है कि स्वतंत्र इच्छा है भी या नहीं, इत्यादि। केवल पेशेवर धार्मिकों ने ही इस सिद्धान्त का फ़ायदा नहीं उठाया बल्कि इस प्रकार अपअर्थ करने में स्वयं वैज्ञानिकों ने भी हाथ बँटाया है। सच तो यह है कि यह अनिश्चयता कहाँ तक दृश्यमान है और कहाँ तक यंत्रों की न्यूनता के कारण है इत्यादि बातें अभी निर्णीत नहीं हुई। आइनस्टाइन वैज्ञानिक होने के साथ ही व्यक्तिगत जीवन में बहुत बड़े धर्मवादी हैं, उनका कहना है कि यह सिद्धान्त "केवल सामयिकरूप से अज्ञान का शरणगृह (Temporary asylum of ignorance) है। वे समझते हैं कि जल्दी ही विज्ञान के क्षेत्र में कार्यकरणवाद का राज्य स्थापित होगा।"[१]

५९—भूत की आधुनिक धारणा—अति आधुनिक विज्ञान से भूत की धारणा में बहुत संशोधन हुआ है। भूत के सम्बन्ध में यह जो पुरानी धारणा थी कि भूत कोई ऐसी चीज़ है जिसको हम छू सकते हैं, देख सकते हैं और जो देश (Space) में पड़ा बिखरा है, वह लुप्त हो गई उसकी जगह पर अब भूत की जो धारणा आई है, वह बहुत ही स्पष्ट है। हम पहले ही बता चुके हैं कि १९वीं सदी में डाल्टन ने भूत को ऐटम से बने हुए रूप में वर्णन किया था, और ऐटम अत्यन्त छोटी कठिन ठोस गोली के रूप में परिकल्पित होते थे। ऐटम शब्द का अर्थ ग्रीक में अभिवाज्य था। ३५ या ४० साल पहले तक यह समझा जाता था कि ऐटम के बाद कोई और विभाजन सम्भव नहीं है, किन्तु यह ज्ञात हुआ

१. Quoted in Ibid p. 83.

१. Recently and temporary philosophy by A. woolf (Out linesof modren knowledge p. 590.

कि उसको विभक्त किया जा सकता है, जिसे हम वैज्ञानिक भाषा में टुकड़े टुकड़े करना कह सकते हैं।[१] सब ऐटमों के एक ही आकार नहीं होते। यदि एक लाख ऐटम सटाकर रक्खे जायँ तो उनकी चौड़ाई एक सिगरेट के काग़ज के बराबर होती है। धूल के बहुत छोटे कण में करोड़ों ऐटम होते हैं।[२] विशुद्ध ऋणात्मक विद्युत् के ऐटम एलेक्ट्रन कहलाते हैं। अब तक एलेक्ट्रन अविभाज्य समझा जाता है। सब से हल्का ऐटम हाइड्रोजन का है और इसलिए सबसे हल्का धनात्मक से भरा हुआ (charged) ऐटम हाइड्रोजन का है। जितने तरह के उपादान हैं, उतने तरह के ऐटम हैं। जितनी चीज़ों को हम जानते हैं वे सभी ऐटमों के संयोग से बनी होती हैं। मैक्सप्लैंक का यह आविष्कार कि हम चाहे जिस छोटे परिणाम में (radiant energy) क्षणशील शक्ति को नहीं पा सकते बल्कि radiation की छोटी इकाइयाँ होती हैं, और जब भी आलोक का क्षण होता है, उसमें एक या अनेक इकाइयाँ रहती हैं। इसी इकाई को क्वांटम कहा जाता है। जो हो ,क्षणशील शक्ति की इकाई का विशेष गुण है कि वह सब प्रकार के क्षणों के लिए निश्चित तथा निर्णीत आकार का नहीं है।[३] संक्षेप में मैक्सप्लैंक का क्वांटम सिद्धान्त यही है। सबसे जटिल यूरेनियम के ऐटम में कोई दो सौ एलेक्ट्रन, २३८ प्रोटेन, सारभाग में १४६ एलेक्ट्रन और सारभाग के बाहर ९२ ग्रह की तरह एलेक्ट्रन होते हैं, और सबसे हल्के हाइड्रोजन के ऐटम में धनात्मक विद्युत् का एक प्रोटेन और उसके चारों तरफ़ घूमता हुआ बिलकुल बराबर भार (charge) का एक एलेक्ट्रन होता है। ऐटम को इस प्रकार एक गोली के रूप में सोचने के बजाय यह सोचना उचित है कि उसके बीच में एक सारभाग (nucleus) है, जिसके चारों तरफ़ एलेक्ट्रन घूम रहे हैं। इस प्रकार ऐटम अधिकांश में शून्य देश रह जाता है, और जो कुछ भी रहता है, विद्युत् मात्र है। हाइड्रोजन का सारभाग इतना महत्वपूर्ण है कि उसको प्रोटोन का नाम दिया गया है।[४] ऐटम के बीच का हिस्सा जिसको हमने सारभाग कहा है, प्रोटोन है और उसके चारों ओर विभिन्न दूरी पर तथा अनियमित घेरे में

---

१. Atom by E. N. de Andrade p. 2.
२. Atom by E. N. de Ca Andrade p. 21.
३. Atom by E. N. de ca Andrade p. 62.
४. Ibid p. 71.

(Orbit) एलेक्ट्रन घूमते हैं। प्रत्येक प्रोटोन में धनात्मक विद्युत् का भार (charge) प्रत्येक घूमनेवाले एलेक्ट्रन के ऋणात्मक भार के बिलकुल बराबर है। हेलियम ऐटम में चार प्रोटोन का सारभाग रहता है और उसके साथ ऋणात्मक विद्युत् के दो एलेक्ट्रन रहते हैं। इसके अतिरिक्त दो और ग्रह (pla natary) की तरह एलेक्ट्रन सारभाग के चारों तरफ़ घूमते हैं।[१]

६०—**भूत की अतिआधुनिक धारणा और भौतिकवाद**—इस प्रकार भूत का जो रूप रह गया है, वह विद्युत की तरंगों में जाकर खतम होता है। कहा गया है कि इससे अब भौतिकवाद की कोई गुँजाइश नहीं रह जाती, और अब तो केवल अन्त तक सम्बन्धों के अलावा कुछ नहीं रहता। अध्यापक प्लैंक ने सूलीवन से एक बातचीत में कहा था "मैं चेतना को नींव की चीज़ समझता हूँ। मैं भूत को चेतना से निकला हुआ समझता हूँ। हम चेतना के परे नहीं जा सकते। हम जिस किसी चीज़ के बारे में बातें करते हैं तथा जिस किसी चीज़ को अस्तित्व-रूप में रखते हैं, उसमें चेतना की ज़रूरत है।"[२]

---

१. Guide to modern thought, p. 82.

२. Ibid p. 96.

सदाचार

१—'शरीफ़' मार्क्सवादी मार्क्स में सदाचार का विवेचन नहीं पाते—अक्सर ऐसा कहा जाता है कि मार्क्सवाद में अर्थात् मार्क्सवादी समाजविज्ञान में सदाचार का कोई स्थान नहीं है। जिन लोगों ने मार्क्सवाद का कुछ अध्ययन किया है, ऐसे लोगों में भी कुछ लोग यह कहते रहते हैं कि मार्क्सवाद में, इस पहलू पर कोई रोशनी नहीं डाली गई है। ऐसे लोग मार्क्सवाद के निन्दक नहीं हैं। उनका केवल इतना कहना है कि इस विषय में चूँकि मार्क्सवाद में कुछ कहा नहीं गया है, इसलिए बुर्जुआ सदाचार की धारणाओं को मानते हुए चलने की आज़ादी होनी चाहिए। ऐसे 'मार्क्सवादी गण' इस बात से अपरिचित हैं कि यदि किसी मतवाद में सदाचार की धारणा का केवल ऊपरी तौर पर नहीं बल्कि बिलकुल आधारगत रूप से विश्लेषण तथा विवेचन किया गया है, तो ऐसा मार्क्स के समाजशास्त्र में ही किया गया है। इसलिए वे जिस स्वतंत्रता की माँग अपने लिए कर रहे हैं, और ऐसा वे केवल इस शंका मे कर रहे हैं कि धर्म, ईश्वर तक तो गनीमत है, किन्तु यदि उन्होंने बुर्जुआवर्ग से यह कह दिया कि उनके सदाचार को भी वे नहीं मानते या उसे निरवच्छिन्न नहीं मानते, तो वे 'शराफ़त' से ही ख़ारिज कर दिये जायँगे, और उनका स्थान दुराचारियों में हो जायगा।

२—एंगेल्स लिखित एन्टीड्यूरिंग सदाचार पर दो अध्याय—यह बात अवश्य ठीक है कि स्वयं मार्क्स ने इस विषय में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। सच तो यह है कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। क्योंकि मार्क्स के समाजविज्ञान में सदाचार मनुष्य की उच्च विचारधाराओं—जैसे धर्म, कला, विज्ञान आदि की तरह का एक अंगमात्र माना गया है। मार्क्स के पास इतना अधिक काम था कि वे केवल आधारगत पहलुओं पर ही लिख सके। फिर भी उनके ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में यत्रतत्र बिखरे हुए स्पष्ट निर्देश मौजूद हैं। स्वयं मार्क्स ने अपने नाम से प्रचारित मतवाद के आर्थिक और ऐतिहासिक पहलू के अतिरिक्त किस विषय पर लिखा? उनके अनन्यहृदय मित्र तथा सहक्रान्तिकारी एंगेल्स ने ही

तो उन सब विषयों पर पुस्तकें लिखीं जिस पर मार्क्स अपने विचारों को विशद रूप से लिख नहीं पाये। राष्ट्र, परिवार, दर्शन, धर्म, क़ानून, शिक्षा, सदाचार इन सब विषयों पर एंगेल्स ने अपने और अपने मित्र के विचारों को स्पष्ट करते हुए पुस्तकें लिखीं। एंगेल्स की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'एन्टी ड्यूरिंग' है, जिसको उन्होंने हेर आयगेन ड्यूरिंग नामक एक अध्यापक के ग़लत मतवादों का खण्डन-मंडन करते हुए लिखा था। इस पुस्तक का नवाँ और दसवाँ अध्याय, जो छपे हुए बत्तीस पृष्ठों के होते हैं, मुख्यतः सदाचार पर ही हैं।

३—सदाचार पर स्वयं मार्क्स—एंगेल्स ने इस पुस्तक में सदाचार पर क्या कहा है, इस पर हम आगे आयेंगे, किन्तु पहले हम यह देखें कि स्वयं मार्क्स ने सदाचार पर कभी कुछ कहा है या नहीं, और कहा है, तो क्या कहा? सदाचार समाज की आर्थिक नींव पर खड़े ऊपरी ढाँचे अर्थात् राष्ट्र, धर्म, परिवार का स्वरूप, क़ानून, सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा, दर्शन इत्यादि का एक अंगमात्र है। मार्क्स ने बार बार अपनी पुस्तकों में विशेषकर 'अर्थशास्त्र की आलोचना' की भूमिका में स्पष्ट रूप से कहा है कि मनुष्य की सारी विचारधाराएँ समाज की उत्पादन-प्रणाली से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं। उक्त भूमिका में विचार-धाराओं के अन्य सब अंगों के साथ सदाचार का नाम नहीं गिनाया गया है, किन्तु इस पुस्तक से ग्यारह-साल पहले ही उन्होंने 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में इस बात को स्पष्ट कर दिया था। उस समय भी विरोधीगण साम्यवादियों पर यह आरोप लगाते थे कि ये लोग चूँकि न तो धर्म मानते हैं और न इस बात पर विश्वास करते हैं कि परिवार प्रथा अर्थात् पुरुष प्रधान और पुरुष की व्यभिचार सम्बन्धी अधिकारमूलक परिवार प्रथा चिरस्थायी है, इसलिए ये लोग बहुत ही दुर्नीति परायण तथा पतित श्रेणी के लोग हैं।

४—कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में सदाचार पर विवेचन—इस पर अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग की ओर से मार्क्स और एंगेल्स ने उचित क्रोध के साथ लिखा था—'परिवार प्रथा को हटा देने की बात! ओह इसके नाम पर बड़े से बड़े गरम पन्थी भी साम्यवादियों के दुर्नीतिपूर्ण प्रस्ताव पर चौंक उठते हैं। यह जो वर्तमान परिवार प्रथा है, यानी पूँजीवादी परिवार प्रथा, इसका आधार किस बात पर है? पूँजी तथा व्यक्तिगत मुनाफ़े पर न? पूर्ण विकास की अवस्था में यह प्रथा केवल

पूँजीवादियों में ही मौजूद है, किन्तु इसका दूसरा पहलू सर्वहारावर्ग में, परिवार प्रथा के व्यावहारिक अभाव में तथा सार्वजनिक वेश्यावृत्ति के रूप में मौजूद है। पूँजीवादी परिवार प्रथा का विनाश ऊपर बताये हुए उसके दूसरे पहलू के विलोम के साथ ही नष्ट हो सकता है। इन दोनों पहलुओं का नाश तभी होगा जब पूँजी का विनाश हो जायगा। क्या आप हम पर इसका दोष लगाते हैं कि हम माँ-बाप द्वारा बच्चों के शोषण को दूर करने की इच्छा रखते हैं . . । परिवार और शिक्षा के बारे में तथा माँ-बाप और बच्चों के पवित्र सम्बन्ध के बारे में पूँजीवादियों की चिकनी-चुपड़ी बातें इसलिए और भी असहनीय हो जाती हैं कि आधुनिक उद्योग-धन्धे के प्रभाव के कारण सर्वहारा से सब पारिवारिक बन्धन टूट चुके हैं, और उनके बच्चे केवल लेन-देन और परिश्रम के साधनों में परिवर्तित हो जाते हैं।

'इस पर तमाम पूँजीवादीवर्ग एक साथ चीखकर कह उठता है कि हम साम्यवादीगण स्त्रियों को वेश्याओं में परिणत करना चाहते हैं। पूँजीवादीवर्ग अपनी बीबी में एक उत्पादन का साधनमात्र देखता है। वह सुनता है कि उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक उपयोग होना चाहिए और स्वाभाविक रूप से वह इस नतीजे के सिवा और किसी नतीजे पर नहीं पहुँचता है कि इसी प्रकार स्त्रियों को भी सार्वजनिक रूप से सबकी सम्पत्ति बना दिया जायगा। उसको यह सन्देह भी नहीं होता कि वास्तविक बात जिसे हम चाहते हैं, यह है कि औरतों की जो वर्तमान हैसियत केवल एक उत्पादन के साधन की तरह है उसको दूर कर दिया जाय। इसके अलावा पूँजीवादीवर्ग इस बात पर जो बहुत धार्मिक क्रोध दिखलाता है कि साम्यवादीगण खुल्लमखुल्ला स्वीकृति रूप वे आमवेश्यावृत्ति स्थापित करने जा रहे हैं, इससे बढ़कर हास्यजनक बात और कुछ हो नहीं सकती। साम्यवादियों को वेश्यावृत्ति का परिवर्तन करने की कोई भी ज़रूरत नहीं है। वह तो बहुत पुराने ज़माने से चली आ रही है। हमारे ये पूँजीवादी केवल इस बात पर खुश नहीं हैं कि सर्वहाराओं की बहू-बेटियाँ उनके वश में हैं। इस सम्बन्ध में मामूली वेश्याओं की बात को तो हम जाने देते हैं, किन्तु पूँजीवादी आपस में एक दूसरे की बीबी को फँसाने में अधिक से अधिक आनन्द लेते हैं। पूँजीवादी पद्धति का विवाह वास्तविक रूप में सार्वजनिक बीबियों की

पद्धति मात्र है, इसलिए साम्यवादियों पर जो अधिक से अधिक दोष लगाया जा सकता है, वह यह है कि ढोंग से ढकी हुई इस पद्धति के बजाय वे एक खुली हुई, क़ानून से स्वीकृत, आम स्त्री की प्रथा चलाना चाहते हैं। इसके अलावा यह स्पष्ट है कि वर्तमान उत्पादन पद्धति के पैर उखड़ते ही यह जो आमतौर से औरतों को रखने की प्रथा है, यानी जो सार्वजनिक तथा छिपी हुई वेश्यावृत्ति है, यह भी नष्ट हो जायगी।'

इसके बाद वे बिलकुल विषय पर आते हुए कहते हैं—"दूसरों की ओर से कहा जायगा, 'बेशक धार्मिक, सदाचार सम्बन्धी, दार्शनिक और क़ानून सम्बन्धी विचार ऐतिहासिक विकास के दौरान में परिवर्तित हुए हैं, किन्तु धर्म, सदाचार, दर्शनशास्त्र, राजनीति और क़ानून बराबर इन परिवर्तनों के रहते हुए भी अपने अस्तित्व को क़ायम रखते रहे हैं।' और भी कहा जा सकता है कि 'कुछ चिर-स्थायी सत्य हैं जैसे स्वतंत्रता और न्याय इत्यादि, जो सब समाजों के लिए साधारण हैं; किन्तु साम्यवाद तो इन चिरस्थायी सत्यों को भी हटा देता है। यह सारे धर्मों तथा सदाचारों को हटा देता है, जब कि इसका काम इन्हें एक नये आधार पर स्थापित करना चाहिए था। इस प्रकार जितने भी ऐतिहासिक तजर्बे हुए हैं वह उनके विरुद्ध जाता है।'

"दूसरों के इन सारे अभियोगों का क्या मतलब निकलता है? प्राचीन समाज के सारे इतिहास का सार यही था कि वर्गसंघर्ष का विकास हुआ। हाँ ये संघर्ष विभिन्न समय में, विभिन्न रूप में, अवश्य आये. किन्तु चाहे जिस रूप में संघर्ष हुए हों, प्राचीन युग की यह एक विशेषता रही है कि समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से का शोषण करता रहा, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि प्राचीन युगों की सामाजिक विचारधारा चाहे उसके अन्दर देखने के लिए कितनी भी विभिन्नता और विचित्रता रही हो—कुछ आम विचार तथा सामान्य रूपों के अन्दर घूमती रही। इनका सम्पूर्ण विनाश तभी हो सकता था जब वर्गविरोध ही सम्पूर्ण रूप से खतम हो जाय।"

५—जर्मन विचारधारा में सदाचार पर मार्क्स—कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों में अभिव्यक्त ये विचार काफी स्पष्ट हैं। इसमें यह साफ़ कर दिया गया है कि कोई चिरन्तन सदाचार की धारणा मार्क्स एंगेल्स को मान्य नहीं है। इसलिए

स्वाभाविक है कि जो लोग मार्क्स के मतवाद में Absolute या निरवच्छिन्न मूल्यों की तलाश करते हैं, उन्हें निराशा हो ी। हम इस विषय का और स्पष्टीकरण करेंगे, किन्तु ऐसा करने के पहले यह बता दें कि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों के भी पहले मार्क्स और एंगेल्स ने १८४५-४६ में 'जर्मन विचारधारा' नामक अपनी पुस्तक में अर्थात् अपनी प्रथम रचना में ही सदाचार के सम्बन्ध में अपनी धारणा स्पष्ट कर दी थी। उसमें उन्होंने कहा था कि 'विचारों, धारणाओं तथा चेतना की उत्पत्ति पहले प्रत्यक्ष रूप से भौतिक क्रिया तथा मनुष्यों के भौतिक आदान प्रदान यानी यथार्थ जीवन की भाषा के साथ सन्नद्ध हैं.. मनुष्यों के दिमाग़ों में जो ऊल-जलूल धारणाएँ उठा करती हैं, वे भी उनकी भौतिक जीवन प्रक्रिया के आवश्यक पूरक हैं। उनको प्रयोगात्मक रूप से दिखाया जा सकता है कि वे भौतिक आधारों से बँधे हुए हैं। सदाचार, धर्म, अध्यात्मविद्या तथा चेतना के अन्य स्वरूपों के लिए अब स्वतंत्रता का आभास भी नहीं रह जाता।' इत्यादि। इस पूरे अध्याय में ही इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। लम्बे उद्धरण देने से कुछ फ़ायदा नहीं, इसलिए हमने उद्धरण का सारांश मात्र दे दिया।

६—क्या कोई चिरस्थायी सदाचार है ? कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों में मार्क्स एंगेल्स ने यह जो कहा है कि आर्थिक नींव के ऊपर जो ऊपरी ढाँचा खड़ा होता है, उसी का अंग सदाचार की धारणा भी है, तथा आर्थिक नींव के परिवर्तन के साथ साथ ऊपरी ढाँचे में—हमारे विवेच्य क्षेत्र में सदाचार में परिवर्तन होता है, इसका क्या अर्थ है ? आदिम काल से लेकर अब तक कई समाज पद्धतियाँ स्थापित हुई हैं, और फिर विलुप्त हो गई हैं, किन्तु उन सभी समाज पद्धतियों में उदाहरणार्थ चोरी करना हमेशा ुरा समझा गया है। क्या इससे यह उपसंहार नहीं निकलता कि भले ही प्रत्येक समाज-पद्धतिगत परिवर्तन के साथ साथ सदाचार सम्बन्धी कुछ छोटी मोटी धारणाएँ बदलती रहें, किन्तु कुछ आधारगत धारणाएँ ऐसी हैं जो सब क्रान्तियों के बीच अपरिवर्तित रही हैं ? इसका उत्तर मार्क्स एंगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों में दे दिया, किन्तु चूँकि किसी उदाहरण के साथ इस बात को नहीं कहा, इसलिए उसके कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

७—एंगेल्स का उत्तर—एंगेलस ने एन्टीड्यूरिंग में इसका स्पष्टीकरण किया

है। वे लिखते हैं कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सभी परिवर्तित पद्धतियों में चोरी करना बुरा समझा गया है। 'जिस समय से जंगम वस्तुओं में वैयक्तिक सम्पत्ति की धारणा का विकास हुआ, उस समय से सभी समाजों में जिनमें इस धारणा का उदय हुआ उनमें ऐसे सदाचार तथा क़ानून की उत्पत्ति होना स्वाभाविक था, जिसमें यह कहा गया—Thou shalt not steal या 'अस्तेय परम धर्म है'। क्या इससे यह क़ानून एक चिरन्तन सदाचार सम्बन्धी क़ानून हो जाता है? कदापि नहीं। जिस समाज में चोरी का उद्देश्य ही खतम कर दिया जा चुका है, जिसमें केवल पागल ही चोरी कर सकते हैं, उसमें सदाचार का शिक्षक यदि चोरी के विरुद्ध यह कह कर आवाज़ उठावे कि अस्तेय परम धर्म है, तो उसकी कितनी हँसी उड़ाई जायगी?'[१]

८—मजदूर क्यों न चोरी करें? अस्तेय को परम धर्म साम्यवादीगण चिरन्तन सदाचार के रूप में नहीं मानते ,साथ ही वे उत्पादन में वैयत्कि सम्पत्ति के विरोधी हैं तो क्या हमसे यह अर्थ निकलता है कि कोई मज़दूर किसी पूँजी पति के यहाँ चोरी कर सकता है? नहीं! बात यह है,कि इस प्रकार की चोरी करने से जिस पद्धति को नष्ट करना है वह तो ज्यों की त्यों बनी रहेगी, और घाटे में मजदूरवर्ग की वर्ग एकता टूटेगी। बुखारिन ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'साम्यवादीगण चोरी की निन्दा इसलिए करते हैं कि जो चोरियाँ पूँजीपतियों के यहाँ व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से की जायँगी, उनके परिणाम स्वरूप एक सार्वजनिक संग्राम की सृष्टि तो होगी नहीं, इसके विपरीत मज़दूर चोरी के कृत्य के द्वारा पेटी बर्जुआ में परिणत हो जायगा। घोड़ा चुरानेवाले और ठग वर्गसंघर्ष में लड़ते हुए नहीं दिखलाई देंगे, चाहे वे सर्वहाराओं की ही सन्तानें क्यों न हों। यदि सर्वहाराओं में से अधिक सदस्य चोर हो जायँ तो वर्ग ही बिखर कर शक्तिहीन हो जायगा, इसी लिए साम्यवादीगण चोरी के विरुद्ध हैं। ऐसा होने में उनका उद्देश्य वैयक्तिक सप्पत्ति की रक्षा करना नहीं है, बल्कि अपने वर्ग की एकता की रक्षा करना है, तथा अपने वर्ग को उस 'नैतिक पतन' तथा 'बिखरने' से बचाना है, जैसा बिना किये सर्वहारावर्ग कभी अपने वर्गसंग्राम में विजयी नहीं हो सकता।'[२]

---

१. A. D. E. p. 89. २. H. M. p. 158-9.

९—**बुर्जुआ के अस्तेय में और साम्यवादी के अस्तेय में मौलिक प्रभेद**—इस पर बर्जुआ दार्शनिक हँसकर कह सकता है कि किसी न किसी तरह तुमने यह तो मान ही लिया कि तुम भी चोरी करने को बुरा समझते हो, यह तुम भले ही मुँह से कहते रहो कि अपनी वर्ग-एकता को क़ायम रखने के लिए तुम चोरी को घृणित समझते हो। तुम दूसरे शब्दों में उसे एक नैतिक नियम मान रहे हो, और तुम भी हमारी तरह वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता को मानते हो। इसके उत्तर में साम्यवादी साफ़ साफ़ कह देगा कि यह उसकी भूल है क्योंकि साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति अर्थात् पूँजीवादियों की सम्पत्ति की पवित्रता को स्वीकार नहीं करता। वह इस बात से स्पष्ट है कि साम्यवाद की धारणा में यह अन्तर्निहित है कि किसी दिन जब सब तैयारी पूरी हो जायगी, उस दिन पूँजीवादियों की सम्पत्ति का लुंठन (cxpropriation) होगा। expropriation शब्द कदाचित् चोरी शब्द की तरह अभद्र नहीं ज्ञात होता, किन्तु आखिर इसकी अन्तर्निहित विचारधारा यही है न कि जो वस्तु दूसरे की सम्पत्ति के रूप में वर्तमान समाज-पद्धति में स्वीकृति है उसको, बिना माँगे, जबरदस्ती अपने वर्ग के अधिकार में कर लिया जाय। इसलिए यह स्पष्ट है कि साम्यवादी के मन में चोरी के प्रति जो वितृष्णा है वह घुमाव-फिराव के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता की स्वीकृति नहीं है, बल्कि इसके विपरीत है जिससे वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता को सफलता के साथ तोड़ा जा सके; सफलता के साथ पूँजीवादियों के सब कारखानों को—उनके एक आध पुर्ज़े को या भागों को नहीं—ले लिया जा सके और इस कार्य में जो कुछ बाधा उत्पन्न हो उसका जबरदस्ती मुक़ाबिला किया जा सके, उसी की तैयारी है। इस रूप में गुलाम के मालिक, सामन्तवादी प्रभु तथा पूँजीवादी के अस्तेय और सर्वहारा-वर्ग के अस्तेय की अन्तर्गत वस्तु में पूरी भिन्नता आ जाती है। एक का उद्देश्य वैयक्तिक सम्पत्ति और पूँजी की रक्षा है, और दूसरे का उद्देश्य है उसका सफलतापूर्वक विनाश।

१०—**वर्ग सदाचार**—इन्हीं बातों को अच्छी तरह समझ कर एंगेल्स कहते हैं कि 'हम इसलिए उस चेष्टा को ही नामंजूर करते हैं जो हमारे ऊपर किसी तरह कोई नैतिक संकुचित सिद्धान्त इस रूप में लादती है कि यह चिरन्तन और

अपरिवर्तनीय ऐसे नैतिक नियम हैं जो इतिहास को तथा जातियों के बीच, प्रभेदों के बावजूद लाँघकर अपने दिव्य प्रकाश में खड़े हैं। हम इसके विपरीत यह कहते हैं कि अन्तिम विश्लेषण में सारे नैतिक नियम उस आर्थिक सोपान की उपज हैं जिसमें उस विशेष युग में समाज स्थित है, और चूँकि अब तक समाज वर्ग विरोधों के ज़रिये चलता रहा है; इसलिए सदाचार हमेशा वर्ग सदाचार था। या तो इसने शासक वर्ग के हितों तथा प्रभुत्व का समर्थन किया है, और या ज्योंही शोषित वर्ग यथेष्ट शक्तिशाली हो गया, इसने इस प्रभुत्व के विरुद्ध झंडा बुलन्द किया है, और शोषितों के भविष्य हितों का प्रतिनिधित्व किया है। इस प्रक्रिया में मोटे तौर पर सदाचार में प्रगति हो रही है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है जैसा कि ज्ञान की सभी शाखाओं में हुआ है। किन्तु अब तक हम वर्ग सदाचार के परे नहीं जा पाये हैं। एक वास्तविक रूप से अखिल मानवीय सदाचार, जिसने वर्ग विरोधों तथा उनकी विरासतों को विचारों में पार कर लिया है, समाज की किसी एक मंज़िल में तभी सम्भव होता है जब उसने न केवल वर्ग असंगतियों या विरोधों को पार कर लिया है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में इनको भूल भी गया है।....[1]

उद्धृत अंश में एंगेल्स का वक्तव्य यह है कि कोई चिरन्तन सदाचार की धारणा का प्रश्न समाज के इस सोपान में नहीं उठता। कहा जायगा कि यह तो बहुत ही दुर्नीति पूर्ण बात हुई क्योंकि जब सदाचार में कोई चिरन्तनता नहीं हुई तो इसका अर्थ यह है कि जिसका जो जी चाहे वह वही करे। आम तौर से जो 'शरीफ़' मार्क्सवादी इस बात को मानकर कि मार्क्सवाद में सदाचार पर विचार नहीं किया गया है, उस अंश की पूर्ति करने या यों कहिए कि उतने अंश तक मार्क्सवाद के अन्दर बुर्जुआ विचारों को घुसाने की चेष्टा करते हैं, वे इसी शरीफ़ डर के कारण ऐसा करते हैं कि उनकी समझ में चिरन्तन सदाचार की धारणा को न मानना उच्छृङ्खलता की पैरवी करना है। गहराई के साथ देखने पर यह ज्ञात होगा कि इन 'शरीफ़' मार्क्सवादियों का यह डर तथा इस डर के द्वारा प्ररोचित होकर मार्क्सवाद को 'शरीफ़' बनाने की चेष्टा एक निर्मूल धारणा पर आधारित है।

१. A. D. E. p. 89.

एंगेल्स ने तो बिलकुल इसके विपरीत बात कही है। उनका कहना यह है कि सदाचार की धारणा अपरिहार्य रूप से जिस वर्ग के हित में होती है उसके साथ बँधी होती है। फिर भी इसमें उच्छृङ्खलता की या मनमाना करने की गुँजाइश कहाँ है? इसलिए सदाचार की एक चिरन्तन धारणा को न मानना उच्छृङ्खलता के बिलकुल विपरीत है।

११—अगम्यागमन मूलक सदाचार—मार्क्स के वैज्ञानिक समाज-शास्त्र में सदाचार को वर्ग के साथ बँधा हुआ बतलाया गया है। स्वाभाविक रूप से ज्यों-ज्यों वर्गों का भाग्य परिवर्तन हुआ, या समाज का वार्गिक सम्बन्ध बदला त्यों-त्यों समाज बल्कि उस वर्ग की सदाचार सम्बन्धी धारणा में भी परिवर्तन होता गया। इतिहास यही बताता है। आदिम यौथ समाज में स्त्री और पुरुष में जो सम्बन्ध थे, वे अब नहीं रहे। नतीजा यह है कि अब की धारणा में और तब की धारणा में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। सभी जातियों के इतिहासों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कभी इस सम्बन्ध में मनुष्य की धारणाएँ बिलकुल निम्न-पशुवत् थीं। कभी मातृगमन और भगिनी-गमन भी उचित समझा जाता था। इस युग की अनुश्रुतियों को साहित्य से बहुत प्रयत्न से मिटाया गया है, फिर भी कुछ उदाहरण रह ही गये हैं जिनसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मातृ-गमन और भगिनीगमन का भी एक युग था। ईरानियों के प्राचीनतम साहित्य में मातृगमन और भगिनीगमन का उल्लेख मिलता है। पहलवो यश्न, अरदानिराफ की पुस्तक, दिनकर्द, दादिस्तानी दिनिक आदि पुस्तकों में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे ज्ञात होता है किसी युग में ईरानियों में रव्वायतदास अर्थात् निकट सम्बन्धियों में विवाह करने की प्रथा थी। ग्रीक, रोमन, आरमिनियन, अरब तथा चीनी लेखकों ने ईरान में इस प्रकार की प्रथाओं के बाद तक होने का उल्लेख किया है। बाद को रव्वायतदास शब्द का अर्थ, चचा की लड़की से शादी कर दिया गया, किन्तु पहले के युग में इसका अर्थ कुछ और ही था। बारथलोमी ने यह दिखलाया है कि राजा विस्तास्व की रानी हुतोवासा उनकी बहन थी। हारलेज नामक विद्वान् ने स्पष्ट लिखा है कि ईरान के धर्मशास्त्र के अनुसार जिसे बाद को अगम्यागमन कहने लगे, उस प्रकार की शादियाँ होती थीं।

ईसाइयों के Genesis (१९।३०) नामक धर्मग्रन्थ में ऐसी कहानी आती

है कि महात्मा लूत ने अपनी कन्या के साथ संगम किया, कम से कम इस काम के लिए उनकी कोई निन्दा नहीं हुई।

१२—भारतीय आर्यों में भी अगम्यागमन मूलक सदाचार—पुराणों में भाई और बैहन की शादियों के बहुत से उदाहरण हैं। हम इनके ब्योरे में न जायँगे। जिनको इस सम्बन्ध में ब्योरा जानने की इच्छा हो वे हमारी अन्य पुस्तक, जो विशेषकर नारी तथा विवाह प्रथा के विकास के सम्बन्ध में है, पढ़ें। उसमें यह भी दिखलाया गया है कि न केवल भगिनीगमन बल्कि वेदों में भी मातृगमन की भी अनुश्रुतियाँ मौजूद हैं। इस विषय में ब्योरे में न जाते हुए भी यम, यमी की कहानी को उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। यमी यम की बहन है, किन्तु वह यम से कहती है कि तुम मेरे साथ पति का व्यवहार करो। इस पर यम राज़ी नहीं होता। वह मना कर देता है। यम ने कहा, हम-तुम भाई-बहन हैं, वरुण यह सब देख रहे होंगे, अतएव यह नहीं हो सकता। इस पर यमी क्रुद्ध हो जाती है, और कहती है कि धर्म के विषय में बढ़-बढ़कर बातें करते हो, किन्तु पहले के युग में धर्म का क्या रूप था, यह तुम क्या जानो। दूसरे शब्दों में यमी यम से कहती है कि यह जो नया सदाचार है, इसके अनुसार तुम्हारा हमारा आलिंगन भले ही गर्हित समझा गया हो, किन्तु प्राचीन सनातन धर्म के अनुसार इसमें कोई दोष नहीं है। हमें ज्ञात है कि हिन्दू धर्मशास्त्र में यम धर्मराज समझे गये हैं, इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हो सकता है कि यम ने अपने आचरण के द्वारा भाई-बहन के मैथुन पर समाज द्वारा अभी लगी हुई रोक को दृढ़ बनवा कर अन्तिम करा दिया। इसी लिए वे धर्मराज समझे गये। सन्देह नहीं, समाज के इतिहास में यह एक बहुत बड़ा अगला क़दम था। इसलिए यदि यम धर्मराज समझे गये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

१९वीं सदी में मौजूद कुछ आदिम जातियों में मातृगमन और भगिनी-गमन जीवित प्रथा के रूप में पाया गया है। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि हम जिस मातृगमन और भगिनीगमन की बात कर रहे हैं, वह एक सामाजिक प्रथा के रूप में था और है न कि किसी व्यक्ति के चुपके से किये हुए अपराध के रूप में। शेषोक्त रूप में तो ये बातें अत्यन्त सभ्य समाजों में होती पाई गई हैं,

किन्तु यहाँ सदाचार पर आलोचना के सिलसिले में उन घटनाओं का कोई प्रश्न नहीं उठता।

१३—**वैयक्तिक सम्पत्ति के उदय के साथ नये सदाचार का उदय**—मातृ-गमन और भगिनी-गमन के युग के अन्त के बाद बहुत दिनों तक यौथ समाज में दूसरी तरह के यौथ विवाह मौजूद थे। इस युग में समाज की प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी होती थी। बाद को इसमें गोत्र-सम्बन्धी रोक-टोक हुई, अर्थात् एक गोत्र की स्त्रियाँ किसी विशेष गोत्र के पुरुषों की पत्नियाँ होने लगीं। वैयक्तिक सम्पत्ति के उदय तक यह प्रथा क़ायम रही। समाज का उत्पादन यौथ था विवाह भी यौथ था। जब उत्पादन वैयक्तिक होने लगा तब विवाह तथा स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का रूप भी वैयक्तिक हो गया। जब पहले-पहल जोड़े की शादी का रिवाज़ इक्का-दुक्का रूप में होने लगा तो यौथ समाज के लोग उसको बहुत बुरी दृष्टि से देखने लगे। पुराने सदाचारवाले नये सदाचार को बुरा समझने लगे। इस प्रकार नये और पुराने सदाचार में जो बहुवर्षव्यापी संग्राम हुआ होगा, उसका इतिहास हमें ज्ञात नहीं है, केवल कुछ झलक मालूम हो जाती है। जो हो, वैयक्तिक सम्पत्ति और वर्ग-समाज के साथ-साथ आधार-गत रूप से एक नये सदाचार का उदय हुआ। अब चूँकि सामाजिक उत्पादन में नारी का स्थान निकृष्ट हो चुका था, इसलिए नवीन सदाचार में स्त्री का स्थान भी निकृष्ट हो गया। कहाँ पहले के समाज में माँ पर लड़के लड़कियाँ परिचय देती थीं (सत्यकाम जाबलि के उपाख्यान में हम इसके अवशेष को उपनिषद् साहित्य में पाते हैं) और कहाँ अब धीरे-धीरे स्त्रियों पर तरह-तरह के बन्धन होने लगे। यद्यपि ऋग्वैदिक युग के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उस युग में स्त्रियाँ अपेक्षाकृत रूप से स्वतन्त्र थीं, उस युग में स्त्रियों को अपने पति चुनने का अधिकार था, फिर भी उसी युग में विवाह के बाद स्त्रियों की स्वतन्त्रता बहुत कुछ घट जाती थी और उन्हें शायद मकान के एक ख़ास हिस्से में रहना पड़ता था।

नये सदाचार में स्त्रियाँ अब व्यक्ति विशेष की पत्नियाँ होने लगीं। स्त्रियों के लिए यह सदाचार हो गया कि वे अपने पति के अतिरिक्त किसी पुरुष का संसर्ग

विवाह कर सकते थ, फिर वे लौंड़ियाँ रख सकते थे। इसके अतिरिक्त इसी युग में किसी न किसी रूप में वेश्याओं का भी उदय हुआ। पुरुष वेश्यागमन भी कर सकते थे, और करते थे। आज भी हम वर्ग समाज में ही हैं, और स्त्रियों की अवस्था आज भी पुरुष से निकृष्टतर है। ईसाई देशों या उन देशों में जहाँ पूँजीवाद का उदय पहले-पहल हुआ, पुरुष अब दो स्त्रियों से एक साथ विवाह नहीं कर सकता, किन्तु पुरुष का व्यभिचार-सम्बन्धी अधिकार सुरक्षित है। प्रत्येक यूरोपीय राजधानी में तथा अन्य नगरों में वेश्याओं की एक पूरी सेना पुरुष के यौन जीवन में वैचित्र्य लाने के लिए मौजूद है। यों नीति पुस्तकों में चाहे जो भी लिखा हो, किन्तु यदि एक स्त्री का एक बार भी पैर फिसल जाता है और बात खुल जाती है तो समाज उसे दुराचारिणी करार देता है। उसका जीवन दूभर हो जाता है, किन्तु पुरुष के लिए यह एक मा ूली बात है। यदि पु ष का पैर फिसल गया तो उसे लोग कतई बुरा नहीं समझते।

१४—एक ही युग में पुरुष और स्त्री के लिए अलग अलग सदाचार—इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न युग में विभिन्न सदाचार रहे। केवल यही नहीं, एक वर्ग के होते हुए भी समाज के उत्पादन में विभिन्न स्थान तथा हैसियत होने के कारण हम यह देख चुके हैं कि पुरुष और स्त्री के लिए समाज की ओर से विभिन्न सदाचार बने हैं। कुरान शरीफ़ के अनुसार (स्मरण रहे यह ईश्वरीय वाणी है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यह ईश्वर वर्ग समाज के पुरुषों का ईश्वर है) एक पुरुष एक साथ चार शादियाँ तक कर सकता है। पुरुष के लिए स्त्री को तलाक़ दे देना बात की बात में सम्भव है, किन्तु यदि पुरुष न चाहे तो इसी ईश्वरीय वाणी के अनुसार स्त्री तलाक नहीं दे सकती। हिन्दुओं में तो परिस्थिति इससे कहीं खराब है। अब हिन्दू एक विवाह का क़ानून शायद बन जाय, किन्तु फिर भी धार्मिक रूप से पुरुष के एकाधिक विवाह में कोई बाधा नहीं रहेगी। विधवाओं और विधुरों के साथ पुरुष प्रधान समाज जिस भिन्न प्रकार के सदाचार की आशा रखता है, वह सुपरिचित है। केवल इतना कह देने से ही बात साफ़ नहीं होती कि वर्ग समाज में सदाचार की धारणा वर्गमूलक है। यह तो आधारगत रूप हुआ, किन्तु इसी के साथ हम यह देखते हैं कि वर्ग का जो मूल है अर्थात् सामाजिक उत्पादन से सम्बन्ध, इसमें प्रभेद के कारण दृश्य-

मान एक वर्ग के सदस्य पुरुष और स्त्री के लिए सदाचार की धारणा में भिन्नता आ जाती है। इस भिन्नता के आधार में भी जैसा कि हम बता चुके हैं, वही सामाजिक सम्बन्ध बल्कि और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय तो स्त्री और पुरुष का उत्पादन-सम्बन्ध मौजूद है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हमें किसी चिरन्तन सदाचार का पता नहीं लगता, इतना तो स्पष्ट हो गया, और यह भी साफ़ हो गया कि विभिन्न सदाचारों के आधार में क्या सम्बन्ध स्थित है।

१५—हिन्दू धर्मशास्त्र में अस्तेय चिरन्तन धर्म नहीं—अब हम यह देखें कि वैज्ञानिक समाज-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य मतों में भी कहीं कथित चिरन्तन सदाचार का कुछ पता है या नहीं। चोरी करने के उदाहरण को ही लिया जाय। शास्त्रों में इसे अस्तेय कहा है। धर्म के प्रधान लक्ष्यों में अहिंसा, सत्य आदि के साथ अस्तेय को भी गिनाया गया है। किन्तु इस अस्तेय को भी चिरन्तन सदाचार नहीं माना गया। अत्यन्त कट्टर धर्मशास्त्रों में भी अस्तेय को सभी हालतों में धर्म नहीं माना गया। लोकमान्य तिलक लिखते हैं 'यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि न्यायपूर्वक प्राप्त की हुई किसी की सम्पत्ति को चुरा ले जाने या लूट लेने की स्वतन्त्रता दूसरों को मिल जाय तो द्रव्य का संचय करना बन्द हो जायेगा, समाज की रचना बिगड़ जायगी।' दूसरे शब्दों में लोकमान्य तिलक बिलकुल साफ़ यह कह रहे हैं कि चोरी करना वैयक्तिक सम्पत्ति के मूल में कुठाराघात करना है। इस कथन में कितनी ऋजुता के साथ इस धर्म के पीछे की असली बात सामने आ जाती है। किन्तु क्या धर्मशास्त्र इस अस्तेय को भी एक चिरन्तन सदाचार के रूप में मानते हैं? नहीं? लोकमान्य तिलक की ही ज़बानी सुना जाय। वे कहते हैं "परन्तु इस नियम के भी अपवाद हैं। जब दुर्भिक्ष के समय मोल लेने, मजदूरी करने या भिक्षा माँगने से भी अनाज नहीं मिलता, तब ऐसी आपत्ति में यदि कोई मनुष्य चोरी करके आत्मरक्षा करे तो क्या वह पापी समझा जायगा? महाभारत (शान्ति-पर्व १४१) में यह कथा है कि किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा, और विश्वामित्र पर बहुत बड़ी आपत्ति आई, तब उन्होंने किसी चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुए। उस समय चाण्डाल ने विश्वामित्र को 'पंच पंच-नखाः भक्ष्याः' इत्यादि शास्त्रार्थ बतलाकर अभक्ष्य-भक्षण और वह

भी चोरी से न करन के विषय में बहुत उपदेश किया। परन्तु विश्वामित्र ने उसको डाँटकर कहा 'अरे, यद्यपि मेढक टर्र-टर्र करते हैं तो भी गाय पानी पीना बन्द नहीं करती। चुप रह। मुझको धर्म-ज्ञान बताने का तेरा अधिकार नहीं है। व्यर्थ अपनी तारीफ़ न कर।' उसी समय विश्वामित्र ने यह भी कहा कि यदि ज़िन्दा रहेंगे तो धर्म का आचरण कर सकेंगे, इसलिए धर्म की दृष्टि से मरने की अपेक्षा जीवित रहना श्रेयस्कर है। मनु ने अजीगर्त, वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियों के उदाहरण दिये हैं, जिन्होंने ऐसे संकट के समय इस प्रकार के आचरण किये हैं।"

१६—हाब्स और मिल भी अस्तेय को चिरन्तन सदाचार नहीं मानते— लोकमान्य तिलक ने इसी सिलसिले में हाब्स के Leviathan से उद्धृत कर यह दिखलाया है कि हाब्स के अनुसार भी किसी कठिन अकाल के समय जब अनाज मोल न मिले या दान भी न मिले, तब पेट भरने के लिए यदि कोई चोरी या साहस कर्म करे, तो उसका यह अपराध माफ़ समझा जाता है। लोकमान्य ने और भी दिखलाया है कि हितवाद के प्रसिद्ध प्रतिपादक जान स्टुअर्ट मिल ने तो यहाँ तक लिखा है कि ऐसे समय चोरी करके अपना जीवन बचाना मनुष्य का कर्त्तव्य है।[१]

इस प्रकार कट्टर हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार भी चोरी ऐसे मामले में भी कोई ऐसा निरवच्छिन्न नियम नहीं प्राप्त होता जिसका किसी भी हालत में लंघन न किया जा सके। फिर जीवन के सम्बन्ध में या उसके विषय में चिरन्तन, चिरस्थायी मूल्यों की खोज करनेवालों का वस्तु जगत् में अस्तित्व कहाँ रह जाता है। 'शरीफ़' हिन्दू धर्मशास्त्रों में भी ऐसे मोटे मामलों में निरवच्छिन्न चिरन्तन सदाचार के प्रतिपादन की चेष्टा नहीं है।

१७—क्या सम्पत्ति चोरी नहीं है? अब हम इसी चोरी के दूसरे पहलू को देखें। सबसे मौलिक बात यह है कि चोरी किसे कहते हैं। क्या रात के समय ताला तोड़कर या सेंध मारकर किसी के घर में घुसकर बिना माँगे उसके सामान को उठा ले जाना ही चोरी है? गुलाम का मालिक गुलाम से जो काम लेता

---

१ गी० र० पृ० ३९

है यानी उसे कुत्ते बिल्ली की तरह रूखा-सूखा देकर और साथ-साथ शायद उसके हाजमे को बढ़ाने के लिए उसे डंडों से पीटकर जो काम लेता है क्या वह चोरी नहीं है? सामन्तवादी प्रभु किसान ग़ुलाम से अपने खेत पर जो काम या बेगार लेता है, या पूँजीवादी मजदूर को मुश्किल से जीवन धारण के लिए पैसे देकर उसके श्रम से जो अतिरिक्त कार्य और नाफा उत्पन्न करता है, क्या यह ोरी नहीं है? प्रुधों ने तो यहाँ तक कह दिया था कि सभी सम्पत्ति चोरी है। प्रुधों क्यों, उससे भी पहले ब्रिसों ने इन्हीं शब्दों में १७८९ के पहले ही सम्पत्ति का व न किया था।[१] इन लोगों के अनुसार तो सम्पत्तिवाले चोर या डाकू हैं। यदि ग़ुलाम, अर्द्ध ग़ुलाम और मजदूर की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि इनके मालिकों की सम्पत्तियाँ चोरी के माल से बनी हैं। कहा जायगा कि यह धारणा बहुत एकदेशीय है, हाँ, यह एकदेशीय है, किन्तु है बिलकुल सत्य। इससे यह ज्ञात हुआ कि वर्ग-समाजों में विशेष विशेष प्रकार की चोरियाँ शराफ़त में शामिल हैं, और इन चोरियों को चोरी नहीं समझा जाता।

१८—बुर्जुआ समाज में चोरी का अपराध—सम्पत्तिवाले लोग चोरी से बहुत घबड़ाते हैं, किन्तु उनकी सम्पत्ति ही दूसरों के शोषण और लूट-खसोट पर आधारित है। इस बात को जाने दिया जाय कि ये सम्पत्तिवाले लोग कहाँ तक चोर हैं। हम इस प्रश्न को दूसरे, पहलू से देखें। यदि हम सम्पत्तिवालों के क़ानून की किताबों को देखें तो ज्ञात होगा कि सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों को वे कितना महत्त्व देते हैं, इँगलैंड के ृह-विभाग ने अपराधों का एक वर्गीकरण किया है। यह कोई आदर्श वर्गीकरण नहीं है, किन्तु इस वर्गीकरण से पता लगता है कि समाज के शासक वर्ग को अपनी सम्पत्ति की कितनी फ़िक्र है। अपराधों के छः विभाग किये गये हैं—

(१) व्यक्ति के विरुद्ध अपराध।
(२) ज़बरदस्ती के साथ सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध।
(३) बिना ज़बरदस्ती के सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध।

---

१. M. E. C p. 171.

(४) ईर्ष्यापूर्ण तरीक़े से सम्पत्ति को नुक़सान पहुँचाने के सम्बन्ध में अपराध।

(५) सिक्का पद्धति के विरुद्ध अपराध, जिसमें जालसाजी भी आ जाती है।

(६) दूसरे अपराध।[१]

यह द्रष्टव्य है कि अपराध के छः विभागों में चार सम्पत्ति के विरुद्ध हैं।

१९—इँगलैंड में १८३२ तक चोरी के लिए फाँसी—इँगलैंड का 'सुसभ्य शासक वर्ग कुछ समय पहले तक मामूली चोरी के लिए फाँसी की सज़ा देता था। १८१० में इँगलैंड में कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव किया कि किसी दूकान से पाँच शिलिंग तक का सामान चुराने पर फाँसी न हो। यह विचार इतना क्रान्तिकारी समझा गया कि एलनबरो ने, जो उन दिनों इँगलैंड के मुख्य न्यायाधीश थे, कहा था 'मैं इस सम्बन्ध में सब न्यायाधीशों से सहमत हूँ कि सार्वजनिक अमन की दृष्टि से इस ढंग के अपराधियों के विरुद्ध आतंक को किसी प्रकार शिथिल न किया जाय।' इसी विषय पर बोलते हुएउन्हों ने और भी कहा था 'आप लार्ड लोग सम्पत्ति की हिफ़ाज़त के विरुद्ध इस नये क़ानून पर राय देने के पहले खूब सोच लें। यदि हम लोगों ने इस बिल को पास होने दिया तो हमें नहीं मालूम होगा कि हम कहाँ हैं और हम अपने पैरों पर खड़े हैं या सिर पर।' जब ऐसे ऐसे महान् वक्ता वहाँ मौजूद थे तब उस बिल की जो गति होनी चाहिए वही हुई। इस बिल के विरुद्ध वोट आये। आर्कविशप कैन्टरबरी तथा अन्य छः धर्म याजकों ने नये बिल के विरुद्ध वोट दिया था। आर्कविशप कैन्टरबरी इँगलैंड के धर्मगुरु समझे जाते हैं, किन्तु वे अपने को किस प्रकार शासकों के हितों के संरक्षक समझते हैं, यह उनके इस प्रकार वोट देने से ही स्पष्ट है। ऐसा क्यों न होता, क्योंकि यदि दूसरे लार्ड ऐहिक लार्ड हैं, तो वे अध्यात्मिक लार्ड हैं। जो हो, यह जानना दिलचस्प होगा कि वैयक्तिक सम्पत्ति के इन्हीं संरक्षकों के मारे इँगलैंड में १८३२ तक इस सम्बन्ध के क़ानून में कोई सुधार न हो सका।

स्मरण रहे कि १८३२ का युग औद्योगिक क्रान्ति तथा आमसुधारों का युग

---

१. C. H. W. p. 15.

था, फिर फ़ौजदारी क़ानून के क्षेत्र में जो सुधार हुए उसके फलस्वरूप अपराधियों के साथ अब नरमी का व्यवहार होने लगा। वह शासकों की परोपकारी वृत्ति से नहीं, बल्कि दूसरे ही कारण से। सजा देनेवाले न्यायाधीश तथा उनके जूरियों को धीरे-धीरे ऐसा मालूम होने लगा कि छोटे-छोटे अपराधों के लिए फाँसी देना अन्याय है, किन्तु क़ानून यही कहता था कि यदि अपराध किया है तो फाँसी अवश्य होगी। इसलिए न्यायाधीशों और जूरियों ने एक दूसरा ही रास्ता ढूँढ़ निकाला। अदालत में कोई भी इस प्रकार का अपराधी आता तो अक्सर सज़ा देनेवाले न्यायाधीश और जूरी उसे पक्का अपराधी जानते हुए भी निरपराध क़रार देते थे, और उसे मुक़दमें से बरी कर देते थे। इस पर सम्पत्तिवालों में बड़ी घबराहट हुई। उन्होंने देखा कि जूरी लोग सत्य के प्रति लिए हुए हलफनामे को तोड़ देते हैं, जानबूझकर अपराधियों को छोड़ देते हैं, तब उन्होंने कोशिश कराकर क़ानून बदलवा दिया और बहुत से अपराधों को प्राणदण्ड वाले अपराधों से निकलवा दिया। १८३७ तक जालसाज़ी के लिए फाँसी हो सकती थी किन्तु उल्लिखित कारण से शायद किसी जालसाज़ को मुश्किल से सजा होती थी। तब उसी साल लन्दन के बैंक-वालों ने सरकार को एक दरख्वास्त दी। इसमें उन्होंने इस अपराध को प्राणदण्ड वाले अपराधों में से निकलवा देने की सिफ़ारिश की।[१]

हमें यहाँ पर अपराधों और सजाओं का इतिहास नहीं देना है, किन्तु चोरी के सिलसिले में जो कुछ भी इतिहास हमने दिया, उससे स्पष्ट हो गया कि दण्ड-विज्ञान में जो कुछ भी उन्नति हुई वह सम्पत्तिवालों की उदारता के कारण नहीं बल्कि स्वार्थों के कारण हुई। रहा यह कि सम्पत्तिवाले चोरी को कितना बुरा समझते हैं, यह इससे स्पष्ट है। यदि उनका बस चलता तो चोरी को वे प्राणदण्डवाले अपराधों में ही रक्खे रहते।

२०—धर्मशास्त्रों में अहिंसा भी चिरन्तन धर्म नहीं—धर्मशास्त्रों में चोरी की तरह अहिंसा मिथ्याभाषण आदि के सम्बन्ध में कोई सार्वकालिक तथा सार्व-देशिक नियम नहीं मिलता। कट्टर से कट्टर तथा अत्यन्त अपरिवर्तनवादी धर्म या धार्मिक सदाचार भी इनके विषय में विभिन्न देश तथा विभिन्न काल में विभिन्न

---

१ वही पृ० ३९

नियमों का होना दबी आवाज़ में मानते हैं। कहना न होगा कि जहाँ एक बार यह मान लिया गया कि विभिन्न देश और विभिन्न काल में सदाचार की धारणा भिन्न हो सकती है, वहीं सदाचार के मूल उत्स के रूप में कोई चिरन्तन नियमावली नहीं रह जाती।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में अहिंसा को पहला स्थान दिया गया है। यों तो अहिंसा की व्याख्या में किसी प्राणधारी के मन को भी न दुखाना आ जाता है, किन्तु आमतौर पर कम से कम नरहत्या न करना तो इसमें आ ही जाता है। ऐसा होते हुए भी इस नियम के सैकड़ों अपवाद माने गये हैं। फिर एकबार हम लोकमान्यतिलक के ग्रन्थ की सहायता लेंगे। वे लिखते हैं "कल्पना कीजिए कि हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिए अथवा हमारे घर में आग लगाने के लिए या हमारा धन छीन लेने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर तैयार हो जाय, और उस समय हमारे पास हमारी रक्षा करनेवाला कोई न हो तो उस समय हमें क्या करना चाहिए।...मनु कहते हैं, ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले, यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता, किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म से ही मारा जाता है।...यज्ञ में पशु का वध करना वेद ने भी प्रशस्त माना है...। महाभारत में अर्जुन कहते हैं 'इस जगत् में ऐसे ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से देख नहीं पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है (अब तो अणुवीक्षण यंत्र से हम इन प्राणियों को रेंगते हुए देख सकते हैं)—ऐसे जन्तु हैं कि यदि हम अपनी आँखों के पलक हिलावें तो उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो जाता है।'...फिर यदि सब लोग हिंसा छोड़ दें तो क्षात्र धर्म कहाँ और कैसे रहेगा? यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय तो प्रजा की रक्षा कैसे होगी? सारांश यह कि नीति के सामान्य नियमों से ही सदा काम नहीं चलता। नीति-शास्त्र के प्रधान नियम अहिंसा में भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पड़ता है। अहिंसा धर्म के साथ क्षमा, दया, शान्ति आदि गुण शास्त्रों में कहे गये हैं, परन्तु सब समय शान्ति से कैसे काम चलेगा? सदा शान्त रहनेवाले मनुष्यों के बालबच्चों को भी दुष्ट लोग हरण

किये बिना नहीं रहेंगे। इसी कारण का उल्लेख करके प्रह्लाद ने अपने नाती राजा बलि से कहा था 'सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता, इसलिए हे तात! पंडितों ने क्षमा के लिए कुछ अपवाद भी कहे हैं।"

२१—मिथ्या भाषण भी धर्म हो सकता है—इसी प्रकार सत्य के लिए शास्त्रकारों का कहना था कि हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा। मनु ने सत्य के विषय में लिखा है 'मनुष्यों के सब व्यापार वाणी से हुआ करते हैं, एक के विचार दूसरे को बताने के लिए शब्द के समान अन्य साधन नहीं है। वही सब व्यवहारों का आश्रय स्थान और वाणी का मूल सोता है। जो मनुष्य उसे मलिन कर डालता है अर्थात् जो वाणी की प्रतारणा करता है, वह सब पूँजी की ही चोरी करता है।' इस पर लोकमान्य तिलक यह मन्तव्य करते हैं "क्या इस बात की कभी कल्पना की जा सकती है कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है; उसके लिए भी कुछ अपवाद होंगे? परन्तु दुष्टजनों से भरे हुए इस जगत् का व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिए कि कुछ व्यक्ति चोरों से पीछा किये जाने पर आपके सामने किसी स्थान पर जाकर छिप रहे। इसके बाद हाथ में तलवार लिए चोर आपके पास आकर पूछने लगे कि वे आदमी कहाँ चले गये? ऐसी अवस्था में आप क्या कहेंगे? क्या आप सच बोलकर सब हाल कह देंगे या उन निरपराध मनुष्यों की रक्षा करेंगे? शास्त्रों के अनुसार निरपराध जीवों की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्त्व का धर्म है। शास्त्रों के ही अनुसार यदि कोई अन्याय से प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर नहीं देना चाहिए। यदि मालूम भी हो तो सिड़ी की तरह हूँ हूँ करके बात बना देना चाहिए। तो क्या हूँ हूँ करना और बात बना देना एक तरह से असत्य भाषण नहीं है? महाभारत में कई स्थानों पर आया है 'न व्याजेन चरेद्धर्मम्' यानी धर्म से बहाना करके मन का समाधान नहीं कर लेना चाहिए. . .। सब धर्मों का रहस्य जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसे ही चोरों की कहानी का दृष्टान्त देकर अर्जुन से तथा भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर से कहा था कि यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है

---

१. गी० र० पृ० ३२

कि बिना बोले छुटकारा हो सके तो कुछ भी बोलना न चाहिए और यदि बोलना आवश्यक हो, अथवा न बोलने से कुछ सन्देह होना सम्भव हो, तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक प्रशस्त है। इसका कारण यह है कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चार के लिए नहीं है, अतएव जिस आचरण से सब लोगों का कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ इस कारण से निन्दनीय नहीं माना जा सकता कि शब्दोच्चार यथार्थ है।"

२२—ईसाई धर्म को भी चिरन्तन सदाचार मान्य नहीं—लोकमान्य का गीता रहस्य धार्मिक सदाचार की एक सुन्दर पाठ्य पुस्तक है। उसी पुस्तक में लोकमान्य ने हिन्दू धर्म शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के भी उदाहरण देकर अपने वक्तव्य को स्पष्ट किया है। लोकमान्य ने दिखलाया है कि केवल हिन्दू धर्म में ही इस प्रकार के अपवाद स्वीकृत नहीं है बल्कि ईसा के मुख्य शिष्य पाल भी बाइबिल (रोम ३।७) में कहते हैं 'यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा होती है (अर्थात् ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है) तो उसमें मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ।' ईसाई धर्म के इतिहासकार मिलमैन भी इस बात को मानते हैं कि कई बार ईसाई धर्मोपदेशकों ने इस प्रकार के आचरण किये हैं। ईसा-मसीह के विषय में कहा गया है कि उनकी राय से दो हज़ार सुअर, जिन पर कहा जाता था भूत चढ़ गया है, डुबा दिये गये। ईसा के विषय में यह भी कहा जाता है कि वे कई बार व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियमो के विरुद्ध आचरण करते थे, और उनके प्रधान चेलों के विषय में यह बताया गया है कि वे कई बार दूसरों के खेतों का अनाज ले लिया करते थे। हालबाख और हेलवेसियस ने इन्हीं बातों को लेकर ईसाई धर्म का बहुत मज़ाक उड़ाया था।[१]

२३—आधुनिक लेखक भी स्थायी सदाचार मूल्य नहीं मानते—केवल ईसाई तथा हिन्दू धर्मशास्त्रों की बात नहीं, प्रत्युत आधुनिक लेखकों ने भी कई मौकों पर झूठ बोलने का समर्थन किया है। 'छोटे लड़कों और पागलों को उत्तर देने के समय, इसी प्रकार बीमार आदमियों को (यदि सच बात सुना देने से उनके

---

१. E. H. M. p. 44.

स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भय हो), अपने शत्रुओं को, चोरों को और यदि बिना बोले काम न बने तो जो अन्याय से प्रश्न करे उसको उत्तर देते समय अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है। मिल के सदाचार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ में इन अपवादों का समावेश किया गया है। इन अपवादों के अतिरिक्त सिजविक अपने ग्रन्थ Methods of Ethics में लिखते हैं कि यद्यपि सब लोगों को सच बोलना चाहिए, तथापि हम यह नहीं कह सकते कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कारवाई गुप्त रखनी पड़ती है वे तथा व्यापारी ग्राहकों के साथ हमेशा सच ही बोला करें। किसी अन्य स्थान में वे लिखते हैं कि यही रियायत पादरियों और सिपाहियों को मिलती है।[१] इस प्रकार अन्य अनेक आधुनिक लेखकों ने सभी नैतिक नियमों में अपवाद बतलाया है। यह द्रष्टव्य है कि अच्छे से अच्छे शरीफ़ बुर्जुआ लेखक वकील, डिप्लोमैट या राज-पुरुष, पादरी, सिपाही, डाक्टर आदि कई पेशे के लोगों को क़रीब क़रीब हर समय झू बोलने का अधिकार दे देते हैं। सबसे आश्चर्य यह है कि इस सूची में पादरी भी मौजूद हैं। स्मरण रहे, ये सभी लोग समाज के स्तम्भ होते हैं। ऐसी हालत में बुर्जुआ सदाचार में या निरवच्छिन्नता अथवा स्थायी मूल्य कहाँ रह गये ?

२४—प्रेगमेटिकवाद और फासिवाद में सत्य—राइखस्टाइग अग्निकाण्ड— इस युग में प्रेगमेटिकवाद पाश्चात्य में अर्थात् पूँजीवादी देशों में बहुत आदृत हुआ है। इस मतवाद के अनुसार सत्य वही है जिससे बोलनेवाले को फ़ायदा रहे। प्रेगमेटिकवाद अति आधुनिक बैंक ूँजीवादी वर्ग का दर्शन शास्त्र है। इसलिए सत्य की यह परिभाषा कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। फासिवाद ने प्रेगमेटिकवाद में स्वीकृत सत्य की इसी परिभाषा को ग्रहण किया था, और उनका सारा प्रचार-कार्य झूठों के ताने-बाने से तैयार होता था। ऐसे ही झूठों में नार्डिक जाति की प्रधानता तथा Deutsch land uber alles का नारा था। अति आधुनिक इतिहास में जर्मन राइखस्टाग या पार्लियामेंट के अग्निकाण्ड का क़िस्सा बहुत ताजा है। शायद जिन लोगों ने हिटलर, गोरिंग, गोवेल्स की योजना के अनुसार इस कृत्य को किया था, उन्हें मौत के घाट उतार कर हमेशा के

---

१. गी० र० पृ० ३५

लिए उनके मुँह बन्द कर दिये गये थे, और अब तो प्रधान नात्सी नेताओं के मारे जाने के कारण शायद इस क़िस्से की असलियत को जाननेवाला कोई रह नहीं गया। फिर भी यह सभी जानते हैं कि यह अग्निकाण्ड नात्सियों का ही कराया हुआ था। साम्यवादियों को बदनाम करने के लिए तथा उनके दमन करने का एक बहाना ढूँढ़ने के लिए यह महान् दुष्कृत्य किया गया था। इस प्रकार राष्ट्र सूत्रधारों की ओर से एक प्रकाण्ड मिथ्या को इतिहास के रूप में पेश करने की चेष्टा की गई।

२५ जिनोविव का पत्र—इस पर कदाचित् यह कहा जाय कि फासिवादी तो फासिवादी ही थे, सब दुर्गुणों के आधार थे, किन्तु ज़रा गहराई से देखने पर हम क्या पाते हैं? हम देखते हैं कि बड़े बड़े प्रतिष्ठित राष्ट्रों ने सत्य का गला हर मौक़े पर घोंटा है। हिटलर के वादे तो इतिहास में मशहूर हैं। जब भी वह किसी देश को हड़पता था तो फ़ौरन कहता था कि हमारी भूमि सम्बन्धी भूख तृप्त हो गई, अब हमें कुछ न चाहिए। फिर थोड़े दिनों बाद वह एक नये मुल्क को दबाता था, किन्तु क्या अन्य राष्ट्रों ने इससे अच्छे आदर्श रक्खे हैं? १९२४ में जब इँगलैंड में चुनाव होनेवाला था तो इँगलैंड के पूँजीवादियों ने एक जाली पत्र बनाया जिसमें यह कहा गया कि तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के मंत्री जिनोविव ने एक पत्र ब्रिटेन के मज़दूर दल के नाम लिखा है जिसमें ब्रिटेन में क्रान्ति करने का षड्यंत्र सूचित होता है। यह पत्र बिलकुल जाली था, जैसा कि बाद को प्रमाणित हो गया, किन्तु इसने उस समय पूँजीवादीवर्ग का उल्लू सीधा कर ही दिया। इस पत्र के प्रकाशन के कारण मजदूर दल के उम्मेदवार चुनाव में बुरी तरह हार गये। इस झूठ को हिटलर के राइखस्टाग अग्निकाण्ड के ढकोसले से कम समझने का कोई कारण नहीं। सच तो यह है कि दोनों बेईमानियों का उद्देश्य एक ही था अर्थात् पूँजीवादीवर्ग का राज्य क़ायम रखना।

२६—एम्स का जाली तार—१८७०–७१ में फ़्रांस और जर्मनी में जो युद्ध हुआ था उसका तात्कालिक कारण बिस्मार्क द्वारा एक तार के शब्दों को बदल-कर प्रकाशित करना था यानी जालसाज़ी थी। बिस्मार्क ने अपनी आत्मकथा में इसका वर्णन किया है कि एम्स में इस तार की किस प्रकार जालसाज़ी की गई थी। तार के शब्दों में बिस्मार्क ने अपने कथनानुसार न तो कोई परि-

वर्णन किया; और न कुछ बढ़ाया, किन्तु यत्रतत्र उसके शब्द इस प्रकार काट दिये कि उसका लहजा ही बदल गया। जो असली तार था उसको पढ़कर मोल्टके का चेहरा उतर गया था, किन्तु जब इस परिशोधित तार को पढ़ा गया तो मोल्टके कह उठे 'अब तो इसकी बिलकुल दूसरी ध्वनि हो गई, पहले तो ऐसा मालूम होता था कि बातचीत है किन्तु अब मालूम होता है कि चुनौती के जवाब में ताल ठोंका गया है।' केवल यही नहीं, विस्मार्क यह अच्छी तरह समझ गये कि यदि यह तार प्रकाशित हुआ (जैसा कि हुआ, और मध्य रात्रि तक पेरिस पहुँच गया) तो वह साँड़ के लिए लाल कपड़े की तरह साबित होगा यानी युद्धाग्नि को भड़का देगा। विस्मार्क चाहते थे कि युद्ध हो, सेनापति मोल्टके इसके लिए तैयार थे, किन्तु कैसर इससे बचना चाहते थे, अतः इस ऐम्स के तार के कारण युद्धाग्नि प्रज्वलित हो उठी।

२७—कूटनीति और सदाचार—आधुनिक क्या, हमेशा से कूटनीति में झूठ के सिवा सच शायद ही कभी बोला जाता हो। स्मरण रहे कि इस मामले में भारतीयगण किसी से पीछे नहीं रहे। ईसा से कई सदी पहले कौटिल्य अपनी पुस्तक में जो कुछ लिख गये, जिस जिस प्रकार झगड़ा लगाने, दुश्मन के बल घटाने आदि के सम्बन्ध में लिख गये, उनसे योरप का मेकियावेली और वर्तमान युग के गेवेल्स कुछ सीख ही सकते थे। कूटनीति झूठ का नामान्तर मात्र है यह बात इतनी आम है कि इसे मनोविज्ञान की प्रामाणिक पुस्तकों में भी मानकर यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति में झूठ की प्रवृत्ति हो, उसे कूटनीति के विभाग में काम दिया जाय जिससे उसकी पुष्पवृत्ति उदात्त हो। चार्ल्स डबल्यू हेवार्ड ने योरोपीय कूटनीति तर एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है। इससे सभ्य जातियों की कूटनीति सम्बन्धी कार्रवाइयों की पोल खुल जाती है। इसमें दिखलाया है कि कैसे सभ्य देशों की सरकारें लाखों नहीं करोड़ों रुपये खर्च करती हैं। वे कूटनीति के नाम से हर प्रकार के असत्य, जालसाजी खुफिया वृत्ति यहाँ तक कि चोरी और डकैती से भी नहीं चूकतीं। ऐसी हालत में इन देशों के दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित चिरन्तन मूल्य क्या मानी रखते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। लार्ड हेल्डेन ने सार्वजनिक रूप से राय देते हुए

कहा था कि गुप्त कूटनीति का वर्जन हो जाना चाहिए,' किन्तु इसका कोई अर्थ नहीं होता।

सभी देशों में खुफिया खासकर दूसरे देशों की तरफ़ से काम करनेवाले खुफिया बुरी दृष्टि से देखे जाते हैं, किन्तु इस पद्धति का तमाशा यह है कि जिन मंत्रियों तथा राजदूतों की देखरेख में ये खुफिया काम करते हैं वे बहुत शरीफ़ और सदाचारी समझे जाते हैं। विदेशों में जो खुफिया काम करते हैं, वे परराष्ट्र विभाग के नियंत्रण में रहते हैं। उनके द्वारा संगृहीत सब ख़बरें पर-राष्ट्र विभाग के पास आती हैं। उनकी तनख्वाहें राष्ट्र के खजाने से दी जाती हैं। परराष्ट्र विभाग मंत्रि-मंडल का एक हिस्सा है। इस प्रकार सारा राष्ट्र ही इस झूठ (बेईमानी) के लिए जिम्मेदार है। उकताकर ह्वेवार्ड कहते हैं—'जैसे पहले ज़मानों में लोग मूर्खतावश ऐसे लोगों की शक्ति में सन्देह नहीं करते थे जो पुरोहित तथा वैद्यों के रूप में उनकी आत्माओं के भाग्य नियंत्रण की शक्ति का दावा करते थे; जैसे पहले के लोग यह मान लेते थे कि ये लोग चाहे जिस आत्मा को नरक या स्वर्ग में भेज सकते हैं, उसी प्रकार आधुनिक लोकतंत्र मूर्खता-वश इसी तरह के राजनैतिक पुरोहित तथा वैद्यों के हाथ में अपने को सौंप देते हैं,' और यह नहीं पूछते कि वे क्या कर रहे हैं। कूटनीति सम्बन्धी कार्रवाइयों का अधिकतर हिस्सा लोकचक्षु से छिपा रहता है, किन्तु जितना जो कुछ भी जनता के सामने आ जाता है, उतने से यह अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि राष्ट्रों के अन्दर आपस में नैतिक बर्ताव का मानदण्ड इतना नीचा है कि यदि इन्हीं राष्ट्रों के व्यक्ति आपस में उसी तरीक़े का बर्ताव करें तो वे अत्यन्त घृणित और पुष्ट नागरिक समझे जाएँगे। यही नहीं, उनका स्थान जेलखानों में दिखाई पड़ेगा जिसे लोगों ने हाटेनटाट सदाचार नाम से मशहूर कर रक्खा है कि तू मेरी स्त्री ले ले तो खराब बात है और मैं तेरी स्त्री ले लूँ तो ठीक है, इसे हम राष्ट्रों की कूटनीति में मूर्त देख सकते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कूटनीति में सत्य का कोई स्थान ही नहीं रह गया। यह कोई विशेष आश्चर्य की बात नही है। आश्चर्य की बात यह है कि इस पर भी चिरन्तन

---

१. W. P. C. p. 10.

मूल्य और चिरस्थायी सदाचार की बातें की जाती हैं और कथित मार्क्सवादी-गण भी उस शब्द जाल में फँस जाते हैं।

यहाँ कहा जा सकता है कि कूटनीति में जो कुछ भी बेईमानी, जालसाज़ी, चोरी, डकैती आदि की जाती है, वह वैयक्तिक उद्देश्य के लिए नहीं, बल्कि देश या राष्ट्र के लिए की जाती है। डाक्टर डेलिस्लवर्न्स इस शोचनीय परिस्थिति का एक तरीक़े से यह कहकर दोषक्षालन करना चाहते हैं कि आधुनिक राष्ट्र, चाहे जो हो, हथियार बन्द गिरोह है और चूँकि लड़ाई तथा लड़ाई की तैयारी में गुप्त कार्रवाई और गुप्त लेनदेन की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए उसमें आदिम प्रवृत्तियों का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।[१] महाभारत में भी युधिष्ठिर ने एक बार दबी ज़बान में 'अश्वत्थामा हतो इति गजः' कहा था, और इसमें श्रीकृष्ण का हाथ था। वर्तमान राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध के साथ युधिष्ठिर और दुर्योधन के युद्ध की तुलना पर कुछ लोग शायद आपत्ति करें, क्योंकि यह धर्म और अधर्म का युद्ध था। इस सम्बन्ध में अधिक बताने की गुंजाइश नहीं है। इस सम्बन्ध में केवल दो बातें फिर भी बता दी जायँ कि प्रत्येक युद्ध में दोनों पक्ष अपने को धर्म सभ्यता और संस्कृति का पक्ष समझते हैं। दूसरी बात यह है कि महाभारत का युद्ध हमारे सम्मुख जिस रूप में मौजूद है, उस रूप में पहले नहीं था। पहले शायद कुरु और पांचाल दो पड़ोसी कबीलों का युद्ध मात्र था, बाद को कहानियाँ जोड़ जोड़कर इसे महाभारत का रूप दे दिया गया।[२]

२८—साम्राज्यवादियों के निकट साम्राज्य चिरन्तन मूल्य और क्लाइव आदि वीर—भारतीय इतिहास से एक उदाहरण और लिया जाय। क्लाइव को एक अँगरेज़ बच्चा क्या समझता है, वह इसी से स्पष्ट है कि वे साम्राज्य-निर्माता नम्बर एक समझे जाते हैं। क्लाइव ने किस प्रकार भारत में अँगरेज़ी राज्य का प्रसार किया, यह अभी ताजी कहानी है। सच तो यह है कि यदि क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स तथा इसी प्रकार के अन्य अँगरेज़ भारत का धन ढो-ढोकर नहीं ले जाते तो इँगलैंड के पास इतनी पूँजी नहीं हो सकती जिससे वह पचास साल के अन्दर

१. O. M. K. p. 761. २. I. P. Vol. I. p. 478.

दुनिया का वर्कशाप हो जाता, और न उसकी इतनी उन्नति ही सम्भव होती। मार्क्स ने 'पूँजी' नामक ग्रन्थ में इसका बहुत अच्छी तरह स्पष्टीकरण कर दिया है। इस बात को अब बुर्जुआ लेखकगण भी मानते हैं। भारतीय साम्राज्य पर इँगलैंड के पूँजीपतियों का ही विपुल ऐश्वर्य नहीं, अँगरेज़ जनता का भी ऊँचा मानदण्ड किस प्रकार निर्भर है, इसे सब लोग जानते हैं। अच्छे से अच्छे अँगरेज़ लेखक साम्राज्य को सदाचार के एक बिन्दु के रूप में समझते हैं। ऐसा कहने और लिखने में उन्हें कुछ शर्म नहीं मालूम होती। ब्रिटिश चिरन्तन मूल्यों में साम्राज्य भी एक है, यह बात थोड़ी-सी गहराई के साथ सोचने पर ज्ञात हो जायगी। जिन लोगों के शोषण पर ये साम्राज्य स्थित हैं उनसे पूछा जाय कि इस चिरन्तन मूल्य का क्या अर्थ है।

थोड़े में हमने देख लिया कि जो बुर्जुआ जगत् चिरन्तन मूल्यों का दावा करता है, वह वास्तव में किस प्रकार का है। कुछ किताबों में भले ही चिरन्तन मूल्य हों, किन्तु व्यवहार में कहीं भी इसका पता नहीं लगता। ऐसी दशा में जो मार्क्सवादीगण मार्क्सवाद की बुतशिकनी और 'रजालत' से घबड़ाकर शरीफ़ बनने के लिए चिरन्तन मूल्यों की शरण में जाकर शरीफ़ बनना चाहते हैं, उनकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है।

२९—उत्पादन की पिछड़ी हुई हालत में मर्दुम खोरी भी सदाचार थी— सब बातों पर विचार करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं कि सदाचार का एक ही अर्थ रहा है। वह यह कि जिस युग में जो लोग सत या अच्छे समझे जाते थे उनका आचार ही सदाचार रहा है। इस पर कितना भी परदा, डाला जाय असली बात यही है। अवश्य युग-युग में सत् और असत् की धारणा बदली है। केवल यही नहीं, एक ही युग में विभिन्न वर्गों में सत् और असत् की धारणा विभिन्न रही है। यदि आधुनिक युग में कोई अपने वृद्ध पिता को मारकर खा जाय तो वह कितना घृणित समझा जायगा, क़ानून, धर्म, न्याय सब उसके पीछे दौड़ पड़ेंगे। किन्तु जिस समय उत्पादन की शक्तियाँ इतनी कमज़ोर थीं कि वे किसी भी काम न करनेवाले का बोझ न सँभाल सकती थीं, उस युग में समाज वृद्धों को मारकर खा जाना सदाचार समझा जाता था। उस युग में सदाचार की इस परिपाटी के समर्थन के रूप में यह कहा जाता था कि

इस प्रकार वृद्ध व्यक्ति को मारकर खा जाने से उसकी भलाइयाँ खानेवाले में आ जाती हैं। हमने अपनी धर्म-सम्बन्धी विराट् पुस्तक में यह दिखलाया है कि ईसाइयों में ईसा के खून पीने की धारणा ही नहीं, हिन्दुओं की बहुत-सी धारणाओं का इस मर्दुमखोरी मूलक धारणा से सम्बन्ध है। उत्पादन-पद्धति में उन्नति के साथ-साथ न इस प्रकार वृद्धों को मारकर खाने की जरूरत रही, न लड़ाई के बन्दियों को खा डालने की इसलिए एक नये सदाचार की स्थापना हुई, जिसके अनुसार वृद्धों को स्वाभाविक रूप से मरने दिया जाने लगा, साथ ही लड़ाई के क़ैदियों को दास बना दिया जाने लगा। इस प्रकार होते-होते हम वर्तमान युग में पहुँचे हैं जब आमतौर से यह समझा जाता है कि लड़ाई खतम हो जाने के बाद लड़ाई के क़ैदियों को छोड़कर घर पहुँचा देना चाहिए। इस युग में वृद्धों को किसी न किसी रूप में समाज या परिवार पेन्शन देकर उनका पालन करता है। उत्पादन के पिछड़ेपन के कारण इस युग में न तो शिशुहत्या की आवश्यकता है, न वृद्ध-हत्या की।

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से क्यों न देखें, सदाचार युग युग में बदला है। एडवर्ड मेयर बहुत ठीक कहते हैं कि 'अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से सदाचार, रीति-रिवाज तथा न्याय के नियम सामाजिक पद्धति पर और उस युग में प्रचलित सामाजिक विचारों पर निर्भर हैं। यदि वे भिन्न-भिन्न समाज के प्रतीक हैं तो वे अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से एक दूसरे के बिलकुल विपरीत हो सकते हैं' जहाँ तक विभिन्न समाज तथा विभिन्न युग में सदाचार की भिन्नता की बात है वह बहुत स्पष्ट हो गई।

३०—आर्यों के स्वर्णयुग में वर्ग सदाचार—रहा एक ही समाज में विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न सदाचार, इसका स्पष्टीकरण होना चाहिए। स्वाभाविक रूप से हम हिन्दुओं के धर्मशास्त्र से शुरू करेंगे। जो लोग रामराज्य का नारा देते रहते हैं वे शायद इस बात से अपरिचित हैं कि प्राचीन भारत में राष्ट्र की ओर से वर्णों के साथ खुल्लमखुल्ला पक्षपात किया जाता था। एक ही अपराध को निम्नस्तर का व्यक्ति करे तो उसे अधिक सजा हो, और उसी को यदि उच्च तबके का व्यक्ति करे तो उसे या तो सजा होती ही नहीं थी या कम होती थी।

स्मप रहे, किसी व्यक्ति के क्षपात की बात नहीं है, बल्कि धर्मशास्त्रों में ऐसे सदाचार के लिए खुल्लमखुल्ला विधान है। व्याससंहिता बहुत ही निर्लज्ज स्पष्टता के साथ कहती है 'सज़ा वर्गों की श्रेष्ठता तथा निकृष्टता के अनुसार दी जानी चाहिए। यह नियम वर्णों पर ही नहीं, बल्कि वर्णशंकर पर भी लागू है।' यह नियम कार्यरूप में किस प्रकार काम में लाया जाय, इस सम्बन्ध में किसी ऐरे-ग़ैरे ग्रन्थ का नहीं, बल्कि स्वयं भगवान् मनु का कथन देखा जाय। मनुस्मृति कहती है 'उच्च जाति के पुरुष के साथ सम्भोग करने की इच्छा से उसकी सेवा करनेवाली कन्या को कुछ भी दण्ड न होगा, किन्तु हीन जाति के पास जाने वाली की देख-रेख की जाय, और उसे घर पर बिठावे। उत्तम वर्ण की कन्या के साथ समागम करनेवाला नीच वर्ण का पुरुष वध के योग्य है। समान वर्ण की कन्या के साथ समागम करनेवाला, यदि उस कन्या का पिता चाहे तो, शुल्क देकर छूट सकता है।' (मनु ८।३६५-६) आगे यही मनुस्मृति कहती है 'जो द्विज स्त्री स्वामी आदि अभिभावक से संरक्षित न हो, उसके साथ यदि शूद्र व्यभिचार करे तो राजा उसका लिंगच्छेदनपूर्वक सर्वस्व हरण कर ले और यदि वह रक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो सर्वस्व हरणपूर्वक उसे एक वर्ष की क़ैद की सज़ा दे। क्षत्रिय को १,००० पण जुर्माना करे और पेशाब से उसका सिर मुंड़वा दे।' व्यभिचार ऐसे 'चिरन्तन अपराध' के विरुद्धाचरण करने के लिए किस प्रकार भिन्न वर्ण के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न सज़ा का विधान है, यह द्रष्टव्य है। याज्ञवल्क्य भी इस मामले में मनु से पीछे नहीं हैं। वे डंके की चोट पर कहते हैं कि 'यदि कोई व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री के साथ कामुकता का व्यवहार करे, तो उसमें कोई दोष नहीं है, अन्यथा अपराध दण्डा ही है। यदि उच्चतर जाति की स्त्री में गमन किया जाय तो मृत्युदण्ड विधेय है।' हमारे धर्मशास्त्र इस प्रकार भेद बुद्धि मूलक सदाचार के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। जिस अपराध के लिए ब्राह्मण को कुछ भी न होगा, उसी अपराध के लिए शूद्र के प्राणदण्ड का विधान है। यह कहा जा सकता है कि वर्ण और वर्ग एक बात नहीं है, इसे कौन अस्वीकार करता है? किन्तु इन दोनों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा भारतवर्ष में वर्गसंघर्ष वर्णों की आड़ में चलता रहा है। जो लोग चिरन्तन सदाचार और रामराज्य के काल्पनिक जगत् में विहार करते

रहते हैं, वे आँख खोलकर स्मृतियों और गृह्यसूत्रों को पढ़ें तो उन्हें मालूम होगा कि वस्तुस्थिति क्या थी।

३१—चीन का वर्गमूल हियाव या सदाचार—एक अन्य सभ्यतम देश चीन को लिया जाय। वहाँ बहुत प्राचीन काल से सामन्तवादी समाज मौजूद था। इस सामन्तवादी समाज के कर्मचारीवर्ग में कई स्तर थे। बुखारिन ने दिखलाया है कि इस सामन्तवादी नौकरशाहीमूलक समाज-पद्धति में सदाचार के नियम किस प्रकार समाज की शोषणमूलक पद्धति को क़ायम रखने के लिए बने थे। इस समाज में अपने से बड़ों के प्रति सदाचार के क्या नियम थे, यह द्रष्टव्य है। मैक्स वेवर ने यह दिखलाया है कि 'यदि गालियाँ दी जायँ और निन्दा की जाय तो उन्हें सहन किया जाय, और यदि मालिक की इज्ज़त का तक़ाज़ा हो तो ऐसा करते हुए मृत्यु का वरण किया जाय। यदि मालिक कोई ग़लती करे तो विश्वस्त सेवाओं से उन ग़लतियों की पूर्ति करे। इसी को चीनी में हियाव कहते थे।' हियाव का भंग करना महान् अपराध समझा जाता था। पैग़म्बर कानफ़ुसियस ने भी अपने सदाचार में यही कहा कि पिता-माता, गुरु के साथ साथ राजा और सामन्त का सम्मान किया जाय। बहुज्ञ पाठक को यह ज्ञात हो जायगा कि निम्न वर्णों के लिए उच्च वर्ण के लोगों के प्रति सदाचार-मूलक व्यवहार और हियाव में कोई भेद नहीं है।

३२—भारतीय हियाव—आधुनिक युग में मद्रास के 'परिया, में आकर भारतीय हियाव बहुत हास्यजनक परिमाण में पहुँचा है। जिस सड़क से ब्राह्मण चले उस सड़क से परिया चल ही नहीं सकता। ब्राह्मण पर परिया की छाया नहीं पड़े, इत्यादि। किन्तु जहाँ हास्यास्पदता इतनी स्पष्ट नहीं है, वहाँ हियाव का आधार कुछ दूसरा है ऐसा समझने का कारण नहीं है। अक्सर अब भी जो समाचारपत्रों में यह पढ़ने में आता है कि तराई के किसी इलाक़े में किसी कथित निम्न जाति के लोगों ने डोला-पालकी पर अपनी बारात निकाली और उस पर झगड़ा हो गया, यह भी इसी हियाव की महिमा का एक नमूना है। खोजने पर ऐसे हज़ारों उदाहरण मिलेंगे जैसे अब भी देहातों में छोटी जाति के लोगों को बड़ी जाति के लोग खटिया पर बैठने नहीं देते, कुएँ पर चढ़ने नहीं देते इत्यादि। तर्क की दृष्टि से सोचने पर यह होना चाहिए था कि सुपवित्र हिन्दू-धर्म में सभी

विधर्मी अर्थात् विभिन्न धर्मी अछूतों से निम्नकोटि के समझे जाते, किन्तु मज़े की बात यह है कि धार्मिक रूढ़ि के कारण इनके साथ खान-पान तो त्याज्य समझा गया, किन्तु समझे गये वे ऊँचे। बात यह है कि अन्य विधर्मी, विशेषकर शासक के रूप में आये, इसलिए हिन्दुओं के चिरन्तन सदाचार में ऐसा परिवर्तन आदि (adjustment) करना पड़ा। इन परिवर्तनों के अन्दर से किस प्रकार आर्थिक सामाजिक सम्बन्ध काम करते रहे हैं, यह द्रष्टव्य है।

३३—नाइट, समुराई सदाचार के आधार—मध्ययुग के सदाचार में हम बराबर अर्द्धग़ुलाम और सामन्त प्रभु के सदाचारों में प्रभेद देख सकते हैं। एक खाद्य है, दूसरा खादक, इसलिए खाद्य को बराबर यह सिखाया जाता है कि वह खाद्य बनना स्वीकार करे। यूरोप में मध्ययुग में जो नाइटगण थे उनके लिए सदाचार के बहुत विस्तृत नियम बने थे। ये नाइट सामन्तवादियों के आपसी युद्ध में सामन्तों की ओर से लड़ते थे, इसलिए इनके सबसे बड़े गुण वीरता और लड़ते-लड़ते मर जाना था। यदि कोई नाइट कायरपन दिखलाता था तो सार्वजनिक रूप से उसका अपमान किया जाता था, और चूँकि इस समय तक ईसाई पादरी वर्ग सामन्तवादियों के फ़र्माबरदार ग़ुलाम तथा पिछलगुआ हो चुके थे, इसलिए पादरीवर्ग भी ऐसे नाइट की निन्दा करते थे। कायर नाइट के अस्त्र-शस्त्र छीन लिये जाते थे, उसकी ढाल घोड़े की पूँछ में बाँधकर तोड़ डाली जाती थी। टूर्नामेन्ट करके इन नाइटों की युद्ध-वृत्ति को सजग रक्खा जाता था[१]। बात बात में द्वन्द्व-युद्ध होता था। यही बातें कुछ परिवर्तित रूप में भारतीय राजपूतों में भी होती थीं। इस नाइट पेशे को उस युग में इतना ऊँचा उठाया गया कि वह एक उज्ज्वल परम्परा बन गया तथा वीरता का पर्यायवाची हो गया। जापानियों में सामुराई सदाचार सम्राट् के लिए मर जाना है। अति आधुनिक युग में जापान के समरवादियों ने प्रत्येक जापानी को ही समुराई बना देना चाहा था, जिसके फलस्वरूप वह भयंकर काण्ड हुआ जो अभी सबके दिमाग़ में ताज़ा है। जब भी शासकवर्ग को आवश्यकता हुई तभी उसने इस प्रकार के सदाचार के मानदण्ड तैयार किये, और वे प्रचारित हो गये। क्या तो विक्टोरिया क्रास और क्या हिटलर का लौह क्रास, सब इसी सदाचार में सफलता के प्रतीक हैं।

---

१. H. M. p. 160

३४—पूँजीवादी युग में साख मूलक सदाचार—पूँजीवादी युग के साथ-साथ कई मानों में शराफ़त की धारणा में तब्दीली हुई। सामन्तवादी युग में जरा से अपमान पर—चाहे वह कल्पित हो या वास्तविक—फ़ौरन तलवार निकाल कर द्वन्द्व-युद्ध हो जाता था। और तो और मज़दूर-आन्दोलन में जिनका नाम कई कारणों से अमर रहेगा, ऐसे लासाले भी इसी सामन्तवादी सदाचार के प्रभाव में आकर द्वन्द्व-युद्ध पर तैयार हो गये, और उसी में मारे गये। अब इस प्रकार लड़ना-भिड़ना अच्छा नहीं समझा जाता। पूँजीवाद के प्रारम्भ के साथ साथ सदाचार और वीर की धारणा में परिवर्तन हो चुका है मानो इसी बात को दिखाते हुए डान क्वीग्सार औरसांकोपंजा नामक सुपरिचित नाइट चरित्रोंकीसृष्टि हुई जिनको देख कर सभी हँसते हैं। अब तो लोग मानहानि का दावा करते हैं, अख़बारों में प्रतिवाद छपवाते हैं। सामन्तवादी युग में लड़ाई भिड़ाई के समय के अतिरिक्त नाइट स्वेच्छाचारी होता था। शराब पीते-पीते बेहोश होना आम बात थी, किन्तु जैसा डब्ल्यू सोम्बार्ट ने लिखा है 'ज्यों-ज्यों पूँजीवादी सम्बन्ध बढ़ते गये त्यों-त्यों प्रधान रीति-रिवाज और सदाचार आदि बदलते गये। पहले जहाँ उड़ाने-खाने का ढंग था, अब उसकी जगह पर संचय वृत्ति और उसके आनुसंगिक गुणों का आदर होने लगा। अब तो यह होने लगा कि कोई मतवाला न हो, हमेशा अच्छी सोहबत में देखा जाय, शराबी न हो, जुआड़ी न हो, व्यभिचारी न हो, अर्थात् अपने बाहरी व्यवहार में भी एक अच्छा 'नागरिक' हो; क्योंकि ऐसा करने में ही व्यापार को फ़ायदा है। ऐसे सदाचारी व्यक्ति की साख बढ़ती है।'[१] स्वाभाविक रूप से इस युग में साख ही इज्जत की सबसे बड़ी निशानी है, और दिवालियापन सबसे अधिक ज़लालत है। जिस व्यक्ति को अधिक रुपये उधार मिल सकते हैं, जो उधार पर अधिक कारोबार कर सकता है; वही इस युग का सबसे बड़ा वीर है। इस युग में समुराई सदाचार भी है जिसमें दुश्मन के हाथ पड़ने पर हारा-कीरी करनी चाहिए इत्यादि, किन्तु ये सब सदाचार उस साखवाले सदाचार के इर्द-गिर्द अथवा उसके इशारे पर चलते हैं। जो लोग व्यापार तथा बैंक से सम्बद्ध हैं वे जानते हैं कि साख कितनी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक कम्पनी चाहती है कि इस प्रकार अधिक से अधिक साखवाला व्यक्ति उसके डाइरेक्टरों में हो। जनता

१. Quoted in H. M. p. 160

भी जब किसी कम्पनी का शेयर खरीदती है तो देख लेती है कि अमुक कम्पनी में ऐसे साखवाले कितने व्यक्ति हैं। ऐसे साखवाले व्यक्ति अपनी साख पर ही एक हद तक कमाते-खाते हैं। रहा इनमें निरवच्छिन्न सदाचार, सो हम बता ही चुके हैं कि जान स्टुअर्ट मिल और सिजविक ऐसे धुरन्धरों के अनुसार भी व्यापारियों को यह अधिकार है कि वे ग्राहकों से झूठ बोलें। इस प्रकार ग्राहकों के लिए नैतिकता कुछ और है और विक्रेताओं के लिए कुछ और। चूँकि व्यापारीवर्ग में मुट्ठी भर लोग हैं, इसलिए इस सदाचार का यह अर्थ है कि इन मुट्ठी भर आदमियों को समाज को लूटने और खाने का अधिकार है। इस युग में आप कुछ भी करें किन्तु आपकी साख न घटे।

३५—न्याय की बदलती हुई धारणा—वर्ग-समाजों में न्याय को बड़ा महत्त्व दिया गया है, किन्तु यदि हम ज़रा भी ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि न्याय की धारणा प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के साथ साथ बदलती गई है। अवश्य शोषणमूलक वर्ग-समाजों में कुछ धारणाएँ सामान्य रही हैं जैसे वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता प्रत्येक शोषणमूलक समाज में मान्य रही है।

३६—अफ़लातून के न्याय से गतानुगतिक की रक्षा—अफ़लातून के अनुसार भी न्याय मुख्यतम सद्गुण है, क्योंकि बताया गया है कि इसके पाँव में सबके पाँव आ जाते हैं। इस न्याय का स्वरूप क्या है, इस पर रोजर्स यों लिखते हैं—"न्याय उस राष्ट्र में प्रत्यक्ष होता है, जिसमें फ़ौजें बहादुरी के साथ लड़ती हैं, मज़दूर ठीक तरीक़े से जी न चुरा कर काम करते हैं और सब लोग उस बुद्धि की आज्ञा के अनुसार चलते हैं जो शासनारूढ़ है। बाहरी दृष्टिकोण से न्याय श्रम के विभाजन का पूर्ण विकास है, और अफ़लातून इसकी व्याख्या यों करते हैं कि 'सब लोग अपना अपना काम कर रहे हैं, और कोई किसी के काम में हस्तक्षेप नहीं करता।' यह गुण इसलिए सब गुणों का सिरताज है। इसके बग़ैर अन्य सब गुण कटे पतंग की तरह हो जाते हैं।" अब अफ़लातून के न्याय को समझने में विलम्ब नहीं होता। यह मौजूद शक्ति Status quo का परिपोषक है। यह मौजूदा शासन-प्रणाली को बुद्धि का प्रतीक मान लेता है। यह मज़दूरों अर्थात् गुलामों से (उन दिनों 'स्वतन्त्र मज़दूर' कोई नहीं था) यह उम्मीद करता

---

१. S. H. E. p. 45

है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य करेगा अर्थात् ग़ुलाम ग़ुलामी करेगा, और ग़ुलाम का मालिक शासन करेगा। यही इस न्याय का स्वरूप है।

३७—नेलसन का नारा-प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य करे—यह दिलचस्प है कि इँगलैंड के बुर्जुआ वर्ग की स्वर्णिम उषा में खड़े होकर एडमिरल नेलसन ने भी यह कहा था कि 'इँगलैंड यह उम्मीद करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य करेगा।' नेलसन ने ऐसा दूसरे प्रसंग में कहा था, किन्तु इँगलैंड के बुर्जुआ वर्ग ने इसे एक जातीय नारे के रूप में ग्रहण करते समय इसे विस्तृततर अर्थ दे दिया। इस विस्तृततर अर्थ में नेलसन का कर्त्तव्य और अफ़लातून के न्याय का एक ही तक़ाज़ा है। वह तक़ाज़ा यह है कि समाज के जिस स्तर में जो व्यक्ति है, वह उसी स्तर के कर्त्तव्य का सम्पादन करे।

३७ अ—हिन्दुओं के वर्णाश्रम धर्म में कर्त्तव्य का स्वरूप—हिन्दुओं के अति प्रशंसित वर्णाश्रम धर्म का भी यही अर्थ तथा अन्तर्गत वस्तु है। मनु ने इन कर्त्तव्यों को गिनाया है। मनु ने निर्लज्जतापूर्वक यह कह दया कि शूद्र का काम ऊँचे वर्णों की सेवा है। इस रूप में देखने पर वर्णाश्रम धर्म का असली तत्त्व समझ में आता है। यों विवेकानन्द से लेकर अति आधुनिक राधाकृष्णन तक ने वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कर उसे एक प्रकार के यूरोपीय या स्वाप्निक समाजवाद का रूप देने की चेष्टा की है, किन्तु इस धर्म के मखमली दस्ताने के नीचे जो खूनी पंजा छिपा है, यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

३८—अरस्तू के न्याय और सदाचार की पोल—सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू भी न्याय को बहुत महत्त्व देते हैं। उनके सदाचार-सम्बन्धी ग्रन्थ का पंचम भाग मुख्यतः न्याय की ही आलोचना है। अफ़लातून में न्याय का चरित्र फिर भी कुछ दार्शनिकता के कोहरे में ढका हुआ था, किन्तु अरस्तू में आकर न्याय मुख्यतः उस गुण का नाम हो जाता है जिसमें वैयक्तिक सम्पत्ति के साथ सम्बद्ध क्रियाओं पर विचार किया जाता है। "यह न्याय फिर दो विभागों में विभाजित हो जाता है—(१) वितरणात्मक न्याय, (२) शुद्धकारी (Corrective) न्याय। वितरणात्मक न्याय दो सिद्धान्तों को काम में लाता है। एक न्याय तो यह है कि किसी मनुष्य को किसी कार्य से उसी अनुपात से मुनाफ़ा मिलेगा जिस अनुपात से वह उसमें अपना धन लगाता है; दूसरा यह कि अपनी सम्पत्ति के अनुसार वह सार्वजनिक खर्च में पैसा देगा। हम इन दो सिद्धान्तों को रुपया

लगाने (investment) और टैक्स के सिद्धान्त कह सकते हैं। शुद्धिकारी न्याय ज़मीन-सम्बन्धी क़ानून के भंग से सम्बद्ध है।"[१] इतना ही नहीं, अरस्तू के न्याय का स्वरूप इस बात से भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि वे प्रजातन्त्र के हिमायती थे फिर भी उनके अनुसार गुलामों को वोटाधिकार नहीं हैं। इसी से उनके न्याय और सदाचार की पोल खुल जाती है।

३९—ऋग्वेद का ऋत चिरन्तन अखिल मानवीय सदाचार नहीं— ऋग्वेद में सदाचार के लिए ऋत शब्द आता है। ऋत की बड़ी महिमा है। अनृत माने सदाचार-विरुद्ध आचार है। वरुण ऋत के आदर्शधारक हैं। ऋत के अन्दर देवताओं को प्रार्थना करना तथा यज्ञ करना है। दया और अतिथयता ऋत में आ जाती हैं। उस युग में वरुण ही सबसे बड़े देवता थे, इसलिए ऋत के धारक के रूप में वरुण की कल्पना समझ में आती है। यों तो देखने में यह ज्ञात होगा कि ऋत निरवच्छिन्न या चिरस्थायी सदाचार का प्रतीक है, किन्तु जब हम यह देखेंगे कि उन प्रार्थनाओं में किस प्रकार आदिम निवासियों के विरुद्ध लड़ाई में विजय माँगी गई, तो यह ज्ञात होगा कि न तो ऋत चिरस्थायी सदाचार है, और न वरुण अखिल मानवीय देवता हैं। वैदिकआर्य छोटी छोटी बातों के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे, और इन छोटी छोटी बातों में उनके कबीले का हित निहित होता था। एक मंत्र में (ऋक ९।११५) तो यह कहा जाता है कि जितने देवता तथा मनुष्य हैं वे सब अपने स्वार्थ से परिचालित होते हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चातुर्वर्ण्य का पहला उल्लेख आता है, यद्यपि यह कहा गया है कि यह मंत्र शायद प्रक्षिप्त है। जो हो, चातुर्वर्ण्य का सूत्रपात बल्कि बीज ऋग्वैदिक युग में ही निहित है। हम देख चुके हैं कि वर्णाश्रम के साथ वर्ग सदाचार का क्या सम्बन्ध है। ऋग्वैदिक आर्य अभी बहुत अंशों में कबीलों के युग में हैं, कम से कम अनार्य कबीलों के साथ उनका जो निरन्तर संग्राम जारी है, उसके कारण अभी वर्गयुद्ध में तीव्रता कम आई है, और कबीले की भावना अधिक व्यापक है। फिर ऋग्वेद स्वयं केवल शाकसकवर्ग का साहित्य है। उस युग में जो गुलाम थे, उनके दृष्टिकोण से ये मंत्र नहीं कहे गये हैं, बल्कि इसमें

१. Ibid p. 75

गुलामों के मालिकों का ही दृष्टिकोण मिलता है। अभी आर्य जीवन के आनन्द से लबरेज़ हैं। ज़मीन की कोई कमी नहीं है। नित्य नई विजय हो रही है। फिर भी इस युग में कृच्छ् साधन का इक्का-दुक्का परिचय मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि कुछ कुछ दुःखवाद का भी ज़ोर हो रहा है। यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि समाज में वर्ग संघर्ष तीव्रतर हो रहा है।

४०—उपनिषद का धर्ममूलक सदाचार और उसका अर्थ—उपनिषदयुग में आकर आर्यों का सदाचार बहुत स्पष्ट रूप से वर्गमूलक हो चुका है। अब वेदों के बहुदेववाद की जगह पर सूक्ष्म ब्रह्म की उत्पत्ति हो चुकी है। सदाचार को भी इसलिए ब्रह्म से ज़ोड़ दिया गया है। उपनिषदों के विश्व-दृष्टि की केन्द्रीय भावना यह है कि हम जगत् का त्याग कर दें। बृहदारण्यक (४।४।६) का कहना है कि जिसकी कोई इच्छा नहीं है, जो इच्छाओं के परे है, जिसकी इच्छाएँ शान्त हो चुकी हैं, जिसकी इच्छा आत्मा यहाँ तक कि ब्रह्म है, वही ब्रह्म को प्राप्त करता है।[१] सभी उपनिषद इसी बात को दोहराते हैं। ऋग्वैदिक युग का वह जीवनानन्द लुप्त हो चुका है। अब तो जीवन की व्यर्थता का राग अलापा जा रहा है। जीवन अब मोक्ष के लिए है, और मोक्ष का अर्थ है सब तरह के ऐहिक ऐश्वर्यों से, इसलिए सुख-दुःख से मुक्ति। स्वयं राजागण उपनिषद धर्म के प्रचारक हैं। जहाँ वे स्वयं ब्रह्मज्ञान के प्रचारक के रूप में नहीं आते, वहाँ वे प्रचारकों के पृष्ठ-पोषक हैं। बड़ी धर्मसभाएँ होती थीं। उनमें कोई भी भाग ले सकता था। स्वयं नृपतिगण इन सभाओं के पृष्ठपोषक होते थे, और उनमें आकर अकसर वाद-विवाद में भाग भी लेते थे। वे ऐसा क्यों करते थे, उसे समझना कठिन नहीं है। इस प्रकार की विचार-धारा का जनता में प्रचार किया जाना इन शासकों को क्यों पसन्द था, यह बहुत अच्छी तरह समझ में आता था। वे चाहते थे कि आम लोग इस प्रकार के विचारों के भूलभुलैया में आकर भटकते रहें, और उनका शासन-कार्य शान्ति में चलता रहे। यह कहना मूर्खता होगी कि इनमें से सभी इस प्रकार जान-बूझकर इस मत का प्रचार इस उद्देश्य से करते थे। Trial and error अर्थात् प्रयोगों के तरीक़े से उन्हें यह ज्ञात

१. I. P. Vol. I p. 215

हुआ कि इसी प्रकार की विचार-धारा समाज की स्थिति स्थापकता या के लिए अधिक उपयोगी हो सकती है, इसलिए ऐसी विचारधाराओं का आदर हुआ, और ऐसे विचार रखनेवालों की पूजा हुई। जब हम इस परिप्रेक्षित में उपनिषद युग के सदाचार को या ब्रह्ममयता को देखेंगे तभी उस समय का सदाचार हमारी समझ में आयेगा।

सर्वजीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव कर एक-आध राजा ने भले ही राज्य छोड़ दिया हो या राज्य से वीतरागता दिखाई हो किन्तु इससे पद्धति का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। ऐसी एक-आध घटना से जनता को धोखा देना आसान हो जाता है, क्योंकि इससे यह प्रमाणित-सा हो जाता है कि जिस विचार-धारा का प्रचार हो रहा है उसमें शासकवर्ग का पूर्ण विश्वास है। इस विषय में यहाँ पर अधिक ब्यौरे में जाने की गुंजाइश नहीं है, नहीं तो उस युग के दर्शन और सदाचार-सम्बन्धी एक एक विचार का विश्लेषण कर हम उसी नतीजे पर पहुँचते जिस पर हम अन्य वर्ग सदाचारों के विश्लेषण से पहुँचे हैं। उपनिषद के सदाचार को इसी लिए अन्त तक धर्म का आश्रय लेना पड़ता है।

इस प्रवृत्ति का भी अर्थ, इस विषय के परम विशेषज्ञ श्री राधाकृष्णन के ही मुँह से सुना जाय। वे उपनिषदों के दर्शन पर लिखते हैं—'सभी सदाचारों में यह बात पहले से मान ली गई है कि धर्म के साथ सदाचार की एकात्मकता है। इस धारणा के बग़ैर सदाचार की अन्तिम आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो सकतीं। जिस समय विपत्तियाँ और भय सामने हैं, मृत्यु और रोग का सामना हो रहा है उस समय हमें यह धारणा प्रफुल्लित करती है कि दृश्यमान असामंजस्य तथा असंगति के बावजूद सभी घटनाएँ कल्याण के लिए हो रही हैं। सदाचार में धर्म को मानकर चलने की आवश्यकता है। ईश्वर ही हमें यह भरोसा देता है कि इस जगत् में तथा मनुष्य-जाति में जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह सब ठीक है।'[१] इस प्रकार ब्रह्मवादी उपनिषदों में धर्म के साथ क्यों सदाचार को बाँधा गया है, यह भी स्पष्ट है। आम लोगों को यह विश्वास दिलाने की ज़रूरत है कि सब ठीक है। वस्तु-जगत् के सदाचार में जो असंगति दृष्टिगोचर होती है, उसे दूर करने के लिए परलोक, स्वर्ग और नरक की कल्पना है। जो व्यक्ति भूख से मर

१. I. P. Vol. I p. 226

रहा है, उसे यह तसल्ली देने की जरूरत है कि यदि वह धर्म पर डटा रहा अर्थात् ईश्वर पर भरोसा कर पड़ा रहा तो परलोक में उसे बड़े बड़े सुख, हूरें, गिलमों और न मालूम क्या क्या मिलेगा। जो समाज पद्धति के रथ के पहिये के नीचे पिसा जा रहा है, सबेरे से शाम तक मेहनत करने पर जिसे पेट भरकर रोटियाँ भी मयस्सर नहीं होतीं, उसे यह तसल्ली देने की आवश्यकता है कि एक ऊँट भले ही सुई के छेद से निकल जाय, किन्तु धनी व्यक्ति स्वर्ग में नहीं जा सकता। जो ग़रीब है वही स्वर्ग में राज्य करेगा, जो अव्वल है वह सबसे पीछे रहेगा, और जो सबसे पीछे है वह अव्वल रहेगा, इत्यादि। इन बातों से धर्ममूलक सदाचार की भी अन्तर्गत वस्तु उद्घाटित हो जाती है। धर्म को सामाजिक शक्तियों से परे, किसी अध्यात्मिक अलौकिक शक्ति के रूप में समझना ग़लत है। इसी प्रकार ईश्वर भी ईश्वर के भक्तों से अलग कुछ है, यह समझना ठीक नहीं। धर्म और ईश्वर की धारणा अनिवार्य रूप से उस समाज से बँधी हुई है, जिस समाज में वे धारणाएँ प्रचलित हैं।

४१—सदाचार को विवेक से उद्भूत बताने का प्रयत्न—सदाचार को समाज से वियुक्त कर समझने का एक तरीक़ा और भी है। यह तरीक़ा उन लोगों का है जो कहते हैं कि हम उसी काम को करते हैं जिस पर हमारा विवेक, conscience, जमीर गवाही देता है। लोकमान्य की भाषा में ऐसे लोगों का यह कहना है कि "हमें किसी ने ये मनोवृत्तियाँ दी नहीं हैं, किन्तु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयम्भू देवता ही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासन पर बैठता है, तब उसकी बुद्धि में न्याय-देवता की प्रेरणा हुआ करती है, और वह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है, परन्तु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का निरादर करता है, तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्याय देवता के सदृश ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्त्तव्य, प्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं वे भी देवता हैं।...मनोदेवता शब्द में इच्छा, क्रोध, लोभ आदि सभी मनोविकारों को शामिल नहीं करना चाहिए, किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है जिसकी सहायता से भले-बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक बड़ा भारी नाम सदसद् विवेक बुद्धि है। यदि किसी सन्देहग्रस्त अवसर पर मनुष्य

स्वस्थ अन्तःकरण से और शान्ति के साथ विचार करे तो यह सदसद् विवेक बुद्धि कभी उसको धोखा नहीं देगी। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे मौक़ों पर हम दूसरों से यहीं कहा करते हैं कि तू अपने मन से पूछ।'[1] लोकमान्य यह भी बताते हैं कि यद्यपि यह मत इस रूप में अलग हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित नहीं है तथापि 'उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कई जगह पाया जाता है।...मनुसंहिता में (४।१६१) लिखा गया है, वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए जिसके करने से अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो और जो कर्म इसके विपरीत हो उसको छोड़ देना चाहिए'[2]

४२—विवेक सदाचार का मूल है—राधाकृष्णन् का यह मत—श्री राधाकृष्णन् ने १९२९ में मेन्चेस्टर विश्वविद्यालय में हिबर्ट व्याख्यानमाला के दौरान में 'सदाचार में विवेक' पर बहुत ज़ोर दिया है। उनका कहना है कि 'सदाचारी अपने उस आन्तरिक छन्द्र का अनुसरण करता है जो उसे अग्रसर करता रहता है, और इस प्रकार उसे अपने भाग्य के अनुसार चलने, अपने स्व की पूर्ति करने का सन्तोष होता है। अपनी गम्भीरता प्रकृति का अनुसरण करते हुए वह हम लोगों में से उन लोगों के निकट, जो परम्परागत सदाचार का अनुसरण करते हैं, ऊलजलूल या दुराचारी ज्ञात हो सकता है; किन्तु उस व्यक्ति के लिए सामाजिक परम्परा से आध्यात्मिक मजबूरी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए बाह्य नियम से आभ्यन्तरिक संयम कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह आन्तरिक सत्यता और ईमानदारी की इच्छा करता है, न कि परम्परागत भलाई-बुराई की।'

४३—इस पर लोकमान्य का मत—इस प्रकार राधाकृष्णन् प्रकारान्तर से मनुष्य की आन्तरिक सदसद् विवेक बुद्धि को सदाचार की कसौटी मानते हैं, किन्तु लोकमान्य तिलक हिन्दूशास्त्रों का मन्थन कर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'केवल भले-बुरे का निर्णय करनेवाली सदसद्विवेक बुद्धि रूप स्वतंत्र और भिन्न देवता गीता को सम्मत नहीं है।' इसके लिए वे यह तर्क देते हैं कि प्रत्येक में ही सदसद्विवेक की बुद्धि नहीं होती। यदि बुद्धि सात्त्विक है तभी उसमें सदसद्विवेक की पूर्ण योग्यता होगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार हम एक अजीब हालत

---

१ गी० र० पृ० १२३-४ २ वही पृ० १२६

में पहुँचते हैं कि राधाकृष्णन् जिस विवेक या अन्तर्दृष्टि पर सदाचार की अपनी अट्टालिका खड़ी करते हैं, उसकी जड़ ही—सत्य, रज, तम—तीन प्रकार की बुद्धियों के सिद्धान्त से ढह जाती है। जिस बात को राधाकृष्णन् ने पाश्चात्य विद्वन्मंडली के सम्मुख एक परिष्कृत हिन्दू विचार के रूप में रखने की चेष्टा की है, वह यदि लोकमान्य को सच माना जाय तो, हिन्दू विचार का एक आंशिक रूप से स्वीकृत अंगमात्र है। हमें इस तर्क में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि असली हिन्दू विचार क्या है, वर्तमान उद्देश्य के लिए इतना ही जानना यथेष्ट होगा कि राधाकृष्णन् का यह मत प्रधान हिन्दू विचार नहीं है। राधाकृष्णन् ने अपनी व्याख्यानमाला में सदाचार को इस रूप में क्यों पेश किया है, यह इस बात से अच्छी तरह समझ में आ जायगा कि उन्हें अपने सदाचार-सम्बन्धी विचारों को जहाँ तक हो सके बुद्धि संगत लिवास में पेश करना था, क्योंकि पाश्चात्य में सदाचार को इसी रूप में पेश करने की चेष्टा की जा रही है।

ईसा ने ऐसा कहा है, मूसा ने ऐसा कहा है, तौरेत में ऐसा लिखा है, अंजील में ऐसा कहा गया है, इन बातों से जनता को क़ाबू में रखना कठिन हो रहा है। इसी लिए विवेक के नाम से एक नये बुत का प्रचार हुआ है, बल्कि यों कहना अधिक उचित होगा कि एक पुराने बुत को नये रूप में पेश करने की चेष्टा हुई है, क्योंकि विवेकवाली कसौटी बहुत पुरानी है। बुर्जुआ विद्वान् लोग सदाचार के वर्ग-आधार को छिपाने के लिए सभी कुछ कह सकते हैं। वे सदाचार के सही आधार को देख पाने के सिवा सभी तरह की अटकल और उड़ान भर सकते हैं। विवेकवाली व्याख्या इसी प्रकार की एक उड़ान है।

४४—कैन्ट का 'कैटागरिकल इम्परेटिव' और सदाचार—सुप्रसिद्ध यूरोपीय दार्शनिक इमैनुयल कैन्ट (१७२४–१८०४) ने धर्मवाद के साथ विज्ञान के व्यवहारवाद का समन्वय कर उदीयमान विश्व पूँजीवादीवर्ग के हाथों में एक बहुत ज़बरदस्त हथियार दिया था। इन्होंने सदाचार पर भी लिखा। रोजर्स के अनुसार 'कैन्ट न तो सदाचार के अस्तित्व को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, और न यह कोशिश करते हैं कि नैतिक व्यवहार के समर्थन में कुछ कहा जाय। वे इस बात को मानकर चलते हैं कि प्रत्येक बुद्धियुक्त प्राणी को अपनी सदाचार-सम्बन्धी मजबूरियों का ज्ञान है, और इसलिए सदाचार शास्त्र

का इतना ही काम है कि इसकी प्रकृति का विश्लेषण करे जिससे यह ज्ञान कल-षित न हो। कैन्ट के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे बटलर के अर्थ में इस बात को मानकर चलते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विवेक है, और यह विवेक ऐसा है जो स्वयम्भू है, और आप ही अपना शासन करनेवाला है।[१] कैन्ट ने इसको अपनी विशेष भाषा में यों कहा—सदाचार की आधारगत बात यह है कि categorical imperative का निरिविच्छन्न रूप से पालन किया जाय। इस नाम से हमें घबराने की आवश्यकता नहीं है। यह विवेक का एक दूसरा नाम है।

४५—हेगेल, शोपेनहावर तथा मार्क्स द्वारा कैन्ट की आलोचना—हेगेल ने कैन्ट के इस मतवाद की धज्जियाँ उड़ा दीं, उन्होंने यह दिखला दिया कि कैन्ट ने जो निरवच्छिन्न बुद्धि-स्वातंत्र्य (absolute free will)मान रक्खा है, वह ग़लत है, और स्वतंत्र इच्छा केवल सज्ञान रूप से स्वीकृत मजबूरी मात्र है इसलिए नैतिक विकास की जड़ें सामाजिक सम्बन्धों में हैं। सु की ओर रूख जीवन प्रक्रिया के उपादानों में से एक है। शोपेनहावर ने भी मार्क्स के इस formalist सदाचार की आलोचना की, उनकी बुद्धि संगत इच्छावाली बात नहीं मानी। उन्होंने प्रत्येक चीज को अन्ध अबौद्धिक जिजीविषा (will to-live) तक ले जाकर पहुँचा दिया। शोपेनहावर के अनुसार सदाचार इस अन्ध प्रवृत्ति के अनुसरण में नहीं है, बल्कि अन्ध इच्छा की अहंवादी प्रवृ-त्तियों को दबाने में है। मार्क्स ने कैन्ट के इस सदाचार में फ्रेंच उदारवाद का जर्मन बुर्जुआ रूप देखा। अपनी St. Max में उन्होंने लिखा—

जर्मन बुर्जुआ की तरह, जिसके वे पैरोकार थे, कैन्ट यह नहीं देख पाये कि बुर्जुआ वर्ग के इन सिद्धान्त-सम्बन्धी विचारों की तह में भौतिक स्वार्थ तथा वह इच्छा थी जो भौतिक उत्पादन के सम्बन्धों के द्वारा निर्णीत तथा उस पर निर्भर होती थी। इसलिए उन्होंने इन स्वार्थों से स्वार्थों की अभिव्यक्तियों को अलग कर दिया, और फ्रेंच बुर्जुआ वर्ग की भौतिक अवस्थाओं के द्वारा परिचालित इच्छा को विशुद्ध इच्छा (will in itself) के या स्वतंत्र इच्छा के विशुद्ध आत्म-परिचालन में परिणत कर दिया। इस प्रकार इसे विशुद्ध रूप से एक

१. S. H. E. p. 192-3

धारणा तथा सदाचार के साध्य (postuletes) के रूप में परिणत कर दिया।"

४६—**विवेक स्थान, काल, पात्र पर निर्भर**—मार्क्स ने जिन शब्दों में कैन्ट के सदाचार-सम्बन्धी विचारों की आलोचना की है, उनके कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आखिर यह विवेक अर्न्तदृष्टि, intutoin, conscience जमीर है क्या चीज़? हम यहाँ गहरे मनोविज्ञान में जाकर अर्थात् उसमें व्यवहृत ego, superego, आदि पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार न कर एक साधारण व्यक्ति की तरह यह पूछेंगे कि यह विवेक किस तरह बनता है। क्या यह विवेक जन्मजात होता है या पारिपार्श्विक अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से विकसित होता है? क्या कारण है कि एक हिन्दू के मन में गोमांस भक्षण की कल्पना विवेक का दंशन उत्पन्न करती है, किन्तु ईसाई आदि अन्य धर्मावलम्बियों में यह कल्पना इस प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करती? क्या करण है कि एक पूँजीपति यह समझता है कि वह मिल खोलकर बेकारी दूर करने में सहायक हो रहा है, और इस विचार से उसके विवेक को आत्मप्रसाद प्राप्त होता है, और इसके विपरीत मज़दूर यह सोचता है कि यह हम लोगों का खून चूस रहा है? ऐसे कितने ही प्रश्न किये जा सकते हैं जिनसे यह सूचित होगा कि समाज के भिन्न भिन्न स्तर में विवेक का भिन्न भिन्न रूप है। १९३९–४५ के महायुद्ध को ही लिया जाय। इसमें लिप्त प्रत्येक पक्ष अपने को सही समझता था। उनके विवेक यह गवाही देते थे कि उनका पक्ष न्यायपक्ष है। हम यह नहीं कहते कि इनमें से सभी पक्ष समान रूप से न्यायी या अन्यायी थे। हमारा इतना ही वक्तव्य है कि एक ही समय में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के विवेक भिन्न भिन्न रूप से गवाही देते थे। अवश्य इस पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ के विवेक प्रचारकार्य के द्वारा कलुषित कर दिये गये थे, और उनका cetegorical imperative शुद्ध नहीं रह गया था। गीता की भाषा में उनकी बुद्धि तामसी हो गई थी। यही तो हमारा भी कहना है। ऐसी हालत में विवेक किस प्रकार एक निरवच्छिन्न या चिरस्थायी सदाचार का आधार हो सकता है? यह स्पष्ट है कि वह ऐसा नहीं हो सकता। विवेक भी समाज

---

१. M. D. J. p. 215

और वर्ग से बँधे होते हैं। जैसा समाज, जैसी परिस्थितियाँ तथा जो वर्ग होता है, उसी के अनुसार विवेक भी बन जाता है। विवेक को समाज तथा अन्य परिस्थितियों से वियुक्त कर देखना अदूरदर्शिता का परिचय देना है। एक और छोटा-सा उदाहरण लेकर इस विषय को समाप्त किया जाय। जिन लोगों ने कथित अछूतों में काम किया होगा उन्होंने यह देखा होगा कि अत्यन्त आदरपूर्वक पास बिठाने पर भी वे कुछ सहमे रहते हैं। कई बार तो ऐसा देखने में आया कि अछूतों ने पाप के भय से अथवा विवेक के दंशन या जमीर की आवाज़ के कारण स्वेच्छा से उनके हाथ से पानी पीने के लिए इच्छुक उच्च वर्ण के व्यक्ति को पानी नहीं दिया। यहाँ पर इस विवेक या जमीर को हम सम्पूर्ण रूप से समाज से संयुक्त देख सकते हैं। ऐसी हालत में जो विवेक या जमीर है वह केवल अन्याय का एक मूर्तरूप है तथा उसी का वाहन और अस्त्र है। इसलिए जो लोग विवेक को सदाचार का आधार मानते हैं वे भले ही सदाचार के वर्ग आधार से लोगों की दृष्टि को हटा सकें, उनके मत में रत्ती भर भी तत्त्व नहीं है।

४७—सभी परम्परा विरोध प्रगतिशील नहीं—राधाकृष्णन् के मत की जाँच—विवेक के प्रतिपादक राधाकृष्णन् आविष्कारक-सुलभवर्ग के साथ कहते हैं—यद्यपि सदाचार का यह तक़ाजा है कि लोग उसका अनुसरण करें, किन्तु फिर भी सदाचार-सम्बन्धी जितनी भी प्रगतियाँ हुई हैं, वे परम्परा विरोधियों के कारण हुई हैं। कहने को तो श्रीराधाकृष्णन् ने यह कह दिया कि इस प्रकार जो लोग एक नये सदाचार को लेकर आये हैं उन्हीं के कारण सदाचार की उन्नति हुई है, किन्तु क्या उन्होंने या उनकी तरह लोगों ने कभी यह सोचने का कष्ट किया है कि इस प्रकार नये सदाचार को लेकर जो आते हैं, वे कौन होते हैं, और उनके नये सदाचार के आधार क्या हैं? यदि इस समस्या पर ज़रा भी विचार किया जाय तो एक बात तो यह ज्ञात होगी कि सभी Non-confirmists या परम्परा विरोधी प्रगति के सन्देशवाहक के रूप में नहीं आते। हर समाज के अपराधी परम्पराविरोधी होते हैं, किन्तु क्या वे प्रगति के सन्देशवाहक होते हैं? नहीं।

दूसरी बात यह है कि कुछ परम्पराविरोधी वास्तविक रूप से नवयुग का दुन्दुभी-निनाद करनेवाले होते हैं, किन्तु ये कौन होते हैं? जिस रूप में राधाकृष्णन् ने अपने कर्त्तव्य को पेश किया है, उस रूप में, परम्परा विरोधियों के नवयुग के सन्देशवाहक के रूप में, आनेवाली बात एक ऐसे रहस्यवादी सिद्धान्त में परिणत होकर रह जाती है, जिसको किसी भी पहलू से देखा जाय, बड़ा ख़तरनाक हो जाता है। एक तरफ़ तो इस सिद्धान्त से यह ध्वनि निकलती है कि जो अतिमानव होते हैं, वे सब नियमों से परे होते हैं, उन्हें मामूली नियमों से देखने की आवश्यकता नहीं और इसलिए उनके अनुसरण की आवश्यकता है। दूसरी तरफ़ इस रहस्यवादी सिद्धान्त का मतलब यह होता है कि साधारण लोगों के लिए तो सदाचार-सम्बन्धी मानदण्ड एक है, किन्तु बड़े लोगों के सम्बन्ध में ऐसी कोई मजबूरी नहीं है। उनमें यदि हम किसी मामले में नियमानुगतता न पावें तो हम उसे यह समझ कर दरगुज़र करें कि बड़ों की बात बड़ों के ही लिए है। यह केवल हमारे अनुमान या उड़ान की बात नहीं है, इस प्रकार के सदाचार की यही परिणति सब देशों में हुई है।

४८—लेनिन द्वारा साम्यवादी सदाचार का रूप-निर्णय—हमारी आलोचना से यह बात ख़ूब स्पष्ट हो गई कि सदाचार के साथ समाज का सम्बन्ध अपरिहार्य है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि वर्गसमाजों के सभी सदाचार—चाहे वे अपक्षपाती होने का कितना भी दावा करें—वर्ग सदाचार होते हैं। अब स्वाभावकि रूप से यह प्रश्न उठता है कि इन विभिन्न सदाचारों में से साम्यवादियों का कौन-सा सदाचार है। लेनिन ने १९२० के २ अक्टूबर को अखिल रूसी युवक-साम्यवादी लीग के तृतीय अधिवेशन में बोलते हुए, इस विषय का स्पष्टीकरण किया था। उन्होंने उस अवसर पर युवकों से यह कहा था कि आज के युवकों की शिक्षा-दीक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वे साम्यवादी सदाचार से ओतप्रोत हो जायँ। उन्होंने कहा था 'किन्तु प्रश्न यह है कि क्या साम्यवादी सदाचार नाम की कोई वस्तु है? क्या साम्यवादी सदसद्विचार-शास्त्र नाम से कोई शास्त्र है? अवश्य ही है। अकसर ऐसा दिखलाया जाता है मानो हमारे लिए कोई सदाचार ही न हो, और प्रायः पूँजीवादीवर्ग हम साम्यवादियों पर यह दोष लगाया करता है कि हम सब तरह के सदाचार को अस्वीकार करते हैं। ऐसी

बातें करना धारणाओं के साथ खेल खेलना तथा मज़दूर और किसानों की आँखों में धूल झोंकना है। हम किस अर्थ में सदाचार या सदसद्विचार-शास्त्र को अस्वीकार करते हैं? उस अर्थ में, जिस अर्थ में पूँजीवादीवर्ग इसका प्रचार करता है, जो ईश्वरीय आज्ञाओं से सदाचार के नियमों को प्राप्त करता है। हम अवश्य ही यह बात कहते हैं कि हम ईश्वर पर विश्वास नहीं करते, और हम बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि पुरोहितवर्ग, ज़मींदार तथा पूँजीवादीवर्ग ईश्वर के नाम से अपने शोषण-सम्बन्धी स्वार्थों की ओर से ही बोला करते थे। इन लोगों में से कुछ ऐसे भी थे जो सदाचार-सम्बन्धी ईश्वरीय अज्ञाओं से सदाचार के नियमों को प्राप्त करने के बजाय भाववादी या अर्द्धभाववादी वाक्यों से अपनी सदाचार पद्धति को प्राप्त करते थे। इस तरीक़े पर भी सदाचार का प्रायः वही रूप हो जाता था जो ईश्वरीय आज्ञाओं से प्राप्त सदाचार का होता था। हम ऐसे सब सदाचारों को अस्वीकार कर देते हैं जो अमानवीय तथा अवार्गिक धारणाओं से प्राप्त किये गये हैं। हम यह कहते हैं कि यह एक धोखा है, जालसाज़ी है, और ज़मींदारों तथा पूँजीपतियों के हितों की दृष्टि से मज़दूरों और किसानों के मन को अन्धकाराच्छन्न रखना है।

'पहले का समाज ज़मींदारों और पूँजीपतियों के द्वारा मज़दूरों और किसानों के निर्यातन पर अवलम्बित था। हमें इसे नष्ट करना पड़ा, हमें इसे ढहा देना पड़ा; किन्तु यह स्मरण रहे कि इसके लिए हमें एकता स्थापित करनी पड़ी। ईश्वर वैसी एकता स्थापित नहीं करेगा। यह एकता केवल कारख़ानों और वर्कशापों तथा दीर्घ निद्रा से जागे हुए उद्बुद्ध सर्वहारावर्ग के द्वारा ही निर्मित हो सकती थी। जब यह वर्ग इस प्रकार एक हो गया, तभी वह जनान्दोलन शुरू हुआ जिसके फलस्वरूप सबसे कमज़ोर देशों में से एक देश में सर्वहारा क्रान्ति हुई इस क्रान्ति के फलस्वरूप यह कमज़ोर देश इतना तगड़ा हो गया कि गत तीन वर्षों से यह दुनिया के सम्मिलित पूँजीपतिवर्ग के हमलों का सफलतापूर्वक सामना करता रहा है। हम देखते हैं कि सारे जगत् में सर्वहारा क्रान्ति में वृद्धि हो रही है। हम अब अपने तजर्बे के आधार पर यह कहते हैं कि सर्वहारावर्ग ही उस ठोस शक्ति का निर्माण कर सकता था, जिसका अनुसरण बिखरा हुआ, तथा ऐक्यहीन किसानवर्ग कर रहा है, और जिसके फलस्वरूप हम शोषकों के

हमलों का सामना कर सके हैं। यही वर्ग मेहनतकश जनता को एक होने, अपने अन्तर्भुक्त सब लोगों को एकत्र करने तथा साम्यवादी समाज की रक्षा करने, उसको ठोस बनाने तथा उसके निर्माण करने में समर्थ हो सकता है।

'अतः हमारे लिए मनुष्य-समाज के अतिरिक्त कोई सदाचार नहीं है, बाक़ी धोखा है। हमारे लिए सर्वहारा के वर्गसंग्राम की आवश्यकताओं की पूर्ति सदाचार है...हम अपने साम्यवादी सदाचार के सामने इसी कर्त्तव्य को रख देते हैं। हम कहते हैं, सदाचार वही है जो प्राचीन शोषक-समाज को नष्ट करने में तथा सर्वहारा के इर्द-गिर्द सब मेहनतकशों को जमाकर एकता-बद्ध करने में यानी एक नवीन साम्यवादी समाज के निर्माण करने के काम में आवे। साम्यवादी सदाचार वह सदाचार है जो इस संग्राम में काम देता है, जो सब तरह के शोषण के विरुद्ध मेहनतकश जनता को एकता-बद्ध करता है, जो सब तरह की सम्पत्ति के विरुद्ध मेहनत करनेवाली जनता को संगठित करता है, क्योंकि सम्पत्ति एक व्यक्ति के हाथों में उस चीज़ को रख देती है जो सारे समाज के श्रम से निर्मित हुई है।...साम्यवादी सदाचार का आधार यही है कि साम्यवाद को ठोस बनाने तथा उसको अन्तिम दर्जे तक पहुँचा देने के लिए मदद मिले। यही साम्यवादी ट्रेनिंग, शिक्षा और शिक्षण का उद्देश्य है।...जब लोग हमसे सदाचार की बात करते हैं तो हम कह देते हैं कि एक साम्यवादी के लिए सदाचार इस बात में है कि वह शोषकों के विरुद्ध ठोस, एकताबद्ध, अनुशासित, सज्ञान, जन-संग्राम में भाग ले। हम चिरन्तन सदाचार में विश्वास नहीं करते, हम सदाचार के विषय में कही हुई सब कहानियों की क़लई खोल देते हैं। सदाचार का यह उद्देश्य है कि वह मनुष्य-समाज को इस काम में मदद दे कि वह उच्चतर सतह पर आरोहण कर सके तथा श्रम के शोषण से मुक्ति पा सके।'

४९—पूर्वज पशुओं से प्राप्त सहजातों की नीव पर सदाचार की सृष्टि— संक्षेप में लेनिन के विचार ये हैं, किन्तु 'कुछ साम्यवादी लेखक और भी गहराई तक जाने के लिए इस बात की आवश्यकता समझते हैं कि हमारे इतर प्राणी पूर्वजों से उत्तराधिकार सूत्र से जो भी सामाजिक सहजात मिले हैं, जिसके कारण मनुष्य में सदाचार की बुद्धि विकसित हुई है, उसमें और हमारे सदाचार के

ढाँचों में (जो सम्पूर्ण रूप से सामाजिक परिस्थितियों की उपज है) फ़र्क़ किया जाय'।[१] ऐसा फ़र्क़ करने पर भी सदाचार के सम्बन्ध में जो साम्यवादी विचार है, उसमें कोई भिन्नता नहीं आती। बात यह है कि इस दृष्टि से देखने पर भी सदाचार की निरवच्छिन्नता नहीं सिद्ध होती, बल्कि इतना ही ज्ञात होता है कि मनुष्य को उत्तराधिकार सूत्र में जिस प्रकार के शरीर और मन मिले हैं, उनमें यह सामर्थ है कि जटिल सदाचार की उत्पत्ति हो। इस दृष्टि से देखने पर यह कोई स्वतंत्र मत नहीं, बल्कि सदाचार-सम्बन्धी साम्यवादी मत-वाद का स्पष्टीकरण-मात्र है। यह स्पष्टीकरण उसी प्रकार का है जिस प्रकार यह कहा जाय कि मनुष्य में जो साहित्य और कला की उत्पत्ति हुई है उसके लिए जड़ ढूँढ़ते ढूँढ़ते हम चिड़ियों के बनाये हुए सुन्दर घोंसलों या बलाका-पंक्ति या मोर के नृत्य तक जा सकते हैं। इस स्पष्टीकरण से सदाचार की भौतिक जड़ें और भी गहराई तक स्पष्ट हो जाती हैं, किन्तु उनकी सामाजिक तथा वार्गिक अन्तर्गत वस्तु ज्यों की त्यों बनी रहती है।

मार्क्सवादी किसी चिन्तन सदाचार के अस्तित्व को नहीं मानते। इससे, ग़लत तरीक़े से यह उपसंहार निकालने की चेष्टा की जा सकती थी कि मार्क्स-वाद किसी तरह के सदाचार को मानता ही नहीं, क्योंकि जब आगे चलकर यह सदाचार बदल जायगा, तब किसी सदाचार को मानकर चलने का क्या अर्थ होता है, किन्तु हमने देख लिया कि मार्क्सवाद इस प्रकार के नैतिक तुलनावाद तथा नकारवाद को नहीं मानता। समाज में जो वर्ग प्रगतिशील है, जो वर्ग आगामी है, उसी के हित में, विशेषकर मज़दूरों और किसानों के अर्थात् मेहनत-कशों के हित में जो सदाचार है, वही सदाचार माननीय है। मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि सामन्तवादी या बुर्जुआ सदाचार कोई सदाचार ही नहीं है। उसका इतना ही कहना है कि सर्वहारावर्ग के हित में जो सदाचार है वह इससे श्रेष्ठ-तर है, तथा इसके मुक़ाबिले में बुर्जुआ सदाचार त्याज्य है।

५०—वर्गसमाज में वर्गहीन सदाचार का नारा छलपूर्ण—जिस समय वर्गों का अन्त होकर वर्गहीन समाज की स्थापना होगी, उसी समय सदाचार वर्ग से ऊपर उठ सकेगा। सर्वहारावर्ग के हित में जो सदाचार है, उससे वह सदाचा

१. M. D. I. p. 212

सामाजिक, ऐतिहासिक दृष्टि से उच्चतर होगा। वर्गहीन समाज के सम्बन्ध में जैसे हम बहुत थोड़ी बात कह सकते हैं, वैसे ही वर्गहीन सदाचार के विषय में भी हम अनुमान ही कर सकते हैं। आज दिन जितने भी प्रगति-विरोधी कार्य या अपराध होते हैं, उनके लिए उस युग में कोई आधार या उत्तेजना नहीं रहेगी। वर्गसमाज में बैठकर वर्गहीन सदाचार के सम्बन्ध में उड़ानें भरना या यह कहना कि वर्गसमाज में ही हम वर्गहीन समाज के सदाचार को लागू करेंगे, केवल पागलों को शोभा दे सकता है। इस प्रकार की उड़ानें भरना व्यावहारिक ज्ञान से बाहर जाना है। वर्गसमाज के रहते हुए अखिल मानवीय वर्गहीन समाज के सदाचार के रूप में किसी बात का नारा देना निश्चयात्मक रूप से गुमराह करने-वाला और प्रतिक्रियावादी हो सकता है।

५१—अहिंसा का उदाहरण—एक उदाहरण लिया जाय। यदि यह कहा जाय कि वर्गहीन समाज में युद्ध न होंगे, उस समाज में तोप, बन्दूक़, टैंक, ऐटम-बम का उपयोग न होगा। उस समाज में सामरिक हत्या की तो बात जाने दी जाय, वैयक्तिक हत्या भी नहीं होगी, न मार-पीट होगी; दूसरे शब्दों में उस समाज में अहिंसा का बोलबाला होगा, इसलिए अभी से अहिंसा को निरवच्छिन्न सदाचार के रूप में मान लिया जाय। यह बात सच है कि वर्गहीन समाज में युद्ध तथा हत्या के लिए कोई आधार नहीं रह जायँगे, किन्तु अभी से अहिंसा को वर्गसंग्राम में एक-मात्र अनुसरणीय नीति या युद्ध-पद्धति के रूप में ग्रहण किया जाय, तो बड़ी भारी ग़लती होगी। इसका कारण यह है कि शोषकवर्ग तो अपने को तोप, बन्दूक़, टैंक, ऐटम बमों से लैस रक्खेगा, और अपने स्वार्थों पर आघात होते ही अत्यन्त निर्दयता के साथ इनका व्यवहार करेगा। इस हालत में यदि वर्गहीन समाज का सदाचार मानकर शोषितवर्ग अहिंसा को ही अपना एक-मात्र तरीक़ा स्वीकार कर ले, तब तो बड़ी अजीब हालत होगी। उस हालत में वर्गहीन समाज का यह कथित सदाचार उसके स्वार्थों के लिए सम्पूर्ण रूप से घातक होगा, उसे कभी शोषण से मुक्त न होने देगा, और सच तो यह है कि वर्गहीन समाज की कभी नौबत ही नहीं आवेगी। यदि वर्गहीन समाज के सदाचार की दुहाई देकर शासकवर्ग अपनी तोपों, बन्दूकों, तलवारों को गला दे, और ऐटम की शक्ति को उत्पादन के कार्य में लगा दे तब, उस

हालत में, शोषितवर्ग के लिए भी यह उचित होगा कि वह अहिंसा को ही एक-मात्र नीति के रूप में ग्रहण करे, अन्यथा वर्गहीन समाज का कथित सदाचार उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। ग़लतफ़हमी से बचने के लिए बता दिया जाय कि संग्राम के एक सोपान तक अपनी शक्ति को बिखरने न देने के लिए सर्वहारावर्ग को भी जिस अहिंसा का अवलम्बन करना पड़ता है, उस अहिंसा के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहा नहीं जा रहा है, क्योंकि वह अहिंसा तो अन्तिम हमले के लिए शक्ति-संचय-मात्र है।

५२—वर्तमान युग में एकदेशीय सत्य का नारा घातक—इसी सिलसिले में असत्य के भी प्रश्न को लिया जाय। कहा जा सकता है कि जिन कारणों तथा दबावों से लोग आज झूठ बोलते हैं, उन कारणों के समाप्त कर दिये जाने के कारण वर्गहीन समाज में कोई मिथ्या भाषण न करेगा। हम इसको इस रूप में मान लेते हैं, यद्यपि सच तो यह है कि जिस समाज में झूठ के लिए उत्तेजक कारण नहीं रह जावेगा, और लोग पहले की इस सम्बन्ध की बातों को भी भूल गये होंगे, उसमें न झूठ होगा और न सच; क्योंकि जिस समाज में लोगों को झूठ की कोई धारणा नहीं होगी, उस समाज में सत्य की धारणा नहीं रह सकती। ऊपर हमने वर्ग-समाज की अहिंसा के विषय में जो कुछ कहा है, उस पर भी यही मन्तव्य लागू होगा। जो हो, यदि इस बहाने पर कोई यह कहे कि चूँकि वर्गहीन समाज में झूठ न होगा, इसलिए सर्वहारा राष्ट्रों को चाहिए कि वे किसी प्रकार की गुप्त सन्धि न करें, किसी प्रकार की कूटनीति का अवलम्बन न करें, किसी प्रकार के अस्त्रों को गुप्त न रक्खें। पेट्रोल की राजनीति न करें, जो कुछ कहें और करें सब खुले-ख़ज़ाने करें, दुनिया के राष्ट्रों के सम्मुख एक आदर्श स्थापित करें, तो यह सम्पूर्ण रूप से मूर्खता होगी। ऐसा कहने का अर्थ यह होगा कि सर्वहारा राष्ट्र से यह कहा जाय कि वह आत्मघात कर ले, और बुर्जुआ राष्ट्रों को मौक़ा दे कि वे उसे हड़प जायँ। जिस समय तक पृथ्वी के सब देशों में या कम से कम अधिकांश बृहत् देशों में समाजवाद की स्थापना नहीं होती, और पृथ्वी समाजवाद के लिए सम्पूर्ण रूप से निरापद नहीं हो जाती, जिस समय तक सर्वहारा राष्ट्र पर बुर्जुआ राष्ट्रों के हमले का डर बना रहेगा उस समय तक सर्वहारा राष्ट्र को

कूटनीति के दावँ-पेचों से काम लेना पड़ेगा; जिस समय तक यह भय रहेगा कि बुर्जुआ राष्ट्र अपने गुप्तचरों और पिछलगुओं के द्वारा सर्वहारा राष्ट्र को अन्दर से पंगु कर सकें, जिस समय तक किसी भी प्रकार सर्वहारा राष्ट्र को यह भय रहेगा कि उसके हितों अथवा विश्व के सर्वहारा के हितों पर बुर्जुआ देशों की ओर से हानि पहुँच सकती है; उस समय तक सर्वहारा राष्ट्र को कूटनीति के सब दावँ-पेचों को काम लेना पड़ेगा, और बुर्जुआ राष्ट्रों के मुक़ाबिले में अधिक सफलतापूर्वक इन दावों का इस्तेमाल करना पड़ेगा। उसे बुर्जुआ राष्ट्रों की आपसी असंगति का फ़ायदा उठाना पड़ेगा। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें आपस में लड़ा देना पड़ेगा। किसी राष्ट्र पर बिना चेतावनी दिये, एकाएक हमला करना पड़ेगा; क्योंकि आधुनिकतम युद्ध-नीति के अनुसार हमला करना ही आत्मरक्षा का सबसे बड़ा तरीक़ा है, अपने यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति को अपने यहाँ की लाल सेना का सदस्य बनाना पड़ेगा, बाध्यतामूलक सामरिक शिक्षा देनी पड़ेगी, ऐटमबम और उससे भी भयंकर अस्त्रों से अपने को लैस रखना पड़ेगा। मतलब यह कि जो कुछ भी कल्पनीय है वह सब करना पड़ेगा।

५३—सर्वहारा राष्ट्र की कूटनीति-नैतिक—स्वाभाविक रूप से यहाँ पर यह प्रश्न उठेगा कि यदि सर्वहारा राष्ट्र बुर्जुआ राष्ट्रों की तरह सभी तरह की बातों में वही आदर्श रक्खे जो वे रखते हैं, तो वह क्योंकर इनसे श्रेष्ठ माना जा सकता है। हमने अब तक जो कुछ कहा है, उस दृष्टिकोण से सोचने से इस बिन्दु पर क्या सही मत होगा यह स्पष्ट हो जाता है। सर्वहारा राष्ट्र एक उच्चतर राष्ट्र है, इसलिए उसकी रक्षा में जो भी कूटनीति अवलम्बित होगी, वह दृश्यमान रूप से या यों कहिए कि निर्जीव रूप से देखने पर बुर्जुआ राष्ट्र की कूटनीति की तरह होने पर भी सदाचार है क्योंकि उसका उद्देश्य उच्चतर समाज की रक्षा है। बुर्जुआ राष्ट्र की जो कूटनीति प्रतिक्रियावादी कहलावेगी, असदाचार तथा अनीति कहलावेगी, वही कूटनीति सर्वहारा राष्ट्र के क्षेत्र में प्रगतिशील, क्रान्तिकारी और सुनीति कहलावेगी। राष्ट्र की नीति-अनीति के सम्बन्ध में हमने इसलिए विशेषकर लिखा कि बुर्जुआ राष्ट्रों की कूटनीति की हम आलोचना कर आये हैं। इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है कि बुर्जुआ राष्ट्र कूटनीति का व्यवहार करते हैं, इसी लिए सर्वहारा राष्ट्र को

आत्म-रक्षार्थ उसका प्रयोग करना पड़ता है, नहीं तो सर्वहारा राष्ट्र को बहुत खुशी होती, यदि बुर्जुआ राष्ट्र अपने सब काम खुलेखज़ाने करने लगते; किन्तु यह तो शाब्दिक असंगति अथवा बैल से दूध दुहना है। बुर्जुआ राष्ट्र शोषण पर अवलम्बित है। इस शोषण का रूप यह है कि मुट्ठी भर लोग करोड़ों का शोषण करते हैं। ऐसी हालत में वे सच बोलने की शौकीनी कब कर सकते हैं ?[१]

इन्हीं बातों को दृष्टिकोण में रखते हुए डाक्टर ज़ूलियस एफ० हेकर ने यह नतीजा निकाला है कि 'दुनिया के मज़दूरों के हितों की सेवा साम्यवाद का उच्चतम सु है। जो बात मेहनत करनेवालों के हितों को आगे बढ़ाती है, वही अच्छी है, और जो इसमें बाधा पहुँचाती है, वह ख़राब है ?'

५४—शोषितों के दल और सदाचार—जो बात सर्वहारा राष्ट्र के सम्बन्ध में कही गई वही बात सर्वहारा दलों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। प्रश्न यह नहीं है कि सर्वहारा दल एक नई नीति का नमूना दिखावें, और दिखाते-दिखाते शहीद हो जावें। प्रश्न तो यह है कि किस प्रकार बुर्जुआ दलों तथा साम्राज्य-वादियों से सफलतापूर्वक लोहा लिया जाय। जब हम इस संग्राम में सफलता प्राप्त कर लेंगे, और दुनिया समाजवाद के लिए निरापद हो जावेगी, तभी नई नीति का प्रश्न उठेगा, उसके पहले नहीं। उसके पहले ऐसा नारा देना आत्म-हत्या करने के तुल्य होगा। फिर जैसा कि राष्ट्र के सम्बन्ध में हमने बताया, बुर्जुआ दल हर तरह की बेईमानी और झूठ का इस्तेमाल करते हैं, लोगों को सत्य कभी नहीं जानने देते, कहीं प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा, और कहीं विज्ञापन-दाताओं के संघ के ज़रिये तथा कहीं कानाफूसी के प्रचार-कार्य से वे छापेख़ानों का गला घोटे रहते हैं। हमने यह भी देखा कि सभ्य जगत् के अच्छे से अच्छे बुर्जुआ दल किस प्रकार जिनोविफ पत्र की तरह साफ़ जालसाज़ी करते हैं। ऐसी हालत में किसी साम्राज्य-विरोधी या सर्वहारा दल को यह कहना कि वह अपने विरोधियों के विरुद्ध दूध के धुले तरीक़ों का इस्तेमाल करे, मानो ऐसा होगा कि हमेशा को अपने लिए ग़ुलामी का पट्टा लिख दें। इस दृष्टि से देखने पर हमें यह अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि क्यों इन्हीं बेईमान और मक्कार बुर्जुआ

१. M. D. p. 217

दलों के सदस्यगण शोषितों को दूध के धुले तरीक़ों का इस्तेमाल करने के लिए कहते हैं; और उक्त सदस्यों को क्यों विश्व नागरिक, महात्मा, युगावतार आदि नाम से अभिहित करते हैं। ये लोग खुद इन 'महात्माओं' तथा 'युगप्रवर्तकों' की कही हुई बातों का अपने जीवन में क़तई अनुसरण नहीं करते; किन्तु शोषितों की आँखों में धूल झोंकने के लिए ऐसे महात्माओं की तारीफ़ों के पुल बाँध देते हैं। यदि बुर्जुआ दल या साम्राज्यवादीगण दूध के धुले तरीक़ों का इस्तेमाल करें, अपने मतलब के लिए शोषितों को चाहे साम्प्रदायिक नारे पर या और किसी आर्थिक, सामाजिक नारे पर आपस में न लड़ावें, यदि वे स्वेच्छा से अपने लूट-खसोट के माल को वापस देने के लिए तैयार हो जायँ, यदि वे उत्पादक काम करने के लिए उद्यत हो जायँ (जैसा कि वे कभी हो नहीं सकते, एक आध व्यक्ति की बात दूसरी है), तभी यह प्रश्न उठेगा कि दूध के धुले तरीक़े खुले-खज़ाने इस्तेमाल किये जायँ। महात्मापन इस बात में है कि ऐसा नारा दिया जाय जिससे शोषितों को शोषण पद्धति के शिकंजे से छुटकारा प्राप्त करने की सुविधा हो, न कि इसके विपरीत। कोई भी नारा केवल ऊपरी स्वरूप के कारण अच्छा या बुरा नहीं हो सकता। जैसी परिस्थिति है, समाज की शक्तियाँ जिस प्रकार हैं, इन्हीं को देखते हुए जब कोई नारा प्रगति या प्रतिक्रिया के लिए अच्छा या बुरा साबित होता है तभी वह अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। जिस युगप्रवर्तक के नारे से शोषितों का जिस हद तक कल्याण होता है वह उतना ही बड़ा युगप्रवर्तक है। इसी पहलू से प्रभावित होकर रोमारोलाँ ऐसे चिरन्तन मूल्यों और मान्यताओं में विश्वास करनेवाले व्यक्ति भी लेनिन को इस युग का सबसे प्रमुख महापुरुष मानने पर मजबूर हुए। आप यदि बिलकुल दिगम्बर होकर सर्वस्व त्याग का नारा दें, किन्तु समाज-पद्धति में उससे कोई फ़र्क़ न आवे, तो वह नारा भले ही आपकी सदिच्छा का द्योतक हो, किन्तु उसका नैतिक मूल्य संदिग्ध है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में रूस के विषय में लिखते हुए कहा है कि वहाँ की हिंसाओं से उन्हें बहुत कष्ट हुआ है, किन्तु ऐसा लिखने के बाद ही उन्हें याद आ गई कि बुर्जुआ देशों में ही हिंसा की कमी कब है। इस पर वे बहुत सही तौर से लिखते हैं कि विचार करने पर ज्ञात हुआ कि हिंसा सोवियट पद्धति में अन्तर्निहित नहीं

है, किन्तु पूँजीवादी पद्धति में तो वह अन्तर्निहित है। यही बात बुर्जुआ दल तथा बुर्जुआ-विरोधी दलों के विषय में विशेषकर सर्वहारा दल के विषय में कही जा सकती है।

५५—सर्वस्व त्याग के नारे की जाँच—भगवान् बुद्ध और दास—हम यदि इस प्रसंग में थोड़ी देर के लिए सुदूर भूतकाल में लौट जायँ तो विचारों के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी। भगवान् बुद्ध अपने युग में एक महान् क्रान्तिकारी हो गये हैं। उन्होंने यागयज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध आवाज़ उठाई, इत्यादि इत्यादि। कुछ लोगों के अनुसार बुद्ध से बढ़कर कोई भारतीय पैदा ही नहीं हुआ। एच० जी० वेल्स ऐसे साम्राज्यवादी तथा श्वेत जाति के बोझ में विश्वास रखनेवाले लेखक ने बुद्ध को इतिहास के इने-गिने आधे दर्जन महापुरुषों में गिनाया है। बुद्ध के त्याग में भला क्या सन्देह हो सकता है? उन्होंने सर्वस्व त्याग कर, भिक्षु बनकर, अर्हत्त्व प्राप्ति का नारा दिया। यह सब ठीक है, किन्तु इस सर्वस्व त्यागी को भी उस समय के वार्गिक सम्बन्धों में क्रान्तिकारी तरीक़े से हस्तक्षेप करने की हिम्मत नहीं हुई। बात यह है कि वे स्वयं उठते हुए महाजन वर्ग को साथ में लेकर चल रहे थे, उनकी अद्भुत सफलता का रहस्य इसी में है कि उनकी विचार-धारा से आम लोगों के साथ साथ एक उदीयमान शासक वर्ग को ज़ोर मिला। उस युग में दास रखने का चलन था। बुद्ध को यह कहने की हिम्मत नहीं थी कि 'दास-प्रथा को ख़त्म कर दो।' उन्होंने स्वयं दास नहीं रक्खे, और जब लोगों ने उन्हें उपहार में दास देना चाहा तो उन्होंने इनकार कर दिया, फिर भी (अब हम डाक्टर यू० एन० घोषाल से उद्धृत करेंगे) वे ग़ुलाम के मालिकों के दासों पर हक़ का सम्मान करते थे। उन्होंने कह दिया था कि संघ में कोई भी ऐसा दास न आये जिसको उसके प्रभु ने आज़ाद न कर दिया हो।[१] इसी प्रकार सभी तरह के संन्यास आश्रम में ऐसे क़र्ज़दार का, जिसने अपना क़र्ज़ नहीं चुकाया है, प्रवेश निषिद्ध है। आख़िर इन बातों से क्या ज़ाहिर होता है? यही न कि केवल सर्वस्व त्याग के नारे से कुछ नहीं होता। असली प्रश्न है समाज-पद्धति को बदलकर शोषण का उन्मूलन। यदि ऐसा नहीं हुआ तो ऊँचे से ऊँचे नारे व्यर्थ हैं।

१. B. I. H. p. 91

५६—सर्वहारा सदाचार में अपने वर्ग उद्देश्य की स्पष्ट स्वीकृति—हमारे विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट हो गया कि बुर्जुआ तथा साम्राज्यवादी दलों के मुक़ाबिले में सर्वहारा दल किस प्रकार की कार्य-पद्धति का अवलम्बन कर सकता है और ऐसा करना उचित होगा। हमारे निकट औचित्य का एक ही मान दण्ड है। वह मानदण्ड यह है कि कहाँ तक एक बात प्रगति की शक्तियों को मज़बूत करती है, और उन्हें प्रतिक्रिया की शक्तियों के मुक़ाबिले में विजयी बनाती है। कहा जा सकता है कि यह तो बहुत उच्छृङ्खलता की बात हुई। इससे तो कुछ पता ही नहीं लगेगा कि क्या हेय है और क्या उपादेय है। हम दिखा चुके कि कार्य-क्षेत्र में बुर्जुआ क्या करते हैं, इसलिए बात इतनी रह गई कि इसके बावजूद जो है उसे मान लिया जाय या शुतुरमुर्ग़ की तरह बालू में सिर छिपाकर यह कहा जाय कि हम ऐसे हैं और वैसे हैं, और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बना जाय। जैसे मार्क्सवाद में ही राष्ट्र के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया गया है कि राष्ट्र एक वर्ग के दमन के लिए दूसरे वर्ग की सशस्त्र और दमनकारी संस्था है, दूसरे सिद्धान्तों की तरह इसमें राष्ट्र के इस दमनात्मक वर्ग चरित्र को छिपाया नहीं जाता, वैसे ही सदाचार के क्षेत्र में हम इस बात को नहीं छिपाते कि सदाचार हमारे हाथों में शोषण का अन्त करने के लिए एक हथियार के रूप में है, और इस हथियार का इस्तेमाल अन्तिम रूप से देखने पर अखिल मानव जाति के कल्याणार्थ होने पर भी इस समय इसका इस्तेमाल शोषकवर्ग को ख़त्म करने के लिए होगा। हम जिस प्रकार यह मानते हैं कि सर्वहारा का राष्ट्र अथवा सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व दमनात्मक है, और यह पहले के शोषक वर्गों या उनके अवशेषों का दमन करेगा, उसी प्रकार हम यह साफ़ साफ़ कहते हैं कि हमारा सदाचार शोषणों का जल्दी अन्त कर देने के लिए है, न कि मखमल जड़ी काँच की आलमारी में रखकर पूजा करने के लिए। बुर्जुआवर्ग या उसके दल जिस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक कार्यक्षेत्र में कुछ और, तथा सिद्धान्तों में कुछ और रखते हैं, उस प्रकार की विलासिता करने का साहस हम नहीं करते और न इस प्रकार हमें किसी ढोंग की ज़रूरत है।

५७—सर्वहारा दल को प्रमाणित करना पड़ेगा कि वह सर्वहारा का दल है—स्वाभाविक रूप से यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि फिर तो साहब, जो भी गुट

अपने को शोषित या सर्वहारा का दल कहेगा, उसे मनमाना करने का पासपोर्ट मिल जायगा। इसलिए यह बता देना आवश्यक है कि पहले तो ऐसे दल को यह साबित करना पड़ेगा कि वह सचमुच शोषितों का और सर्वहारा का दल है, तभी उसे ऐसी दुहाई देने का हक़ होगा। यह नहीं कि जिनका किसी प्रकार से सर्वहारावर्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है, और है तो वह सम्बन्ध आवयविक नहीं है, और बहुत कम है, उन्हें सर्वहारा के नाम पर कुछ कहने का अधिकार न होगा। फिर यह देखना पड़ेगा कि कहाँ तक उनकी नीति सर्वहारावर्ग के कल्याण में समर्थ हुई है। यदि कोई दल जो सर्वहारा दल होने का दावा करता है, ऐसी नीति अख्तियार करे जिसके कारण सब मिलाकर सर्वहारावर्ग को क्षति पहुँचे तो अवश्य ही यह कहना पड़ेगा कि वह नीति ग़लत थी। इस विषय में हम इससे अधिक ब्यौरे में नहीं जायँगे। जो बात सर्वहारा दल के सम्बन्ध में कही गई, वही बातें सर्वहारा राष्ट्र के सम्बन्ध में भी लागू समझी जायँ।

५८—कोई भी वैयक्तिक प्रश्न वैयक्तिक नहीं—उदाहरण दो में प्रेम— अब तक जो कुछ कहा गया उससे सर्वहारा सदाचार का सामूहिक रूप स्पष्ट हो गया, किन्तु इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि बहुत से ऐसे प्रश्न तथा समस्याएँ आ जाती हैं जैसे किसी युवती के साथ हम प्रेम करें या न करें, इसको सही या ग़लत कैसे समझा जाय? एक पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करे या न करे, इसमें किसी वर्ग को क्या दिलचस्पी है, तथा उस प्रेम को कैसे हम सदाचार के इस या उस प्रकोष्ठ में डाल दें? मामूली तौर पर तो यह बात वैयक्तिक ज्ञात होती है, किन्तु ज़रा भी विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसा प्रत्येक वैयक्तिक प्रश्न सामूहिक रहा है, और है। ड्यूक आफ़ विंडसर श्रीमती सिम्पसन से शादी करते या न करते, इसमें राष्ट्र का कौन-सा हर्ज़ा हुआ जाता था, किन्तु यह कार्य सामूहिक था, और इसे सामूहिक रूप मिला, यह तो हम इतिहास में देख चुके। इँगलैंड का सुसभ्य शासकवर्ग स्त्री-स्वाधीनता (जिसमें पुनर्विवाह का हक़ भी शामिल है) की डींग मारते रहने पर भी तथा आम तौर पर विधवा विवाह को निषिद्ध न मानने पर भी इस बात के लिए तैयार नहीं था कि कोई क्षतयोनि स्त्री इँगलैंड की राज्ञी के आसन पर बैठे, और भविष्य में राजा की माता हो। इसलिए राजा को ड्यूक आफ़ विंडसर बनना पड़ा।

कहा जायगा कि यह ऐसा उदाहरण है जो स्वयं असाधारण है। इसलिए एक साधारण उदाहरण लिया जाय। एक ब्राह्मण का लड़का किसी चमार की लड़की के साथ प्रेम करता है। सनातन हिन्दू-समाज फ़ौरन लाठी लेकर इन दोनों के पीछे पड़ जाता है। शरत बाबू की 'छवि' नामक कहानी में ख़ूबी के साथ चित्रित किया गया है कि इस प्रकार के प्रेम के साथ समाज का क्या सम्बन्ध है। प्रेमचन्द ने अपनी श्रेष्ठतम कृति 'गोदान' में दिखलाया है कि मातादीन ब्राह्मण सिलिया चमाइन को रख लेता है। इस पर समाज की जो प्रतिक्रिया होती है, उसका वर्णन गोदान में किया जाता है।

इसलिए मामूली तौर पर एक पुरुष और एक स्त्री का प्रेम जितना वैयक्तिक ज्ञात होता है, वास्तव में उतना नहीं है। भारतीय हिन्दुओं में तो जात-पाँत के कारण इस प्रकार के वैयक्तिक प्रेमों पर बहुत असर पड़ता है, बल्कि वे इसी पद्धति के द्वारा नियन्त्रित होते हैं। दूसरे देशों तथा समुदायों में भी (रूस इसमें अपवाद है) कोई पुरुष अपने सामाजिक स्तर से बाहर विवाह नहीं करता, यानी ऐसे विवाहों की संख्या बहुत कम होती है। फिर इस वैयक्तिक प्रेम में कितनी ही और बातें आ जाती हैं जैसे उस समाज में बहुपतित्व, बहुपत्नीत्व या एक पति-पत्नीत्व प्रचलित है, तलाक है या नहीं, स्त्री को कुछ सम्पत्ति का अधिकार है या नहीं, उस समाज में वेश्यावृत्ति है या नहीं, सन्तान-पालन का क्या मानदण्ड है, इत्यादि। एक उदाहरण लिया जाय। यदि कोई पुरुष ऐसी स्त्री के प्रेम में पड़ता है जो विवाहिता है, तो फ़ौरन इस प्रेम की स्थिति उस प्रेम के बनिस्बत और हो जाती है जिसमें प्रेमपात्री कुमारी या विधवा होती। बहुपत्नीत्व के अधिकारयुक्त समाज में एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता है, किन्तु स्त्री एक साथ कई विवाह नहीं कर सकती। इस प्रकार जितने भी उदाहरण हमें सूझ सकते हैं, उन सबमें समाज को दिलचस्पी है, और रही है। बुर्जुआ समाजों में भी विवाह सोलहों आने कभी वैयक्तिक नहीं रहा। आर्थिक स्तर की सीमा के अतिरिक्त विवाह-कार्यों पर सैकड़ों तरीक़े के बन्धन हमेशा रहे हैं। चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति तथा सार्वजनिक रूप से उसके प्रयोग में सुविधा की वृद्धि के साथ साथ समाज को दो स्त्री-पुरुषों के मिलन में और भी अधिक दिलचस्पी हो गई है। मनोरोग चिकित्सा-विज्ञान (psychopathology) तथा

अपराध-विज्ञान की उन्नति के साथ साथ इस क्षेत्र में समाज का नियंत्रण अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को अब किसी हालत में केवल वैयक्तिक समझना ग़लत होगा।

५९—मौलिक इलाज के साथ साथ स्थानीय इलाज भी—सुधार और क्रान्ति—स्त्री-पुरुष के मिलान के क्षेत्र में रुपये का दबाव, आर्थिक स्तरगत सीमा आदि जितनी भी बातें पहले के पुरुषप्रधान वर्ग समाजों से हमें प्राप्त हुई हैं, वे हमें मान्य नहीं हो सकतीं। अवश्य ही हम उनको धता कर देंगे। उनके मिटाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि हम उस पद्धति को ही ख़त्म कर दें जिसकी नींव पर यह विषमतापूर्ण ढाँचा खड़ा है। यही सबसे उत्तम उपाय है, किन्तु इस विषय में हम यदि केवल समाजवादी समाज के आगमन तक हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहें और पुरुषों तथा स्त्रियों में जिस प्रकार के सम्बन्ध चल रहे हैं उनको ज्यों का त्यों चलने दें तो अनुचित होगा। हमारा सदाचार हमें किसी हालत में अकर्मण्य बने रहने का उपदेश नहीं देता। वह हमें निरन्तर संग्राम करते रहने के लिए उद्बुद्ध करता है। इस सम्बन्ध में हम चिकित्सा-विज्ञान से कुछ ज़रूरी सबक़ ले सकते हैं। असली इलाज तो वही है जिससे रोग की जड़ को ही ख़त्म कर दिया जाय, किन्तु जब कोई रोग किसी दूरगत कारण से हो जाता है तो उसके मूलगत इलाज के साथ साथ उसका स्थानीय इलाज भी करना पड़ता है। इस दृष्टि से देखने पर यदि बुर्जुआ पद्धति के रहते हुए भी बहुविवाह की जगह एक विवाह के क़ानून बनवाये जायँ, या क़ानून न बनने पर भी एक विवाह तक लोगों को सीमित रहने के लिए कहा जाय, तो वह शक्ति का अपव्यय न होगा। मौलिक क्रान्ति के साथ साथ हमारे कार्यक्रम में छिटफुट सुधारों का भी स्थान है, इसको अस्वीकार करना मार्क्सवाद और लेनिनवाद के मूल-सिद्धान्त को अस्वीकार करना है। अवश्य ही यदि कोई व्यक्ति इन छिटपुट सुधारों तक ही अपने को सीमित रक्खे तो वह निन्दनीय है। इसी को सुधारवादी मनोवृत्ति कहते हैं, किन्तु यदि इन सुधारों के ज़रिये और इन सुधारों के दौरान में मौलिक क्रान्ति की तैयारी की जाय तो वही असली क्रान्तिकारी सदाचार है। इसी लिए इस परवर्तनकाल में भी हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं। वह कर्त्तव्य यह हैं कि जहाँ तक इस अवस्था में सम्भव है, स्त्री और पुरुष की समता की चेष्टा की जाय।

केवल सदिच्छा से या क़ानून बनवा देने से ही इस समाज में, जिसमें उत्पादन के कार्यों में स्त्रियों का स्थान निकृष्ट है, स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलना सम्भव न होगा। फिर भी स्त्रियों को पर्दे के बाहर लाकर, शिक्षा का मौक़ा देकर, समाज के उत्पादक कार्यों में उनका उत्तरोत्तर हिस्सा बढ़ाने की चेष्टा कर हम बहुत कुछ हासिल कर सकते हैं। जब तक समाज की नींव बदल नहीं जाती, तब तक हमें एक हद तक ही सफलता मिलेगी, किन्तु फिर भी कुछ न कुछ फ़ायदा होगा ही। इस सम्बन्ध में हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह होगा कि हम स्त्रियों को यह समझा दें कि अब तक जितने वर्ग शक्ति आरूढ़ हुए हैं, वे सब के सब इस बात की दिलचस्पी रखते थे कि स्त्रियों की मुक्ति न हो। सर्वहारावर्ग की लड़ाई ही एक ऐसी लड़ाई है जिसमें स्त्रियों की सम्पूर्ण मुक्ति अनिवार्य है। स्त्रियों को मुक्त किये बग़ैर सर्वहारावर्ग स्वयं मुक्त नहीं हो सकता।

६०—बुर्जुआ राष्ट्रों के स्त्री से सम्बद्ध सदाचार की पोल—आख़िर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के क्षेत्र में सर्वहारा सदाचार क्या है? कुछ लोग नासमझी से यह समझते हैं कि चूँकि हम बुर्जुआ सदाचार के विरुद्ध नारा देते हैं इसलिए हम जो चाहें सो कर सकते हैं। यह कहाँ तक सही है, यह देखने के पहले हम यह देख लें कि वास्तव में, बुर्जुआ समाजों में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी सदाचारों की क्या हालत है। सबसे पहली बात यह है कि सभयातिसभ्य बुर्जुआ समाज में वेश्यावृत्ति एक सर्वजन-स्वीकृत राष्ट्र की ठप्पायुक्त पद्धति या संस्था के रूप में मौजूद है। अत्यन्त सभ्य और उन्नत राष्ट्रों में तो राष्ट्र वेश्यागामियों के फ़ायदे के लिए वेश्याओं की समय समय पर जाँच करते रहते हैं कि वे किसी संक्रामक रोग से पीड़ित तो नहीं हैं, और हैं, तो राष्ट्र के ख़ज़ाने से उनका ज़बरदस्ती इलाज होता है, और इस इलाज के बाद यह नहीं है कि इन वेश्याओं को साधारण नागरिका बनाने की चेष्टा की जाय, बल्कि उन्हें फिर वेश्यावृत्ति करने के लिए वापस भेजा जाता है। राष्ट्र अपने दुश्मनों, कथित अराजकवादियों और आतंकवादियों की तलाश में जितना धन और शक्ति का व्यय करते हैं, उसका सौवाँ अंश भी इस बात में लगाते कि नई लड़कियाँ चकलों में ख़रीदकर या भगाकर न लाई जा सकें, तो इसमें सन्देह नहीं कि वेश्याओं की संख्या पर कुछ रोक-थाम होती। अवश्य हम यह नहीं कहते कि इससे वेश्यावृत्ति ख़त्म

हो जाती, जब तक वर्तमान शोषणात्मक समाज-व्यवस्था क़ायम है, और जब तक उसमें स्त्रियों की आर्थिक हैसियत निम्नकोटि की है या कुछ भी नहीं है, तब तक वेश्यावृत्ति नष्ट नहीं हो सकती; किन्तु यहाँ तो हम यह दिखा रहे थे कि राष्ट्रों का इस सम्बन्ध में क्या रुख़ है, तथा वे किस प्रकार अपनी शक्ति का उपयोग इस प्रथा के उन्मूलन के लिए नहीं करते।

वेश्यावृत्ति को जारी रखने के अतिरिक्त इन बुर्जुआ राष्ट्रों में स्त्रियों पर कुछ न कुछ क़ानूनी या व्यावहारिक अक्षमताएँ हैं जिनके कारण उनके लिए स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने लिए पति ढूँढ़ना या प्राप्त करना असम्भव है। वर्तमान क्षेत्र में, जैसा कि बर्नार्डशा और रसल आदि ने भी कहा है, विवाह करना स्त्रियों का पेशा है, अर्थात् पति प्राप्त करना मानो रोटी देनेवाला प्राप्त करना है। अवश्य ही ऐसे वातावरण में प्रेम का सुकुमार पौधा पनप नहीं सकता। आर्थिक दबावरूपी महान् वृक्ष की छाँह में उसका गला घुट जाता है, और या तो उसकी अकाल मृत्यु हो जाती है या वह चोरी से जीता है, जिससे फिर अपनी बारी में बहुत-सी अन्य जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन बातों के होते हुए स्त्रियों को बुर्जुआ समाज में भी एक हद तक जो अधिकाधिक स्वतन्त्रता मिलती गई है, उसका कारण आर्थिक शक्तियों की प्रबलता है। १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले तक बहुत से बुर्जुआ देशों में (उस समय तक सभी देश बुर्जुआ देश थे) स्त्रियों को वोटाधिकार भी प्राप्त नहीं था, किन्तु महायुद्ध के बाद बहुत से देशों में जो स्त्रियों को वोटाधिकार मिला, उसका कारण यह था कि युद्ध में देश के पुरुष चले जाने के कारण स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन में बहुत बड़ी संख्या में भाग लेने का मौक़ा मिला। इसी के फलस्वरूप उन्हें वोटाधिकार देना पड़ा, न कि केवल ऊपर से होनेवाले पार्लियामेंट के जँगला तोड़ने आदि के आन्दोलन से। इस १९३९-४५ के महायुद्ध में भी युद्धलिप्त देशों की स्त्रियों को उससे भी अधिक पैमाने पर सामाजिक उत्पादन में भाग लेने का मौक़ा मिला। इसके फल-स्वरूप उनकी स्वतन्त्रताओं में और भी वृद्धि होगी। हिटलर दुनिया के अन्य सब प्रगतिशील आन्दोलनों के दुश्मन होने के साथ स्त्री स्वाधीनता का भी दुश्मन था। ऐसा रुख़ उसने पुरुषों को अधिक काम दिलाने के लिए ही किया था, और Zuru-ck. ins. Haus 'घर लौटो' का नारा दिया था।

जब लड़ाई के कार्यों में पुरुषों की अधिक आवश्यकता हुई तो वही हिटलर स्त्रियों को फिर घर से बाहर Kuche, Kirche, Kinder अर्थात् रसोईघर, गिरजा और सौरिगृह से बाहर बुलाने के लिए बाध्य हुआ। इसलिए आर्थिक शक्तियाँ बड़े से बड़े फुहरेर से शक्तिशाली होती हैं। यह बात तो है ही और उन्होंने बुर्जुआ वर्ग से भी स्त्रियों को बहुत कुछ दिलवा दिया, किन्तु हमारा कहना यह है कि चिरन्तन सदाचार का नारा देने-वाले बुर्जुआ राष्ट्रों ने वेश्यावृत्ति या उसकी आनुसंगिक बातों को हटाने के लिए अपनी तरफ़ से कुछ भी नहीं किया और जहाँ तक हो सका, चीज़ों को टाला। इसलिए उनकी सारी डींगें थोथी हैं।

६१—रूस में स्त्री स्वतंत्रता एक वास्तविकता—इसके विपरीत सोवियट रूस को अपने पूर्वतन शोषक राष्ट्र से उत्तराधिकार सूत्र में जो वेश्याएँ तथा काम-चोर स्त्रियाँ मिलीं, उनको उसने धीरे धीरे सुधार कर नागरिक जीवन में प्रतिष्ठित कर दिया। अवश्य इसमें दसियों वर्ष लग गये, और अभी तक अवशेष के रूप में इस प्रकार की कुछ स्त्रियाँ सोवियट रूस में हों तो कोई आश्चर्य नहीं। सब देशों में समाजवाद की स्थापना के साथ-साथ तथा पूर्वतन युगों की स्मृति के मिट जाने के साथ साथ समाज-शरीर का यह कोढ़ बिलकुल दूर हो जायगा। फिर कभी इसका प्रकोप न होगा।

६२—साम्यवादी यौन सदाचार पर लेनिन—हम फिर सामूहिक बातों की ओर चले गये। प्रश्न तो यह है कि क्या स्त्री-पुरुष सम्बन्धी वैयक्तिक जीवन में हमें मनमाना करने का अधिकार है? सोवियट रूस के निन्दकों ने सोवियट सदाचार के नमूने के रूप में एक क़िस्सा गढ़ा है जो बहुत दिलचस्प है। कहा गया है कि रूस में चूँकि सब काम सामूहिक है इसलिए एक पर्यटक वहाँ पहुँचा तो उसे एक फर्लांग लम्बी एक रज़ाई के नीचे सैकड़ों स्त्री पुरुषों के साथ सोने को मिला; और यह तजर्बा हुआ कि जो व्यक्ति इस किनारे सोता है वह रात भर में लुढ़कते पुढ़कते रज़ाई के उस किनारे जा पहुँचता है। यह तो स्पष्ट ही गप्प है, किन्तु हम आज एक स्त्री के साथ सोयें और कल दूसरी के—ऐसा कर सकते हैं? इस प्रश्न का बलिक लांछन का उत्तर देते हुए लेनिन ने सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारिणी क्लारा जेटकीन से जो कुछ कहा था वह यों है—

'हमारे यहाँ भी युवकों का बहुत बड़ा हिस्सा और मुझे कहना पड़ता है कि हमारे होनहार और श्रेष्ठ युवकों का भी काफ़ी बड़ा हिस्सा यौन समस्याओं से सम्बन्धित पूँजीवादी धारणाओं और नैतिकता में सुधार करने के लिए उत्सुक है...युद्ध और क्रान्ति जनित परिस्थितियों के कारण पुरानी मान्यताएँ या तो ग़ायब हो गई हैं (स्मरण रहे कि क्लारा के साथ यह बात चीत क्रान्ति के बाद १९२० में हुई थी—ले०), या अपनी शक्ति खो बैठी हैं। नई मान्यताएँ धीरे धीरे संघर्ष के द्वारा अस्तित्व में आ रही हैं। पुरुष पुरुष के बीच और स्त्री पुरुष के बीच के सम्बन्धों, भावनाओं और विचारों में क्रान्ति हो रही है। व्यक्ति के अधिकारों और समाज के अधिकारों के बीच तथा व्यक्तियों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में नई सीमायें निर्धारित की जा रही हैं। अभी सारा मामला एक अव्यवस्थित उथलपुथल में है। अनेकों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच उन्नति की ख़ास दिशा या शक्तियाँ अभी साफ़ तौर पर निश्चित नहीं हो पाई हैं। क्षय होने या बढ़ने का यह क्रम धीमा और प्रायः बहुत दुखदायी होता है। विवाह परिवार और यौन सम्बन्धों के क्षेत्र में पूँजीवादी विवाह के अन्दर मनुष्य की तो पूर्ण स्वतंत्रता, किन्तु स्त्री की ग़ुलामी, यौन सम्बन्धों और नैतिकता से क़ुत्सित पाखंड, तलाक की कठिनाइयाँ आदि की जर्जरता, सड़ांध और गन्दगी सबसे विचारशील और अच्छे लोगों के मन को एक गहरी ग्लानि से भर देती है। पूँजीवादी विवाह की विवशता और पूँजीवादी शासन के परिवार सम्बन्धी नियम इन बुराइयों और टण्टे बखेड़ों को और बढ़ावा देते हैं। ...जिस समय शक्तिशाली साम्राज्य लड़खड़ा रहे हों, पुराने तरीक़े की शासन प्रणालियाँ नष्ट हो रही हों, और जब कि एक सारा सामाजिक संगठन ही ख़तम हो रहा हो, उस समय गुलछर्रे उड़ाने की इच्छाएँ आसानी से निरंकुश हो सकती है। पूँजीवादी स्त्री पुरुष के सम्बन्ध और विवाह के रूप, असन्तोषप्रद हैं। मज़दूर क्रान्ति की ही तरह स्त्री पुरुष के सम्बन्ध और विवाह में एक क्रान्ति हो रही है।..... युवक और स्त्रियाँ वर्तमान कालीन यौन आपत्तियों के कारण दुखी हैं। वे अपनी जवानी के पूरे जोश के साथ विद्रोह कर रहे हैं। हम इसे समझ सकते हैं। युवकों को मठाधीशों के वैराग्य और गन्दी पूँजीवादी नैतिकता की पवित्रता के उपदेश देने से अधिक झूठ और कुछ नहीं हो सकता। ख़ासकर उस उम्र

में जब कि यौन भावना शारीरिक अयवय में प्रत्यक्ष हो, उसका चिन्ता का मुख्य विषय बन जाना बहुत ही गम्भीर है।...यौन जीवन के प्रश्नों के प्रति युवकों के परिवर्तित रूप अवश्य ही एक सिद्धान्त पर आधारित हैं। बहुत से लोग अपने इस रूप को क्रान्तिकारी और साम्यवादी कहते हैं। और वे ईमानदारी से विश्वास करते हैं कि यह ऐसा ही है। यह बात हम बूढ़ों को प्रभावित नहीं करती। यद्यपि मैं एक नीरस बूढ़ा हूँ, फिर भी मुझे युवकों और कभी कभी तो बूढ़ों की यह नई यौन ज़िन्दगी सर्वथा पूँजीवादी और पूँजीवादी वेश्यालयों का प्रसार ही मालूम पड़ती है।

६३—पानी के गिलास वाले सिद्धान्त की जाँच—'साम्यवादियों का जिस प्रेम स्वातंत्र्य से मतलब होता है, उसके साथ इसकी तिलमात्र भी समानता नहीं है। तुमने वह प्रसिद्ध सिद्धान्त तो सुना ही होगा कि साम्यवादी समाज में काम वासनाओं और प्रेम की तृप्ति गिलास से पानी पीने की तरह सरल और महत्त्वहीन होगी। इस पानी के गिलासवाले सिद्धान्त ने हमारे युवकों को बौरा कर दिया है। बहुतेरे जवान छोकड़े छोकड़ियों के लिए यह सिद्धान्त घातक साबित हुआ। उसके भक्त कहते हैं कि वे मार्क्सवादी हैं। धन्य है वह मार्क्सवादी जो विचारधारा सम्बन्धी तमाम घटनाओं और परिवर्तनों को अविलम्ब और सीधे सीधे समाज के आर्थिक आधार से सम्बन्धित कर देता है। किन्तु बात इतनी आसान नहीं है। एक पुरुष फ़्रेडिक एंगेल्स था, जिसने बहुत समय पहले ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में यह बतलाया था कि सम्बन्ध इतने सीधे सीधे नहीं होते।

'इस पानी के गिलास वाले सिद्धान्त को मैं बिलकुल मार्क्स-विरोधी समझता हूँ। वह असामाजिक भी है। यौन जीवन में साधारण स्वभाव ही नहीं, सांस्कृतिक विशेषताएँ भी, चाहे वे उच्च प्रकार की हों या निम्न प्रकार की, विचारणीय हैं। एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार की उत्पत्ति' में दिखलाया है कि व्यापक यौन प्रेरणा का वैयक्तिक प्रेम के रूप में विकसित और परिष्कृत होना कितना महत्त्वपूर्ण है। स्त्री पुरुष के आपसी यौन सम्बन्ध विचारणा से परे सिर्फ़ सामाजिक अर्थ, नीति और दैहिक आवश्यकता के बीच शक्तियों का प्रदर्शन भर नहीं हैं। प्यास ज़रूर बुझानी चाहिए, लेकिन क्या एक स्वस्थ आदमी स्वाभाविक

परिस्थितियों में नाली में पड़कर गँदले पानी से या बहुत से लोगों के ओठों से, जूठे और गंदे गिलास से प्यास बुझायेगा? इसका सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू सामाजिक है। पानी पीने का मामला तो वैयक्तिक है, किन्तु प्रेम में दो जीवों का और नये पैदा होने वाले एक तीसरे जीव का सम्बन्ध है। इसलिए इसका एक विशेष सामाजिक महत्त्व है, और उसमें समाज के प्रति उत्तरदायित्व है।

'एक साम्यवादी के नाते पानी के गिलासवाले सिद्धान्त से मेरी ज़रा भी सहानुभूति नहीं है, यद्यपि उसे 'प्रेम की परितुष्टि' का बहुत ही लोभनीय नाम दिया गया है। किसी भी दशा में यह प्रेम स्वातंत्र्य न तो नया ही है, और न साम्यवाद के अनुरुप ही। तुम्हें याद होगा कि पिछली शताब्दी के मध्य में इस सिद्धान्त का 'हृदय की मुक्ति' नाम से रोमान्टिक साहित्य के अन्दर काफ़ी प्रचार किया गया था। अपनी पूँजीवादी दुनिया में हृदय की जगह वह शरीर की मुक्ति बन गया। उन दिनों यह उपदेश आज से अधिक विद्वत्तापूर्ण था। व्यवहार के बारे में मैं नहीं कह सकता। अपनी आलोचना के द्वारा मेरा मन्शा वैराग्य का उपदेश देना नहीं है। साम्यवाद वैराग्य नहीं लावेगा, वह लायेगा जीवन का आनन्द और जीवन की स्फूर्ति। सन्तुष्ट काम जीवन उसमें भी सहायक होगा। इसके विपरीत यौन मामलों में आज की यह विस्तृत धींगाधींगी मेरे ख्याल से जीवन को कोई आनन्द और स्फूर्ति प्रदान नहीं करती, बल्कि उसे क्षीण करती है। क्रान्ति के युग में यह बहुत ही बुरा है।...न वैरागियों की, न छैलों की और न जर्मनी के पठित मूर्खों के मार्ग की जरूरत है।"[१]

६४—साम्यवादी समाज में भ्रमर वृत्ति के लिए स्थान नहीं—स्त्री पुरुष के सम्बन्धों पर बुर्जुआ समाज पद्धति में जो रोकें हैं, उनके दूरीकरण का अर्थ यह कदापि नहीं है कि यौन जीवन में भ्रमरवृत्ति का अवलम्बन किया जाय। यह सच है कि वैयक्तिक प्रेम आदिम साम्यवादी समाज में नहीं था, बाद को ही चलकर इसकी उत्पत्ति हुई, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब जो उच्चतर समाजवादी समाज होगा, उसमें फिर से हम पुमिश्रण के युग में चले जायँगे, और वैयक्तिक प्रेम बिलकुल लुप्त हो जावेगा। इसके विपरीत ऐसा समझने

---

१ लें० सं० पृ० ५५-५७

का कारण है कि अब सबसे पहले समाजवादी समाज में ही सही मानों में प्रेम का उदय होगा, क्योंकि इसी समाज में प्रेम आर्थिक दबावों से मुक्त होकर अपनी महिमामय छटा में प्रकट होगा। पानी के गिलासवाला सिद्धान्त या भ्रमर-वृत्ति के साथ साम्यवाद का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार का सिद्धान्त और आचरण ह्रासशील सामन्तवादी पर ह्रासशील पूँजीवादीवर्ग को ही शोभा देता है। सच तो यह है कि मुताह के रूप में भ्रमरवृत्ति को धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त रही। यह केवल शियों की विशेषता नहीं, सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में, किसी न किसी सम्प्रदाय में, जैसे हिन्दुओं में वैष्णव सम्प्रदायों में कंठी बदल के रूप में भ्रमरवृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त था। अवश्य इस प्रकार के विवाहों में प्रचलित समाज पद्धति के विरूद्ध विद्रोह का उपादान भी था, इसकी हम यहाँ पर आलोचना नहीं करेंगे।

यदि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में केवल प्यास बुझाने की बात होती तो और बात थी, किन्तु उसके साथ भविष्य की सन्तानों का भाग्य विजड़ित है, इसे हमें सर्वदा स्मरण रखना पड़ेगा। जनसंख्या से राष्ट्र का बहुत भारी सम्बन्ध है, इसे भी स्मरण रखना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त समाजवादी राष्ट्र या उसके अभाव में संग्रामशील सर्वहारा का दल यह चाहेगा कि उसका प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक ज़िम्मेदार हो और भ्रमरवृत्ति तो मानो ज़िम्मेदारी के बिलकुल विपरीत है। ऐसी हालत में भ्रमरवृत्ति किसी भी प्रकार वाञ्छनीय नहीं हो सकती। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध हो जाने के बाद यह समस्या भी आती है कि नागरिक वृद्धि की जाय या नहीं। इस प्रश्न का निर्णय सर्वहारा राष्ट्र की आगामी ज़रूरत को देखते हुए करेगा, और करना चाहिए। तदनुसार कब जन्म नियंत्रण किया जाय, और कब उस पर रोक लगाई जाय, यह राष्ट्र का कार्य है। साम्यवादी सदाचार का स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के विषय में एक ही मौलिक तक़ाज़ा है। वह है स्त्री-पुरुष में आर्थिक समता। किन्तु ऐसा कर देने के बाद अर्थात् प्रेम सम्बन्ध को पूर्णरूप से आर्थिक दबाव से मुक्त कर देने के बाद राष्ट्र का दायरा आ जाता है कि वह सब नागरिकों की दृष्टि से तलाक अधिक होने दे या कम, जन्म नियंत्रण होने दे या नहीं, इत्यादि। समाज कोई बहुत सरल संस्था नहीं है, इसलिए स्वाभाविक रूप से इस सम्बन्ध में क्या उचित होगा और क्या अनु-

चित, यह भी बहुत जटिल हो जाता है। हम यहाँ पर केवल आधारभूत बातों पर ही विचार कर सकते हैं।

६५—वर्गहीन समाज में वर्ग सदाचार—अब प्रश्न यह उठता है कि अन्तिम रूप में (यों तो अन्तिम कोई रूप ही नहीं है) अर्थात् साम्यवादी समाज के उच्चतर सोपान में या यों कहिए कि वर्गहीन समाज में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में वैयक्तिक प्रेम का कोई स्थान होगा या नहीं। इसका उत्तर हाँ या नहीं में देना कठिन है; क्योंकि जिस मानी में अब भी विवाह के लिए—वह चाहे रजिस्ट्री से ही हो—सामाजिक ठप्पे की ज़रूरत है, उसकी आगे चलकर कोई आवश्यकता रहेगी, ऐसा नहीं मालूम होता। उस समय लोगों का मनोविज्ञान जैसा होगा, उसमें यह ठप्पा कदाचित् अनावश्यक हो जाय। यहाँ पर फिर एक बार हम सावधान कर दें कि इस बहाने इस समय विचार विभ्रम पैदा करना ग़लत होगा। फिर यह स्मरण रहे कि वर्गहीन समाज में ही जो सामाजिक ठप्पाहीन प्रेम (ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वह दीर्घकालीन और बहुत सम्भव है, आजीवन प्रेम हो) होगा, वह भ्रमर वृत्ति से कहीं दूर होगा, बल्कि उसके बिलकुल विपरीत है। जैसा कि लेनिन ने स्पष्ट कर दिया, इस बात की कोई ज़रूरत नहीं है कि वैराग्य का नारा दिया जाय, किन्तु साथ ही छैलेपन से भी बचना होगा। आगे जब किसी तरह के संग्राम की आवश्यकता नहीं रहेगी, उस समय क्या धारणा होगी कहा नहीं जा सकता, किन्तु रूस के समाजवादी नेता गण प्रयोगात्मक रूप से इस नतीजे पर पहुँचे कि उन्हें अभी ऐसे नागरिक उत्पन्न करना है, जो संग्राम के लिए उपयुक्त हों। इसलिए उन्होंने प्रयोग के लिए किशोर किशोरियों की सहशिक्षा बन्द कर दी, बच्चे-बच्चियाँ साथ पढ़ सकती हैं। उधर युवक युवती भी साथ पढ़ सकते हैं, किन्तु बीच में किशोर-किशोरियाँ में सहशिक्षा बन्द कर दी गई। यह एक प्रयोगमात्र है, सम्भव है, इसका परिणाम इच्छा के अनुरूप हो। सम्भव है न हो। सम्भव है, इसे बदल देना पड़े। सम्भव है, यह स्थायी हो जाय। जो हो, जब तक स्त्री और पुरुष की आर्थिक समानता को क़ायम रखते हुए समाजवादी राष्ट्र चलता है, तब तक वह एक सीमा से लेकर दूसरी सीमा तक सब प्रयोग करने में स्वतंत्र है। प्रयोग ग़लत साबित होने पर उसे दूसरा प्रयोग करना चाहिए।

६६—साम्यवादी सदाचार उच्छृंखलता का परवाना नहीं देता—संक्षेप में यही वह आधार है जिस पर हम अपने वैयक्तित जीवन को संगठित कर सकते हैं। बहुत सी बातें बुर्जुआ पद्धति में नहीं हो सकती हैं, किन्तु कुछ हो भी सकती हैं। जिस कारण चोरी करना एक समाजवादी के लिए बुरा है, उसी कारण उसके लिए भ्रमरवृत्ति से लेकर बिना टिकट रेल में सफ़र करना अनुचित है। हाँ, यदि सर्वहारा वर्ग के संग्राम को सफल करने के लिए, और उसकी वर्ग-एकता को बढ़ाने के लिए किसी समय इसके विरुद्ध आचरण करना पड़े तो वह गुणगतरूप से दूसरी बात हो जायगी। एक समाजवादी को निरन्तर इस बात की जाँच करनी पड़ेगी कि कब एक विशेष काम को करना या न करना उसके वार्गिक ठोसपन के लिए—उसके संग्राम को विजयप्रद करने के लिए ज़रूरी है, और कब नहीं। यदि किसी ने सम्पूर्णरूप से अपनी वैयक्तिक संकीर्ण स्वार्थसिद्धि के लिए कोई संदिग्ध आचरण किया, तो वह उस चोर के तुल्य होगा जो अपने को धोखा देता है कि वह पूँजीपति को लूट रहा है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्यासत्य का निर्णय करना पड़ेगा।

६७—सत्य और सदाचार अगले क़दमों को उद्भासित करते हैं—सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एच-लेवी ने सत्य क्या है, इसका उत्तर देते हुए बहुत ही सुन्दर शब्दों में कहा है—

'सत्य क्या है ? हम तो यह कहेंगे कि किसी खास मुहूर्त में सत्य मनुष्य के तजुर्बों का योगफल है। सत्य एक ऐसा दीपक है जो मनुष्य के आगे के चन्द क़दमों को उद्भासित करता है। ज्योंही एक बृहत्तर सत्य आ जाता है, त्योंही पहले का सत्य पुराना हो जाता है। सत्य एक हथियार है जो मानवीय उद्देश्य के निर्माण तथा कार्यशील करने के लिए काम में आता है। ज्यों ज्यों यह उद्देश्य स्पष्टतर होता जाता है, और प्राकृतिक प्रक्रिया को मनुष्य अधिकाधिक सहीरूप में पढ़ने में समर्थ होता है, त्यों त्यों सत्य का हथियार और भी तेज़ साथ ही अधिक परिणामदायक होता जाता है।'[१] सदाचार भी इसी प्रकार मनुष्य के विकास के मार्ग को उद्भासित करनेवाला एक हथियार मात्र है। जब तक वर्ग समाज है, तब तक वह वर्गों के दायरे के अन्दर प्रगतिशीलता के नियम के

---

१. P. M. M. p. 281

अनुसार उच्चतर होता जायगा, और होता जा रहा है। रहा वर्गहीन समाज, सो उसमें सदाचार भी वर्ग गन्धहीन हो जायगा, और इतिहास में पहली बार अखिल मानवीय सदाचार का उदय होगा, किन्तु उसकी दुहाई देकर वर्तमान के कर्त्तव्य की अवहेलना करना अनुचित होगा।

६८.—सर जेम्स जिन्स और एन्ट्रापी—सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जिन्स भी, इसी प्रकार आधुनिक ज्योतिष के कुछ तथ्यों को लेकर, कहते हैं कि सारे विश्व की उत्पत्ति किसी निर्माता के द्वारा सृष्टि की क्रिया के रूप में हुई यानी कोई उसका स्रष्टा है। उन्होंने Mysterious Universe में लिखा है "हमें इस बात के बहुत से लक्षण दिखाई पड़ते हैं कि यथेष्ट दीर्घ यात्रा के बाद विश्व के उद्गम स्थल पर ऐसे समय में पहुँच जायँगे जब वर्तमान विश्व मौजूद न रहेगा। प्रकृति ऐसे यंत्रों पर तेवर चढ़ाती है जिनमें चिरन्तन गति है, इसलिए इस बात की बहुत सम्भावना है कि प्रमाण बिना दिये ही हम कह सकें कि प्रकृति इस प्रकार के यंत्र, जिससे वह घृणा करती है, विराट् पैमाने पर बनने देगी।" इनका इस सम्बन्ध में जो सबसे बड़ा तर्क है, वह Entropy है यानी यह कि सारे विश्व में गरम चीज़ बराबर ठंडी होती जा रही है और भारी ऐटम अपनी शक्ति को क्षरण के रूप में नष्ट कर डाल रहे हैं तथा टूटकर हल्के ऐटमों में परिणत होते जा रहे हैं। सर जिन्स का यह भी कहना है कि 'नक्षत्रों के मध्य में उत्ताप इतना है कि प्रोटेन और एलेक्ट्रन विनष्ट हो रहे हैं। उनका कहना है कि यह उत्ताप के समीकरण की प्रक्रिया बराबर तेज़ी के साथ बढ़ती जा रही है, इसलिए ऐसा कोई न कोई समय रहा होगा जिस समय इसका प्रारम्भ हुआ, यानी हम जिसे 'सृष्टि' कहते हैं वह हुई होगी, वह समय बहुत ही दूर न होगा।)[१] इस प्रकार सर जेम्स जिन्स के अनुसार सारा विश्व क्षण में बिखर जायगा और न तो कोई सूर्य की रोशनी रहेगी न तारों की, बल्कि क्षरण की एक ठंडी लौ सी (Cool glow of radiation) रह जायगी।"[२]

६९.—एन्ट्रापी पर लेवी—शर जेम्स जिन्स इस प्रकार जो कुछ कहते हैं,

---

१. Mystarious Universe p. 144

2. Guide to modern thought p. 100

वह वैज्ञानिक तथ्य मालूम होने पर भी उसका आधार निरीक्षित तथ्यों पर नहीं है "क्योंकि वे ऐसी घटनाओं पर आलोचना करते हैं जो ऐसे समय में घटित हुईं कि उनका निरीक्षण नहीं हो सकता था। वे अपने दिमाग़ तथा अपनी बौद्धिक आवश्यकताओं को एक स्थितिशील चित्र के रूप में लेते हैं यानी जैसे वे जीव-वैज्ञानिक तथा सामाजिक तरीक़े से उद्भूत हुए हैं वैसे लेते हैं। फिर वे यह कहते हैं कि ऐसा 'अवश्य होगा'। इस प्रकार वे बिलकुल मानसिक उड़ान भरने के दोषी हैं, और सो भी ऐसे विषय पर जो बिलकुल सम्भव पाद़ार्थिक समर्थन प्राप्त करने के बाहर हैं। यह पूर्णरूप से एक अवैज्ञानिक भविश्यवाणी है जिसकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से परीक्षा नहीं हो सकती।"[१]

७०—एन्ट्रापी पर डाक्टर वेविंक—इस सम्बन्ध में डाक्टर वर्नहार्ड वेविंक ने जो कुछ लिखा है, वह भी बहुत प्रासंगिक है इसलिए उसे यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। उनका सबसे बड़ा कहना यह है कि यह Entropy या तापक्षणवाला नियम केवल सान्त, पृथक् पद्धतियों (finite isolated systems) पर लागू है। "इसलिए इसे विश्व पर लागू न करना ही अच्छा होगा, क्योंकि इस धारणा के अधीन विश्व को नहीं लाया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी आपत्ति इस नियम को इस रूप में मान लेने में है, क्योंकि यदि यह माना भी जाय कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अर्थ में हमारा विश्व देश में सान्त (finite in space) भी है तो भी इस नियम से इस उपसंहार पर पहुँचने की कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है कि यह विश्व प्रक्रिया समय में सान्त (finite in time) है, ऐसा मानने के लिए इसके अतिरिक्त और भी बातें मान लेनी पड़ेंगी। एन्ट्रापो के नियम की अन्तर्गत वस्तु इतने ही कथन से समाप्त हो जाती है कि एक सान्त पद्धति की मुक्त शक्ति (the energy of a fintie system) धारावाहिक रूप से घटती जाती है। किन्तु इसमें इस विषय पर कुछ भी नहीं कहा जाता कि किस अनुपात से यह क्षय होता है। यह उपसंहार कि एक परिणाम जो बराबर घट रहा है, निश्चित (चाहे बहुत दीर्घ ही) समय के बाद शून्य के अंक पर पहुँच जायगा उन लोगों की आम

१. The Universe of Science—H. Levy p. 27

ग़लतियों में से एक है जिनको उच्चगणित की शिक्षा नहीं मिली है। फिर भी यह ग़लती बहुत बड़ी ग़लती है।"[१] आगे चलकर लेवी की तरह डाक्टर वेविंक इस सिलसिले में यह भी कहते हैं कि एन्ट्रापी के नियम के विरुद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण आपत्ति यह है कि अब तक हम यह जानते रहे हैं कि यह नियम आम तरीक़े से लागू है और प्रकृति की सब प्रक्रियाओं और पद्धतियों तक इसकी दौड़ है। किन्तु क्या यह बात सही है ? डाक्टर वेविंक बड़ी छानवीन तथा वैज्ञानिक तर्क-वितर्क के बाद कहते हैं कि ऐसा नहीं माना जा सकता कि हर क्षेत्र के लिए यह सही होगा ही, क्योंकि कुछ सीमित क्षेत्रों में ही इसको लागू होते देखा गया है।[२] एन्ट्रापी के विरुद्ध आयुरवाख ने (Auerbach) एकट्रायी (Ektropy) का सिद्धान्त पेश किया है, किन्तु डाक्टर वेविंक का कहना है कि यह सिद्धान्त कुछ नहीं मालूम होता। फिर भी वे कहते हैं कि एन्ट्रापी के नियम का निराकरण करने की जो आशा है वही बहुत कुछ है। विज्ञान की वर्तमान उन्नति ने निराकरण की इस आशा के मार्ग को बिलकुल बन्द नहीं किया है। इसलिए यह उचित न होगा कि सर जेम्स जिन्स की तरह एन्ट्रापी के नियम को एक विश्वव्यापी नियम मानकर उस पर कोई दार्शनिक निष्कर्ष निकाले जायँ।[३]

७१—जगत् के विनष्ट होने की धारणा निर्मूल—अभी हाल में तास ने एक ख़बर प्रकाशित की है जिससे यह अनुमान करने की गुँजाइश हो रही है कि जैसे जगत् एक तरफ़ विनाश की ओर जा रहा है, वैसे दूसरी तरफ़ उसमें पुनः-सृजन भी हो रहा है। तारे यदि बुझते जा रहे हैं तो दूसरी तरफ़ पुराने बुझते हुए तारे पुनः प्रज्वलित हो रहे हैं। अध्यापक पी० पैरोनेगो का कहना है "१९४५ की २८ अगस्त को स्वीडिश वैज्ञानिक टाम ने aquila नामक नक्षत्रमंडल में एक नये तारे का आविष्कार किया।" अन्य तरीक़े से इस नये नक्षत्र के अस्तित्व का वैज्ञानिक अनुमोदन हुआ, यहाँ तक कि उसका फोटो ले लिया गया। "यह नया नक्षत्र Novae या नवीन नक्षत्रों में से है, जिनकी संख्या १५० तक पहुँच चुकी है। इस सम्बन्ध में यह बता दिया जाय कि नवीन नक्षत्र शब्द गुमराह

१. Anatomy of Science p. 260-61
2. Ibid p. 263-64
३. Ibid p. 265-67

करता है। कभी लोग यह अवश्य समझते थे कि नवीन नक्षत्र नहीं बल्कि पहले से मौजूद कमजोर नक्षत्र अपनी क्षीयमान अवस्था से एकाएक प्रज्वलित हो उठते हैं।.....साल में कोई तीस नक्षत्रों के इस प्रकार एकाएक प्रज्वलित हो उठने का अनुमान किया गया है, किन्तु इनमें से कुछ ही वैज्ञानिकों की नज़र में आते हैं। Spectral निरीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि इन नक्षत्रों के प्रज्वलित होने की प्रक्रिया यह है कि वह नक्षत्र सैकड़ों गुना परिर्वाधित हो जाता है, तथा उसकी उज्ज्वलता हज़ारों गुनी बढ़ जाती है। जिस समय इस प्रक्रिया के कारण वह नक्षत्र अपना सर्वश्रेष्ठ आकार तथा उज्ज्वलता प्राप्त कर लेता है, उस समय उसके धरातल से एक पतला गैसमय नेबुला अलग हो जाता है। यह बाहर की तरफ़ फैलता है, फिर धीरे-धीरे आकाश में बिखर जाता है, और स्वयं वह नक्षत्र भी फिर आकार और उज्ज्वलता में घटता जाता है। फिर वह कथित White dwarf श्रेणी का हो जाता है। यह प्रक्रिया कई सालों में पूरी होती है।"

कुछ ज्योतिषी-वैज्ञानिक यह समझते थे कि शायद हमारे सूर्य का भी यही हाल हो। पन्द्रह साल पहले तक लोग यही समझते रहे। पर इस महायुद्ध के ऐन पहले कुकार्किन तथा पैरोनेगो ने दिखाया कि सूर्य को इस प्रकार का कोई भय नहीं है। इन लोगों ने यह दिखलाया कि यह जो 'श्वेतवामन' क़िस्म के नक्षत्र हैं, ये औसतन तीन हज़ार साल में प्रज्ज्वलति होकर नये नक्षत्रों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह अनुमान किया गया है कि घटने, बिखरने की एक सीमा के बाद प्रतिक्रिया की प्रक्रिया, जिसे nuclear chain of reaction कहते हैं, शुरू होती है। पैरोनेगों का कहना है कि इसमें कोई रहस्यवादी आश्चर्य की आवश्यकता नहीं है। "इस प्रकार की प्रक्रिया का एक उदाहरण हम ऐटम के बिखरने (atomic disintegration) में पाते हैं। इसमें एक हद के बाद ऐटम की आभ्यन्तरिक शक्ति का प्रकाश liberation of intra-atomic euergy) होता है। इसी प्रक्रिया से नवीन नक्षत्र प्रज्वलित होकर सामने आता होगा।"

इससे अनुमान करने का साहस होता है कि विश्व के भविष्य के लिए किसी काल्पनिक ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ऐटम की शक्ति ही विश्व के सृजन-मारण में समर्थ है, और ऐटम की शक्ति भौतिक है। कुछ लोग ऐटम के बम से

इतने घबड़ाये ज्ञात होते हैं कि अब तो विज्ञान के विरुद्ध बड़ा शोर किया जा रहा है। यह एक नये ढंग की विद्या शत्रुता (obscuranticism) मात्र है। ऐटम का प्रयोग न मालूम किस-किस प्रकार हो सकेगा, ये लोग इसे भुला देते हैं। जिस काम के करने में अब तक एक दिन लगता था, अब शायद एक मिनट में हो सके। फ़सल को इच्छानुसार उत्पन्न करना, पकाना सब ऐटम की शक्ति से सम्भव होगा।

इसको यदि जाने दिया जाय तो भी इसी ऐटम बम के साथ जो अन्य आविष्कार इस युग में हुए, उन्हें हम कैसे भूल सकते हैं। जे० डी० बर्नाल ने अभी 'मन की सीमाभूमि' नामक एक लेख में लिखा है "ऐटम बम की तरह सनसनी खेज न होने पर भी उतने ही महत्त्वपूर्ण ऐसे कई सौ आविष्कार इस बीच हुए हैं जिन्हें मनुष्य के कल्याण के लिए इस्तेमाल करना सम्भव होगा। वह है पेनिसिलिन। ऐटम बम में जितने लोग मरे हैं या मर सकते हैं, उनसे कहीं अधिक मनुष्यों को पेनसिलिन जीवनदान कर चुका है। इसी प्रकार की एक दूसरी योजना प्रोटीन के गठन के सम्बन्ध में है। इस महान् योजना का सम्बन्ध कृषि, खाद्य तथा व्याधिनिवारण से है। इसके साथ नई और प्रयोजनीय जीवसृष्टि के लिए जनन-विज्ञान का भी समाधान हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसी से देहतत्त्व और मनस्तत्त्वों की विराट् समस्याओं के समाधान सम्बद्ध हैं।' फिर यह निराशा क्यों ? जो दोष समाज-पद्धति का है, उसे विज्ञान तथा वैज्ञानिकों के मत्थे मढ़ने की कुचेष्टा क्यों ?

७२—पदार्थ विज्ञान की दुनिया प्रतीकों की दुनिया—इसी प्रकार अध्यापक एडिंगटन का कहना है कि जिस विषय को लेकर पदार्थ-विज्ञान चलता है, वह वास्तविक नहीं बल्कि प्रतीक मात्र है। उनका कहना है कि ये वस्तुएँ, जिनके सम्बन्ध में विवेचना की जाती है और जिनके सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि वे मौजूद हैं, सम्भव है कि वे न हों। अध्यापक एडिंगटन का कहना है कि वास्तव में वे दृश्यगत रूप से वास्तविक वस्तु नहीं हैं और न वे इस दुनिया को बनानेवाले हैं बल्कि वे वास्तविक वस्तुओं के प्रतीक मात्र हैं—वे प्रतीक जिनको लेकर वैज्ञानिक ने अपना कुनबा जोड़ा है और जो निर्माता के रूप में उसके मन की

१. Ibid p. 76

विचित्रताओं तथा दिलचस्पियों का प्रतिफलन करते हैं। ये प्रतीक किसी भी बिन्दु-पर हमारे साथ वास्तविकता का सम्बन्ध स्थापित नहीं करते, क्योंकि वे वास्तविकता के कोई हिस्से है ही नहीं। इस कारण अध्यापक का कहना है कि पदार्थ-विज्ञान की दुनिया प्रतीकों की दुनिया मात्र है।[१] सर जेम्स जिन्स भी बड़े ज़ोरों के साथ कहते हैं कि पदार्थ विज्ञान हमें भौतिक वस्तुओं की यथार्थ प्रकृति के सम्बन्ध में नहीं बल्कि उनके सूक्ष्मीकरणों (abstraction) के सम्बन्ध में ख़बर देते हैं। ईथर एक सूक्ष्मीकरण है। ईथर की तरंगें सूक्ष्मीकरण हैं और वे तरंगें जो एलेक्ट्रन को बनाते हैं, इसी सूक्ष्मीकरण के गुण को और भी ज़ोरदार बनाया करती हैं।[२]

७३—अनिश्चयता का सिद्धान्त अध्यात्मवाद के लिए सहायक नहीं— आजकल के बड़े पूँजीवादी वैज्ञानिकों के कथन को हम संक्षेप में दे चुके। दी गई बातों से स्पष्ट है कि किस प्रकार वैज्ञानिक बातों से धर्म को तथा अध्यात्मवाद को ज़ोर पहुँचाने की कोशिश की गई है। इनमें से जो प्रमुख बात अनिश्चयता का सिद्धान्त है उसकी हम आइनस्टाइन के शब्दों में आलोचना कर चुके। बात यह है कि धर्मवादियों को तो कहीं से घुसने का एक छोटा सा छिद्र भर चाहिए। बस, वे जानते हैं कि कैसे उँगली से पहुँचा पकड़ा जाता है, आइनस्टाइन ने जो कुछ कहा है वह तो पेश किया ही जा चुका है। किन्तु इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि यदि प्रकृति में नियम का राज्य नहीं है तो उससे अध्यात्मवाद को सहायता कैसे मिलती है। जहाँ तक हमने समझा है, ईश्वरवाद को अराजकवाद के रूप में पेश करने की इच्छा किसी ईश्वरवादी की नहीं। सच तो यह है कि अनिश्चयवाद से भौतिकवाद को ठेस पहुँचती है किन्तु साथ ही उसकी जगह पर अध्यात्मवाद का झण्डा गड़ने का भी कोई अवकाश नहीं रहता। अनिश्चयवाद का अर्थ सन्देहवाद है और सन्देहवाद चाहे भौतिकवाद के लिए घातक हो, किन्तु अध्यात्मवाद का भी पोषक नहीं है। यदि कार्य-कारण अन्तिमरूप में नहीं है तो उससे तो सभी तरह के ज्ञान को तथा निश्चय को जक पहुँचता है न कि केवल भौतिकवाद को। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध लेवी ने जिस दृष्टिकोण को पेश किया है वह जितना ही मौलिक है उतना ही ध्यान

1. Ibid p. 76 2. Ibid p. 76

योग्य है। लेवी का कहना है कि, एलेक्ट्रन एक Statistical entity यानी ऐसा अस्तित्व है जो एक समूह के आँकड़ेगत नियम के रूप में अपने को अभि-व्यक्त करता है। ऐसी हालत में यदि एक सतह से दूसरी सतह पर जाने (मार्क्सवादी भाषा में उसमें गुणगत परिवर्तन होने) पर यदि उसमें व्यवहार का पार्थक्य आ गया तो उसमें आश्चर्य क्या है। एक सतह पर एलेक्ट्रन पर-माणु (Particles) की चारित्रिक विशेषता का प्रदर्शन करता है तो इससे कार्यकारण या सारी प्रकृति में नियमानुवर्तिता भंग नहीं होती। "केवल वे ही जो यह समझ बैठे हैं कि दोनों हालतों में एलेक्ट्रन एक ही है तथा उनके गुण अपरिवर्तित हैं, अपने को कठिनाई में पायेंगे, किन्तु ऐसा कर वे अपने दृष्टिकोण में आन्तरिक असंगति का ही परिचय देंगे"[१]

७४—भूत की बदली हुई धारणा और भौतिकवाद—अब हम यह देखेंगे कि कहाँ तक भूत की बदली हुई धारणा से भौतिकवाद को नुक़सान पहुँचा है। सबसे पहले हम जिन्स के Entropy या क्षयवाले सिद्धान्त को लेंगे। चूँकि विश्वक्रम एक ठंडक की लौ की तरफ़ जा रहा है इसलिए उसे एक स्रष्टा की ज़रूरत पड़ेगी जो घड़ी में चाभी ख़तम होने पर फिर उसमें चाभी भर देगा। सर जिन्स तो बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़ गये कि विश्व को एक गणितिक विचारकारी के दिमाग़ का विचार मानते हैं। विश्व के स्रष्टा को एक महान् गणितज्ञ के रूप में कल्पित करने का श्रेय जेम्स जिन्स के कोई तीन सौ वर्ष पहले उत्पन्न केपलर को दिया जाना चाहिए।[२] यह बात समझने की ज़रूरत नहीं कि चूँकि जिन्स बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं इसलिए उनकी दार्शनिक उड़ानें बहुत वैज्ञानिक होंगी। सच तो यह है कि वे कहाँ से क्या तर्क निकालते हैं, सब सीढ़ी दर सीढ़ी समझ में नहीं आता। सी० एम० जोड़ की तरह अभौतिकवादी ने भी लिखा है कि जिन्स और एडिंगटन की दार्शनिक उड़ानें सचमुच उनके वैज्ञानिक ग्रन्थों के मुक़ाबिले में निम्नकोटि की हैं और अच्छे दार्शनिकों ने उनकी बातों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं इसलिए हमें भयभीत होने की ज़रूरत नहीं। फिर क्षय के विषय में जिन्स का जो मत है उसका अध्यापक मिलकन जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक ने, विज्ञान के आधार पर, विरोध किया है। अध्यापक मिलकन ने कास्मिक किरणों

१. Universe of Science p. 186 २. Universe of Science P. 121.

(cosmic) का कारण बताते हुए कहा है कि एक तरफ़ निर्माण की प्रक्रिया भी जारी है जैसे दूसरी तरफ़ ध्वंस की प्रक्रिया चल रही है। सर जेम्स जिन्स इसको नहीं मानते। यह हमारे बताने का नहीं है कि इनमें से कौन सही है और कौन ग़लत किन्तु इससे यह गुंजाइश अवश्य हो जाती है कि हम जिन्स को निर्भ्रान्त न समझें। विश्व की दूसरी प्रक्रियाओं को देखकर यह उचित जान पड़ता है कि अध्यापक मिलकन का बताया हुआ सिद्धान्त सम्भवतः सही हो। फिर आगे और आविष्कार से सम्भव है इस विषय पर और प्रकाश पड़े।

७५—भूत की नई धारणा पर वर्टेन्ड रसेल—एफ० लागे ने भौतिकवाद को ग़लत साबित करने का स्पष्ट उद्देश्य लेकर भौतिकवाद का एक प्रकाण्ड इतिहास ही लिख डाला। मूल पुस्तक जर्मन भाषा में है। उसके अँगरेज़ी अनुवाद की भूमिका लिखते हुए वर्टेन्ड रसेल ने लिखा है "सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने देश को देशकाल में निमज्जित कर दार्शनिकों के तमाम तर्कों से कहीं अधिक नुक़सान भूत की परम्परागत धारणा को पहुँचाया है। साधारण बुद्धि में भूत कोई ऐसी वस्तु है जो काल में जारी रहता है (persists) और देश में गतिशील होता है, किन्तु सापेक्षवादी पदार्थ-विज्ञान के लिए यह दृष्टिकोण अब ग्रहणीय नहीं है। अब भूत का एक टुकड़ा परिवर्तित परिस्थितियों में एक जारी रहनेवाली चीज़ नहीं रह गई, बल्कि केवल पारस्परिक सम्बन्ध युक्त घटनाओं का सिलसिला मात्र रहा। पुराना ठोसपन जाता रहा। इसके साथ वे विशेषताएँ भी जाती रहीं जिनके कारण भूत भौतिकवादी के नज़दीक क्षणस्थायी विचारों से अधिक वास्तविक मालूम पड़ता था। कोई भी चीज़ स्थायी नहीं है, कोई भी चीज़ रहती नहीं है। वास्तव जारी रहता है, इस कुसंस्कार को छोड़ देना पड़ेगा।"

७६—इस पर अध्यापक लेवी का मत—वर्टेन्ड रसेल बहुत बड़े गणितज्ञ हैं। उनके लिए भूत को प्रतीकों की अवस्था में देखने की इच्छा बहुत स्वाभाविक है, किन्तु कोई अवस्था ऐसी है जैसा रसेल साहब कहते हैं। हम इस पर एक बहुत बड़े वैज्ञानिक एच० लेवी का मत उद्धृत करेंगे, और अवश्य ही रसेल ऐसे विद्वान् यह नहीं कह सकते कि लेवी ने सापेक्षवाद के सिद्धान्त की सम्भावनाओं को नहीं समझा है। लेवी लिखते हैं "प्रायः यह कहा जाता है कि भूत

का ज़माना जाता रहा, और यह विज्ञान पूर्वयुग वाली वस्तु है। कहा जाता है कि आधुनिक आविष्कारों से जो हमें इतना ठोस तथा भारयुक्त मालूम होता है, वह भूत वास्तव में अत्यन्त वेग से चलने वाले विद्युत् के बहुत छोटे चार्जों (Charges) के समूह हैं। ये चार्ज इतने छोटे हैं कि उनके बीच में तुलनानात्मक रूप वे बहुत प्रकाण्ड खुले देश हैं, इसलिए अब ठोस भूत की पुरानी कहानी को क़ायम रखना बेकार है। अधिकांश रूप में देश देश ही है यानी वह निरवच्छिन्न देश है। लोग ऐसे ही तर्क देते हैं।'

यहाँ पर भूत शब्द इस मानी में इस्तेमाल किया गया है कि हम जो इधर उधर टुकड़ों या चीज़ों को उठा लेते हैं, वही भूत है। सरल वैज्ञानिक आविष्कारों की मिथ्या व्याख्या से साधारण बुद्धि विपथचालित (violated) होने से इनकार करती है। जैसे जैसे विज्ञान की उन्नति होती है, वैसे वैसे वह हमें भूत के इन टुकड़ों की बनावट तथा गठन के विषय में अधिक बतलाता है। सम्भव है, वह इसको तोड़कर और भी प्राथमिक हिस्सों में बाँट दे। यहाँ तक कि ले जाते ले जाते उनको अन्त तक रोशनी, उत्ताप और वैद्युतिक शक्ति में ले जाया गया है। किन्तु यदि इसे घटाते घटाते ले जाने का अर्थ यह लगाया जाय कि उसे बिलकुल अस्तित्व के पृष्ठ से ही निकाल दिया जाता है तो वह बहुत बड़ी भूल होगी। एक टुकड़ा काग़ज़ जब जलाया जाता है तो वह जिस प्रकार क्षीण हो जाता है, भूत उससे अधिक क्षय प्राप्त नहीं हुआ है। यह रूपभर बदल देता है, यह चला नहीं जाता। यह एक परिवर्तनशील रूप से दूसरे परिवर्तनशील रूप में चला जाता है। भागों के सम्बन्ध बदल जाते हैं। वे आगे उस रूप से अपने को नहीं दिखलाते जिस रूप में वे पहले थे। इस कारण यह कहना कि भूत अब विज्ञान के पूर्व युग की एक बेकार धारणा है, साधारण बुद्धि से इनकार करना है, क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि हम एक विषय में जितना ही ज़ानते जा रहे हैं उतना ही हम उसको कम समझते हैं। सच तो यह है कि हम भूत तथा उसके आचरण के विषय में पहले से कहीं अधिक जानते हैं।'

'एक अर्थ में शायद ऐसा कहना सही है कि एक ठोस चीज़ के कणों के बीच का देश स्वयं उन कणों से कहीं ज़्यादा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि उस चीज़ का ठोसपन बिलकुल अस्वीकृति कर दिया जाय। इसकी

"परीक्षा कीजिए। ये जो देश, जिनके विषय में बताया जाता है एक समूह के कणों के बीच हैं और सबके सब आन्दोलन की प्रचण्ड अवस्था में हैं, क्या हैं? क्या यह तथ्य नहीं है कि ये कण हर समय कुछ देश से होकर चलते हैं और कुछ समय सारे देश से होकर चलते हैं जो भूत के ठोसपन को दृश्यमान कर देता है? यह गतिशील समूह की चारित्रिक विशेषता है। गति कणों का अनिवार्य गुण है, और समूह के रूप में ये क्या ठोसपन दिखलाते हैं।"[१]

७७—सापेक्षवाद और साधारण बुद्धि—अध्यापक लेवी ने विज्ञान के दृष्टिकोण को अत्यन्त स्पष्टता के साथ साथ व्यक्त कर दिया है। ऐसा कहने के लिए कोई भी कारण नहीं है कि भूत कुछ रह ही नहीं गया है, और वह शून्य में विलीन हो गया है। वास्तविक बात यह है कि भूत का रूप पहले से सूक्ष्म हो गया है, और इसमें भौतिकवादियों को न तो कोई आश्चर्य ही है, और न हो सकता है। हम यहाँ पर इस तर्क में पूरी हद तक जाना नहीं चाहते, क्योंकि यह विषय कुछ हद तक दर्शन का है। फिर भी यह दिखलाना ज़रूरी था कि विज्ञान ने भी अपनी निःस्पृहता के बावजूद किस प्रकार वर्गस्वार्थ तथा वर्गदृष्टिकोण की सहायता की है, और कर रहा है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त एक अर्थ में प्रचलित साधारण बुद्धि के विपरीत ज़रूर चला गया, किन्तु यह साधारण बुद्धि कौन सी बला है, यह भी तो हमारे द्वारा अनुसरण किये हुए तरीक़े से पता लगाता है। कई पुश्तों से जब आम तर्जुबें से एक बात सही होती जाती है, और उसके विरुद्ध कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता तब वह साधारण बुद्धि के रूप में स्पष्ट हो जाती है। आइनस्टाइन ने एक ऐसे सत्य का आविष्कार किया जिससे साधारण बुद्धि को धक्का लगा, किन्तु यह धक्का हमेशा क़ायम रहेगा, यह बात नहीं है। कुछ दिनों से साधारण बुद्धि अपने को इसके अनुकूल कर लेगी और इस पर हमें यहाँ परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। जो हो, सापेक्षवादी ने तथा अति आधुनिक विज्ञान ने भूत को शून्य में नहीं पहुँचा दिया है। आखिर इन ऐटमों के अन्दर जो शून्य स्थान रहने का पता मिलता है, उसका मतलब तो यही है कि शून्यों के बीच में नखलिस्तान के रूप में कुछ है जो शून्य नहीं है। यदि शून्य के अन्दर शून्य होता तो न तो उसका कोई मतलब होता और न उसको

---

१. Philosophy for modern man —H. Levy p. 32

कहने की आवश्यकता पड़ती। कोई भी चीज़ स्थायी नहीं है, कोई भी चीज़ जैसी की तैसी बनी नहीं रहती, यह तो भौतिकवाद का कहना ही है। जैसा एक समसामयिक लेखक ने लिखा है, अध्यापक रसेल द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विचारों से परिचित नहीं हैं, तभी उनकी समझ में यह बात आई है कि भूत की बदली हुई धारणा से भौतिकवाद का उच्छेद हो गया। भौतिकवाद का तब तक कोई नुक़सान नहीं हो सकता, जब तक दृश्यगत रूप से हमारे मन के बाहर कोई चीज़ मौजूद है।

७८—ह्रासशील पूँजीवाद में विज्ञान का समर्थन आवश्यक—आधुनिक विज्ञान में यह जो अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद की लहर दौड़ गई है, उसका सामाजिक आर्थिक आधार स्पष्ट है। पूँजीवाद की उन्नति पराकाष्ठा में पहुँचने के बाद उसमें ह्रास के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ऐसी हालत में उसे बचा रखने के लिए तथा भीतर से उभड़ती हुई विद्रोहधारा को रोकने के लिए ऐसे दर्शनशास्त्रों की ज़रूरत है जैसा सर जेम्स जिन्स, एडिंगटन, आलिवर लाज आदि ने दिया है। सच तो यह है कि आज पूँजीवाद को धर्म से कहीं अधिक विज्ञान से समर्थन की ज़रूरत थी। धर्म समर्थन करे या न करे, और वह तो करेगा ही यह हम पहले ही लिख चुके हैं; विज्ञान के समर्थन की बहुत ज़रूरत थी। हम संक्षेप में दिखला चुके हैं कि ऐसा समझने के लिए कोई कारण नहीं है कि विज्ञान अध्यात्मवाद का समर्थन कर रहा है। सी० एम० जोड़ की तरह अध्यात्मवाद के संस्कारयुक्त व्यक्ति को भी कई बार यह मानना पड़ा कि विज्ञान धर्म का प्रतिपादन नहीं करता। उन्होंने लिखा है "कहना यह नहीं है कि विज्ञान धर्म का समर्थन करता है, उसको प्रमाणित करने की बात तो दूर रही यद्यपि बहुत से, जिनमें से कुछ का विचार हम यहाँ कसौटी पर रक्खेंगे, सोचते हैं कि यह ऐसा करता है। एक मात्र उपसंहार जिससे हम सही तौर पर पहुँच सकते हैं; ऋणात्मक है। वह यह है कि यह जो कहा जाता था कि विज्ञान धर्म को अनिवार्य रूप से मिथ्या कहता है, यह बात अब जाती रही। इसलिए अब विश्व की धार्मिक व्यवस्था पर हम पुनर्विचार उसके प्रमाण की योग्यता को देखकर कर सकते हैं।[१] प्रमाण की योग्यता देखकर और स्वयं वैज्ञानिकों की

१. Guide to Modern thought p. 18

बातों को उद्धृत कर हम इस नतीजे पर पहुँचने को विवश हैं कि विज्ञान में कोई बात धर्म के पक्ष में नहीं है। जो भी बात धर्म के पक्ष की मालूम हो रही है, वह आइनस्टाइन के उद्धरण के अनुसार अल्पज्ञान के कारण है, और चूँकि हम प्रतिदिन अधिक ज्ञान सम्पन्न होते जा रहे हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि अज्ञान का यह शरणगृह जल्दी दृढ़ता नज़र आवेगा।

अन्त में एक बात और। यदि यह किसी तरह साबित भी हो जाय कि भूत कुछ नहीं है, शून्य है, माया है, भ्रम है तो इससे भौतिकवाद को चाहे जितना नुक़सान पहुँचे, किन्तु उससे धर्मवाद को कैसे फ़ायदा पहुँचेगा। फिर तो चीज़ें जाकर अज्ञेयवाद में रह जायँगी यानी हम विश्व को जान ही नहीं सकते यह एक तरह का अज्ञानवाद है। जब जान ही नहीं सकते तो जानने की चेष्टा क्यों करें और किसे जानें, इस मतवाद में पहुँच कर रह जायँगे। अवश्य इस मतवाद से भी पूँजीवाद को फ़ायदा पहुँचेगा, क्योंकि ऐसा मतवाद लोगों में अकर्मण्यता फूँक देगा। और सृष्टि के अन्त तक पूँजीवाद का ही राज्य होगा।

७९—पूँजीवाद अब विज्ञान की उन्नति में दिलचस्पी नहीं रखता—एक ज़माना था जब पूँजीवाद की उन्नति के साथ साथ विज्ञान की भी उन्नति होती जाती थी। पूँजीवाद के प्रारम्भिक युग में उसके प्रगतिशील पहलुओं में से एक यह भी था कि पूँजीवाद की अग्रगति की एक अनिवार्य शर्त विज्ञान की उत्तरोत्तर प्राप्ति थी। यांत्रिक क्षेत्र में उन्नति के बग़ैर पूँजीवाद जीवित ही नहीं रह सकता था। प्रत्येक कारख़ाने का मालिक यह चाहता था कि उसके कारख़ाने में यंत्र सबसे अधिक उन्नत हों, रद्दी कम से कम हो, लागत का व्यय जितना भी घटाया जा सके घटाया जाय, गौण उपजें (Secondary product) इतनी हों कि कोई भी हिस्सा बेकार न जाय, इत्यादि और यह सब कारख़ाने का मालिक समाज के कल्याण के लिए नहीं, बल्कि अधिक से अधिक मुनाफ़ा करने के लिए और प्रतियोगी को नीचा दिखाने के लिए चाहता था। इसलिए उसको हर क़दम पर विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती थी। अमेरिका और योरप के बड़े बड़े कारख़ानों के साथ या तो उच्च प्रयोगशालाएँ संयुक्त होती थीं, जिनमें वैज्ञानिकगण उस कारख़ाने से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक पहलू पर निरन्तर खोज करते रहते थे, या इन कारख़ाने के मालिकों की ओर से विश्व-

विद्यालयों को मोटी रक़में दी जाती थी जिससे वे विज्ञान—विशेषकर वह विज्ञान जिसमें दाता को दिलचस्पी है—का अनुशीलन तथा उस पर गवेषणा करें। किन्तु ये बातें पूँजीवाद की मुक्त प्रतियोगिता वाले युग की थीं। एकाधिकार (Monopoly) का युग आते ही विज्ञान के सम्बन्ध में पूँजीवादी उत्पादकों की यह दिलचस्पी घटती ही गई, और अब तो यह दशा पहुँच गई है कि कुछ क्षेत्रों को छोड़कर पूँजीवादियों को इसी बात में दिलचस्पी है कि आगे विज्ञान की कोई उन्नति ही न हो। पूँजीवादी विचारधारा के विभिन्न प्रतिनिधयों ने इस बात को बार बार प्रतिध्वनित किया है कि विज्ञान की उन्नति रुक जाय तो अच्छी बात है। किताबें जल जायँ तो अच्छी बात है।[१] इन बातों को कई तरह से घुमा-फिरा कर कहा जाता है। स्पष्ट है कि पूँजीवाद के किराये के लेखकों ने इस बात को एक बुद्धिसंगत रूप देने के लिए कुछ उठा नहीं रक्खा है। यह कहा जाता है कि विज्ञान अब मानवता के बहुत आगे निकल गया है, मानवता और अधिकांश मनुष्य उसके बहुत पीछे रह गये हैं, इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि विज्ञान की उन्नति को रोककर जो कुछ विज्ञान है उसको जनता तक पहुँचा दिया जाय, और जनता को उससे फ़ायदा उठाने दिया जाय। ऐसे लोगों का कहना है कि इस प्रकार विज्ञान के सरपट दौड़ने से विश्व का कल्याण न होगा।

८०—**वैज्ञानिक उन्नति का विरोध**—जान स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक Coming struggle for power में कई उदाहरण दिये हैं कि जब पूँजीवाद के लेखक तथा वक्ताओं ने इस बात को निर्लज्ज होकर साफ़ साफ़ कहा है कि "वर्तमान समय का एक मुख्य काम यह है कि यांत्रिक साधनों की जो पारस्परिक लड़ाई जारी है, इसे बन्द किया जाय। कहना न होगा कि यह टेढ़ी खीर है। इस सम्बन्ध में हमें किसी भ्रम में नहीं रहना चाहिए। यह समझकर हाथ पर हाथ धर कर बैठा रहना ठीक न होगा कि समय सभी बातों को ठीक कर लेगा और स्वयं उत्पादकगण उद्योग धंधों में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रयोग को कम से कम कर देंगे। सच तो यह है कि यदि वे ऐसा करना भी चाहें तो फिर कर नहीं सकते। सरकार को चाहिए कि इस मामले में बीच में पड़े।"

---

१. Marxism and modern thought p. 172

बात यह है कि मुक्त प्रतियोगता के युग के मुक़ाबिले में यांत्रिक साधनों की उन्नति द्वारा कारख़ाने वालों की पारस्परिक लड़ाई एक अर्थ में कम हो जाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी ट्रस्टों, सिन्डीकेटों, कार्टेलों की प्रतियोगिता अभी तक क़ायम है, बल्कि और तीव्र हो गई है। तभी इस प्रकार के उद्‌गार होते हैं। अमेरिका के इंजिनियरों के एक सम्मेलन में इसी प्रकार यह तय हुआ था कि इंजिनियर लोग विश्व का जो सबसे बड़ा कल्याण कर सकते हैं, वह यह है कि सौ वर्षों तक कोई नया पेटेन्ट न लें अर्थात् कोई नया आविष्कार न करें। सच तो यह है कि इस समय बहुत से आविष्कारकों का काम यह रह गया है कि वे एक आविष्कार करने के बाद कम्पनियों के पास जाते हैं और वे कहते हैं कि हमारे आविष्कार के सार्वजनिक हो जाने से तुम इस प्रकार से बर्बाद हो जाओगे, अतएव हमें इतना रुपया दो, तभी हम इसके सम्बन्ध में चुप्पी साधे रहेंगे। इस सम्बन्ध में पूँजीवादियों का भय इतना प्रबल है कि अक्सर झूठे आविष्कारक भी इस पैतरे से काम लेकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। इसके विपरीत भी उदाहरण हैं। स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट तथा अन्य शक्तिशाली एकाधिकारी कम्पनियों के सम्बन्ध में यह मालूम हुआ है कि ये लोग नये आविष्कारकों के आविष्कारों को ठगकर ले लेते हैं। बात यह है कि इनका इतना भारी प्रभाव है जिससे ये समझते हैं कि यदि हमारे विरुद्ध, कोई मामूली कार्रवाई भी हो तो हमारा कुछ बिगड़ नहीं सकता।[१]

फ़्रेन्च रासायनिक बर्थेला (Barthalot) ने यहाँ तक प्रस्ताव किया था कि नये आविष्कारों पर टैक्स लगाये जायँ, न कि उनको पुरस्कृत किया जाय। इसी प्रकार एक अँगरेज़ विशप ने यह प्रस्ताव किया था कि वस्तुओं के आविष्कार के लिए अवकाश हो जाना चाहिए।[१]

अमेरिका में रूज़वेल्ट के नेतृत्व में जो न्यू डील (New deal) हुआ है उसमें उत्पादन को सीमित करना, उत्पादित द्रव्यों को नष्ट करने के काम को सरकारी सहायता देना भी शामिल है। १९३४ के मार्च में नील के कपड़े के कारख़ानों के मालिकों ने चालीस हज़ार करघे इसलिए ख़रीदे कि उनको नष्ट किया जाय। इस पर मज़दूरों ने बड़ा तहलका भी मचाया था, किन्तु उनकी

१. Evolution of Capitalism—Hobson p. 218.

एक भी न सुनी गई। इससे भी मजेदार बात यह है कि इँगलैंड के राष्ट्रीय बैंक के संरक्षकत्व में ब्रिटेन ने नेशनल शिपिंग सिक्योरिटी एण्ड कम्पनी बनाई गई जिसका उद्देश्य फालतू जहाज बाननेवाले कारखानों को खरीद लैना तथा उनको चालीस साल तक बेकार कर देना था। इस पर मजदूरों की जो सभा हुई थी, उसमें एक मजदूर ने यह कहा था कि अब हमें कारखाने की जमीन पर घास छीलने का काम मिल सकता है।

इ० वर्गा ने इस सम्बन्ध में और तथ्य दिये हैं। उनके अनुसार अमेरिका की सरकार ने पचास लाख सुअर खरीदकर १९३३ के पतझड़ में मरवा डाले अर्थात् उनका गोश्त खाने नहीं दिया। इसी प्रकार डेनमार्क में प्रतिसप्ताह पन्द्रह हजार गायों को मारकर खाद बना दिया जाता था।[1] अर्जेनटाइना में नई भेड़ों के लिए जगह करने को लाखों पुरानी भेड़ें मार डाली जाती थीं, और यह सब उस समय हो रहा था जब चारों तरफ़ की दुनिया भूखों मर रही थी। १९३२ का एक तथ्य इस प्रकार है कि अमेरिका में एक करोड़ एकड़ जमीन पर उत्पन्न कपास को नष्ट कर दिया गया, और ऐसा करने के लिए जमीन के मालिकों को प्रति एकड़ साढ़े नौ डालर मिले। इस प्रकार साढ़े नौ करोड़ डालर की रक़म जो खर्च हुई वह बाक़ी कपास पर प्रति पौण्ड ४.२ सेन्ट टैक्स लगाकर तथा कपास के साथ जिन द्रव्यों की प्रतियोगिता है अर्थात् शयन और कदाचित् रेशम तथा ऊन पर टैक्स लगाकर वसूल की गई। रुजवेल्ट की बहुप्रसंशित New deal की यह पोल है।

फिर भी कई क्षेत्रों में—उन क्षेत्रों में जिनका सम्बन्ध युद्ध तथा युद्धोपकरण से है—बराबर खोज जारी है, और सरकार इसके लिए बहुत बड़ी रक़में खर्च करती है। इसके अतिरिक्त जिन क्षेत्रों में—जैसे पदार्थ विज्ञान में—गत वर्षों में जो उन्नति हुई है इसका कारण स्ट्रेची के अनुसार वैद्युतिक धन्धे में उन्नति का तक़ाजा है। जीव विज्ञान में इसी प्रकार जो उन्नति हुई है, इसका कारण यह है कि साम्राज्यवादी ट्रस्टगण यह चाहते हैं कि उष्ण कटिबन्धों में अधिक से अधिक उन्नति हो और उनके बसने की परिस्थितियाँ पैदा हों। जो हो इतना तो स्पष्ट है कि पूँजीवाद अब विज्ञान की उन्नति में वैसी दिलचस्पी नहीं रखता जैसी वह कभी रखता था।

१. Capitalism, communism and tansition p. 56

BIBILIOGRAPHY

1. Rosa Luxembourg—Paul Frolich—R.L.
2. Eighteenth Brumaire—Karl Marx—E.B.
3. Outline of Modern Knowledge—O.M.K.
4. Russian Revolution—Leon Trotesky—R.R.
5. The Groundwork of British History—Warner and Marten—G.B.H.
6. Communist Manifesto—Marx-Engels—C.M.
7. Ludurg Feuerbach—Engels—L.F.
8. Historical Materialism—Bukharin—H.M.
9. Marx-Engels Correspondence—M.E.C.
10. Ralph Fox Memorial Volume—R.F.M.V.
11. Class Struggle in France—K. Marx—C.S.F.
12. Autobiography—Jawaharlal Nehru—A.J.N.
13. Inside Europe—John Gunther—I.E.
14. French Revolution—Bertha Mariton Gerdiner—F.R.
15. Theory and Practice of Socialism—John Strachey—T.P.S.
16. Moscow Dialogue—Julius F. Hacker—M.D.J.
17. Introduction to Capital—Lindsay—I.C.L.
18. Man Makes Himself—V. Gordon Childe—M.M.H.
19. Origin of Family, etc.,—F. Engels—O.F.
20. Critique of Political Economy—K. Marx—C.P.E.
21. German Ideology—K. Marx—G.I.
22. Dialectical Materialism—Shirkoff—D.M.S.
23. Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal—J.R.A.S.B.
24. The Fortunes of Primitive Tribes—D. N. Majumder—F.P.T.
25. Marxism and Modern Thought—Bukharin and others—M.M.T.
26. Wage, Labour and Capital—K. Marx—W.L.C.

27. Poverty of Philosophy—K. Marx—P.P.K.
28. Anti-Duhring—F. Engels—A.D.E.
29. Fundamental Problems of Marxism—Plekhnov—F.P.M.
30. Socialism, National or International—Berkaume—S.N.I.
31. Revolution and Counter-Revolution—F. Engels—R.C.R.
32. State and Revolution—Lenin—S.R.L.
33. The Proleterian Revolution and Kautsky the Renegade—P.R.K.R.
34. A Philosophy for Modern Man—H. Levy—P.M.M.
35. Pierre Laval—Henry Torres—P.L.H.
36. World Politics—Palme Dutt—W.P.P.
37. War and Immorality—Sudhindra Roy—W.I.S.
38. French Revolution—Louis Madelim—F.R.L.M.
39. Basic Principle of Scientific Socialism—Sachs—B.P.S.S.
40. Inside Europe—Gunther—I.E.G.
41. Essays in the History of Materialism—Plekhnor—E.H.M.
42. Dialectical Materialism—Adoratsky—D.M.A.
43. Biographical History of Philosophy—J. G. H. Lewis—
44. Outlook for Homo-Sapiens—H. G. Wells—O.H.S.
45. Adventure of Ideas—A. N. Whitehead—A.I.A.
46. Guide to Modern Thought—C.E.M. Joad—G.M.T.
47. Mysterious Universe—James Jeans—M.U.J.
48. Teachings of Karl Marx—Lenin—T.K.M.
49. Essence of Christianity—Feuerbach—E.C.F.
50. Thesis on Feuerbach—K. Marx—T.F.K.
51. Dialectic—T.A. Jackson—D.T.
52. Religion—Lenin—R.L.
53. Dialectical Materialism—Stalin—D.M.S.
54. Capital—K. Marx—C.K.M.
55. Fundamental Problems of Marxism—Plekhnov—F.P.M.
56. Uniqueness of Man—Julian Huxulay—U.M.J.
57. History of Political Thought—R. G. Gettel—H.P.H.

58. Critique of Gotha Programme—K. Marx—C.G.P.
59. Elements of Economics—S. Eveliya Thomas—E.E.S.
60. India before and Since the War—Prof. Rajnarain—I.S.W.
61. Living Space and Population Problems—Dr. R. R. Kuczunski—L.S.P.P.
62. Landmarks in English Industrial History—G. T. Warner—L.E.I.H.
63. History of Indian Literature—Winternity—H.I.L.
64. An Outline of Political Economy—Lepidus, etc.—A.O.P.E.
65. Progress and Poverty—Henry George—P.P.H.
66. Criminology—Horace Wyndhan—C.H.W.
67. What is Diplomacy—C. W. Hayward—W.D.C.
68. Indian Philosophy—Radhakrishnan—I.P.
69. A Short History of Ethics—R.A.P. Rogers—S.H.E.
70. An Idealist View of Life—Radhakrishnan—I.V.L.
71. On Youth—Lenin and Stalin—O.Y.
72. Beginnings of Indian Historiography and Other Essays—U. N. Ghosal—B.I.H.
73. Great Philosophies of the World—C.E.M. Joad—G.P.W.
74. Decline of the West—Oswald Spengler—D.O.W.
75. Leninism—Stalin—L.S.
76. Leftwing Communism—an infantile disorder—Lenin—L.C.
77. Materialism and Empiro—Criticism—Lenin—M.E.L.
78. Imperialism and World Economic Order—Bukherin—I.W.E.
79. The Evolution of the Idea of God—Grant Allen—E.I.G.
80. Belief and Action—Viscount Samuel—B.A.
81. Four Stages of Greek Religion—Gilburt Murray—F.S.G.
82. Religion and Sciences of Life—William Macdougal—R.S.L.
83. Spanish Testament—A. Koestler—S.T.A.
84. The Social Contract and the Islamic State—Ilias Ahmad—S.C.I.S.
85. History of the Saracen—Ameer Ali—H.O.S.
86. Social Evolution—Benjamin Kidd—S.E.B.

87. The Making of Society—edited by V. F. Calverton—M.O.S.
88. Religion—Lenin—R.L.
89. Outline of World History—H.G. Wells.—O.W.H.
90. Man and Nature—James Frazer, etc.—M.N.J.
91. Future of An Illusion—Freud—F.A.I.
92. Totem and Taboo—Freud—T.A.T.
93. Anatomy of Sciencc—Bernhard Bevink—A.S.
94. The Universe of Science—H. Levy—U.S.H.
95. Atom—E. N. da C. Andrade—A.E.N.
96. Communist Manifesto—Marx—Engels—C.M.
97. Critique of the Political Economy—Marx-Engels—C.P.E.
98. German Ideology—Marx—Engels—G.I.
99. Anti Duhring—Engels—A.D.E.
100. Historical Materialism—Bukharin—H.M.
101. गीतारहस्य—लोकमान्य तिलक गी० र०
102. Marx-Engels Correspondence—M.E.C.
103. Criminalogy—Horace Wyudham—C.H.W.
104. Essays in the History of Materialism—Plekhnor—E.H.M.
105. What is Diplomacy—C.W. Hayward—W.D.C.
106. Outline of Modern Knowledge—O.M.K.
107. Indian Philosophy—Radhakrishnan—I.P.
108. A Short History of Ethics—R.A.P. Rogers—S.H.E.
109. An Idealist View of Life—Radhakrishnan—I.V.L.
110. Moscow Dialogues—I.F. Hecker—M.D.J.
111. On Youth—Lenin and Stalin—O.Y.
112. The Beginning of Indian Historiography and other Essays—U. N. Ghosal—B.I.H.
113. लेनिन के संस्मरण—क्लारा जेटकोन—ले० स०
114. A Philosophy for a Modern Man—H. Levy. P.M.M.